स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख

श्री स्वामी श्रद्धानन्द

स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख

प्रधान सम्पादक
डॉ. विष्णुदत्त राकेश
पी-एच.डी., डी.लिट.
आचार्य हिन्दी विभाग
तथा निदेशक
श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र

सम्पादक
डॉ. जगदीश विद्यालंकार
एम.लिब., पी-एच.डी.
पुस्तकालयाध्यक्ष
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

संजय वर्मा

1998

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख

प्रथम संस्करण : 1998

मूल्य : 500.00 रुपये

प्रकाशक
श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

प्रमुख-वितरक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
2/38, अंसारी मार्ग
दरियागंज, नई दिल्ली-110002

मुद्रण-व्यवस्था
भूमिका प्रकाशन
मकान नं. 38, गली नं. 2, संत विहार
दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

SWAMI SHRADDHANAND KE SAMPADKIYA LEKH
Edited by Dr. Vishnudutt Rakesh; Dr. Jagdish Vidyalankar

दो शब्द

आजादी की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर महान् स्वतन्त्रता सेनानी स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के क्रान्तिकारी अग्रलेखों ने जनसाधारण को उस समय असाधारण रूप से प्रभावित किया था। स्वाधीनता के इतिहास लेखन के लिए इस सारी सामग्री का एक स्थल पर प्रकाशन अत्यन्त आवश्यक था। इस दिशा में कोई कार्य भी नहीं हुआ। इस अभाव की पूर्ति हेतु श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र ने एक योजना बनाई। उसी के तहत प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित होकर आपके हाथ में है। लोकमान्य तिलक के 'केसरी', स्वामी श्रद्धानन्द के 'सद्धर्म प्रचारक' और 'श्रद्धा' तथा बालमुकुन्द गुप्त के 'भारत मित्र' जैसे अखबारों ने स्वाधीनता के लिए समर्पित होनेवाले नवयुवकों एवं नवयुवतियों की एक लम्बी शृंखला खड़ी कर दी। ब्रिटिश साम्राज्य इस वैचारिक आँधी से विचलित हो उठा। इस परिप्रेक्ष्य में 'सद्धर्म' प्रचारक, 'श्रद्धा' और 'लिबरेटर' का अध्ययन अनेक रोमांचक और प्रेरक तथ्यों को हमारे सामने उद्घाटित करता है।

स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी पत्रकारिता के जनक कहे जा सकते हैं। उनके सुपुत्र पंडित इन्द्रजी तो जन्मजात पत्रकार थे। पत्रकार पिता ने पत्रकार पुत्र के साथ गुरुकुल में पत्रकारिता के जिस गोमुख का उद्भव किया, उसे थोड़े ही समय में गुरुकुल के स्नातकों ने विरासत के रूप में अंगीकृत कर प्रशस्त कर दिया, फिर तो एक के बाद एक गुरुकुल स्नातकों की लम्बी कतार हिन्दी पत्रकारिता के भवन को खड़ा करने में जुट गई।

गुरुकुल के पत्रकार लेखकों में भी सत्यदेव विद्यालंकार, श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री सत्यकाम विद्यालंकार, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, श्री हरिवंश विद्यालंकार, श्री अवनिन्द्र कुमार विद्यालंकार, श्री रामगोपाल विद्यालंकार, श्री दीनानाथ सिद्धान्तालंकार, श्री युधिष्ठिर विद्यालंकार, श्री यज्ञदत्त विद्यालंकार, श्री क्षितीक्ष वेदालंकार, श्री ब्रह्मदत्त विद्यालंकार तथा कृष्ण चन्द मेहता के नाम उल्लेखनीय हैं। साहित्यिक दृष्टि से भी श्री सत्यकाम ने 'धर्मयुग' तथा 'नवनीत', श्रीचन्द्र गुप्त ने 'आजकल', 'विश्वदर्शन' तथा 'सारिका', श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति ने 'प्रतिभा', श्री प्रताप विद्यालंकार ने 'अभियान' तथा श्री विद्यासागर

विद्यालंकार ने 'प्रकर' पत्रिकाओं का सम्पादन कर अपने साहित्य की गहरी छाप छोड़ी। श्री विश्वनाथ विद्यालंकार के सम्पादन में प्रकाशित 'वैदिक विज्ञान' मासिक भी सदैव याद किया जाता रहेगा।

विश्वविद्यालय के शताब्दी प्रकाशन ग्रन्थ यज्ञ योजना की यह षष्ठ आहुति है। विश्वविद्यालय ने इसके पूर्व स्वामी श्रद्धानन्द पर सत्यदेव विद्यालंकार तथा डॉ. रणजीत सिंह के ग्रन्थ प्रकाशित किए हैं। पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति पर डॉ. कुशलदेव शंकरदेव कापसे का ग्रन्थ भी यहाँ से प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ स्वामी जी के पत्रकार रूप को प्रामाणिकता के साथ उद्घाटित करता है।

इस ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक के रूप में हिन्दी विभाग के आचार्य तथा प्रकाशन केन्द्र के निदेशक डॉ. विष्णुदत्त जी राकेश को मैं साधुवाद देता हूँ। उन्होंने एक विस्तृत अनुशीलनात्मक भूमिका लिखकर स्वामी जी के पत्रकारिता विषयक योगदान का तलस्पर्शी अनुशीलन प्रस्तुत किया है।

पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ. जगदीश विद्यालंकार ने इस दुर्लभ सामग्री के संकलन एवं प्रकाशन के लिए पर्याप्त दौड़-धूप की, उन्हें सतत् आशीर्वाद। आशा है, विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित अन्य प्रकाशनों के समान सहृदय पाठक इस ग्रन्थ को भी स्नेह पूर्वक अपनाएँगे।

ऋषि बोधोत्सव
25-02-1998

–डॉ. धर्मपाल
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

स्वामी श्रद्धानन्द की पत्रकारिता

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पत्रकारिता को वैचारिक क्रान्ति के संवहन का प्रबल माध्यम स्वीकार किया था। अपने विचारों को सामान्य जन तक पहुँचाने का इससे सुन्दर, व्यापक और सशक्त माध्यम कोई अन्य हो भी नहीं सकता। कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाले 'भारत मित्र' में मिस्टर ह्यूम के वेद विषयक विचारों का खंडन उन्होंने 'पाठक के पत्र' के रूप में प्रकाशित कराया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'चन्द्रिका' के सम्पादक मंडल में श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के साथ उनका नाम भी प्रकाशित कराया था। 'कविवचन सुधा' में स्वामी के कार्यों पर विवरण भी यदाकदा प्रकाशित किया जाता था। शाहजहाँपुर उत्तरप्रदेश से मुंशी बख्तावर सिंह ने 1870 में स्वामी जी की प्रेरणा से 'आर्य दर्पण' नामक साप्ताहिक पत्र उर्दू में निकालना प्रारम्भ किया। स्वयं स्वामी जी ने इस पत्र के सम्बन्ध में एक प्रशंसात्मक विज्ञप्ति प्रकाशित कराई।

'आर्य दर्पण' नामक पत्र उर्दू में आर्यसमाज शाहजहाँपुर की ओर से प्रकाशित होता है। इसमें वेदादि सत्यशास्त्रानुकूल सनातन धर्म के विषय के व्याख्यान और आर्यसमाज के नियम-उपनियम आदि प्रकाशित होते हैं जो उसको देखने से मालूम होगा। जो इसको लेना चाहें वे अपना नाम पते सहित लिखकर 'मुंशी बख्तावर सिंह, मैनेजर, आर्य दर्पण, शाहजहाँपुर' के पास भेज दें, पूर्वोक्त पत्र का वार्षिक मूल्य डाक महसूल सहित तीन रुपए छह आने हैं। यह पत्र मेरी समझ में बहुत अच्छा है।

1875 में आर्यसमाज की स्थापना के बाद आर्यसमाज के पत्र हिन्दी भाषा में निकलने लगे। मुंशी बख्तावर सिंह ने इसी वर्ष 'आर्य भूषण' नामक मासिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया। 1879 में फर्रुखाबाद से 'भारत सुदशा प्रवर्तक', उदयपुर से 'सज्जन कीर्ति सुधाकर', 1882 में अजमेर से 'देशहितैषी' तथा 1884 में कानपुर से 'वेदप्रकाश' नामक पत्र प्रकाशित हुए। ये सभी पत्र स्वामीजी के जीवनकाल में प्रकाशित हुए। वेद प्रकाश का प्रकाशन बाद में मेरठ से होने लगा।

आर्यसमाज का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार पंजाब में हुआ। पंजाब उर्दू भाषा का गढ़ था। वहाँ उर्दू में समाचार पत्र निकल रहे थे। उत्तर प्रदेश में भी उर्दू का बोलबाला

था। 1845 में काशी से शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने बनारस अखबार निकाला। यद्यपि यह पत्र नागरी लिपि में प्रकाशित हुआ था पर इसकी भाषा एवं शैली उर्दू थी। यही नहीं, राजस्थान के प्रथम पत्र 'मजहरुल सरूर' (भरतपुर से प्रकाशित) की भाषा भी हिन्दी के साथ उर्दू ही थी। यह पत्र 1852 में प्रकाशित हुआ था। ग्वालियर सरकार द्वारा 1861 में प्रकाशित होनेवाले ग्वालियर गजट की भाषा भी हिन्दी और उर्दू दोनों थीं। एक अच्छी बात इस दौर के पत्रों में यह थी कि इनका स्वर आज़ादी की तड़प से भर उठा था। स्वामी दयानन्द तथा भारतेन्दु ने राष्ट्रीयता का प्रदीप्त स्वर जनता में फूँका और अनेक यातनाओं तथा यन्त्रणाओं को सहकर भी भारतीय पत्रकार अपने लक्ष्य से विचलित न हुए।

स्वामी दयानन्द के कार्यों को पूरा करने का गुरु संकल्प लेकर स्वामी श्रद्धानन्द आगे आए। उन्होंने स्वामीजी के विचारों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए पत्रकारिता का सहारा लिया। आर्यसमाज मूर्तिपूजा, श्राद्ध, तीर्थाटन तथा जन्मना जाति सिद्धान्त का विरोध करता था। क्रान्ति की प्रतिक्रिया में सनातनी पंडितों ने इनका मंडन करना प्रारम्भ किया। फलतः खंडन-मंडनात्मक शैली में पुस्तकें, ट्रैक्ट्स, पत्र निकलने लगे। भाषा में उर्दू तथा हिन्दी का मिश्रण होने लगा। हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा के नमूने के लिए 'बनारस अखबार' की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

"यहाँ जो पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं की मदद से बनता है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है। अब वो मकान एक आलीशान बन्ने का निशान तैय्यार हर चेहार तरफ से हो गया बल्कि इसके नक्शे का बयान पहले मुंदर्ज है सो परमेश्वर की दया से साहब बहादुर ने बड़ी तन्देही मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है। देखकर लोग उस पाठशाला के किले के मकानों की खूबियाँ अक्सर बयान करते हैं और उसके बनने से खर्च का तज़वीज करते हैं कि जमा से ज़ियादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के है सो यह सब दानाई साहब मसदूह की है, खर्च से दूना वह लगावट में मालूम होता है।"

पंडित श्री नारायण चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी का आदिकाल' में ठीक ही लिखा है कि आर्यसमाज का अधिक जोर पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश (विशेषकर मेरठ और रुहेलखंड) में था। वहाँ के हिन्दू राजनीतिक एवं ऐतिहासिक कारणों से उर्दू पढ़ते थे और वहाँ आर्यसमाज का अधिकतर प्रचार उर्दू पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों द्वारा होता था। यद्यपि स्वामीजी हिन्दी के पक्षपाती थे जिसे वे आर्यभाषा कहते थे और आर्यसमाजियों को उसे सीखने पर बल देते थे, तथापि उर्दू के अभ्यस्त पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अधिकांश आर्यसमाजी उर्दू ही जानते थे। अतएव उनका उस समय अधिक लिखित प्रचार उर्दू के द्वारा ही होता था। इतना अवश्य था कि इन उर्दू पत्रों और पुस्तकों की उर्दू में धर्म

सम्बन्धी कितने ही संस्कृत शब्द उर्दू लिपि में लिखे जाने लगे जिससे आर्यसमाज के उर्दू प्रकाशनों की भाषा पर परिष्कृत उर्दू के हिमायती नाक-भौं सिकोड़ते थे।''

स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुंशीराम) ने इसीलिए उर्दू के गढ़ पंजाब में आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार तथा वैदिक धर्म के अंग-उपांगों के प्रकाशनार्थ कन्या महाविद्यालय जालन्धर के संस्थापक लाला देवराज के सहयोग से 'सद्धर्म प्रचारक' (साप्ताहिक) उर्दू में निकाला। इसका प्रथम अंक 19 फरवरी, 1889 को प्रकाशित हुआ था। अर्जुन तिवारी ने 'हिन्दी पत्रकारिता का वृहद् इतिहास' में 'सद्धर्म प्रचारक' का प्रकाशन वर्ष 1890 दिया है जो अशुद्ध है। उनका यह कथन भी सत्य नहीं कि प्रारम्भ में यह पत्र हिन्दी तथा उर्दू दोनों में छपता था। 'सद्धर्म प्रचारक' पूर्णतया उर्दू में छपता था। उसका हिन्दी संस्करण तो 1907 में निकला। इसी वर्ष तिलक जी के मराठा पत्र 'केसरी' का हिन्दी संस्करण श्री माधवराव सप्रे के सम्पादन में निकलना प्रारम्भ हुआ।

'सद्धर्म प्रचारक' के प्रकाशन के सम्बन्ध में स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—''आर्यसमाज जालन्धर के तीसरे वार्षिकोत्सव से पूर्व ही अपना प्रेस खोलकर समाचार पत्र निकालने पर विचार किया गया। उन्हीं दिनों मेरे पास होशियारपुर के आर्यसमाजियों का पत्र आया, जिसमें लिखा था कि आर्यसमाज की ओर से समाचारपत्र चलाने के लिए कोई कम्पनी बनाई जावे तो एक हिस्सा वह भी देंगे। इस पर मैंने दो हिस्से स्वयं लेकर 16 हिस्से पच्चीस रुपए के स्थिर किए।''

प्रेस का नाम 'सद्धर्म प्रचारक' रखा गया। अखबार की नीति का अधिकार सम्पादकों को सौंपा गया, उसमें कोई भी हिस्सेदार हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। 'प्रचारक' नाम से आठ पृष्ठों का उर्दू साप्ताहिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया। प्रचारक के प्रथम अंक में सम्पादकीय देवराज जी ने लिखा था और मुख्य लेख मुंशीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द) का प्रकाशित हुआ था। 'सद्धर्म प्रचारक' की भाषा उर्दू थी पर उसकी प्रकृति पूर्णतया संस्कृत-हिन्दी के अनुरूप थी। प्रचारक के मुख पृष्ठ पर आर्यसमाज के दस नियम प्रकाशित होते थे। पत्र की भाषा का एक नमूना अवलोकनीय है—

''वैदिक धर्म की बुजुर्गी का सबूत इससे बढ़कर और कोई नहीं हो सकता। उसकी गरज़ आदर्श जीवन बिताना है। कोई जमाना था कि अंग्रेजी तालीम और अंग्रेज तहजीब के भँवर में पड़कर भारत निवासियों का यह ख्याल हो चला था कि धर्म को व्यापार से अलग कर देना चाहिए और अंग्रेजी तालीम पर ही क्या मुनहसर है। नवीन वेदान्त की जाहिली तालीम ने भी इस बारे में लोगों के ख्याल बहुत कुछ बिगाड़ दिए थे लेकिन आखिरकार साधु-सन्त अपना असर दिखाए बगैर नहीं रह सकता था। हाल में ही विलायत के एक मशहूर रिसाले में डरहम के पस पादरी साहब ने एक बड़ा जबरदस्त मजमून छपवाया है, जिसमें उन्होंने जाहिर किया

है कि ईसाई धर्म बेमाना है⋯जब तक कि मत/शास्त्रों और मजहब की टेढ़ी चाल को छोड़कर वैदिक धर्म की शरण नहीं आते तब तक मुकम्मल इन्सानी जिन्दगी पैदा करना वहमो ख़्याल से बढ़ कर नहीं है।''

'सद्धर्म प्रचारक' में महात्मा मुंशीराम जी के धर्म, राजनीति तथा शिक्षा विषयक विचारों का प्रकाशन होता था। पत्र का मुख पृष्ठ पर 'ओऽम' तथा 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' एवं 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' मंत्रांश छपते थे। मंत्रांशों के एक ओर विक्रमीसंवत्, मध्य में दयानन्दाब्द तथा अन्त में दूसरी ओर ईसवी सन मुद्रित रहता था। लगभग 18 वर्षों तक यह पत्र सफलतापूर्वक निकलता रहा।

एक दिन किसी व्यक्ति ने महात्मा जी से कहा कि आप स्वामी दयानन्द के शिष्य हो, आर्यभाषा के हिमायती हो, आर्यसमाज के सेवक बनते हो पर अखबार उर्दू में क्यों निकालते हो ? महात्मा जी ने अगले ही दिन पत्र में यह घोषणा कर दी कि 'सद्धर्म प्रचारक' अब हिन्दी में प्रकाशित होगा। पत्र यद्यपि घाटे में चल रहा था पर महात्मा जी ने इसकी चिन्ता न की। उनका कहना था कि यदि गुजराती होते हुए भी महर्षि दयानन्द हिन्दी में ग्रन्थ लिख सकते हैं, संस्कृत के प्रकांड विद्वान होते हुए हिन्दी में भाषण देने का व्रत ले सकते हैं तो हम उनके अनुयायी हिन्दी में पत्र क्यों नहीं निकाल सकते ? 1906 में 'सद्धर्म प्रचारक' हिन्दी में निकलना शुरू हुआ। पंजाब में उस समय हिन्दी का यह सबसे पहला साप्ताहिक पत्र था जिसने वैदिक साहित्य के प्रचार-प्रसार के साथ आर्यसमाज के सिद्धान्तों को लोकप्रिय बनाने में अहम् भूमिका अदा की।

राजनीतिक दृष्टि से यह युग लोकमान्य तिलक का था। तिलक के स्वराज्य विषयक क्रान्तिकारी विचारों की सर्वत्र धूम थी। उनका मराठी पत्र 'केसरी' सिंहनाद कर रहा था। हिन्दीभाषी जनता को उस सामग्री से अवगत कराने के लिए 1907 में ही पंडित माधवराव सप्रे ने 'केसरी' का हिन्दी-संस्करण निकालना प्रारम्भ किया। हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में इसी वर्ष महामना मालवीय ने 'अभ्युदय' निकालकर एक नई चेतना का संचार किया। सप्रे जी के सहयोगियों में पंडित जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल तथा श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी के नाम उल्लेखनीय हैं। 1909 में सप्रे जी को राजद्रोह के अभियोग में गिरफ्तार कर लिया गया। महात्मा मुंशीराम जी ने 1908 में सद्धर्म प्रचारक प्रेस गुरुकुल कांगड़ी भेज दिया। इस प्रकार एक वर्ष बाद यह पत्र कांगड़ी से निकलने लगा। इस पत्र के व्यवस्थापक पंडित अनन्तराम शर्मा थे।

राजनीतिक दृष्टि से लॉर्ड कर्जन ने भारतवासियों के प्रति घृणा और आक्रोश को अपने भाषणों में अभिव्यक्ति दी। कलकत्ता विश्वविद्यालय में बुद्धिजीवियों के बीच उन्होंने पूरब के निवासियों को मिथ्यावादी कहकर भारतीय गौरव पर प्रहार किया। वह स्वयं को पश्चिमी संस्कृति का उत्कृष्ट प्रतीक मानते थे। 'भारत मित्र' के यशस्वी निर्भीक सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने इसका प्रतिवाद करते हुए

लिखा—"जिस स्वदेश को श्रीमान् ने आदर्श सत्य का देश कहा और वहाँ के लोगों को सत्यवादी कहा, उसका आला-नमूना क्या श्रीमान् ही हैं ? आप बारम्बार अपने दो अति तुमतराक से भरे कामों का वर्णन करते हैं। एक विक्टोरिया मेमोरियल हाल और दूसरा दिल्ली दरबार। पर जरा सोचिए तो, यह दोनों काम शो हुए या ड्यूटी। विक्टोरिया मेमोरियल हाल चन्द पेट भरे अमीरों के एक दो बार देख आने की चीज़ होगा। इससे दरिद्रों का दुःख घट जावेगा या भारतीय प्रजा की कुछ दशा उन्नत हो जावेगी, ऐसा तो आप भी न समझते होंगे।" बंगभंग तथा जून, 1908 के कठोर प्रेस नियम के कारण वह जनता की आँख की किरकिरी बन गया।

सम्राट जार्ज पंचम के दिल्ली दरबार के अवसर पर 'सद्धर्म प्रचारक' को दैनिक कर दिया गया। महात्मा जी को इस अवसर पर विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया। इन्द्र जी ने इस पत्र के सम्पादन का दायित्व सँभाला। लगभग दस दिन तक दैनिक निकलने के बाद यह पुनः साप्ताहिक हो गया। महात्मा जी ने दिल्ली दरबार के समय 'सम्राट, तुम यहीं रहो' लेख लिखकर विवाद को भी जन्म दिया। जैसे भारतेन्दु की कुछ पंक्तियों को राजभक्ति के नमूने के रूप में उद्धृत किया जाता है, वैसे ही महात्मा जी के इस लेख को आलोचक उद्धृत कर सकते हैं पर इसकी तह में जाने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दू-मुस्लिम रियासतों के आर्यसमाज विषयक प्रतिरोधों के चलते महात्मा जी को यह करना पड़ा। आर्यसमाज के प्रचार के कार्य में गति ब्रिटिश सरकार की शासन-व्यवस्था के कारण ही आई।

इतना होने पर भी कर्जन जैसे दम्भी शासकों की संस्कृति विषयक नीतियों का उन्होंने घोर विरोध किया। 21 जून, 1911 को उन्होंने 'सद्धर्म प्रचारक' में लिखा—"हमारी पूर्वी सभ्यता को निर्बल एवं निरर्थक समझना भारी भूल है। हमारी सभ्यता कच्चे अवयवों से नहीं बनी बल्कि हिमालय की चोटी की तरह स्थिर है। पूर्वी सभ्यता दृढ़ और स्थायी है जब कि पश्चिमी सभ्यता चंचल है। पूर्वी सभ्यता आध्यात्मिक है जबकि पश्चिमी सभ्यता प्राकृतिक है। पूर्वी सभ्यता नम्र और उदार है जबकि पश्चिमी सभ्यता गर्वित है। केवल दो सौ साल की उत्कृष्टता से ही अपने को महान समझना भूल है, हमारी सभ्यता तो हजारों साल तक विजय से अपना मस्तक ऊँचा रख चुकी है।"

महात्मा जी कभी दुराग्रही नहीं रहे। वह व्यक्ति के गुण-दोषों की चर्चा निष्पक्ष करते थे। यद्यपि कर्जन की नीतियों से वह सहमत नहीं थे पर उसकी विद्वता से वह असाधारण रूप से प्रभावित थे। 8 मार्च, 1907 के 'सद्धर्म प्रचारक' में छपी एक टिप्पणी से अनुमान लगाया जा सकता है। "ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के चांसलर पद के योग्य लॉर्ड कर्जन, लॉर्ड रोज़बेरी तथा सेंट एलडिन महाशयों के नाम बतलाए गए हैं जिनमें से लॉर्ड कर्जन के चांसलर बनने की विशेष सम्भावना

है। भारत के भूतपूर्व वायसराय की राजनीतिक बुद्धि के विषय में चाहे भारत निवासियों की कुछ ही सम्मति हो तथापि यह मानना पड़ता है कि वह न केवल स्वयं ही विद्वान थे प्रत्युत विद्वानों का सत्कार करनेवाले भी थे। मुझे लॉर्ड कर्जन को विशाल हृदय मानने में कभी भी संकोच नहीं हुआ, इसलिए इस समाचार को पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई।''

लॉर्ड कर्जन की गुणग्राहकता के सम्बन्ध में काशी के प्रसिद्ध विद्वान महामहोपाध्याय श्री गंगाधर शास्त्री तैलंग सी.आई.ई. की शास्त्र चर्चा विश्रुत है। काशी नरेश महाराजा प्रभुनारायण सिंह जी, नेपाल नरेश के राजगुरु पंडित हेमराज शर्मा एवं पंचनदीय पंडित सुदर्शनाचार्य उनके शिष्य थे। महामहोपाध्याय पंडित रामअवतार शर्मा, महामहोपाध्याय पंडित नित्यानन्द पन्त तथा स्वनामधन्य श्री दामोदर लाल गोस्वामी उनके बहु विश्रुत शिष्य थे। एक बार शाहपुरा रियासत के राजा नाहरसिंह ने अपने राजपुरोहित को शास्त्री के पास वेदाध्ययन के लिए भेजा। महाराज आर्यसमाजी थे। यह बात जब शास्त्री जी को ज्ञात हुई तो उन्होंने आर्यसमाजी पुरोहित को पढ़ाने से मना कर दिया। शाहपुरा के महाराज गुरुकुल कांगड़ी में एक अध्ययनपीठ की स्थापना के लिए भी अनुदान दिया था। शाहपुराधीश ने शास्त्री जी की शिकायत लॉर्ड कर्जन से की। परिणामतः काशी यात्रा के मध्य डॉ. वेनिस की उपस्थिति में कर्जन साहब ने शास्त्री जी से जवाबतलब करते हुए न पढ़ाने का कारण जानना चाहा। शास्त्री जी के साथ इस अवसर पर काशीराज महाराज, प्रभुनारायण सिंह तथा महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी भी थे। लॉर्ड कर्जन तथा शास्त्री जी के बीच वादविवाद और गम्भीर विमर्श हुआ। जब डॉ. वेनिस ने बताया कि शास्त्रीजी से संस्कृत का कोई भी विषय अछूता नहीं है तो लॉर्ड अत्यन्त प्रभावित हुआ। उनके संस्कृत भाषा में धाराप्रवाह भाषण, युक्तियुक्त विषय प्रतिपादन तथा सतर्क प्रस्तुति से लॉर्ड कर्जन चुप हो गया। आचार्य पंडित बलदेवजी उपाध्याय ने लिखा है कि शास्त्री जी के लोकातीत वैदुष्य से प्रभावित होकर ही शास्त्री जी को दिल्ली दरबार के अवसर पर सी.आई.ई. की उपाधि दी गई यद्यपि वह स्वयं दरबार में उपस्थित न हो सके।

स्वामी श्रद्धानन्द कर्जन की गुणग्राहकता की इसीलिए प्रशंसा करते हैं। इसे कोरी राजभक्ति मानना उचित नहीं।

यदि 1895 से 1896 तक के 'सद्धर्म प्रचारक' के अंकों का अध्ययन किया जाए तो धर्म सम्बन्धी विषयों के अतिरिक्त स्त्री शिक्षा, आर्यसमाज, सरकारी स्कूल और मजहबी तालीम, नेशनल कांग्रेस, गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता, संस्कृत की उन्नति के लिए दलील, राज्य और धर्म का गहरा सम्बन्ध तथा बंगाली क्रान्तिकारिता जैसे विषयों पर बड़ी बेबाक टिप्पणी की गई है। 1889 से लेकर 1907 तक के 18 वर्षों के अंकों की सामग्री पर 1907 के प्रचारक में किसी जयपुर

निवासी ब्राह्मण की प्रतिक्रिया प्रकाशित हुई। उसे पढ़कर इस सामग्री की महत्ता का पता चलता है—"जिस करुणावरुणालय भगवान की कृपा से प्रचारक के 18 वर्ष व्यतीत हो गए, उसी के अनुग्रह से और अष्टादशवर्ष व्यतीत हो जाना कौन बड़ी बात है। जैसे महाभारत 18 पर्वों में विभक्त होकर अनेक विषयों से लबालब भरा पड़ा है वैसे ही प्रचारक के प्रतिवर्ष के फाइल भी एक-एक पर्व का काम देनेवाले हैं। मुझे आशा है कि उत्तमोत्तम लेखों से नागरी प्रचारिणी का यह पत्र उपकारक होगा।"

यह भी तर्कसंगत जान पड़ता है कि 'सद्धर्म प्रचारक' को हिन्दी पत्र बनाने में प्रत्यक्ष रूप से सप्रे जी की भूमिका रही है। तिलक जी की प्रेरणा से कोल्हापुर के प्रोफेसर वीजा पुरकर ने जहाँ मराठी की ग्रन्थमाला की स्थापना की, वहीं सप्रे जी ने नागपुर में 1906 में हिन्दी ग्रन्थमाला की स्थापना की। इसी के प्रथम अंक में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का जान स्टुअर्ट मिल द्वारा लिखित 'लिबर्टी' नामक निबन्ध का हिन्दी अनुवाद 'स्वाधीनता' नाम से प्रकाशित हुआ। इसके 'स्वदेशी आन्दोलन और बायकाट' जैसे लेखों ने क्रान्ति की आग भड़काने का काम किया। सप्रे जी ने 1900 में प्रकाशित पत्र 'छत्तीसगढ़ मित्र' के जनवरी 1902 के अंक में 'भारतीय शिक्षा व्यवस्था की अधोगति' शीर्षक लेख लिखकर स्वामीजी के विचारों को ही सामने रखा। हिन्दू समाज के लिए सप्रे जी ने आर्यसमाज से प्रभावित होने के कारण आर्यसमाज शब्द का व्यवहार किया है। उन्होंने लिखा—"लोक शिक्षा के सम्पूर्ण अभाव में छत्तीसगढ़ के समान शोचनीय दशा किसी दूसरे प्रान्त की नहीं होगी। यहाँ की प्रजा अत्यन्त दरिद्र होने के कारण उच्च ज्ञान के लिए सदैव वंचित रहती है। इसलिए विद्योन्नति में जिसका नम्बर सबसे पीछे है, वह मध्यप्रदेश और विशेषकर छत्तीसगढ़ विभाग जो आज केवल बाल्यावस्था में है, हर प्रकार की विद्या, कला और कुशलता में प्रवीण होकर उच्चपद को पहुँचे, यही हमारा मुख्य उद्देश्य है। सारांश ऐसे-ऐसे उपायों की योजना करने का हमारा विचार है जिनसे हमारा यह जंगली प्रदेश छत्तीसगढ़ आत्मोन्नति कर अन्यान्य प्रदेशों की योग्यता को पहुँचे और अपने सम्पूर्ण आर्यसमाज को सुखी कर सके।"

सप्रे जी की हिन्दी निष्ठा की उन्मुक्त भाव से प्रशंसा करते हुए महात्मा मुंशीराम लिखते हैं—"भारतमित्र, बंगवासी, हितवार्ता ये प्रसिद्ध पत्र कलकत्ते से देवनागरी में निकलते हैं। दक्षिण में नागपुर से पंडित माधवराव सप्रे बी.ए. के द्वारा सम्पादित होकर 'हिन्दी ग्रन्थमाला' के नाम से एक मासिक पत्र सुपरिष्कृत आर्यभाषा हिन्दी में एक वर्ष के लगभग से निकलता है। हिन्दी 'केसरी' के जन्मदाता उक्त सप्रे महाशय होनेवाले हैं। पंडित बालगंगाधर तिलक के गम्भीर लेखों को हिन्दी के बहुत से प्रेमी पढ़ नहीं पाते थे। इसी से कतिपय सज्जनों ने उनके 'केसरी' को हिन्दी में निकालना विचारा है। उत्तर प्रदेश में बहुत स्थानों में नागरी विराजमान

हो रही है, युक्त प्रान्त भी उससे शून्य नहीं। एक पंजाब ही नागरी का आदर कम करता था पर हर्ष की बात है कि पंजाब में भी अब नागरी का दखल हो चला है। लाहौर से नागरी में 'स्वदेश बन्धु' कुछ दिन पूर्व से ही निकला है और अब 'सद्धर्म प्रचारक' जालन्धर से निकलना शुरू हो गया है। इसलिए नागरी प्रेमियों के लिए यह हर्ष का स्थान है। इस पत्र ने उर्दू के वेश में जो आर्य सन्तान का उपकार किया है उससे सज्जन परिचित हैं। इसका उद्देश्य पूर्व यह भी था कि उर्दू भाषा के द्वारा आर्यसामाजिक तथा अन्य भाई आवश्यक संस्कृत वा भाषा के शब्दों से परिचित हों क्योंकि ऋषि दयानन्द अपने उपनियमों में लिख गए हैं कि प्रत्येक आर्य को आर्यभाषा जानना आवश्यक है। समस्त देश में नागरी लिपि और नागरी भाषा का प्रचार करना ही कल्याणकारक है।''

1907 के 'सद्धर्म प्रचारक' की उक्त टिप्पणी से जिन हिन्दी के प्रमुख पत्रों का संकेत मिलता है, उनमें 1878 में प्रकाशित होनेवाले पत्र 'भारतमित्र', 1890 में प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी बंगवासी' तथा 1903 में प्रकाशित होनेवाले पत्र 'हितवार्ता' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। 'भारतमित्र' के सम्पादक बालमुकुन्द गुप्त, 'हिन्दी बंगवासी' के सम्पादक पंडित अमृतलाल चक्रवर्ती तथा 'हितवार्ता' के सम्पादक पंडित रुद्रदत्त शर्मा से स्वामी जी बड़े प्रभावित थे। 1908 में पंडित रुद्रदत्त शर्मा को 'सत्यवादी' का सम्पादक मनोनीत कर महात्मा जी ने पूर्णरूपेण सहायता की थी। 'हिन्दी बंगवासी' उन्हें इसलिए भी प्रिय था कि हिन्दी सम्बन्धी अनेक लेखमालाएँ इसी पत्र से निकलीं।

ऋषि दयानन्द एवं भारतेन्दु ने स्त्री शिक्षा की अनिवार्यता स्वीकार की थी। भारत के पिछड़ेपन का एक कारण नारियों का अशिक्षित होना भी था। भारतेन्दु ने 1874 में स्त्री शिक्षा के निमित्त 'बाला बोधिनी' नामक मासिक पत्रिका निकाली थी। जालन्धर से जब लाला देवराज तथा श्रीमती सावित्री देवी ने 'पांचाल पंडिता' नामक मासिक पत्रिका निकाली तब उसे प्रोत्साहित करने के लिए महात्मा जी ने 8 मार्च, 1907 के 'सद्धर्म प्रचारक' में लिखा—''पांचाल पंडिता एक माहवारी 24 पृष्ठ का पत्र है, जिसका उद्देश्य स्त्री शिक्षा का प्रसार, स्त्री जाति का उद्धार करना है। उत्तमोत्तम, शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक के अतिरिक्त गृहस्थाश्रम, जीवन-चरित्र सम्बन्धी लेख तथा अन्यान्य समाचार प्रकाशित होते हैं। यही समाचार पत्र है जिसके विषय में शिक्षा विभाग की टेक्स्ट बुक कमेटी ने हिन्दी कन्या पाठशालाओं में प्रचारित करने की आज्ञा दी है। इसके सम्पादक लाला देवराज और श्रीमती सावित्री देवी हैं। चन्दा दो रुपए वार्षिक है जो अग्रिम लिया जाता है।''

'पांचाल पंडिता' हिन्दी और अंग्रेजी में आधा-आधा प्रकाशित होती थी। इसके उत्तरार्ध में 'सुकुमारी' शीर्षक से छोटी बालिकाओं के लिए भी सामग्री दी जाती थी। इससे पूर्व बैरिस्टर रामरौशन लाल जी की पत्नी हरदेवी जी 1888 में लाहौर

से 'भारत भगिनी' नामक पत्रिका निकाल चुकी थीं। 'पांचाल पंडिता' के प्रकाशन के मूल में महात्मा मुंशीराम जी की प्रेरणा थी। इसके बाद 1938 में कन्या गुरुकुल, कनखल से श्रीमती शकुन्तला देवी ने 'उषा' नामक पत्रिका निकाली। 1926 में महात्मा जी की प्रेरणा से श्री दीनानाथ सिद्धान्तालंकार ने 'विधवा बन्धु' नामक मासिक पत्र निकाला। नारी-समस्या पर यह अपने युग का अच्छा अखबार था। इस प्रकार नारी-जागरण के लक्ष्य से नारी विषयक पत्रों के निकालने में भी महात्मा मुंशीराम की सक्रिय प्रेरणा ही फलवती सिद्ध हुई।

सन् 1900 में महात्मा मुंशीराम जी ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का आधुनिक सन्दर्भ में पुनरुद्धार कर उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली को व्यर्थ, देशप्रेमरहित तथा पराधीन मनोवृत्ति का पोषक सिद्ध कर त्याज्य ठहराया। काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री विधुशेखर भट्टाचार्य ने 29 मार्च, 1907 के 'सद्धर्म प्रचारक' में एक लेख प्रकाशित कराया। उन्होंने लिखा–"मुख्य तीर्थ से मेरा प्रयोजन गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार से है जहाँ की जलवायु विलक्षण है। संस्कृत और अंग्रेजी के धुरन्धर विद्वान हैं। सदाचार की पराकाष्ठा है, उसे तीर्थ न कहें तो किसे कहें ?"

ये वाक्य किसी साधारण व्यक्ति के नहीं हैं। विधुशेखर जी ने न्यायशास्त्र के विख्यात विद्वान महामहोपाध्याय कैलाशचन्द्र शिरोमणि से न्यायशास्त्र तथा महामहोपाध्याय सुब्रह्मण्यम शास्त्री से वेदान्त का अध्ययन किया था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उन्हें शान्ति निकेतन में आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित कर शान्ति निकेतन को विद्यातीर्थ बना दिया था। फ्रांस के संस्कृतज्ञ डॉ. सिलवांलेवी तथा जर्मनी के डॉ. विन्टरनित्ज़ उनके पांडित्य के प्रबल प्रशंसक थे। उन्होंने अनेक विलुप्तप्राय बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती मूल से संस्कृत में रूपान्तरण का कार्य किया। वह महायानी बौद्ध ग्रन्थों के उद्धारकर्ता महावाराह थे। 1932 में वह गुरुकुल कांगड़ी में दीक्षान्त के लिए भी पधारे।

महात्मा जी ने गुरुकुलीय शिक्षा पर अनेक लेख लिखकर अपने मन्तव्य स्पष्ट किए। ऋषि दयानन्द के शिक्षा विषयक सिद्धान्तों और पाठ विधि को उन्होंने ठोस व्यावहारिक रूप प्रदान किया। गुरु-शिष्य सम्बन्ध, आश्रम व्यवस्था, ब्रह्मचर्य, समान भोजन, वस्त्र तथा आवास निःशुल्क शिक्षा आर्षग्रन्थों की शिक्षा तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति उन्होंने शिक्षा का मूल लक्ष्य निर्धारित किया। उन्होंने 22 जुलाई, 1908 को 'सद्धर्म प्रचारक' में लिखा–"वैदिक आदर्शों को पुनरपि जीवित करने का समय आ गया है और उसके लिए काम करने वालों की परमात्मा स्वयं सहायता करते हैं।"

1908 के 'सद्धर्म प्रचारक' के विभिन्न अंकों में उन्होंने गुरुकुलीय शिक्षा तथा पाठ्य विषयों की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है। 'सद्धर्म प्रचारक' के 28

फरवरी, 1912 के अंक में 'सच्ची शिक्षा' शीर्षक लेख लिखकर भारतीय शिक्षा प्रणाली की महत्ता स्थापित की गई है। स्वामीजी रूढ़िवाद और अन्धविश्वासों से मुक्त संस्कृत शिक्षा के पक्षधर थे। उन्होंने प्राचीन ढर्रे की संस्कृत शिक्षा को सर्वथा अनुपयोगी माना था। उन्होंने 1912 के अंक में लिखा–"ऐसे समय में गुरुकुल ही एक ऐसा माध्यम है जिसमें संस्कृत की शिक्षा को आर्ष पद्धति के अनुरूप देकर मन और बुद्धि को उदार बनाया जा सकता है। गुरुकुल इस दिशा में कार्य कर रहा है।" 21 फरवरी, 1912 के अंक में उन्होंने धार्मिक शिक्षा की उपयोगिता बताते हुए लिखा था–"शिक्षा में धार्मिक शिक्षा भी होनी चाहिए। जहाँ बच्चे का शारीरिक, मानसिक विकास आवश्यक है, वहाँ पर आत्मिक विकास भी जरूरी है क्योंकि शिक्षा का सर्वांगीण होना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब उसमें धार्मिक शिक्षा का भी समावेश हो।"

गुरुकुल में छात्रों के प्रवेश तथा जनता द्वारा चन्दा दिए जाने की अपील भी 'सद्धर्म प्रचारक' में छपती थी। सरकारी अनुदान को ठुकराकर स्वामी जी ने पूर्णतया राष्ट्रीय शिक्षा की नींव डाली। 25 जनवरी, 1907 के 'सद्धर्म प्रचारक' में प्रेमनारायण जी की प्रकाशित यह नज़्म हमारा ध्यान बरबस आकृष्ट करती है :

दौलते दुनिया फानी का नहीं कुछ एतबार।
इक जगह देखा नहीं हमने कहीं इसका करार।
आज वो मुफलिस हैं कल रखते थे ज़र जो बेशुमार।
ऐसी दौलत उमर इन्सानी है खुद नापायदार।
वेहतरी मतलूब है ग़र आपको कल के लिए।
दीजिए दिल खोलकर चन्दा गुरुकुल के लिए।।

जो लिखे हैं वेद में इन्सान के चार आश्रम,
ब्रह्मचर्य उनमें मुकद्दम है ये है उनमें रकम।
है जरूरी सबसे इसको जानते एहले इलम।
तीनों हो सकते नहीं इसके लिए इस्लामुन्तेजम।
इल्म में, तहजीब में, सनत में और फन में भी।
रास्तबाज़ी का नमूना सबको दिखलाएँगे ये।

शिक्षा के अतिरिक्त शोषण के विरुद्ध भी महात्मा जी ने अपनी कलम उठाई। 1871 में अल्मोड़ा से प्रकाशित 'अलमोड़ा अखबार' में कुली उतार, बेगार प्रथा तथा जंगली बन्दोबस्त के खिलाफ आवाज उठाई। यह पत्र 1918 तक कभी साप्ताहिक, तो कभी पाक्षिक रूप में निकलता रहा। इसके यशस्वी सम्पादक पंडित बद्रीदत्त पांडे ने जब अपने सम्पादकीय लेखों से अंग्रेजों के विरुद्ध आग उगलना शुरू किया तो

शासन ने इसके प्रकाशन पर रोक लगा दी। 1907 में गिरिजादत्त नैथानी ने देहरादून से 'पुरुषार्थ' साप्ताहिक निकालना शुरू किया। 1905 में पंडित विश्वम्भरदत्त गढ़वाली यूनियन का तेजतर्रार पत्र 'गढ़वाली' साप्ताहिक निकाल ही चुके थे। इन सभी पत्रों का स्वर बेगार-विरोधी था, शोषण-विरोधी था तथा मानवीय अधिकारों की रक्षा से जुड़ा हुआ था। होम पुलिस के अभिलेखों के अनुसार पंडित बद्रीदत्त को अखबार की दुर्वचनी के कारण जेल जाना पड़ा। स्वामी श्रद्धानन्द ने भी इस क्रान्ति स्वर को नई ऊष्मा प्रदान की। उन्होंने 27 मई, 1908 के 'सद्धर्म प्रचारक' में 'अभागे भारतीय कुलियों की दुर्दशा' शीर्षक से एक टिप्पणी लिखी—"दीन भारतवासियों को जब भारत में खाने को अन्न नहीं मिलता तब वे कुली बनकर विदेशों में मजदूरी करने जाते हैं। इनकी जो-जो दुर्दशा नेटाल, केप कालोनी, बोअर देश तथा कैनेडा नामक अंग्रेजी उपनिवेशों में हुई है उसकी कथा तो कई बार प्रसिद्ध हो चुकी। अब समाचार आया है कि अफ्रीका के वंगुइला प्रदेश में भी, जहाँ पोर्चुगीज़ों का राज्य है, भारतीय कुलियों की दुर्दशा हो रही है। इन दुर्दशाओं का समाचार पोर्चुगल की राजधानी लिस्बन नगर के समाचार पत्रों में छपा है। हाँ, संसार को शिक्षा देनेवाले आर्यों की कुछ सन्तति अब ऐसी दीन हो गई कि पेट की ज्वाला बुझाने को भी जहाँ कहीं मजदूरी करने को जाती है, वहीं उसको धक्के मिलते हैं।"

गुरुकुल के अतिरिक्त देहाती पाठशालाओं की दयनीय अवस्था पर भी 'सद्धर्म प्रचारक' के सम्पादक की दृष्टि गई। उन्होंने 21 जून, 1913 के अंक में लिखा—"भारतवर्ष में शिक्षा के साथ ही शिक्षकों की भी दुर्दशा का शेष नहीं है, अच्छे-से-अच्छे शिक्षक को उसकी योग्यता के सामने बहुत कम वेतन मिलता है, विशेषतः ग्रामीण अध्यापकों की बहुत बुरी दशा होती है। देहातों में जो प्राइमरी स्कूल होते हैं, उनमें प्रायः पाठशाला के अध्यापकों को यथेष्ट सम्मान नहीं होता। दस-बीस रुपए मासिक का अध्यापक होता है। किसी-किसी देहाती पाठशालाओं में देखा गया है कि लड़कों के बैठने के लिए बैंच आदि भी नहीं होते। संयुक्त प्रान्त में प्रारम्भिक शिक्षा पर विचार करने के लिए जो कमेटी बैठी है उसको अब यहाँ के देहाती स्कूलों, वर्तमान पाठशालाओं पर भी दृष्टि डालकर इस विषय पर भी विचार करना चाहिए जिससे देहाती पाठशालाओं का सुधार हो।"

स्वामी जी ने इस सम्बन्ध में एक विशेष योजना बनाकर श्री गोपाल कृष्ण गोखले को भिजवाई थी। उन्होंने श्री गोखले को गुरुकुल में विचार-विमर्श के लिए आहूत भी किया था पर स्वामी जी की यह योजना अधूरी ही रह गई। गोखले महाशय की व्यस्तता के कारण सिरे न चढ़ सकी।

स्वामीजी ने मालवीय जी की यूनिवर्सिटी खोलने के इरादे का स्वागत किया था पर उन्होंने कुछ सुझाव भी दिए थे जो स्वामीजी के शिक्षा विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं। 10 मई, 1911 के 'सद्धर्म प्रचारक' में उन्होंने लिखा—"मालवीय

जी अपने विश्वविद्यालयार्थ अच्छा परिश्रम कर रहे हैं। दस लाख से कुछ अधिक रुपयों की प्रतिज्ञाएँ हो चुकी हैं, यूनिवर्सिटी तो बनाई ही जाएगी किन्तु निम्नलिखित प्रार्थनाएँ हम मालवीय जी से कर देना चाहते हैं ताकि उनकी यूनिवर्सिटी पूरा-पूरा आर्य विश्वविद्यालय बन सके–

(1) इसके लिए कोई चार्टर न लिया जाए। देशवासियों के चार्टर को ही पर्याप्त समझा जाए।
(2) पढ़ाई का साधन आर्यभाषा को ही रखा जाए। आर्यभाषा में जो कमी समझी जावे, उसके पूरा कराने का प्रयत्न किया जाए न कि अंग्रेजी या अरबी को उसका स्थान देकर उसे देश-निकाला दे दिया जाए।
(3) उसे सच्चा आर्य विश्वविद्यालय बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमें किसी अनार्य का अधिकार न होने दिया जाए।
(4) पृथक धर्मविद्यालय खोलने का कुछ अर्थ नहीं है क्योंकि इस प्रकार से वह सर्वसम्मत कदापि नहीं हो सकता। पौराणिक धर्म की शिक्षा वहाँ होगी या नहीं, यदि होगी तो वह सर्वसम्मत कदापि नहीं हो सकता।

मालवीय जी काशी में ऐसा नहीं कर पाए। यही कारण है कि विश्वविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर गाँधी जी ने राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के लिए गुरुकुल का स्मरण किया। स्वामी जी के शिक्षा विषयक दृष्टिकोण को समझने के लिए उक्त सन्दर्भ महत्त्वपूर्ण है।

राजनीतिक दृष्टि से यह युग तिलक के प्रभाव को अंकित करनेवाला है। पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 'लोकमान्य तिलक और उनका युग' में लिखा है कि लॉर्ड कर्जन ने अपने कारनामों से देशभर में असन्तोष का बारूद बिखेरा तो तिलक ने उस बारूद को एक केन्द्र में इकट्ठा करके क्रान्ति की अग्नि प्रज्चलित की। तिलक का लक्ष्य 'केसरी' द्वारा सोए हुए शेर को जगाना था। तिलक जी ने केसरी के मुखपृष्ठ पर गर्वित ब्रिटेन को चेतावनी दी थी कि सावधान, निश्चिन्त होकर न विचरना, जब देश की प्रजा नींद से उठ जाएगी तब तुम्हारी खैर नहीं। 'केसरी' के लेखों की ध्वनि यह थी कि केवल माँगने या प्रस्ताव पास करने से कुछ पढ़े-लिखे भारतवासी राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त नहीं कर सकते। उनको प्राप्त करने के लिए नरमेध यज्ञ तक करना पड़ेगा। उस नरमेध यज्ञ में बहिष्कार, असहयोग, कानून भंग और आवश्यक हो तो विद्रोह–सभी कुछ अन्तर्हित था। स्वातंत्र्य रूपी अमूल्य रत्न की प्राप्ति के लिए नरमेध यज्ञ को छोड़कर अन्य समस्त लौकिक साधन व्यर्थ सिद्ध होते हैं। 'केसरी' के लेखों की उग्र राष्ट्रीयता का परिणाम यह हुआ कि तिलक पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया और 1908 में उन्हें छह वर्ष के कारावास

1. भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन और उत्तरप्रदेश की हिन्दी पत्रकारिता–डॉ. ब्रह्मानन्द, पृष्ठ 45

का दंड मिला।[1] स्वामी श्रद्धानन्द ने 1 जुलाई, 1908 के 'सद्धर्म प्रचारक' में समाचार छापा—"पूना, केसरी पत्र के सुप्रसिद्ध सम्पादक तथा मराठा नामक पत्र के अध्यक्ष तथा गर्म दल के राजनीतिकों के मुखिया पंडित बालगंगाधर तिलक गत 24 मई को मुम्बई में पकड़े गए। इन पर राजद्रोह का अभियोग चलाया गया है। पूना में इनके घरों की तलाशी हो रही है।"

तिलक जी के सन्देश ने क्रान्तिकारी आन्दोलन को जन्म दिया। बंगाल में भूपेन्द्रनाथ दत्त आदि ने अनुशीलन समिति गठित कर मार्च, 1906 में 'युगान्तर' पत्र निकाला था। बाद को अनेक नवयुवक कवियों ने बलिदान के स्वरों को अनुगुंजित करने में तिलक जी के सन्देश को ही प्रतिफलित किया। बयालीस के बाद भी ऋषिराज नौटियाल जैसे कवियों ने सोहनलाल जी द्विवेदी के 'वन्दना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो, हो जहाँ बलि शीश अर्पित एक सिर मेरा मिला लो' की तान में कहा :

आज़ादी आसान नहीं है।
मंचों के भाषण से केवल,
गीतों के गायन से केवल,
स्वतन्त्रता की रूठी रमणी देती यौवन दान नहीं है।

तिलक की मर-मिटने की चाह कवियों को तब तक प्रेरणा देती रही, जब तक आजादी नहीं मिली। 1907 में श्रीमती भीकाजी कामा ने 'वन्देमातरम्' निकाला। इन्हीं देवी ने महर्षि दयानन्द के क्रान्तिकारी शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय के साथ विदेशों में सशस्त्र क्रान्ति की योजना बनाई। बर्लिन में आयोजित समाजवादी देशों के सम्मेलन में भारत का तिरंगा ध्वज लहराया। पेरिस में आजादी के लिए सम्पूर्ण उत्सर्ग का सम्बोधन क्रान्तिकारियों को दिया। लाला हरदयाल और वीर सावरकर को मातृभूमि पर मर मिटनेवाले नवयुवकों को तैयार करने की प्रेरणा दी। 1907 में ही कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में उग्रतावादियों का नेतृत्व करने का भार श्री तिलक पर आ गया।

स्वामी श्रद्धानन्द ने 1908 के 'सद्धर्म प्रचारक' में एक इसी प्रकार का और समाचार प्रकाशित किया—

"काल के सम्पादक महाशय शिवराम महादेव परांजपे बम्बई हाई कोर्ट से अभी जमानत पर छूटे हैं। शोलापुर स्वराज्य पत्र के सम्पादक रिमजी राजविद्रोह के अपराध में पकड़े गए हैं। बिहारी पत्र के सम्पादक को बम्बई में प्रेसिडेंसी मैजिस्ट्रेट ने दो वर्ष कठिन कारागार तथा एक हज़ार रुपए जुर्माने का दंड दिया है।"

उत्तरप्रदेश में भी बनारस से प्रकाशित 'कालिदास' पत्र के सम्पादक पर भी राजद्रोह का अभियोग लगाकर आठ हजार रुपए का जुर्माना किया गया।

इसके सम्पादक अपने पुत्र सहित दंडित हुए। पंडित सुन्दरलाल के 'स्वराज्य' ने भी क्रान्ति का बिगुल बजाया। यह उर्दू का पत्र था। इसके तीन सम्पादक ब्रिटिश सरकार के कोपभाजन बने। संसार के इतिहास में शायद ही कोई दूसरा अखबार हो जिसके आठ सम्पादकों को कुल मिलाकर 125 वर्ष की सजाएँ दी गई हों।[1]

तिलक जी से स्वामी श्रद्धानन्द और उनके पुत्र शिष्य इन्द्र जी अभिभूत थे। 1905 के बाद स्वदेशी आन्दोलन के प्रभाव में हरिद्वार के आर्यसमाजियों ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की शपथ ली। तिलक जी पर इन्द्र जी ने पुस्तक लिखकर बाद में श्रद्धा प्रकट की। गाँधी जी के सक्रिय हो जाने पर स्वदेशी की भावना ने जोर पकड़ा। गयाप्रसाद शुक्ल सनेही 'त्रिशूल' की प्रताप में प्रकाशित यह प्रतिज्ञा उस समय लोगों की जुबान पर थी :

चरखे चलावेंगे बनावेंगे स्वदेशी सूत,
कपड़े बुनावेंगे जुलाहों को जिलावेंगे।
चाहेंगे न चमक-दमक चिर चारुताई,
अपने बनाए उर लाय अपनावेंगे।
पावेंगे पवित्र परिधान पाप होंगे दूर,
जब परदेसी वस्त्र ज्वाला में जलावेंगे।
गंजी तनज़ेब से ही देगी जेब तन पर,
गाढ़े में त्रिशूल अब नैन सुख पावेंगे।।

स्वामी श्रद्धानन्द ने खिलाफत आन्दोलन तथा सत्याग्रह में अभूतपूर्व योगदान किया। इसकी चर्चा आगे होगी। यहाँ इतना ही कहना है कि तिलक जी के निधन पर स्वामीजी के पत्र 'श्रद्धा' में श्रद्धासंवलित सामग्री का प्रकाशन स्वामीजी की इस युगपुरुष के प्रति सच्ची आस्था का द्योतक है। आनन्द निधि ने लिखा :

न जाने मिट गया कैसे, ये माथे का तिलक मेरा
मिलेगा अब नहीं कोई, तिलक ऐसा लगाने को।

6 अगस्त, 1920 के 'श्रद्धा' के अंक में स्वामी जी ने मुखपृष्ठ पर ही छापा—''राष्ट्र सूत्रधार राजनीतिक संन्यासी लोकमान्य तिलक की यादगार। जिसके महत्त्व को दिखाने के लिए हम किसी भी विशेषण की आवश्यकता नहीं समझते, जो अपने आपमें एक संस्था रूप था, जिसके व्यक्तित्व के चारों ओर ऐसी बलवती शक्तियाँ इकट्ठी हो गई थीं कि जिससे नौकरशाही थर-थर काँपती थी। जो वर्तमान जागृति

1. भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन और उत्तरप्रदेश की हिन्दी पत्रकारिता—डॉ. ब्रह्मानन्द, पृष्ठ 49

का पिता, वर्तमान राजनीति का एकमात्र आधार और स्वराज्यमय था, उस महापुरुष के लिए सबसे उत्तम यादगार क्या है ? यही कि भारत के प्रत्येक जिले में और ग्राम में जातीय राजनीतिक विद्यालय स्थापित किए जाएँ जिनमें अन्य जातीय शिक्षा के साथ-साथ उन राजनीतिक सिद्धान्तों की विशेष रूप से शिक्षा दी जावे जिनका आजन्म प्रचारक यह संन्यासी रहा है। इन सब विद्यालयों के ऊपर भारत के किसी उत्तम केन्द्र में एक तिलक जातीय विश्वविद्यालय स्थापित किया जावे जिसमें जातीय शिक्षा के साथ-साथ उच्च कोटि की राजनीतिक शिक्षा दी जावे।

इसके अतिरिक्त हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक तिलक स्वराज्य मंडल स्थापित किए जावें जो व्याख्यानों, पुस्तकों तथा अन्य साधनों से एकमात्र 'राष्ट्रीय दल' के राजनैतिक सिद्धान्तों का प्रचार करें।''

इस अपील का व्यापक प्रभाव पड़ा। स्वामी जी ने 3 दिसम्बर, 1920 की श्रद्धा में लाहौर में लाला लाजपतराय द्वारा खोले गए 'तिलक विद्यालय' की सूचना प्रसारित की। 17 दिसम्बर, 1920 की श्रद्धा से ही पता चलता है कि इलाहाबाद के तिलक विद्यालय का उद्घाटन महात्मा गाँधी तथा पूना के तिलक विद्यालय का उद्घाटन केलकर तथा गोखले जी के द्वारा हुआ।

तिलक का निधन भारतीय राजनीति के लिए अपूरणीय क्षति थी। श्री वागीश्वर विद्यालंकार ने हृदय विदारक शब्दों में लिखा :

अरे हृदय यह क्या सुनता हूँ अन्तरिक्ष क्या टूट पड़ा,
भारत जननी की छाती पर, वज्र कहीं से छूट पड़ा,
तिमिर विनाशक बाल भानु पर काल राहु का कोप हुआ,
आर्यभूमि के मस्तक से सौभाग्य तिलक का लोप हुआ।

1 अगस्त, 1920 को तिलक तो दिवंगत हो गए पर उन्होंने काशी के राष्ट्ररत्न शिवप्रसाद गुप्त तथा सम्पादकाचार्य श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर को एक आधारभूत नीति के तहत 'आज' पत्र निकालने का परामर्श देकर अपने द्वारा प्रज्वलित क्रान्तिमयी पत्रकारिता की मशाल को सुरक्षित रखने का उपक्रम भी कर दिया। जैसे श्रद्धा में तिलक जी को श्रद्धांजलि दी गई, वैसे ही 'आज' के प्रथमांक में भी तिलक ही छाए रहे। 25 नवम्बर, 1924 के 'आज' में वागीश्वर विद्यालंकार की एक और प्रेरक रचना प्रकाशित हुई।

यह धरणी रणभूमि यहाँ लड़ना ही होगा,
यदि न लड़े पददलित पड़े सड़ना ही होगा,
जय चाहो यदि लगातार बढ़ना ही होगा,
वह देखो उद्देश्य शिखर चढ़ना ही होगा।
बनो वीर संसार में कायर का क्या काम है!

क्षणभर भी भूलो नहीं यह जीवन संग्राम है।
बहती गंगा हाथ शीघ्र ही इसमें धो लो,
मातृभूमि है बँधी पाश अब इसके खोलो,
जाती हो यदि जान भले ही जावे, जावे,
किन्तु अमर हो नाम कीर्ति भूतल में छावे।
धन्य धन्य हैं वीरवर, उनको सदा प्रणाम है
क्षणभर भी भूलो नहीं, यह जीवन संग्राम है।

'सद्धर्म प्रचारक' में पुस्तक समीक्षाएँ भी प्रकाशित होती थीं। पंडित रामनरेश त्रिपाठी की कविता कौमुदी के प्रथम भाग की समीक्षा का नमूना यहाँ दिया जाता है :

''संग्रहकर्ता पं. रामनरेश त्रिपाठी। मूल्य दो रुपया। साहित्य भवन प्रयाग के पते से संग्रहकर्ता से ही मिल सकती है। इस संग्रह में आर्यभाषा के 52 पुराने कवियों के चरित भी संक्षेप में दिए गए हैं। और भी कई संग्रह हुए हैं पर हमारी सम्मति में यह संग्रह अन्य सबसे अच्छा है। इसमें कवियों का परिचय भी है और नमूने भी पर्याप्त दिए गए हैं। दूसरे भाग की हम बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हैं।''

'सद्धर्म प्रचारक' की भाषा परिष्कृत हिन्दी थी। उर्दू में भी उन्होंने संस्कृत शब्दों का मनोरम विन्यास किया था। पंजाब के प्रसिद्ध लेखक श्री सन्तराम बी. ए. ने तो हिन्दी लिखना 'सद्धर्म प्रचारक' से ही सीखा। पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने ठीक ही कहा है :

उर्दू छुड़ा के हिन्दी का नक्शा जमा दिया,
पंजाब की जबान को भाषा बना दिया।

स्वामीजी की परिष्कृत हिन्दी के दो नमूने द्रष्टव्य हैं :

(1) आर्यसमाज में समाचार की वह महिमा अब नहीं रही, जो पहले थी। आर्यसमाज के शत्रुओं की संख्या तथा शक्ति के बढ़ जाने से उसका सामना करने के लिए अधिक सदाचार की आवश्यकता थी किन्तु यहाँ तो सदाचार कोष का दिवाला निकल रहा है।

—सद्धर्म प्रचारक, 10 मई, 1911

(2) यदि समाज भारत के समस्त मतमतान्तरों को जर्जरित करके आर्यसमाज के चरित्रों का संशोधन कर उन्हें इन्द्रियों की और अन्य सामाजिक व नैतिक गुलामी से छुड़ा सके तो संसार में वैदिक धर्म के प्रचार होने में अत्यन्त सहाय्य मिलेगा।

—सद्धर्म प्रचारक, 2 सितम्बर, 1908

तिलक के बाद गाँधी और गोखले का प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़ना प्रारम्भ हुआ। 1920 में लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में कलकत्ता में होनेवाले कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में महात्मा जी के असहयोग आन्दोलन को पूर्ण स्वीकृति मिल गई। 13 अप्रैल, 1919 को अमृतसर के जलियाँवाला बाग में नृशंस नरसंहार हुआ। इसकी व्यापक प्रतिक्रिया पूरे देश में हुई।

जलियाँवाला बाग कांड के तुरन्त बाद अमृतसर कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। स्वामी श्रद्धानन्द इसके स्वागताध्यक्ष बने। युवा शक्ति मर मिटने की साध लेकर आगे आई। 1915 में गाँधी जी गुरुकुल आए। श्रद्धानन्द जी को वह बड़े भाई के रूप में सम्मान देते थे। 20 मार्च, 1919 को बम्बई में खिलाफत कमेटी का गठन हुआ। रॉलट-ऐक्ट के विरुद्ध गाँधी जी ने बम्बई में सत्याग्रह की घोषणा की। स्वामी श्रद्धानन्द ने इस खिलाफत आन्दोलन को पूर्ण समर्थन देने की घोषणा की। 'आर्यसमाज का इतिहास, भाग-2' में इन्द्र जी ने स्वामीजी के उस तार की चर्चा की है जो गाँधी जी को भेजा गया था तथा जिसमें लिखा था कि मैंने अभी-अभी सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर कर दिए। इस धर्मयुद्ध में सम्मिलित होने से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। स्वामी के पुत्र शिष्य इन्द्र जी सत्याग्रह समिति के मन्त्री बने। खिलाफत का प्रश्न भी इस आन्दोलन से जुड़ गया। के.के. अजीज ने 'द इन्डियन खिलाफत मूवमेंट' में लिखा है कि 19 जनवरी, 1920 को खिलाफत की माँगों के सम्बन्ध में जो ज्ञापन वायसराय को दिया गया था, उस पर स्वामीजी के भी हस्ताक्षर थे। 19 नवम्बर, 1920 की 'श्रद्धा' में मौलाना शौकत अली ने लिखा—"खुदा जानता है कि अपने आर्य भाइयों की इन खिलाफत के मामले में इमदाद देने से हम मुसलमानों के दिल पर कितना गहरा असर पड़ा है। स्वामी श्रद्धानन्द, स्वामी सत्यदेव से लेकर छोटे-से-छोटे आर्य का दिल आज मुसलमानों की इन तकलीफों से भरा है। हमको यकीन हो गया है कि आर्यसमाजी जगत् से बढ़कर हिन्दू भाइयों की आजादी के लिए कोई और दूसरी जमात कुछ नहीं कर रही थी और उसका सबूत आज हम अपनी आँखों से देखते हैं। सैकड़ों काम करनेवाले फकीरी का लिबास पहने हुए हर सूबे में मारे-मारे फिरते हैं ताकि अपने भाइयों की सेवा करें।" गाँधी जी से फरवरी, 1922 में स्वामी जी के मतभेद उभरे और उन्होंने अपने आपको अलग कर लिया। उधर गाँधीजी ने चौरीचौरा की घटना से क्षुब्ध होकर असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया। स्वामी श्रद्धानन्द ने इसे ठीक नहीं माना। 13 अगस्त, 1920 को 'श्रद्धा' में यों भी स्वामी जी ने गाँधी जी के असहयोग को सृजनात्मक नहीं माना था। 17 सितम्बर, 1920 की 'श्रद्धा' में उन्होंने कलकत्ता कांग्रेस के विशेष अधिवेशन को भी निस्सार बताया था। क्योंकि उसमें अछूतों के प्रश्न पर विचार ही नहीं हो सका था। गुरुकुल के स्नातकों ने चर्खा प्रसार, नशाबन्दी, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा स्वदेश प्रेम की भावना

का गाँव-गाँव में प्रचार किया। शुद्धि आन्दोलन स्वामी जी का अतिरिक्त कार्य था। स्वामी जी ने असहयोग के तहत ही वकालत छोड़ी थी। 24 सितम्बर, 1920 की श्रद्धा में उन्होंने स्वीकार किया कि वकालत का काम करते हुए मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि मैं ब्रिटिश अदालतों को अन्याय करने में सहायता दे रहा हूँ और उसी समय मैंने वकालत के काम को तिलांजलि दे दी थी।

स्वामी जी ने अछूत समस्या पर गम्भीरता से विचार किया। उन्होंने पतित तथा अछूत जैसे शब्दों की ध्वनि पर भी सकारात्मक दृष्टि से चिन्तन किया। उन्होंने 11 जून, 1920 की 'श्रद्धा' में लिखा—''इस शब्द के प्रयोग से जहाँ पढ़ने व सुननेवालों के दिल और दिमाग पर अछूतपन का भाव दृढ़ होता जाता है, वहाँ जिनके उद्धार की बात की जाती है वे भी अपने को अछूत समझने लगते हैं। तब सुधार होना कठिन है जब यह धारणा बनी रहेगी कि हम अछूत हैं और वे छूत हैं। तब वे अपने आपको गिरा हुआ ही विचार करते हुए कभी भी अपने आपको उत्तम बनाने का प्रयत्न नहीं करेंगे।''

यही कारण है कि गाँधी जी ने उन्हें सच्चा दलित बन्धु माना। उन्होंने लिखा कि स्वामी जी ने अछूतों के लिए जो कुछ किया, उससे अधिक किसी और पुरुष ने भारत में नहीं किया। हरिद्वार जैसे पंडिताऊ वातावरण के क्षेत्र में भी इससे परिवर्तन आया। स्वामी जी से प्रेरणा लेकर इस क्षेत्र में ललताप्रसाद अख्तर, चन्द्रनाथ योगी, बाबू मेलाराम तथा अलगूराय शास्त्री ने बड़ा काम किया। 1920 में नागपुर कांग्रेस में अछूतोद्धार को असहयोग का प्रमुख अंग बनाने का प्रस्ताव स्वामी जी ने ही रखा था। 7 जनवरी, 1921 की श्रद्धा में उन्होंने इस प्रश्न को सामाजिक तथा राजनीतिक बना दिया। इस प्रकार जलियाँवाला बाग के बाद अछूतोद्धार, प्रौढ़ शिक्षा, स्वदेशी तथा मद्य निषेध को स्वामी जी ने प्रमुखता प्रदान कर असहयोग को रचनात्मक रूप दिया। 30 अप्रैल, 1920 का 'श्रद्धा' का खिलाफत अंक स्वामी जी के हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य भाव को निश्छलता के साथ व्यक्त करता है। प्रसिद्ध इतिहासकार रजनीपामदत्त ने 'इंडिया इन 1919' में लिखा है कि ''हिन्दुओं ने मुसलमानों के हाथ से खुलेआम जल ग्रहण किया और मुसलमानों ने भी ऐसा किया। जुलूसों में नारों और झंडों से हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्वर गूँज उठा। यह सच्चाई है कि हिन्दू नेताओं को मस्जिदों के गुम्बदों से खड़े होकर भाषण देने का अवसर दिया गया।'' और यह सौभाग्य केवल स्वामी श्रद्धानन्द को मिला जिसने पहली तथा अन्तिम बार जामा मस्जिद के मिम्बर पर खड़े होकर मुसलमानों की भारी सभा को सम्बोधित किया। वह दिल्ली के बेताज बादशाह निकले। 1919 से 1920 तक का युग स्वामी श्रद्धानन्द का है पर जब अंग्रेजों ने 1921 में मोपलों के विद्रोह को हिन्दू-मुस्लिम दंगे का रूप दिला दिया तो साम्प्रदायिकता भड़क उठी। हिन्दू-मुस्लिम एकता टूट गई। स्वामी श्रद्धानन्द ने शुद्धि आन्दोलन चलाया और

बाद में स्वामी जी तथा गणेशशंकर विद्यार्थी बलिदान हो गए। स्वदेश, प्रभा, प्रताप, कर्तव्य, आज आदि पत्रों ने दंगों की भर्त्सना की। स्वामी श्रद्धानन्द ने अंग्रेजी में 'द लिबरेटर' नामक पत्र निकालकर शुद्धि तथा अछूत समस्या पर अपने विचार रखे। लखनऊ की प्रसिद्ध हिन्दी पत्रिका 'माधुरी' ने स्वामी जी की शहादत पर सर्वोत्तम सम्पादकीय लिखा था जिसका शीर्षक था—'शीश जिनके धर्म पर चढ़े हैं, झंडे दुनिया में उनके गढ़े हैं।' 'श्रद्धा' पत्रिका इसी राजनीतिक-सामाजिक पृष्ठभूमि की देन है।

23 अप्रैल, 1920 दयानन्दाब्द 37 को स्वामी जी ने श्रद्धा का प्रथम अंक प्रकाशित कर लिया। इससे पूर्व स्वीकृति के लिए स्वामी जी ने जिला मैजिस्ट्रेट विजनौर को पत्र लिखा—"आज से तीन वर्ष पूर्व जब मैं गुरुकुल में था, मैं 'सद्धर्म प्रचारक' नाम का एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र निकाला करता था। उस समय उस पत्र से कभी कोई जमानत नहीं माँगी गई थी। मैं आशा करता हूँ कि आप बिना किसी प्रकार की जमानत माँगे डिक्लेरेशन स्वीकृत कर लेंगे। चूँकि मैं स्वयं इस पत्र का सम्पादन करूँगा, इसलिए इस बात की मैं गारन्टी लेता हूँ कि इसकी आवाज और इसका प्रभाव भलाई के लिए ही होगा।"

इस पत्र का कोई अनुकूल उत्तर न आने पर दो चेतावनी दी गईं पर स्वीकृति नहीं मिली। स्वामी जी को पुलिस रिपोर्ट के अनुसार सरकार द्रोही समझा जाने लगा था। अंग्रेज सरकार गुरुकुल को राजद्रोही संस्था मानती थी। यों पश्चिमोत्तर उत्तर प्रदेश के गवर्नर जेम्स मेस्टन ने 1913 तथा वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने 1916 में गुरुकुल आकर उक्त धारणा को निर्मूल पाया पर स्वामी जी के स्वदेशी आन्दोलन की सक्रियता के कारण जनपदीय प्रशासन का सन्देह दूर नहीं हो सका।

स्वामी जी ने अब बरेली डिवीजन के कमिश्नर को पत्र लिखा। उनका 22 अप्रैल को उत्तर मिला कि स्वीकृति के लिए लाट साहब को पत्र लिखा गया है स्वीकृति मिलने पर सूचित किया जाएगा। स्वामी जी का धैर्य समाप्त हो गया। उन्होंने 23 अप्रैल, 1920 को 'श्रद्धा' का पहला अंक छाप दिया तथा सूचना प्रसारित कर दी—"देखते हैं कि लाट साहब कितने दिनों में उत्तर देने की कृपा करते हैं। यही कारण है कि यह अंक छापकर रख लिया है। जब अन्तिम आज्ञा सरकार के यहाँ से आ जावेगी तो ग्राहकों की सेवा में भेजा जावेगा।" इस प्रकार सरकारी स्वीकृति से पूर्व पत्र का अंक छापकर स्वामी जी ने ब्रिटिश शासन को एक और चुनौती दी।

'श्रद्धा' में निर्भीक राजनीति के कई उदाहरण मिलते हैं। उदाहरण के लिए पंजाब में सरकार के आतंकपूर्ण कानून के विरुद्ध प्रकाशित यह टिप्पणी देखी जा सकती है—"अमृतसर के फौजी कानून के सम्वन्ध में कमेटी की यह राय कि यह

किसी भी सभ्य सरकार के योग्य न था–सर्वमाननीय है। जो कुछ डायर के हाथ से अमृतसर को भोगना पड़ा, जॉनसन के हाथों लाहौर की भी यही दशा हुई। हड़ताल के कारण सर माइकेल ओडायर इतने कुपित हो गए थे कि उन्होंने निश्चय कर लिया कि नेताओं से वे उसका बदला लेंगे। लाहौर लीडर केस में तो न्याय की पूर्ण हत्या हो गई। सरकारी गवाहों को खुले अदालत जिरह से बचाना, बाहर से वकील या बैरिस्टर न आने देना, सफाई के गवाहों को न लेना, मुलजिम के वकीलों का अपमान करना ये मामूली घटनाएँ थीं।

डायर के खिलाफ आनन्द निधि की ये रचना भी श्रद्धा में प्रकाशित हुई :

बेदाग़ हो गए वे दागा था जिनको तूने,
सब दाग़ आ लगे हैं तेरे दहन पै डायर।
मारा था उनको तूने गोलों की मार देकर,
खूं दाग़ से किया है तुझको उन्होंने फायर।
जाकर बहिश्त वे सब आराम कर रहे हैं,
आराम अब मिलेगा तुझको नरक में जाकर।

पंडित इन्द्र तो तत्कालीन जुझारूपन 'विजय' के अग्रलेखों में यह शेर ही छापा करते थे :

करीब है चार रोज़े महश्शर
छुपेगा कुश्तों का खून कब तक
जो चुप रहेगी जुबाने खंजर
लहू पुकारेगा आस्तीं का।

'छाती पर पिस्तौल' शीर्षक विजय के लेख ने तो विजय को भयंकर विपत्ति में डाल दिया। भारतीय क्रान्ति के समर्थन में दिल्ली से निकलनेवाला यह बड़ा पत्र था। स्वामी जी, श्री हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, श्री वीरभद्र विद्यालंकार, इन्द्रजी तथा कानपुर में गणेश शंकर विद्यार्थी उग्र पत्रकार थे। पंडित दशरथ द्विवेदी ने 'स्वदेश' में 'शासक और शासित' शीर्षक लेख लिखकर ओडायर शाही पर प्रहार किया। पंजाब में हिन्दी पत्रों के गला घोटे जाने पर उन्होंने मालवीय जी को भी विरोधात्मक कदम उठाने के लिए कहा था। इसके बाद तो पंजाब में 'स्वदेश' भी प्रतिबन्धित हो गया। इस पत्र की 'राष्ट्रीय पथिक' द्वारा लिखी गई यह रचना उस समय प्रसिद्ध हुई :

सितमगर सोच ले दमभर, तेरी दरख्वास्त जाली है।
महज ताबूत है, बेजान है, मुर्दार डाली है।

नहीं है ये सुलह के रंग नहीं कौमी तरक्की के,
अरे टुक झाँक नीचे तो तेरी बुनियाद खाली है।
ये खूं है बेगुनाहों का, दबाया जा नहीं सकता,
हश्र तक वह पुकारेगा, तेरी तजबीज काली है।

श्रद्धा के समाचारों में यों तो वैविध्य था पर राजनीति, शिक्षा और साहित्य को केन्द्रित कर मुख्य रूप से समाचार प्रकाशित किए गए। प्रमुख समाचारों के कुछ नमूने देखिए :

(1) डॉ. रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 17 अप्रैल को बाम्बे यूनिवर्सिटी में सर चिम्मनलाल सेटलवाड़ की अध्यक्षता में 'शिक्षा' विषय पर व्याख्यान देते हुए आधुनिक शिक्षा प्रणाली को दोषयुक्त बतलाया। उसमें उन्होंने इस बात पर बहुत बल दिया कि यदि भारत उन्नति करना चाहता है तो सबसे पूर्व उसे एक भाषा का प्रश्न हल करना चाहिए।

—23 अप्रैल, 1920

(2) सार्वभौम लिपि होने के योग्य देवनागरी लिपि है। सार्वभौम भाषा होने के योग्य संस्कृत भाषा है, यह मेरी और मुझ सरीखे कुछ अन्य विचारकों की सम्मति है। लॉर्ड कर्जन ने स्पष्ट कह दिया कि रेजीडेन्शल यूनिवर्सिटी का भाव भारत में सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि यहाँ प्रथम से गुरु-शिष्य का सम्बन्ध गाढ़ा रहा है।

—21 मई, 1920

(3) मसूरी में ब्रिटिश और अफगान के राजदूत संधि की शर्तें तय करने के लिए पहुँच गए हैं। अफगान राजदूतों में दीवान निरंजनदास नाम के एक हिन्दू सज्जन भी हैं। इनकी आयु 67 वर्ष की है। ये जाति से ब्राह्मण और प्रसिद्ध मन्त्री बीरबल के वंशज हैं। जहाँगीर के समय से ही इनका घराना अफगानिस्तान में है। राजा मानसिंह के साथ ही इनके पूर्वज इस देश में आए थे। 17 अप्रैल को परिषद की पहली बैठक हुई।

—23 अप्रैल, 1920

20 अगस्त, 1920 के अंक में भारतीभवन फीरोजाबाद के कविवर सत्यनारायण जी के चित्र का अनावरण करनेवाले भारत हितैषी सी.एफ. एन्ड्रूज की प्रशस्ति में कविता छपी है :

ब्रिटिश जन कृत्य तिमिर अतिघोर,
प्रकाशित द्रवित हृदय द्विजराज।
देव प्रेरित पावन सुरदूत,
तुम्हारा शुभ स्वागत है आज।

हुआ जब अफ्रीका में प्रबल,
अन्यतम कुटिल स्वार्थ का ग्राह।
विकल होकर धाए तब आप,
दिखाने भारत गज को राह।
हृदय मन्दिर में सदा विराज—
रही है देव तुम्हारी मूर्ति।
तुम्हारे शब्द तुम्हारे कार्य
देश को देते हैं नव स्फूर्ति।

प्रवासी भारतीयों के प्रति ऐन्ड्रूज और चतुर्वेदी जी बड़े संवेदनशील थे। चतुर्वेदी जी गाँधी जी से प्रभावित थे। उन्होंने ही चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, अज्ञेय तथा उपेन्द्रनाथ अश्क को साहित्य सृजन के क्षेत्र में बढ़ावा दिया। 'मर्यादा', 'चाँद', 'विशाल', 'भारत' तथा 'नवजीवन' में क्रान्तिकारी लेख लिखते रहे। 1918 में भारतीय हृदय नाम से 'प्रवासी भारतवासी' पुस्तक लिखी। इस युग में कुली प्रथा के विरुद्ध लिखे गए लक्ष्मणसिंह चौहान के नाटक 'कुली' की बड़ी चर्चा रही। 9 जुलाई, 1920 के 'श्रद्धा' के अंक में स्वामी जी जी ने भी 'बेगार की आसुरी प्रथा दूर होनी चाहिए' टिप्पणी लिखी।

5 नवम्बर, 1920 के अंक में स्वामी जी की असहयोग पर टिप्पणी छपी—''मैं महात्मा गाँधी के प्रस्ताव का समर्थक हूँ परन्तु उनके विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार सम्बन्धी भाग से सहमत नहीं हूँ क्योंकि यह क्रिया में नहीं लाया जा सकता। पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए हिन्दू जनता को अपने अछूत भाइयों को अपने में मिलाना आवश्यक है। इस समय जाति को अपने सात करोड़ अछूत भाइयों को उठाना चाहिए, इसके बिना असहयोग केवल दिखावा होगा।''

19 नवम्बर, 1920 का ऋषि अंक संग्रहणीय है। इसमें पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, मोतीलाल नेहरू, बाबू भगवानदास, विधुशेखर भट्टाचार्य तथा मौलाना शौकत अली के लेख प्रकाशित हुए।

स्वामी जी मुस्मिल विद्वानों का भी बड़ा आदर करते थे। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के उद्घाटन समारोह के प्रमुख वक्ता तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता के हिमायती शेक उलहिन्द मौलाना महमूदूलहुसेन साहब की मृत्यु पर 'भारतमाता का एक और लाल उठ गया' शीर्षक से श्रद्धांजलि लिखकर स्वामी जी ने कृतज्ञता प्रकट की थी।

अंग्रेज सरकार ने भारतीय जनता का आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टि से शोषण किया था। भारत की इस दुर्दशा ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को 1930 में जन्म दिया पर विदेशी गुलामी की पीड़ा, विशेषकर सांस्कृतिक सर्वनाश

की पीड़ा ने 1919-20 से ही भारतीय विचारकों को झकझोर कर रख दिया। 11 जून, 1920 की श्रद्धा के मुखपृष्ठ पर स्वामीजी ने 'सहृदय' नाम से एक रचना प्रकाशित की :

दिशा से पश्चिम की आज कैसा, ये देखो तूफान आ रहा है।
अलक्ष्य भय को सभी दिलों में, न जाने ये क्यों जमा रहा है।
उजाड़ डाले हैं खेत सारे, बदल गई चाल जाह्नवी की,
स्वतन्त्रता, ज्ञान, औ कला को, यहाँ से बिलकुल उड़ा रहा है।
न पेट के हित बचा है भोजन, न देह ढँकने को वस्त्र बाकी,
घटा है धन और मान सारा, ये दासता को बढ़ा रहा है।
न धन बचा है न मान कोई, स्वतन्त्रता का न नाम कोई,
सुरम्य उद्यान को हमारे, सभी तरह से सुखा रहा है।

'श्रद्धा' में समाचार पत्रों की समीक्षाएँ भी प्रकाशित होती थीं। दो उदाहरण लीजिए :

(1) 'देश' नाम का एक नया साप्ताहिक हाल ही में पटना (बिहार) से निकलना प्रारम्भ हुआ है। इसके सम्पादक बिहार के प्रसिद्ध देशभक्त बाबू राजेन्द्रप्रसाद एम.ए., एल.एल.बी. हैं। इसका सातवाँ अंक हमारे सामने है जिसमें विचारपूर्ण लेख और सम्पादकीय टिप्पणियाँ हैं। इस अंक में पुरी के अकाल का हृदयद्रावक चित्र देते हुए 'श्मशान में बिना जलाए मुर्दों के ढेर' और 'अकाल जनित मृत्यु को छिपाए जाने' के विषय में जिन छिपी हुई बातों को खोला गया है, उन्हें पढ़कर सरकार की इस संकुचित और असहानुभूतिपूर्ण नीति पर आश्चर्य और दुख होता है। यदि ये दोष सच्चे नहीं हैं तो क्यों नहीं सरकार इनका विरोध करती ? पत्र की संख्या पृष्ठ 16 और वार्षिक मूल्य अढ़ाई रुपए है।

(2) 'धर्माभ्युदय'—यह मासिक पत्र आगरे से निकलता है जिसके सम्पादक श्री नारायण विद्याश्रमी हैं। जनवरी मास का विशेषांक हमारे पास समालोचनार्थ आया है। टाइटल पेज पर कई रंगों से रँगा हुआ भारतमाता का एक सुन्दर चित्र है जिसके हाथ में 'अहिंसा परमोधर्मः' से अंकित एक झंडा है। भीतर देश के प्रसिद्ध नेता महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक, मदनमोहन मालवीय और पंडित नेहरू के चित्रों के अतिरिक्त कई जैन आचार्यों के चित्र भी हैं। साधारणतया सभी लेख अच्छे हैं परन्तु प्राचीन भारत में डाक व्यवस्था, धन कैसे कमाया जाता है, पुर्तगाली भाषा से हमारे सम्बन्ध तथा स्त्रियों की उन्नति कैसे हो, इत्यादि लेख विशेष पठनीय हैं। बीच-बीच में उत्तमोत्तम कविताएँ सोने में सुगन्ध का काम करती हैं। वस्तुतः यह अपनी

तड़क-भड़क और सजधज में हिन्दी के बड़े पत्रों को मात कर गया है। सरस्वती के आकार के 140 पृष्ठ हैं। वार्षिक मूल्य तीन रुपया और विशेषांक का एक रुपया है।

स्वाधीनता आन्दोलन से सम्बन्धित गतिविधियों की सूचना 'श्रद्धा' में विशेष रूप से दी जाती थी। 8 अप्रैल, 1921 को हरिद्वार में आयोजित 'अर्धकुम्भ' पर एक महत्त्वपूर्ण समाचार 'साधुओं में स्वराज्य की लहर' नाम से प्रकाशित हुआ :

"हरिद्वार पुरी आजकल धन्य हो रही है। कुम्भ के मेले पर हजारों नर-नारी आए हुए हैं। उद्देश्य कुम्भ का स्नान। परन्तु चर्चा एक ही है और वह भारत के लिए स्वराज्य की है। नर-नारी, संन्यासी, गृहस्थ, वृद्ध, युवा का हृदय इस बात पर तुला हुआ प्रतीत होता है कि भारत को स्वराज्य प्राप्त हो। शाम को हर की पौड़ी पर जाकर देखिए, जगह-जगह पर स्वराज्य का झंडा और स्वराज्य का प्रचार दृष्टिगोचर होगा। देशभक्त साधुओं ने मिलकर एक 'साधु स्वराज्य सभा' की स्थापना की है और उसकी ओर से व्याख्यानादि का प्रबन्ध किया गया है। उस सभा के सभी सभासदों ने प्रतिज्ञा की है कि अपना जीवन भारत के लिए स्वराज्य प्राप्त करने के लिए अर्पण करेंगे।

बिना संकोच के यह कहा जा सकता है कि इस आड़े समय में साधुओं का स्वराज्य आन्दोलन और धर्म सेवा के कार्य से जुदा रहना जितना निराशाजनक था, इस प्रकार देश सेवा के लिए कटिबद्ध होना उतना ही आशाजनक है, यदि साधु लोग तुल जाएँ तो घर-घर, ग्राम-ग्राम में स्वराज्यनाद अनायास ही बजा सकते हैं।

13, 14 अप्रैल को हरिद्वार में साधु कांग्रेस सभा का अधिवेशन होगा। घोषणा की गई कि जगद्‌गुरु श्री शंकराचार्य उसके सभापति होंगे। भारत को यह नया समारोह शुभ हो। स्वराज्य आन्दोलन की सेना की इस नई भर्ती को बधाई।"

1922 की होम डिपार्टमेन्ट की प्रोसीडिंग्स से भी इन गतिविधियों की पुष्टि होती है। श्री स्वामी जगदीश्वरानन्द भारती का नाम इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय है। दयानन्द सरस्वती द्वारा 1857 की क्रान्ति की रूपरेखा भी हरिद्वार कुम्भपर्व (1855) पर बनी। नाना धोंधो पन्तराव उनसे प्रेरित हुए। श्री पृथ्वीसिंह मेहता तथा डॉ. सत्यकेतु जैसे इतिहासवेत्ता यह तथ्य स्वीकार करते हैं। तात्पर्य यह कि 1857 की क्रान्ति में स्वामी जी ने न केवल सक्रिय रूप से भाग लिया अपितु उसका नेतृत्व भी किया। चंडी पर्वत की तलहटी में कुम्भ पर्व पर स्वामी जी ने डेरा जमाया। स्वामी रुद्रानन्द, उनके सहायक थे। इसी कुम्भ में नाना साहब, अजीमुल्ला खाँ, ताँत्या टोपे, बाला साहब तथा बाबू कुँअर सिंह उनसे मन्त्रणा करने पधारे। पर एक नाम अजीमुल्ला खाँ का इसमें विचारणीय है क्योंकि इस दौरान खाँ साहब

भारत में नहीं थे। यह वही खाँ साहब हैं जिन्होंने 'पयामे आज़ादी' का प्रकाशन कर क्रान्ति के शोले भड़का दिए थे। सर्वखाप पंचायत के अभिलेखों से स्वामी पूर्णानन्द (कनखल) जी, पिरान कलियर के फकीर सांई फखरुद्दीन साहब तथा स्वामी विरजानन्द जी ने स्वाधीनता सभाओं में भाग लिया था। स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती थे तथा उनके सहयोगी महन्त धर्मगिरि थे। स्वामी विरजानन्द के शिष्य रामगिरि गोसाई हाथी नशीन थे और विद्रोह में भागीदार थे। 1867 के कुम्भ पर स्वामी जी पुनः हरिद्वार आए तथा सात पृष्ठों की एक लघु पुस्तिका 'पाखंड खंडिनी' जनता में बँटवाई। हरिद्वार के साधुओं में स्वाधीनता की भावना की ज्वार 1915 के कुम्भ पर्व पर गाँधी जी के आगमन द्वारा उमड़ा। 'श्रद्धा' में प्रकाशित 'स्वराज्य साधु सभा' की यह महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि है।

1 अप्रैल, 1926 से लेकर 16 दिसम्बर, 1926 तक स्वामी जी ने पी.आर. रेले के संयुक्त सम्पादन में दिल्ली से अंग्रेजी में 'द लिबरेटर' नामक पत्र निकाला। अछूतोद्धार, शुद्धि, हिन्दुत्व का पुनरुत्थान, स्वराज्य प्राप्ति तथा अन्तर-देशीय जन विकास इस पत्र के प्रमुख विचार बिन्दु थे। कांग्रेस से त्यागपत्र देकर स्वामी जी अलग तो हुए पर उन्होंने समाज सेवा का क्षेत्र नहीं छोड़ा। डॉ. तारकनाथ दास, घनश्यामदास जी बिरला, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सी.एफ. एन्ड्रूज, साधुवासवानी, डॉ. राधाकृष्णन् तथा सर लालूभाई शाह के विचारों की ऊहापोह भी स्वामी जी ने की। रामानन्द संन्यासी द्वारा स्थापित दलित उद्धार सभा दिल्ली के कार्यक्रमों की समीक्षा भी स्वामी जी करते रहे। हिन्दू महासभा, शुद्धि आन्दोलन, असहयोग आन्दोलन, अस्पृश्यता, हिन्दू समाज की गतिशीलता, शिक्षा का माध्यम आदि, हिन्दू अछूत सभा, त्रिवेन्द्रम सत्याग्रह, कलकत्ता के दंगे, मद्य निषेध, हिन्दू-मुस्लिम एकता, होमरूल आन्दोलन, मालवीय-डरविन संवाद, विधवा विवाह, कर्नाटक कलवार वाल्मीकि सभा, बंगाल शुद्धि सभा, ढाका हिन्दू सभा, हिन्दू मुस्लिम समस्या तथा गुरुकुल की रजत जयन्ती पर जितनी प्रामाणिक सामग्री लिबरेटर की टिप्पणियों में संकलित तथा समाविष्ट है, इतनी अन्यत्र नहीं मिलेगी।

इनके अतिरिक्त पच्चीस के लगभग उनके लेख 'कांग्रेस के अन्दर और बाहर' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। डॉ. भवानीलाल जी भारतीय ने इनका सुन्दर अनुवाद 'श्रद्धानन्द ग्रन्थावली' में प्रकाशित कर दिया है। इन लेखों से 1885 से लेकर 1926 तक के कांग्रेस आन्दोलन तथा संगठन पर स्वामी जी के विचारों को जानने का अवसर प्राप्त होता है।

द लिबरेटर को प्रकाशित करने का उद्देश्य क्या था ? स्पष्ट करते हुए स्वामी जी ने लिखा है—"मित्रो, आप जानते हैं कि मैं राष्ट्रभाषा का प्रबल समर्थक हूँ। आप मुझसे इसका कारण पूछना चाहेंगे कि मैंने अंग्रेजी में एक साप्ताहिक क्यों निकालना प्रारम्भ किया ? यद्यपि उर्दू पत्र दैनिक 'तेज' तथा हिन्दी साप्ताहिक पत्र

'अर्जुन' लगातार निकालकर मैं अपने विचार पहले से ही आप तक पहुँचाता रहा हूँ। यह सत्य है कि मैं जब तक अपने भारतीय मित्रों से पत्राचार करता हूँ तो मैं अंग्रेजी भाषा का प्रयोग नहीं करता परन्तु विगत दो वर्षों से मुझे मद्रास प्रेसीडेंसी के कार्यार्थ भ्रमण करना पड़ा तो आन्ध्र, कर्नाटक तथा मद्रास के तेलुगु, कन्नड़, तमिल तथा केरल के मलयालम भाषी लोगों तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए अंग्रेजी का सहारा लेना पड़ा। इसके अतिरिक्त मैंने जो कुछ भी लिखा, अंग्रेजी भाषा में लिखा है। उसका दक्षिण भारत की भाषाओं में अनुवाद भी इसलिए कराना पड़ा ताकि जनता मेरे विचारों को जान ले। आज मैं लघु लेखों के माध्यम से अपने विचारों को आप तक पहुँचा सकूँगा।

'द लिबरेटर' न्याय एवं सत्य की शक्ति को ही धर्म समझता है, यही इसके अस्तित्व का आधार है। यह निष्ठापूर्वक ईश्वरीय शक्ति के प्रति समर्पित है। उसी शक्ति की उपासना श्रद्धानन्द संन्यासी करता है।''

'द लिबरेटर का उद्देश्य' शीर्षक से स्वामी जी ने एक और लेख लिखा। उन्होंने इस लेख में हिन्दुओं के अधःपतन के कारणों पर प्रकाश डाला है। पौराणिक अन्धविश्वास, अवैज्ञानिक मान्यताएँ, अस्पृश्यता, जनसंख्या का प्रविभाजन, निरंकुश राज्यव्यवस्था का समर्थन, शोषण, असंगठन तथा आध्यात्मिक सदृढ़ता का अभाव हिन्दुओं को सशक्त जाति के रूप में उभरने नहीं देता। स्वामी जी ने लिखा—''देश का विकास सुव्यवस्थित, सुसंस्कृत तथा सम्पूर्ण रूप में होना चाहिए। विकास का अर्थ समझौतावाद नहीं है अपितु अविरल प्रगति है। शरीर एवं मस्तिष्क का साथ-साथ विकास होना चाहिए। शरीर के सम्पूर्ण अंगों की ओर समान रूप से ध्यान देना नितान्त आवश्यक है। अहितकर भोजन शरीर को विद्रूपित कर मस्तिष्क को रुग्ण बना देता है। 'द लिबरेटर इन' विनाशकारी तत्त्वों से जनता को मुक्ति दिलाएगा तथा शरीर एवं मन-मस्तिष्क दोनों को समान रूप से सहयोग देते हुए अपने स्वामी की इच्छा को साकार रूप देगा।

'द लिबरेटर' का मुख्य विषय छुआछूत की प्रथा को मिटाना है।''

इस प्रकार 'सद्धर्म प्रचारक, श्रद्धा तथा लिबरेटर' द्वारा स्वामी जी ने उस युग का ही इतिहास नहीं लिखा, नवयुग के निर्माण की रूपरेखा भी प्रस्तुत की। 1885 में कांग्रेस की स्थापना के बाद वह इस ओर उन्मुख हुए तथा ठीक चार वर्ष बाद पत्रकारिता के क्षेत्र में उतरे। पत्रकारिता के इतिहास में 1889 से 1918-20 तक का समय जागरण काल तथा 1920 से 1926 तक का समय क्रान्तिकाल कहलाता है। स्वामी श्रद्धानन्द लगभग चार दशक के पत्रकारिता-क्षेत्र के नायक बने रहे। तिलक, मालवीय तथा गाँधी की वृहत् त्रयी उन्हें मिलाकर चतुष्टयी बन जाती है।

परिष्कृत भाषा लिखने में स्वामीजी सिद्धहस्त थे। उनकी उर्दू, हिन्दी तथा

अंग्रेजी आदर्श है। उन्होंने उर्दू को अरबी-फारसी के आगोश से निकालकर संस्कृत द्वारा सुसंस्कृत बनाया। उर्दू को शास्त्रार्थ की शक्ति दी। हिन्दी को उर्दू के गढ़ में प्रतिष्ठित किया तथा अंग्रेजी माध्यम से दयानन्द, आर्यसमाज, हिन्दी तथा राष्ट्रीयता की धारणाओं से अहिन्दीभाषी समाज को आकृष्ट किया। स्वामी जी को केवल आत्मकथा लेखक (कल्याण मार्ग का पथिक), संस्मरणकार (बन्दीघर के विचित्र अनुभव) तथा जीवनीकार (पंडित लेखराम) के रूप में ही याद नहीं किया जाएगा, अपितु भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, महामना मालवीय, बालमुकुन्द गुप्त, गणेशशंकर विद्यार्थी, सुन्दरलाल, माखनलाल चतुर्वेदी तथा अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी जैसे पत्रकारों की पंक्ति में भी परिगणित करते हुए गौरव का अनुभव किया जाएगा। स्वामीजी के पुत्र इन्द्र विद्यावाचस्पति तथा गुरुकुल के स्नातकों ने उनकी इस परम्परा को आगे बढ़ाया, तथा प्रायः सभी राष्ट्रीय स्तर के हिन्दी दैनिक साप्ताहिक अथवा मासिक पत्रों के सम्पादन का अवसर पाकर कीर्तिमान स्थापित किया। स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी पत्रकारिता के पुष्पित-गंधित उपवन की चहकती हुई वह बुलबुल थे, जिसने अपनी राष्ट्रीय चहक से बलिदान का जमाल पैदा किया। अकबर इलाहाबादी के शब्दों में :

लगी चहकने जहाँ भी बुलबुल,
हुआ वहीं पर जमाल पैदा।
कमी नहीं कद्रदां की अकबर,
करे तो कोई कमाल पैदा।

स्वामी जी ने अपने जीवनकाल में सहस्राधिक टिप्पणियाँ तथा लेख लिखे। उनके सम्पादन का कार्य राष्ट्रीय इतिहास के लेखन के लिए जरूरी है। हमने इस पुस्तक में धर्म, राजनीति और शिक्षा विषयक लेखों को ही संकलित किया है। 'लिबरेटर' के लेखों को इसलिए छोड़ दिया है कि उनका संकलन 'ग्रन्थावली' में डॉ. भारतीय कर चुके हैं। उर्दू प्रचारक के प्रारम्भिक अंक प्रयत्न करने पर भी नहीं मिल सके। शेष सामग्री का उपयोग इस पुस्तक में निर्भ्रान्त रूप से कर लिया गया है। सामग्री संकलन और सम्पादन में पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ. जगदीश विद्यालंकार तथा मेरे शोध छात्र श्री संजय वर्मा ने बड़ा परिश्रम किया है, अतः दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति डॉ. धर्मपाल जी आर्य ने मेरे प्रस्ताव का हार्दिक अनुमोदन कर इस ऐतिहासिक महत्त्व के कार्य को सम्पन्न कराने में रुचि ली, मैं उनका हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

कुलाधिपति श्री सूर्यदेव, उपकुलपति प्रोफेसर वेदप्रकाश जी शास्त्री, कुलसचिव डॉ. श्यामनारायण सिंह तथा वित्ताधिकारी श्री जयसिंह गुप्त को इस अवसर पर

विशेष धन्यवाद। मुझे परम प्रसन्नता है कि इस कृति के प्रकाशन से मेरी बरसों की साध पूरी हो रही है :

तसव्वुर में किसी से मैंने की है गुफ्तगू बरसों,
रही है एक तस्वीर-ए-ख़याली रूबरू बरसों।।

—**डॉ. विष्णुदत्त राकेश**

दीक्षारात्रि, कुम्भपर्व — आचार्य हिन्दी विभाग एवं निदेशक
25 फरवरी, 1988 — स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र

विषय सूची

खंड 1

सद्धर्म प्रचारक

खंड 2

श्रद्धा

खंड-1

सद्धर्म प्रचारक

वैदिक धर्म के उसूल दुनिया में फैलाने के लिए

वैदिक धर्म के उसूल दुनिया में फैलाने के लिए जहाँ जरूरी है कि संस्कृत का प्रचार बड़े जोर-शोर से किया जाए, वहाँ इस लहर को नजरअंदाज करना मुश्किल है कि जब तक इस सच्चे धर्म की खूबियाँ इन्सानों के दिलों में जगह नहीं पकड़तीं तब तक इन्सान संस्कृत भाषा को पढ़ने की तरफ हरगिज ध्यान नहीं देंगे। इस वक्त तक इंग्लिश भाषा में जिस कदम कुतब या रिसालें वैदिक धर्म की अश्आर की तरफ से लिखे गए हैं उनमें इस बात का लिहाज कम रखा गया है कि संस्कृत लिटरेचर के नावाकिफ लोग भी लिखनेवाले के मतलब को बखूबी समझ सकें। मेरे पास हाल में ही एक खत लाला शेखराम का आया है जिसमें उन्होंने लिखा है कि आर्यसमाज के मुताल्लिक एक किताब सच्चे पहुँचने पर मिस्टर सी.ई ग्लैडस्टोन साहब ने साबिक (भूतपूर्व) वजीरे आजम इंगलिशस्तान ने उन्हें नीचे लिखा जवाब दिया है--

"मैं इस किताब के लिए आपका शुक्रिया अदा करता हूँ जोकि आपने मेहरबानी करके मुझे भेजी है और मैं उसके मजाबीन (लेख) पढ़कर फायदा उठाने की उम्मीद रखता हूँ। लेकिन मुझे शुबहा है कि आया मेरे मामूलात के हालत मुझे इसकी निसबत रायदनी (टिप्पणी) करने की इजाजत दी गई।" मि. ग्लैडस्टोन का यह जवाब साफ जाहिर कर रहा है कि जब तक वैदिक धर्म के उसूल के मुताल्लिक इस किस्म की किताबें अंग्रेजी जुबान में तैयार नहीं की जातीं, जोकि संस्कृत से बेबहरा (अनभिज्ञ) लोगों की समझ में आ सकें, तब तक वेदवाणी तो दरकिनार, संस्कृत भाषा की तरफ यही आम तवज्जो होनी मुश्किल है। इस वक्त जो लिटरेचर आर्यसमाज के मुताल्लिक अंग्रेजी जुबान में पैदा किया जा रहा है वह स्थायी नहीं हो सकता। पं. गुरुदत्त ने इस जरूरत को बड़े जोर से महसूस किया है और इसलिए आपके लिखे हुए ट्रैक्ट अब तक कुछ-न-कुछ काम कर रहे हैं लेकिन उनकी बेवक्त मौत ने उनका काम पूरा न होने दिया। इस वक्त भी आर्यसमाज में ऐसे सज्जन मौजूद हैं जो अगर कोशिश करें तो अंग्रेजी जानने वालों की गलतफहमियाँ वैदिक धर्म की निसबत (सम्बन्ध में) बहुत कुछ दूर कर सकते हैं। लेकिन अफसोस है कि पुरुषार्थ और हौसला करने का साहस ही उन्हें नहीं होता।

[सद्धर्म प्रचारक, 8 मई, 1896]

उलटे ज्ञान से अज्ञान भला

अज्ञानी पुरुष, जिसे किसी वस्तु का भी ज्ञान नहीं है जो असली आनन्द का लाभ नहीं कर सकता, ताहम दुःख से बचा रहता है। पहाड़ के रहने वाले जमाना कदीम में बस्तियों से दूर रहने के बाइस, वहाँ की तहजीब के मुताबिक काम करने की भी कोशिश नहीं करते थे। अश–उसकी बदौलत जो तकलीफ होती है, उनसे भी बरी थे। लेकिन अब जबकि पहाड़ों के सर पर तहजीब का लश्कर जा पहुँचा है और वे बदस्तूर सच्ची तालीम से महरूम हैं तो हंसों की चाल चलने की कोशिश करते हुए वे अपनी कौवे की चाल भी भूलकर न इधर के रहे, न उधर के। उलटे ज्ञान ने उन्हें बर्बाद कर दिया है। इसी तरह दिन-रात हम सब उलटे ज्ञान से बर्बाद हो रहे हैं। उपासनाइयों का दृश्य होना चाहिए, लेकिन किसकी उपासना। क्या कमजोर इन्सान की उपासना हमें भवसागर से पार उतार सकती है ? जर-जमीन वगैरह की उपासना हमारा उद्धार कर सकती है ? अफसोस कि उलटे ज्ञान ने हमें बजाय उपासना से शान्ति दिलवाने के उलटे अशान्ति दिलवाई। इसलिए बेअख्तियार जबान से यह निकलता है कि 'उलटे ज्ञान से तो अज्ञान ही भला'।

[सद्धर्म प्रचारक, 7 जून, 1901]

धर्म पालन में कष्ट से मत डरो

कनखल में गंगा किनारे स्नान के लिए गया हुआ था। सर्द हवा के झोंके शरीर को कंपायमान कर रहे थे। शरद ऋतु में स्नान का ख्याल ऐसे स्थान पर गोया मौत का सामना मालूम होता था। लेकिन फर्ज का ख्याल आते ही दिल कड़ा कर गंगा में कूद पड़ा। गोता लगाते ही न मालूम सर्दी कहाँ गई। बाहर निकल बदन पोंछ आसन पर जा बैठा। बदन चुस्त और मन शान्त हो गया। फिर जो ध्यान लगा, शायद ही कभी मेरे नसीब हुआ होगा। इस एक दृश्य ने मुझे मजबूर किया कि अपनी गुजिस्ता जिन्दगी पर एक सरसरी नजर डालूँ। नजर के पलटाते ही मुझे अपनी जिन्दगी में कई एक ऐसे वाकात मिले जिन पर एक नए नजारे ने नई रोशनी डाली। अगर फर्ज का ख्याल बर-वक्त रहता तो शायद बारहां मैं गिरने से बच जाता। हरेक नए काम के आ जाने पर तकलीफों और दिक्कतों का सामना होता है। लेकिन अगर इस तकरार के साथ इनका मुकाबिला किया जाए तो जिस ढंग से खौफ आता था वही शान्ति और आनन्द का बाइस हो जाता है। पर पाठकगण, धर्मपालन करते वक्त किसी मुश्किल से मत डरो क्योंकि तप करते हुए जो कष्ट उठाए जाएँ उससे बढ़कर राहतबख्श और कोई ताकत नहीं।

[सद्धर्म प्रचारक, 6 दिसम्बर, 1901]

धर्म की शिक्षा और मजहबी तालीम

बुश्य वैलडन साहब ने जिस उसूल पर बाइबिल की तालीम पर जोर दिया था और सरकारी मदरसों में इसको नाफज़ (लागू) कराने के लिए स्पीच दी थी, इससे पहले भी मजहबी तालीम के मामले पर गौर होता रहा है। हिन्दुस्तान में गवर्नमेंट की तरफ से मजहवी मामलात में दखल न देने की पॉलिसी शुरू हो रही है और वह इसलिए कि सरकारे-ब्रितानिया को गदर के वक्त में यकीन हो गया था कि अगर हिन्दुस्तानियों के मजहबी मामलात में दखल न दिया जाए तो वे पूछते ही नहीं कि सल्तनत की बागडोर किसके हाथ में है। पर सरकारी स्कूलों में मजहबी तालीम से कोई ताल्लुक नहीं रखा गया। मगर तालीम के फर्क ने हलचल मचाई। पुराने तोहमात दूर हुए। लोग आजादान ख्याल (स्वतन्त्र विचारों के) होने लगे। जिस तरह कैदखाने से निकलनेवाले की हालत होती है पस-हिन्द के मुख्तलिफ फिरदों के लीडरों को फिर मजहबी तालीम की जरूरत मालूम हुई। इस जरूरत को रफे (पूरा) करने के दो तरीके सोचे गए हैं। एक तो यह था कि हरेक मदरसे में इजाजत दी गई कि जो फिरका अपने पैरू लड़कों को मजहबी तालीम दिलाना चाहे, स्कूल के वक्त से उनके लेक्चर के लिए निकाल दिया जाएगा ताकि वे आकर उनको मजहबी तालीम दे जाएँ। मैं नहीं समझता कि जो मुदुबरान-मुल्क (देश के बादशाह) इस तजवीज पर संजीदगी से तकरीरें करते हैं और तहरीरें लिखते रहे हैं, उन पर इस ख्याल का बेहूदापन क्यों न जाहिर हुआ। मजहब का ताल्लुक अमल के साथ होने से ही कुछ मुनासिब नतीजा मालूम होता है। लेकिन इस तरीके से अमल पर कुछ असर नहीं हो सकता। दूसरा तरीका अपने-अपने मजहब के स्कूल या कॉलेज खोलकर मजहबी तालीम देने का अख्तियार दिया गया। लेकिन इसमें भी कामयाबी क्योंकर हो सकती थी ? जबकि तरीका-तालीम ऐसा है जो इन्सानी कोशिशों पर पानी फेर देता है। मेरी राय में इन तरीकों पर मजहबी तालीम देना यानी खास मसले पर राय देना आसान है लेकिन धार्मिक शिक्षा देना मुश्किल है। जिससे कि इन्सान धार्मिक जीवन व्यतीत कर सकता है। इस बारे में मि. डिंगटन साहब, साबिक (भूतपूर्व) डायरेक्टर सरस्ता तालीम (शिक्षा विभाग) मद्रास ने इंगलिशस्तान में एक बड़ा कीमती मजमून पढ़ा था जिसमें जाहिर किया था कि जब उस्ताद लड़कों के

आचरणों को दुरुस्त करनेवाले न हों तब मजहबी तालीम बेसूद (बेकार) है। यही वजह है कि आर्यसमाज ने गुरुकुल के प्राचीन तरीके पर तालीम देने को ही लड़कों के आचरणों को दुरुस्त करने का जरिया-ख्याल करके इसकी बुनियाद डालने की कोशिश की है।

[सद्धर्म प्रचारक, 2 जनवरी, 1902]

गरीबों की आवाज तले कहीं ऋषि को न कुचल डालना

[सं. 1]

आजकल गरीबों की आवाज ने श्रीमानों तक के दिल दहला दिए हैं। गरीब बेचारे बोलें या न बोलें उनको इस समय बिना वेतन के वकील आपसे आप मिल रहे हैं। नरम और गरम दोनों दलों के राजनैतिक जो कुछ कर रहे हैं, उसका सारा बोझ गरीबों की गर्दन पर ही थोपते चले जाते हैं। वह अधिकार चाहते हैं तो वाणी रहित किसानों तथा मजदूरों के लिए—नहीं तो स्वयम् वह ऐसे निष्काम वृत्तिस्थ साधु हैं कि वित्तैषणा तथा लोकैषणा से उनको सर्वथा घृणा है।

कुछ काल से शिक्षा सम्बन्ध में भी 'गरीबों की आवाज' सुनाने के लिए बड़े-बड़े जबरदस्त वकील खड़े हो गए हैं। लाहौर का दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज यद्यपि ऋषि दयानन्द का स्मारक, ऋषि की बताई हुई पाठप्रणाली को ही प्रचलित करने के लिए स्थापित किया गया था—और दयानन्द की बतलाई पाठ प्रणाली वही है जिसका सम्पादन ऋषि प्रणीत ग्रन्थों में शृंखलाबद्ध चला आता है—तथापि जब सर्वसाधारण की ओर से उस उद्देश्य की पूर्ति पर बल दिया गया तो कॉलेज के वर्तमान नेताओं ने 'सस्ती तालीम' की युद्ध ध्वनि के पर्दे तले मुख्य प्रश्न को दबा दिया था। जब कॉलेज उनके लिए सुरक्षित हो गया और बुद्धू महात्माओं के अधिकार में उसके पुनः फँसने की सम्भावना न रही तो जहाँ फीस कम करने के स्थान में कॉलेज को अधिकतः सरकार अंग्रेजी के शिक्षा विभाग (Educational department) की जंजीरों में जकड़ दिया वहाँ उसके वास्तविक उद्देश्य की ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया। अब कुछ काल से लाला लाजपतराय जी की आँखें शिक्षा विषय में खुलने लगी हैं। यद्यपि लाला जी अब कहते हैं कि इंगलिस्तान जाने से पहले ही वह अपने कॉलेज की पाठ विधि को बदलने पर जोर देने लग गए थे, तथापि सर्वसाधारण ने उनके अन्दर यह परिवर्तन इंग्लैंड से लौटने पर ही देखा। अनुमान डेढ़ वर्ष व्यतीत हुए जब लाला जी ने 'कौम की तालीम की किश्ती' को 'भँवर'

से निकालने का प्रयत्न किया था, और उसके पश्चात् भी अपनी वक्तृताओं द्वारा बराबर ऐसा ही प्रयत्न करते रहे हैं। माण्डले भेजे जाने से पहले भी लाला जी का विचार एक 'आदर्श बोर्डिंग स्कूल' खोलने का था और अब फिर उसके लिए तैयारियाँ हो रही हैं। लाला जी के इस नए प्रस्ताव की यदि पूर्ति हो गई तो निस्सन्देह दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज को आर्थिक तथा अन्य प्रकार की हानि पहुँचने की सम्भावना है। गुरुकुल भूमि में जो व्याख्यान लाला जी ने दिया था उससे तो प्रतीत होता था कि वह अपने कॉलेज की वर्तमान चाल से सन्तुष्ट नहीं है।

लाला लाजपतराय जी अपनी स्कीम को दूसरी बार पकाने ही लगे थे कि महाशय रामप्रसाद बी.ए. की ओर से आर्य गजट (कॉलेज के उर्दू आर्गन) में 'गरीबों की आवाज' शीर्षक से लेख निकलने आरम्भ हो गए। म. रामप्रसाद जी के लेख पर जो सहानुभूति अन्य महाशयों ने प्रकट की तथा जो-जो टिप्पणियाँ हुई उन पर मुझे बहुत कुछ वक्तव्य देना था किन्तु शारीरिक निर्बलता के कारण मैं उन पर कुछ लिख न सका। इस समय केवल इतना ही लिखना चाहता हूँ कि गत वर्ष की हलचल के समय जिन स्थानिक पाठशालाओं के स्थापित करने के लिए मैंने प्रेरणा की थी यदि उसकी ओर आर्य भाइयों का ध्यान आकर्षित हो जाता तो अब तक सर्वसाधारण की शिक्षा का काम कुछ दूर आगे चल निकला होता। अस्तु ! बीती बात का स्मरण छोड़कर अब मैं वर्तमान शिक्षा सम्बन्धी आन्दोलन की ओर ही अपने पाठकों का ध्यान आकर्पित करता हूँ। महाशय रामप्रसाद जी के लेखों को लाला लाजपतराय जी ने विशेष दृष्टि से पढ़ा है और इसलिए उन्होंने इस प्रश्न के सर्वांशों पर विचार करने के लिए 'आर्य गजट' में लेखनी उठाई है। अपने पहले लेख में लाला जी ने यह मानकर कि कॉलेज पार्टीवाले अपने शिक्षा सम्बन्धी काम को सन्तोपजनक नहीं समझते और इसलिए 'जिम्मेदार हलकों में भी इस अमर की जरूरत महसूस हुई है कि उसके मुतअल्लिक समाज की पब्लिक ओपिनियन की अपील की जाए।' कॉलेज के नेताओं को स्पष्ट शब्दों में सूचना देना आवश्यक समझा है। इसी आवश्यकता का प्रकाश लाला जी की समिति में महाशय रामप्रसाद बी.ए. के लेखों द्वारा हो रहा है। लाला लाजपतराय जी की यह सम्मति आदरणीय है कि जहाँ किसी पुरानी वस्तु को केवल उसके प्राचीन होने के कारण फेंक नहीं देना चाहिए यदि उसके लाभदायक होने में कुछ भेद न आया हो, वहाँ यदि कोई पुरानी वस्तु भविष्य की उन्नति में बाधा डालनेवाली हो और 'अपना कार्य समाप्त कर चुकी' हो तो उसकी उन्नति के रास्ते में रोड़ा अटकाने का भी किसी को कोई अधिकार नहीं। लाला लाजपतराय जी ने बड़ी सरलता से मान लिया है कि दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज का संयुक्त उद्देश्य यह था कि 'ऐसी शिक्षा प्रणाली स्थापित करें जो उस जाति (कौम) की जातीय उन्नति का निमित्त बने जो वेदों को अपने लिए सर्वोपरि पुस्तक मानती है और जातीय उन्नति के लिए वैदिक स्थापनाओं

(Institutions) के भाव को स्थिर रखना या पुनरुजीवित करना आवश्यक समझती है। दयानंद ऐंग्लो वैदिक कॉलेज में शब्द 'वैदिक' का स्पष्टतया दाखिल करना इस बात का साक्षी है कि वैदिक स्थापनाओं के भाव को प्रधान रखना स्वीकार था यद्यपि यह अभीष्ट न था कि वर्तमान अंग्रेजी पाठ प्रणाली को पीछे डालकर ऐसा किया जाए।' मेरा ख्याल है कि यदि ऐसे विचार मेरे कालिजी–भाई 15 या 16 वर्ष पहले प्रकट करते तो अन्तरीय युद्ध में सैकड़ों की आत्माओं का नाश न होता। अस्तु ! अब भी 'सुबह का भूला शाम को घर' आ गया तो 'उसे भूला कौन कहेगा !'

यहाँ तक मैं लिख चुका था। जब 12 आषाढ़ का आर्यगजट भी आन पहुँचा, उसमें लाला जी ने अपने सारे लेख का सारांश दिया है। अपनी 'नुक्ताचीनी का लुब-ए-लुबाब' बतलाकर जो पहेली 'इसलाह' आपने बताई है उसकी समाप्ति इन शब्दों में करते हैं–"मैं यह जरूर चाहता हूँ कि यूनिवर्सिटी तालीम के पहलू व पहलू असली मकासिद की तालीम में यूनिवर्सिटी तालीम का इन्तजाम किया जाए या अगर ऐसा करना नामुमकिन हो तो स्कीम को इस तरह तबदील किया जाए जिसमें यूनिवर्सिटी के इमतिहानात असली मकसद की तकमीख़ की मातहत हो जाएँ और कॉलेज में वह सैकन्डरी (Secondary) दर्जे पर रहें।" मैं नहीं समझता कि लाला रलाराम ने जो स्कीम 1892 ई. में पेश की थी उसमें इससे बढ़कर और क्या माँगा था।

लाला लाजपतराय जी ने आर्य भाषा को पढ़ाई का साधन बनाने पर जो इस समय बल दिया है, यदि ऐसा ही बल 15 वर्ष पहले देते तो आज आर्यसमाजों के लीडरों की यह दशा न होती कि अपनी भाषा में प्रकट किए हुए विचारों को वे समझ ही न सकें। लाला जी ने यद्यपि कहीं-कहीं कॉलेज के कामों की प्रशंसा भी की है, जो करना आवश्यक ही था, किन्तु साथ ही उन्होंने खुले शब्दों में मान लिया है कि इस कॉलेज से हानियाँ भी बहुत हुई हैं और कि अब पुराने ढर्रे को बदलने की आवश्यकता है। कॉलेज सम्बन्धी उपदेशक क्लास को लाला जी की सम्मति में सर्वथा 'नाकामयाबी' हुई, और उनकी सम्मति में प्रबन्धकर्ता सभा ने मूल उद्देश्य को छोड़कर अपना समय गौण कामों में नष्ट किया और वह भी ऐसी गलत बातों में जो कहीं-कहीं मूलोद्देश्य से परे थीं। इन सर्वस्पष्ट वचनों के लिए लाला जी प्रत्येक देशहितैषी के धन्यवाद के पात्र हैं। लाला जी के इस कथन से भी पक्षपात रहित विद्वान् पुरुष सहमत हैं कि नवीन भाषाओं के सीखने के लिए तद्विषयक व्याकरण को कण्ठस्थ करने या पूर्णतया जानने की आवश्यकता नहीं है; किन्तु जब लाला जी इसी नियम के आश्रित संस्कृत व्याकरण को करते हैं उस समय उनके लेख की पड़ताल अत्यावश्यक हो जाती है। यह जतलाकर कि संस्कृत का पूरा विद्वान बनने के लिए संस्कृत व्याकरण का जानना आवश्यक है। लाला जी लिखते हैं–"बहुत से आर्यसमाजी यह विश्वास रखते हैं कि संस्कृत व्याकरणों

में से केवल पाणिनि मुनि की ग्रामर (व्याकरण) पढ़ाने के योग्य है चुनाँचे जब कभी कोई आर्यसमाजी संस्कृत का कोर्स स्थिर करने बैठता है वह अष्टाध्यायी से आरम्भ करता है।" लाला जी का यह लेख आर्यसमाजियों के लिए किस तिरस्कार का भाव प्रकट करता है वह मुझे जतलाने की आवश्यकता नहीं है। उनकी सम्मति में आर्यसमाजी 'तालीमी मसलों' के समझने के लिए 'दिमाग' ही नहीं रखते। किन्तु क्या लाला जी स्वयं संस्कृत व्याकरण पर कोई सम्मति देने की योग्यता रखते हैं ? लाला जी को इतना भी मालूम नहीं कि पाणिनि की अष्टाध्यायी वर्तमान सर्व संस्कृत के व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थों का स्रोत है। पाणिनि से पहले चाहे कितने ही व्याकरण क्यों न हो गए हों, उनके पश्चात् सब उन्हीं को आचार्य मानकर चलते रहे हैं। जिस भट्टोजिदीक्षित प्रणीत ग्रन्थ को आपने व्याकरण नाम से सुना होगा उसने भी तो अष्टाध्यायी के सूत्रों की ही व्याख्या की है। वह दीक्षित लिखता है :

येनाक्षर समाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः।।

जिस अक्षर समभाव पर ही सारे व्याकरण शास्त्र का विस्तार है उसका पाणिनि को महादेव से प्राप्त होना अर्वाचीन सर्व हिन्दू बैयाकरण मानते हैं। इसका कारण यही है कि प्राचीन भाष्यकार महामुनि पतंजलि भी पाणिनि को ही आचार्य मानते थे। वार्त्तिककार कात्यायन ने पाणिनि कृत अष्टाध्यायी को लच रखकर ही भाष्यकार से भी पहले अपने समय के प्रचरित नियमों का विचार किया है। शेखर, प्रौढ़ मनोरमा भी इसी के आधार पर चलते हैं। हाँ, सारस्वत चन्द्रिका ने इस समय में आचार्य के आश्रम को वैदिक प्रयोगों के विषय में छोड़कर चलना चाहा है, बंगालियों के मुग्दबोध का सहारा लेकर केवल नवीन संस्कृत साहित्य से मतलब निकालने का साहस किया है किन्तु क्या कोई भी मुग्दबोधी संस्कृत साहित्य के उस गुरु अंग के मर्म को जान सकता है जिसे 'वैदिक साहित्य' की उपाधि दी गई है ? लाला लाजपतराय जी मानते हैं कि वैदिक इन्स्टीट्यूशन्ज़ (Vedic institutions) के भाव (spirit) को स्थिर रखने का प्रयत्न जो शिक्षा प्रणाली करे उसको ही 'कौमी तालीम की स्कीम' कह सकते हैं, और यह बिना वैदिक साहित्य को ठीक प्रकार समझे हो नहीं सकता। किन्तु वैदिक साहित्य को समझने के लिए ऋषिवर पाणिनि की सहायता का अवलंबन आवश्यक है। तब आर्यसमाजी बेचारा अष्टाध्यायी को अत्यन्त आवश्यक समझता हुआ क्या तिरस्कार के योग्य है ? देखिए शर्मन देश निवासी गोल्डस्टकर साहब इस विषय में क्या कहते हैं :

"Panini's Grammar is the center of a vast and important branch of the Ancient literature. No work has struck deeper roots than his in the soil of the Scientific development of India. It is the standard of accuracy

in speech–the Grammatical basis of the Vaidik Commentaries. It is appealed to by every Scientific writer whenever he meets with a linguistic difficulty. Besides the inspired seers of the works which are the root of Hindu belief, Panini is the only one, among these authors of Scientific works who may be looked upon as real personages, who is a Rishi in the proper scense of the word,---an author supposed to have had the foundation of his work revealed to him by a divinity." (See Panini by Theoder, Goldstucker, Pages 87, 88)

"पाणिनि का व्याकरण प्राचीन साहित्य की एक विपुल तथा मुख्य शाखा का केन्द्र है। भारतवर्ष के विज्ञान शास्त्र के विकास की भूमि में उसके ग्रन्थ से बढ़कर किसी ने भी अधिक गहरी जड़ नहीं पकड़ी है। भाषा की विशुद्धता का यह प्रमाण है तथा वैदिक भाष्यों का व्याकरण सम्बन्धी आधार है। प्रत्येक वैज्ञानिक ग्रन्थकार भाषा सम्बन्धी कठिनता के मिलने पर इसी का प्रमाण देता है।

हिन्दू विश्वास के मूलाधार पुस्तकों (अर्थात् वेदों) के द्रष्टा ऋषियों के अतिरिक्त वैज्ञानिक ग्रन्थों के कर्ताओं में से केवल पाणिनी ही है जो वास्तव में पुरुष विशेष था और जो ठीक अर्थों में ऋषि भी था--एक ग्रन्थकर्ता जिसके ग्रन्थ का निर्माण एक देवता की ओर से प्रकाश किया जाना समझा जाता था।"

मैं चाहता था कि पाणिनी के गौरव को स्थापित करने के लिए अन्य प्रमाणों को भी साथ ही पेश किया जाता किन्तु लेख पहले ही बढ़ गया है और अन्य विषयों पर बहुत कुछ लिखना है, अतएव आज यहीं ठहरता हूँ। द्वितीय लेख में उन दो 'जबरदस्त एतराजों' की पड़ताल की जाएगी जो लाला लाजपतराय जी ने अष्टाध्यायी के विरुद्ध उठाए हैं।

[सद्धर्म प्रचारक, 1 जुलाई, 1908]

गरीबों की आवाज तले कहीं ऋषि को न कुचल डालना !

[सं. 2]

अष्टाध्यायी की पढ़ाई पर लाला लाजपतराय जी ने दो आक्षेप किए हैं। उन्हीं के शब्दों में उनके आक्षेप लिखकर मैं उनकी पड़ताल करना चाहता हूँ।

पहला आक्षेप यह है—"यह अष्टाध्यायी उन लोगों के लिए कुछ मुफीद नहीं हो सकती जो उसको पूरी ख़तम करके उसके बाद महाभाष्य वगैरह के मुतालय से उसको मुकम्मिल न कर लें। इसके यह माने हैं कि जो लड़का महाभाष्य की पूरी वाकफियत पैदा करने से पहले अपनी पढ़ाई छोड़ने पर मजबूर हो जाए उसको अष्टाध्यायी का जुजवी मताला कुछ फाइदा नहीं दे सकता। हम बीसियों ऐसे तालिब-ए-इल्मों से वाकफियत रखते हैं जिन्होंने कई-कई साल अष्टाध्यायी के हिफज करने में ख़र्च किए लेकिन जिनको संस्कृत लिटरेचर के पढ़ने और समझने में अष्टाध्यायी ने कुछ मदद न दी। हमको याद नहीं पड़ता कि दयानन्द स्कूल का एक भी लड़का ऐसा निकला हो जिसने अष्टाध्यायी के पढ़ने से संस्कृत में किसी किस्म की खास महारत पैदा की हो।"

लाला जी के लेख का जो तात्पर्य मैंने समझा है, वह यह है कि "जिन लोगों ने महाभाष्यादि न पढ़े हों उनको अष्टाध्यायी से कुछ भी लाभ नहीं पहुँच सकता, इसलिए (जैसा कि वह आगे चलकर वर्णन करते हैं) यदि दस वर्ष की स्कूल की पढ़ाई में से अष्टाध्यायी को जड़ से उड़ा दिया जाए तो उनको निश्चय है कि 'उसके पश्चात् कोई युवक (यदि) चार-पाँच साल तक केवल संस्कृत पर खर्च करे तो वह अवश्य ऐसी योग्यता पैदा कर सकेगा जिससे वह उस भाषा में निष्पन्न (फाजिल) कहलाने का अधिकारी हो और जिससे उस भाषा में अपूर्व (Original) आन्दोलन कर सके और उन कठिन नुक्तों पर प्रकाश डाल सके जो आर्य और अनार्य दोनों के लिए अब तक पहेलियाँ ही हैं।" इसी के साथ लाला जी के लेख से दो स्थलों का और संग्रह पेश करने से उनका उद्देश्य स्पष्ट प्रतीत हो जाएगा।

(1) 'प्राचीन संस्कृत का मुकम्मिल विद्वान बनने के लिए अलूम जदीदा (नवीन विधाओं) की वाकफियत ज़रूरी है।' नवीन विधाओं से मतलब Physical science से प्रतीत होता है।

(2) 'आर्य समाज को ऐसे संस्कृत के विद्वान पैदा करने में कभी कामियाबी नहीं होगी जो अलम-ए-जदीदा से वाकफियत रखते हों जब तक वह अष्टाध्यायी से अपने लड़कों को निजात (मुक्ति) नहीं दिलवाएँगे।'

लाला जी के इस प्रथम आक्षेप विषयक सारे लेख का सारांश यह है कि—

(क) आर्य समाज जैसे प्राचीन संस्कृत के विद्वान पैदा करना चाहता है उनके लिए पदार्थ विज्ञान की शिक्षा आवश्यक है।

(ख) यदि पहले दस वर्ष अष्टाध्यायी पढ़ाई जाएँ तो पदार्थ विद्या का शिक्षण असम्भव है।

(ग) केवल अष्टाध्यायी पढ़ने से कुछ भी लाभ नहीं जब तक महाभाष्यादि न पढ़े जाएँ।

(घ) ऐसा करने से केवल 4 या 5 वर्ष में विद्यार्थी Original thinker (अपूर्व कल्पनाशक्ति युक्त) हो जाएगा और वैदिक साहित्य की बहुत-सी उलझनों को सुलझा देगा।

अब (क) तो लाला जी का कल्पित सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसको पंडित गुरुदत्त अपने कर्तव्य से सिद्ध कर चुके थे। इस विषय में मेरा विवाद भी नहीं क्योंकि मैं स्वयं इस सच्चाई को मानता हूँ। किन्तु लाला जी का सिद्धान्त (ख) मेरी समझ में नहीं आया। क्या अष्टाध्यायी का पदार्थ विद्या से ऐसा ही द्वेष है जैसा कि लाला जी समझते हैं ? यदि यह सच है कि पदार्थ विद्या में निपुण होने के लिए गणित का अभ्यास आवश्यक है तो क्या सन्देह है कि अष्टाध्यायी-सी Scientific Grammar का अभ्यास भी मनुष्य को पदार्थ विज्ञान के समझने के अधिक योग्य बनाएगा। किन्तु जब पदार्थ विद्या को लाला जी स्वयं वेदों के समझने का एक साधन मानते हैं—और उनकी सम्मति में दयानन्द कॉलेज लाहौर भी वैदिक संस्थाओं का भाव स्थिर करने के लिए खोला गया था—तो क्या वह किसी ऐसी विद्या की पढ़ाई को दूषित बताने का अधिकार रखते हैं जिससे वेदार्थ के समझने में सबसे बढ़कर सहायता मिले ? जो लोग वैदिक साहित्य के बड़े पण्डित हो गुज़रे हैं उन सबका यही मत है कि पाणिनि कृत अष्टाध्यायी तथा यास्क के निरुक्त से बढ़कर और कोई भी ग्रन्थ वेदार्थ का निर्णायक नहीं है। सायणाचार्य के भाष्य से जहाँ मैक्समूलर आदि ने मतभेद प्रकट किया है उस पर आक्षेप करते हुए शर्मन देश निवासी महाशय गोल्डस्टकर जी लिखते हैं कि सायण के भाष्य पर तभी आक्षेप हो सकता है जबकि उसका कोई अर्थ या भाव प्राचीन वेदांगों के विरुद्ध हो। वह लिखते हैं :

"In short, the greater the distance becomes between a Veda and the grammarian who appended to it his notes, the more we shall have a plausible ground for looking forward, in preference to him, to that grammarian who stood nearer to the fountainhead. Even Panini would cease to be our ultimate refuge, if we found yaska opposed to him;..." (page 244)

संक्षेपतः यह कि किसी वेद तथा उस व्याकरण में जिसने उस (वेद) पर अपनी टिप्पणी चढ़ाई हों, जितना अधिक अन्तर हो जाएगा, हमारे लिए उसकी अपेक्षा उस व्याकरण की शरण लेना, जो स्रोत (वेद) के अधिकतः समीप स्थित हो, सर्वथा ठीक होगा। पाणिनि भी हमारा अन्तिम सहारा होने से वंचित रहेगा यदि यास्क (निरुक्तकार) को हम उसके विरुद्ध पाएँगे। (पृष्ठ 244)

पाणिनि की प्राचीनता के विषय में भी यदि गोल्डस्टकर की सम्मति यहाँ स्पष्ट कर दी जाए तो उस ऋषि का गौरव ठीक प्रकार विदित होगा :

"We have seen that within the whole of Sanskrit literature, so far as it is known to us, only the Samhita's of the Rig-Sam-and Black Yajurveda, and among individual authors, only the exegete yaska preceeded Panini—that the whole bulk of the remaining known literature is posterior to his eight grammatical books" (page 243)

गोल्डस्टकर की इस भूल पर इस समय कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं समझते हुए, कि जिसको कृष्ण यजु कहते हैं वह वेद है या नहीं, मुझे केवल यह दिखलाना अभीष्ट था कि निरुक्त के अतिरिक्त वेदों के समीप पाणिनि की अष्टाध्यायी से बढ़कर और कोई ग्रन्थ नहीं है। यही कारण था कि लाला लाजपत राय जी तथा अन्य आर्यों के भी पूज्य पण्डित गुरुदत्त जी ने बड़े बूढ़ों के हाथों में भी अष्टाध्यायी की पुस्तक दे दी थी। गोल्डस्टकर और गुरुदत्त को यदि आप प्रामाणिक न समझें तो भट्ट मैक्समूलर के आगे तो आपको भी सिर झुकाना पड़ेगा। देखिए उक्त महाशय क्या लिखते हैं :

"The grammatical system elaborated by native grammarians is in itself most perfect, and those who have tested Panini's work will readily admit, that there is no grammar in any language that could vie with the wonderful mechanism of his eight books of grammatical rules."

क्या इससे बढ़कर भी प्रशंसा हो सकती है ? जब पाणिनी के व्याकरण का मुकाबला सारी दुनिया की किसी भाषा का भी व्याकरण नहीं कर सकता, और वह अपने आपमें पूर्ण हैं तो क्या यह परिणाम निकालने योग्य न होगा कि यदि संसार की अन्य प्राचीन भाषाओं के व्याकरण कुछ लाभ पहुँचा सकते हैं तो संस्कृत का प्राचीन व्याकरण उससे भी बढ़कर लाभ पहुँचा सकेगा।

और यहाँ मैं युक्त रीति यह समझता हूँ कि लाला जी के दूसरे आक्षेप पर

विचार करने के पश्चात् प्रथम आक्षेप के अन्तर्गत के (ग) और (घ) सिद्धान्तों की आलोचना करूँ।

दूसरा आक्षेप यह है—"यूरोप और अमेरिका के तमाम तालीमी माहिर अब व्याकरण के हिफज कराने के बरखिलाफ हैं और उनकी राय ऐसी माकूल है कि यूरोप और अमेरिका के तमाम मुआल्लमों ने उनकी इस राय को तसलीम कर लिया है। वह यह कहते हैं कि लिट्रेचर के साथ-साथ ग्रामर पढ़ाई जानी चाहिए······स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की बुजुर्गी हमारे दिल में किसी से कम नहीं लेकिन बावजूद उनकी ये हद्द इज्जत के हम यह जरूरी नहीं समझते कि उनकी बनाई हुई शिक्षा प्रणाली की तकलीद की जाएँ।"

मेरे दिल में भी लाला जी को निरपराध देश निकाला दिए जाने के कारण उनकी 'वेहद्द इज्ज़त' है किन्तु मैं यह आवश्यक नहीं समझता कि उनको शिक्षा सम्बन्धी विषयों में भी प्रामाणिक समझ लूँ। मैं जानता हूँ कि इस समय देश के माननीय वीर (hero) का जो अपमान मैं करने लगा हूँ उसके लिए पोलिटिकल भारत मेरा शत्रु हो जाएगा किन्तु मैं यह कहने से नहीं रुक सकता कि लाला लाजपतराय जी ने 'तालीमी माहिरों' की सम्मति को समझा ही नहीं। लाला जी ने चूँकि किसी 'तालीमी माहिर का हवाला' नहीं दिया इसलिए मैं यह नतीजा निकालता हूँ कि लाला जी ने यह दावा केवल सुन-सुनाकर कर दिया है। यदि ऐसा न होता तो वह अवश्य जानते कि उपरोक्त सम्मति न केवल अमेरिका और यूरोप के ही शिक्षकों की है प्रत्युत भारत के तालीमी माहिरों की भी यही राय मुद्दत से है। यहाँ तक कि यदि मैं भूला नहीं हूँ तो लाला जी के विलायत जाने से पहले यह सम्मति भारतवर्ष के कुछ शिक्षकों की हो चली थी। यह तो मैं भी कह सकता हूँ कि सवा तीन वर्षों से इस सिद्धान्त पर कि अंग्रेजी की पढ़ाई में ग्रामर को याद कराने की कोई आवश्यकता नहीं, गुरुकुल में भी अमल होता रहा है। किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है अब तक किसी 'तालीमी माहिर' ने भी यह सम्मति नहीं दी है कि Classical languages अर्थात् प्राचीन भाषाओं की पढ़ाई में व्याकरण को स्मरण करने की आवश्यकता नहीं है, और मैं नहीं समझता कि आप वैदिक साहित्य को Classical languages की पंक्ति से बाहर निकालने का साहस करेंगे। मैं मानता हूँ कि सर्व नवीन भाषाएँ बिना उस भाषा की व्याकरण जुटाने के पढ़ी जा सकती हैं। अंग्रेज़ी, फ्रैंच, इटालियन आदि यूरोपीय भाषाएँ तथा उर्दू, हिन्दी, बंगाली, गुजराती आदि भारतीय नवीन भाषाएँ सब बिना ग्रामर रटाए पढ़ाई जा सकती और पढ़ाई जाती हैं। किन्तु आज तक किसी सुशिक्षक ने यह नहीं लिखा कि Latin, Greek (लेटिन, ग्रीक) आदि प्राचीन भाषाओं की पढ़ाई बिना ग्रामर घोटाए हो सकती है। देखिए एक बड़े तालीमी माहिर की सम्मति :

पुस्तक का नाम है—Teaching and organization.

"With special reference to Secondary Schools. A manual of Practice Edited by P.A. Bennet. M.A. Late Principal of the Islewerth Training College for School Masters. Formerly Professor of English in Firth (University) Collage Sheffield 1903.

मैंने यह सारा लम्बा चौड़ा नाम इसलिए उद्धृत किया है कि आप इस पुस्तक की प्रमाणता को समझ सकें। पुस्तक को सम्पादन करनेवाले तो इंगलिस्तान के एक प्रसिद्ध ट्रेनिंग कॉलेज के प्रिन्सिपल हैं, किन्तु प्रत्येक विषय पर लिखने वाले उस विषय के माहिर हैं। Classical Teaching पर जो निबन्ध उस पुस्तक में निकला है उसके लिखने वाले Mr. E. Lyttelton M.A. Head Master of Haileybury Collage, and Member of the late Royal Commission on Secondary Education हैं। यह याद रखना चाहिए कि लाला जी अपनी शिक्षा सम्बन्धी स्कीम के Secondary भाग पर विचार करते हुए अष्टाध्यायी के 'हिफ्ज़ कराने के बरखिलाफ फतवा' दे रहे हैं, और मैं उसके उत्तर में एक ऐसे शिक्षक की सम्मति पेश करता हूँ जो उसी विभाग की शिक्षा के संशोधनार्थ स्थापित की हुई कमीशन के सभासद् थे। मिस्टर लिटलटन लिखते हैं :

"Putting it quite briefry, the learning of these Ancient languages in its earlier stages affords an opportunity for training in precision of though, memory, inference and accuracy, in its later stages it is capable of enriching the mind with noble ideas." (page 214)

"संक्षेपतः इन प्राचीन भाषाओं के आरम्भिक दशा में पढ़ाने से विचार की सुनिश्चितता, धारणा शक्ति, तर्क तथा यथार्थता की शिक्षा का अवसर मिलता है; और परिणित दशा में उच्च विचारों से मन को विभूपित करने के योग्य होता है।" किन्तु आप व्याकरण के घुटाने में प्रमाण माँगेंगे। लीजिए वह भी अप्राप्त नहीं :

Grammar Teaching—As a General rule this is quite the first beginning of the learning of Latin and Greek. The fashion is to begin Latin at about nine years of age, Greek at about twelve, but, in both, the learning by heart of Grammar forms constitutes the earliest lessons"

यहाँ आपने देख लिया कि इंग्लैंड में अब तक भी ग्रामर घुटाई जाती है किन्तु उस घुटाई के साथ-साथ ही ऐसे उत्तम नियम जोड़े गए हैं जो स्मरण शक्ति को तोते की रटत के दर्जे तक गिरने नहीं देते। उन नियमों पर संस्कृत व्याकरण के अध्यापकों को न चलते देखकर ही आपके हृदय में अनेक प्रकार की अयोग्य शंकाएँ उत्पन्न हो गई हैं जिनकी निवृत्ति का मैं आगामी अंक में प्रयत्न करूँगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 8 जुलाई, 1908]

गरीबों की आवाज तले कहीं ऋषि को न कुचल डालना

[सं. 3]

मैं बता चुका हूँ कि अब तक पश्चिमी सुशिक्षक प्राचीन भाषाओं के व्याकरणों को रटाना आवश्यक समझते हैं। भेद केवल इतना है कि ग्रामर को स्मरण कराने के साथ-साथ वे उन याद किए हुए नियमों की प्रयोग सिद्धि भी कराते जाते हैं। इसी प्रकार संस्कृत व्याकरण की पढ़ाई में भी संशोधन होना चाहिए और किसी हद तक गुरुकुल में हो भी चुका है।

लाला लाजपतराय जी अष्टाध्यायी की जड़ उखाड़ने के पीछे इसलिए पड़े हैं कि उनको इसकी पढ़ाई का पूरा तजरुबा नहीं है। आपके सारे तजरुबे का मैदान दयानन्द कॉलेज है, किन्तु लाला जी क्षमा करें तो मैं यह लिखने का साहस करूँगा कि दयानन्द कॉलेज के नेताओं ने जान-बूझकर अष्टाध्यायी की पढ़ाई आरम्भ से ही इस प्रकार रखी थी कि उसको कभी भी कामयाबी नहीं हो सकती है। कॉलेज के नेताओं ने इस विषय में ब्रिटिश गवर्नमेन्ट के उन कर्मचारियों का अनुकरण किया था जो हिन्दोस्तानियों को स्वराज्य के अयोग्य सिद्ध करने के निमित्त कमेटियों तथा काउन्सिलों के सभासद् सत वचनिए मूर्खों को बनाया करते थे। मैंने यह कहने का आज ही साहस नहीं किया प्रत्युत्तर जिस समय कॉलेज में अष्टाध्यायी का रटाना जारी किया गया था उस समय भी मैंने प्रचारक द्वारा अपनी आवाज उठाई थी। 3 चैत्र सं. 1947 (14 मार्च सं. 1891) के प्रचारक में मैंने दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज विषयक एक लेख लिखा था जिसको लाला लाजपतराय जी के वर्तमान लेखों के साथ मिलाना शिक्षादायक होगा। आज जिस कालेज के साथ उपदेशक क्लास मुद्दत से लगाया गया है उसे उस समय दयानन्द कालेज के लिए हानिकारक समझा जाता था। उक्त लेख का अनुवाद निम्नलिखित है :

'ऐंग्लो वैदिक कालेज लाहौर और उपदेशक क्लास के सम्बन्ध में जो पत्र हमारे कार्यालय में आए पड़े हैं, उन पर एक समालोचना लिखने की प्रतिज्ञा हमने

अपने किसी पिछले अंक में की थी। आज हम उस प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए उद्यत होते हैं। हमारे पास दो प्रकार के पत्र पहुँचे हैं जिनमें प्रायः कुछ महाशयों ने यह समझा मालूम होता है कि एक (movement) तहरीक दूसरी के विरुद्ध काम कर रही है। हमारी सम्मति में इससे बढ़कर और कोई भूल हो नहीं सकती। दोनों तहरीकों के उद्देश्य यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचारिए तो एक ही दिखाई देते हैं। जहाँ वैदिक कालेज का उद्देश्य वेदों की उच्च शिक्षा देकर मनुष्य मात्र को धार्मिक बनाने का है, वहाँ उपदेशक क्लास का लक्ष भी ब्रह्मवेत्ता, वैदिक उपदेशक तैयार करके लोगों को ब्रह्म विद्या का दान देना है। फिर मालूम नहीं होता कि क्यूँ हमारे भाइयों का परस्पर में मतभेद है। इन पत्रों में से लाला रलाराम जी के लेख इस योग्य थे कि उनमें से अधिक भाग ज्यों का त्यों पब्लिक के सामने पेश किया जाता किन्तु शोक कि मेरी अनुपस्थिति के कारण वे पत्र ज्यों के त्यों पब्लिक के सामने पेश नहीं किए जा सके। इन पत्रों में–जिनमें लाला इन्द्रभान जी का पत्र भी है–कई विषयों पर विवाद उठाया गया है, जिनके सम्बन्ध में हम संक्षेप निवेदन करके आर्य पब्लिक का ध्यान उनकी ओर फिर खींचने का प्रयत्न करना चाहते हैं। प्रथम उपदेशक क्लास के बारे में लाला रलाराम जी की तो यह सम्मति है कि वैदिक कालेज की प्रबन्धकर्तृ सभा के यह काम सुपुर्द किया जाए। यदि यह असाध्य हो तो इसका नाम बदलकर 'वेदादि सत्य शास्त्र प्रचारिणी सभा रखा जाए, और इसमें साधारण हिन्दुओं को भी सम्मिलित किया जाए। दूसरी ओर से यह कहा जाता है कि उपदेशक क्लास के लिए अधिक बल देकर चन्दा जमा किया जाए और प्रतिनिधि सभा ही इसका प्रबन्ध करे। हमारी राय में वर्तमान अवस्था में ऐंग्लो वैदिक कालेज के साथ शामिल करने से कुछ भी तात्पर्य सिद्ध न होगा, क्योंकि इस समय उक्त सभा का पूरा ध्यान आर्ष ग्रन्थों के प्रचार की ओर नहीं है। किन्तु साथ ही इसके हम यह भी देख रहे हैं कि प्रतिनिधि सभा भी पूरा ध्यान इस ओर नहीं देती।

'दूसरा प्रश्न यह है कि क्या वैदिक कालेज की पाठविधि में संशोधन की आवश्यकता है या नहीं, और कहाँ तक इसमें कोशिश हुई है। हमारी सम्मति में आर्ष ग्रन्थों का प्रचार जो वास्तविक उद्देश्य इस कालेज के संस्थापन का था अब तक पूरा होना तो दूर रहा ठीक प्रकार आरम्भ भी नहीं हुआ। माना कि अष्टाध्यायी तथा **मनुस्मृति का संग्रह पाठविधि में दाखिल किया गया है, किन्तु जब तक कि स्वामी जी की प्रस्तावित पाठविधि का अनुसरण**, नहीं किया जाता मुख्य उद्देश्य का पूर्ण होना कठिन है।'

पाठक ! जिन शब्दों को मैंने **मोटा** कर दिया है उनको ध्यान से पढ़िए और फिर लाला जी की सम्मति स्वामी दयानन्द की पाठविधि पर अवलोकन कीजिए। लाला जी लिखते हैं–"इस बारे में तजरुबा करते हुए आज आर्यसमाज को बीस

वर्ष से अधिक व्यतीत हो चुके और इस अन्तर में जिस कदर नाकामयाबी हो चुकी है वह इस बात के लिए काफी है कि स्वामी जी महाराज की शिक्षा प्रणाली इस जमाने के सूरतेहाल में काबिल पैरवी नहीं।' कैसी अन्याय की व्यवस्था है। बीस तो नहीं अठारह वर्ष से अवश्य अष्टाध्यायी का रटना कालेज में जारी है, लेकिन क्या इससे ऋषि दयानन्द की पाठविधि का तजरुबा हो गया ? अष्टाध्यायी का कण्ठ करना भी आवश्यक है, किन्तु स्वामी जी ने कब लिखा था कि केवल उसे कण्ठ करने से मनुष्यों में वेदार्थ करने की योग्यता का आविर्भाव होगा। आप सच कहते हैं कि आपके कालेज में कोई लड़का भी अष्टाध्यायी के पाठ से संस्कृत में 'ख़ास महारत' करके न निकला। लेकिन क्या इसमें ऋषि दयानन्द का दोष है ? दोष आपके उन दोस्तों का है जिन्होंने बीस वर्षों के पश्चात आपसे ऋषि की पाठ प्रणाली के विरुद्ध व्यवस्था दिलाने के लिए आर्ष शास्त्रों को अंग्रेजी की चमक के नीचे दबवा दिया था। अपने उसी 17 वर्ष पूर्व के लेख से कुछ भाग उद्धृत करता हूँ–

'वे महाशय बड़ी भूल में हैं जो समझते हैं कि केवल अंग्रेजी की शिक्षा के लिए लोग एंग्लो वैदिक कॉलेज को चन्दा देते हैं। जो अपील कॉलेज के लिए की जाती है उनमें वेद विद्या की आवश्यकता जतलाई जाती है। गौतम और कणाद, पतंजलि और व्यास के नामों को पुनर्जीवित करने का जोश दिलाया जाता है। फिर नहीं मालूम होता कि हमारे कुछ आर्य भाई क्यों इस भूल में पड़े हुए हैं कि यदि अंग्रेजी की शिक्षा को थोड़ी भी हानि पहुँची तो चन्दे की आय बन्द हो जाएगी।'

लाला जी ने अपने दूसरे आक्षेप के साथ ही अपना पहले दस वर्षों की पढ़ाई का स्कीम संक्षिप्त रीति से दिया है। यूरोप तथा अमेरिका के गम्भीर विद्वान, शिक्षकों के संचित किए हुए नियमों की कसौटी पर मैं आपकी स्कीम को रखना चाहता था, किन्तु आर्य गजट में वह पढ़कर कि आपके प्रस्तावित 'दयानन्द ब्रह्मचारी आश्रम' के लिए 160 रुपए मासिक किराए पर तीन कोठियाँ लाहौर में ले ली गई हैं जिनमें 25 रुपए मासिक पर ब्रह्मचारी रखे जाएँगे जिसके अतिरिक्त उनके संरक्षकों को कपड़े अपनी ओर से देने होंगे–मैं लिखता हूँ कि यह मालूम करके कि 'इच्छरा, में इस आश्रम के लिए मकान बनाने को भी 30,000 रुपए मिल गए हैं। मैं योग्य समझता हूँ कि जब आप 'इच्छरा' में मकान बनवाकर कम-से-कम दो तीन वर्ष पर्यन्त काम न कर लें तब तक पाठविधि पर कुछ न लिखा जाए। हाँ यदि आप स्वयं अपनी स्कीम को पब्लिक के सामने लाएँगे तो बात और है।

लाला जी के दूसरे आक्षेप पर विचार करने के पश्चात अब मैं फिर उनके प्रथम आक्षेप के विभाग (ग) और (घ) की समालोचना करता हूँ। लाला जी का यह विचार कि बिना महाभाष्यादि के पढ़े अष्टाध्यायी के पढ़ने से कुछ लाभ नहीं, मेरी समझ में नहीं आया। लाला जी को जानना चाहिए कि अष्टाध्यायी का केवल

रटना अष्टाध्यायी का पढ़ना नहीं कहलाता। आप इस भूल में न पड़ते यदि आप ऋषि दयानन्द की बताई पाठ विधि को सत्यार्थ प्रकाश में से पढ़ लेते। देखिए ऋषि व्याकरण की पढ़ाई के विषय में यह लिखकर—कि प्रथम माता-पिता तथा आचार्य अक्षराभ्यास करा के वर्णोच्चारण शिक्षा पढ़ाएँ—क्या लिखते हैं......'तदनन्तर व्याकरण अर्थात प्रथम अष्टाध्यायी के सूत्रों का पाठ......और अर्थ......उदाहरण......जो-जो सूत्र आगे पीछे के प्रयोग में लगें उनका कार्य सब बतलाता जाए और सिलेट अथवा लकड़ी के पट्टे पर दिखला-दिखला के कच्चा रूप धर के......जिस-जिस सूत्र से जो-जो कार्य होता है उस-उसको पढ़-पढ़ा के और लिखवाकर कार्य कराता जाए इस प्रकार पढ़ने पढ़ाने से बहुत शीघ्र दृढ़ बोध होता है। एक बार इसी प्रकार अष्टाध्यायी पढ़ा के धातुपाठ अर्थ सहित और दश लकारों के रूप तथा प्रक्रिया सहित सूत्रों के उत्सर्ग (सिखलाएँ) जैसे चक्रवर्ती राजा के राज्य में माण्डलिक और भूमिवालों की प्रवृत्ति होती है वैसे माण्डलिक राजादि के राज्य में चक्रवर्ती की प्रवृत्ति नहीं होती, इसी प्रकार पाणिनि महर्षि ने सहस्र श्लोकों के बीच में अखिल शब्द अर्थ और सम्बन्धों की विद्या प्रतिपादित कर दी है। धातु पाठ के पश्चात् उणादि गण के पढ़ाने में सर्व सुवन्त का विषय अच्छे प्रकार पढ़ा के पुनः दूसरी बार शंका समाधान वार्तिक, कारिका, परिभाषा की घटनापूर्वक अष्टाध्यायी को पढ़ाएँ। तदनन्तर महाभाष्य पढ़ाएँ...'

यह लेख ऋषि दयानन्द विक्रमी सम्वत् 1939 के भाद्रपद मास से पहले लिख चुके थे क्योंकि उस समय उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के नए संस्करण की भूमिका लिखी थी। तब इसमें क्या सन्देह है कि व्याकरण के पाठन की इस विधि पर उनका विश्वास 23 वर्षों से बहुत पहले समय से चला आता था। भारतवर्ष के शिक्षा विभाग में लकड़ी के पट्टे (Black board) पर लिखवाकर काम कराने का प्रकार प्रायः बीस वर्षों से चला है और इस पर अधिक बल केवल 6-7 वर्षों से दिया जाना आरम्भ हुआ है। फिर क्या हम दयानन्द को ऋषि न कहें जो बिना नवीन शिक्षालयों तथा शिक्षकों से कुछ भी सीखे उस समय पाठन विधि के उत्तमोत्तम नियम बतलाता है जबकि वह नियम सर्वथा अप्रचलित थे। किन्तु इसमें आश्चर्य क्या है ? यदि सच्ची विद्या नियमबद्ध ज्ञान (Systematized commun sense) का नाम है तो ऋषि दयानन्द की शिक्षा प्रणाली का नवीन सभ्य जगत के ठीक विचारों के साथ मिलना कुछ भी आश्चर्यजनक घटना नहीं।

अब मैं लाला लाजपतराय जी से पूछता हूँ कि क्या दयानन्द कॉलेज में इसी विधि से अष्टाध्यायी पढ़ाई गई थी जो ऊपर दी गई है। यदि नहीं तो आपका आक्षेप 'क्या मानी रखता है ?' यह आपकी भूल है कि आप बिना महाभाष्य के अष्टाध्यायी की पढ़ाई में कोई लाभ नहीं समझते। इसमें सन्देह नहीं कि जिन छात्रों को आजकल के व्याकरणाध्यापक पढ़ाते हैं उनके लिए महाभाष्य के बिना व्याकरण

की पढ़ाई अपूर्ण ही रहती है किन्तु समय आ रहा है जबकि योग्य अध्यापक, ऋषि दयानन्द पर विश्वास रखते हुए, उनकी विधि को सार्थक करने के लिए सामने आएँगे और उस समय सिद्ध होगा कि महाभाष्य के बिना भी, अष्टाध्यायी की दोनों आवृत्तियाँ, व्याकरण का पूरा बोध कराने के लिए काफी हैं।

अब तो लाला जी के लिए भी इस नतीजे पर पहुँचना मुश्किल न होगा कि जिस छात्र ने विधिवत् अष्टाध्यायी का अध्ययन न किया हो वह कभी original thinker नहीं बन सकता। व्याकरण तो कोई-न-कोई लाला जी भी पढ़ाएँगे। क्या लाला जी कोई भी ऐसा व्याकरण का ग्रन्थ बता सकते हैं कि जिसका आधार पाणिनि के सूत्रों पर न हो ? सर्व विद्वानों की यह सम्मति है कि अपूर्व विचार विषय में कात्यायन तथा पतंजलि की भी पाणिनि के साथ कुछ तुलना नहीं है। इन दोनों महानुभावों ने जो कुछ भी लिखा है वह पाणिनि के सूत्रों को ही आगे धर के लिखा है। अष्टाध्यायी के कुल सूत्र 3993 हैं इनमें से केवल 1,500 पर ही कात्यायन ने वार्तिक लिखे हैं। भाष्यकार भी बहुधा वार्तिककार के आधार पर ही चले हैं। तब यह कहना कैसा असंगत है कि बिना भाष्यादि के अष्टाध्यायी के पढ़ने के कुछ लाभ नहीं।

लेख बहुत लम्बा हो गया है, इसलिए यहाँ ही समाप्त करता हूँ। किन्तु लाला जी से यह अन्तिम प्रार्थना अवश्य करूँगा कि यदि वह अपने नए बोर्डिंग स्कूल में, जिसका नाम दयानन्द ब्रह्मचारी आश्रम रखा है, संस्कृत की पढ़ाई रखना आवश्यक समझते हैं और दयानन्द का नाम उसके साथ लगाना सार्थक करना चाहते हैं तो ऋषि की आज्ञानुसार ही उसकी पाठविधि बनाएँ। लाला जी से मेरी यह भी प्रार्थना है कि जहाँ कहीं आवश्यकतानुसार मुझसे किसी ऐसे शब्द का प्रयोग हो गया हो, जिसको वह अनुचित समझें, तो उसके लिए यह समझकर मुझे क्षमा करें कि मैंने जान-बूझकर ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं किया है।

एक बड़े कर्तव्य को भूल गए

यन्त्रालय के परिवर्तन में इतना अधिक समय लगा था कि प्रथम चार अंकों के स्थान में एक ही अंक भेजा जा सका। इस प्रकार 36 पृष्ठ की कमी रह गई थी जिसे पूरा करने की प्रतिज्ञा मेरी ओर से हो चुकी है, और तदानुसार 8 पृष्ठों के दो क्रोड़ पत्र तो सं. 11 तथा 12 अंकों के साथ भेजे जा चुके हैं। गतांक में तीसरा क्रोड़ पत्रों द्वारा जो निबन्ध प्रचारक के पाठकों के हाथों में दिए गए हैं उन पर विशेष विचार होना चाहिए। मनुस्मृति पर जो लेख निकला है उसको पढ़ने से ज्ञात होगा कि आर्यों के प्राचीन ऋषि प्रणीत शास्त्रों की रक्षा की कितनी आवश्यकता है। मैं यह जानता हूँ कि वह लेख अपूर्ण ही हैं और उस पर अधिक आन्दोलन होने से बहुत-सी नई बातें मालूम होंगी, तथापि जो परिश्रम निबन्धकर्ता ने किया

है वह प्रशंसनीय अवश्य है। गतांक का निबन्ध फिर एक आवश्यक विषय पर उसी लेखक का निकला है। इसके द्वारा व्याकरण के भाष्यकार महामुनि पतंजलि के काल निर्णय का प्रयत्न किया गया है। यूरोपियन संस्कृतज्ञों ने आर्ष ग्रन्थों के समय निर्णय करने में जिस राक्षसी व्यवहार से काम लिया है उसे देखकर किस वेदानुयायी को शोक नहीं होता, किन्तु उनमें से कितने विद्वान हैं जिन्होंने यूरोपियन महाशयों की फैलाई हुई अविद्या को दूर करने का प्रयत्न किया है। यूरोपियन लोगों का एक स्वभाव यह है कि यदि एक विषय का विद्वान एक बात पर कोई सम्मति दे देवे तो दूसरा भी ज्ञात होने पर अधिकतः उसी की पैरवी करता है। जिस समय विलसनादि ने काम करना आरम्भ किया उस समय के विद्वान ईसाई भी सृष्टि की सम्वत् को 6000 वर्षों से बढ़ाने के लिए तैयार न थे। अभी तक शताब्दी व्यतीत नहीं हुई जबकि यूरोप के अच्छे विद्वान् पुरुष सृष्टि उत्पत्ति की सम्वत् का आरम्भ ईसा मसीह (Jesus Christ) से 4,000 वर्ष पहले मानते थे। The Earl of Chestor field (दी अर्ल आफ चेस्टर फील्ड) इंग्लैंड के बड़े योग्य विद्वान् राज मन्त्रियों में से थे। उन्होंने अपने लड़के को शिक्षा सम्बन्धी पत्र लिखे थे जो छपे हुए मिलते हैं। उनमें से एक पत्र में उक्त महाशय अपने पुत्र को सम्बोधन करते हुए सृष्टि काल निर्णय इस प्रकार करते हैं–

'कला निर्णायक विद्या के दो बड़े विभाग हैं जिनसे यूरोप के जन समाज(Nations) घटनाओं की गणना करते हैं। (उनमें से) पहली सृष्टि उत्पत्ति से आरम्भ की जाती है और दूसरी ईसा मसीह के जन्मदिन से। जो घटनाएँ मसीह के जन्म से पहले हुई उनकी गणना सृष्टि उत्पत्ति से की जाती है······ईसा मसीह की उत्पत्ति से 4,000 वर्ष पहले सृष्टि का आरम्भ हुआ; इस प्रकार के ऐतिहासिक विचार लेकर जो यास्काचार्य, पाणिनि तथा पतंजलि आदि के समय का निर्णय करने बैठेंगे उनसे तत्वान्वेषण की क्या आशा हो सकती है। मैं इसलिए आर्य विद्वानों से निवेदन करता हूँ कि यूरोपियन संस्कृतज्ञों के फैलाए हुए अविद्यान्धकार को दूर करना उनका बड़ा भारी कर्तव्य है जिसे उन्होंने सर्वथा भुला दिया है।

[सद्धर्म प्रचारक, 15 जुलाई, 1908]

गुरुकुल पाठ प्रणाली

[1]

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के आगे इस समय सारा भारतवर्ष तो सिर झुका ही चुका है, किन्तु भारत व विभिन्न देशों में भी इसकी पाठ विधि के साथ सहानुभूति प्रकट हो रही है। हिन्दुओं का ब्रह्मचर्याश्रम पर मोहित होना आश्चर्यजनक नहीं क्योंकि वेदारम्भ संस्कार का नाटक उतारना अधम-से-अधम हिन्दू भी अपना कर्तव्य समझता है। जैनियों, बौद्धों तथा अन्य शाखा मतों का ब्रह्मचर्याश्रम के गौरव को मान दृष्टि से देखना विस्मयप्रद नहीं क्योंकि उनके मन में त्याग वृत्ति से बढ़कर ज्ञान प्राप्ति का कोई साधन नहीं। हिन्दू समाज में से जिन्होंने 'कलमा' पढ़ाया, बपतिस्मा ले लिया उनका भी गुरुकुल से प्रेम कुछ अपूर्व घटना नहीं क्योंकि पैत्रिक संस्कार बहुत देर में दूर होते हैं। पंजाब में एक कहानी प्रसिद्ध है जिसे यहाँ लिखना उपयोगी होगा। एक मुसलमान रावल ने ब्राह्मण का रूप धर, टीकादि लगाकर लोगों को ठगना आरम्भ किया। एक दिन किसी ग्राम में एक दुकान पर 'राम-राम' करके बैठा और हुक्के की ओर हाथ बढ़ाया। दुकानदार ने 'जात' पूछी; उत्तर मिला—'ब्राह्मण' दुकानदार स्वयं ब्राह्मण था इसलिए दूसरा प्रश्न हुआ। 'कौन ब्राह्मण ?' मियाँ जी इतना सीख गए थे कि पंजाब में सारस्वत ब्राह्मण अधिक हैं, इसलिए झट उत्तर में सारस्वत कह दिया। मियाँ समझे थे कि अब 'ब्राह्मण देवता' को भ्रष्ट कर देंगे पर वहाँ अभी तीसरा प्रश्न बाकी था जो वज्र की तरह टूट पड़ा—'कौन सारस्वत ?' अब मियाँ जी की बुद्धि चक्कर काटने लगी और बौन्दलिया कर बोले। "या अल्ला सारस्वतों में भी कौन होते हैं।" इन शब्दों का मुँह से निकलना था कि चारों ओर से पड़ने लगीं। जब गर्द झाड़ झूड़ अपने उस्ताद के पास फरियादी गया तो उस्ताद ने खूब झाड़ा—"कम्बख्त वहाँ अल्ला का नाम क्यूँ लिया ?" शार्गिद खिसियाना होकर बोला—"मियाँ अल्ला निकलदा निकलदा ही निकल्लू राम बड़दा बड़दा ई बडू।" हम लोकोक्ति को यदि उलट दें तो इस स्थान में ठीक सिद्ध होगी। हिन्दुओं में से गए हुवों के अन्दर 'अल्ला' घुसता-घुसता ही घुसेगा और राम भी कुछ काल के पश्चात् ही बाहर निकलेगा। इन सब के हृदयों

में ब्रह्मचर्याश्रम के लिए प्रेम और उसके पुनरुद्धार में श्रद्धा एक साधारण बात है, किन्तु जिनका जन्म ही भारतवर्ष से बाहर हुआ हो और जिन्होंने पालन-पोषण ही वैधर्मी जलवायु से ग्रहण किया हो, उनका ब्रह्मचर्याश्रम की प्राचीनता के आगे सिर झुका लेना तथा प्राचीन आर्यों की शिक्षण प्रणाली के आगे चकित से रह जाना एक विचित्र चमत्कार है। पादरी 'ऐन्ड्र-र्‌यूज़' (Rev. Andrews) चाहे हरद्वार के गुरुकुल को एक विचित्र घटना कहकर टालने की कोशिश करें, लॉर्ड कर्जन चाहे गुरु शिष्य के प्राचीन सम्बन्ध की ओर इशारा मात्र ही फेंककर गुरुकुल से प्रेम का असल सबूत देवें, मिस्टर नेविन्सन (Mr. Nevinson) चाहे ब्रह्मचारियों के एकान्त निवास को सृष्टि नियम के विरुद्ध ही क्यूँ न बतलावें—यह और इनके अतिरिक्त बीसियों यूरोप निवासी गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की श्रेष्ठता को अनुभव करने लग गए हैं। यह सर्व अनुकूल घटनाएँ सिद्ध कर रही हैं कि वैदिक आदर्शों को पुनरपि जीवित करने का समय आ गया है और उसके लिए काम करनेवालों की परमात्मा स्वयं सहायता कर रहे हैं।

यह सच है कि सारा संसार इस समय गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की स्पिरिट (spirit) का आकलन करने के लिए तैयार है, किन्तु आर्यसमाज के अन्दर ही ऐसे विश्वासघाती पुरुष विद्यमान हैं, जिन्होंने अपने आपको गुरुकुल का हितैषी सिद्ध करते हुए भी उसको जड़ से उखाड़ने का बीड़ा उठा लिया है। स्वार्थ ने ऐसे पुरुषों को अन्धा कर दिया है। वे स्वयं सत्या-सत्य का निर्णय करना नहीं चाहते, क्योंकि ऐसा होने से उनकी स्वार्थसिद्धि के रास्ते में रुकावट पड़ती है, और अन्य सर्व साधारण को सचाई की पहचान का अवसर नहीं देते। ऐसे पुरुष उच्च सभ्यता से तो गिरे हुए होते ही हैं किन्तु साधारण मनुष्यत्व से भी इतने मुक्त हो जाते हैं कि फक्कड़बाज़ी तथा अश्लीलता का कीचड़ उड़ा, इस धमकी से धर्मसेवकों को उनके उद्देश्य से च्युत करना चाहते हैं। शैतान के जवाब में फरिश्तों की ओर से 'शैतान की उम्मत' को छल कपट से काबू करने पर हो सकती है। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के प्रचार का जिन्होंने बीड़ा उठाया हो उनको बड़े-से-बड़े आक्रमणों का सामना भी शान्ति तथा क्षमा से ही करना चाहिए। मैं अपनी निर्बलताओं को स्वयं जानता हूँ, और उनसे मुक्त होने के लिए सच्चे दिल से प्रार्थना करता रहता हूँ। मेरे निज के आचरणों पर जो झूठे कटाक्ष होते रहते हैं उनकी मैं कभी परवा नहीं करता क्योंकि मुझे विश्वास है कि ऐसे झूठे कटाक्षों का स्वच्छ हृदय सर्व साधारण पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता और यदि किन्हीं पर कुछ समय के लिए पड़ भी गया तो शीघ्र ही सचाई का प्रकाश आप-से-आप होने पर वह प्रभाव दूर हो जाता है। किन्तु जो कटाक्ष प्रसिद्ध या गुप्त रीति से गुरुकुल पर शिक्षा प्रणाली सम्बन्ध में किए जाते हैं उनकी पड़ताल करना मैं आवश्यक समझता हूँ।

सबसे पहले मैं उन छोटे-छोटे आक्षेपों पर एक दृष्टि डालता हूँ जिनके द्वारा

सर्वसाधारण को गुरुकुल (कांगड़ी) के विरुद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। मुझे यहाँ इस बात से कुछ मतलब नहीं है कि अन्य गुरुकुल नाम से खुले हुए, शिक्षणालयों की अवस्था क्या है; न मैं अपनी ओर से यह उत्तर ठीक समझता हूँ कि जिन विषयों में गुरुकुल कांगड़ी पर आक्षेप किया जाता है उनमें से कुछ विषयों में अन्य गुरुकुल इससे भी बढ़े हुए हैं। मुझे यहाँ केवल यह दिखलाना अभीष्ट है कि जो आक्षेप गुरुकुल कांगड़ी पर किए जाते हैं उनका प्रेरक शुद्ध भाव नहीं, बल्कि ईर्ष्या द्वेषादि हैं। अस्तु ! छोटे-छोटे आचरण सम्बन्धी आक्षेपों में से कुछ एक ही नमूने की तरह पेश करने काफी होंगे। कोई आक्षेप करता है कि गुरुकुल के बड़े ब्रह्मचारी मूँछ दाढ़ी मुँड़ाते हैं, यह ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों के विरुद्ध है। केशों का सँवारना और उसको सुन्दर बनाने के विषय में फँसना तो अवश्य ब्रह्मचारी के लिए दूषित कर्म है और जिनमें ऐसा व्यसन होता है उसे बराबर दूर कराया जाता है; किन्तु केश छेदन का ब्रह्मचारी के लिए सर्वथा निषेध कहीं देखने में नहीं आया। मनुस्मृति में लिखा है :

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः।
नैनं ग्रामेऽभिनिलो चेतसूर्य्यो नाभ्युदियात्क्वचित्।।

—अ. 2। श्लोक. 219।।

इसका अर्थ मैं पण्डित तुलसीराम कृत अनुवाद से उद्धृत करता हूँ—'मुण्डित अथवा शिखावाला या जटायुक्त, इन तीन प्रकार में से ब्रह्मचारी कोई प्रकार रखे। ग्राम में इसको कभी सूर्य अस्त या उदित न हो।'

हमारा देश उष्ण प्रधान होने के कारण ब्रह्मचारियों को जटिल रखना कठिन है इसलिए उनको शिखाधारी रखना ही ठीक प्रतीत होता है। उनमें से भी जो जटिल रहना चाहें उनको कोई रोक नहीं है। इससे बढ़कर यदि कोई कुछ कहता है तो ब्रह्मचारियों पर व्यर्थ आक्षेप लगाने का फल स्वयं भुगतना।

दूसरा आक्षेप यह लगाया जाता है कि ब्रह्मचारियों को नियम विरुद्ध घोड़े की सवारी सिखाई जाती है। मुझे ज्ञात है कि एक दो महाशयों ने इस विषय में गुरुकुल के हित के लिए आक्षेप किया था; उनकी तसल्ली के लिए तो केवल इतना ही लिखना काफी है कि जिस विचार से उन्होंने आक्षेप किया था उसके लिए अब आधार ही नहीं रहा। आजकल के बड़े योग्य शिक्षक वैद्यों की यह सम्मति है कि 18 वर्ष की आयु से पहले घोड़े की सवारी सिखाने का आरम्भ नहीं करना चाहिए। वर्तमान नवम श्रेणी में केवल एक ब्रह्मचारी 17 वर्ष का है, शेष सब 18 वर्ष से अधिक आयुवाले हैं। घोड़े पर चढ़ने के विषय में जिस आज्ञा का इस समय पालन हो रहा है वह इस तरह हैं :

"आज्ञा सं. 4-चैत्र कृष्ण प्रतिपदा 1965। घोड़े पर चढ़ने की इस समय 11, 10 तथा 9 श्रेणी के ब्रह्मचारियों को आज्ञा है। आधे एक दिन घोड़ों पर जाएँ और आधे गतकादि खेलें। भविष्यत् में केवल ग्यारहवीं तथा बारहवीं श्रेणी के ब्रह्मचारियों को ही घोड़े पर चढ़ना सिखाया जाया करेगा।"

मैं समझता हूँ कि शुद्ध भाव से सम्मति देनेवालों की तो इस उत्तर से तृप्ति हो जाएगी, किन्तु जो केवल गुरुकुल को बदनाम करने के लिए, आक्षेप करते हैं उनसे मैं पूछता हूँ कि क्या वर्तमान शहर 'गुड़गाँवा' को गुरुग्राम की उपाधि वे लोग ही नहीं दिया करते ? क्या द्रोणाचार्य का गुरुकुल उस स्थान में होना नहीं बतलाया जाता, और क्या कौरव तथा पाण्डवों ने धनुर्विद्या के लिए घोड़े की सवारी यहाँ नहीं सीखी थी ? फिर क्या यही लोग दाहिर के सुकुमार पुत्रों का (16 वर्ष की आयु से पहले ही) गुरुकुल छोड़कर ब्रह्मचर्य समाप्ति के पहले ही यवनों से युद्ध करते हुए मरना अपने व्याख्यानों में वर्णन करके सर्वसाधारण को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उत्साहित नहीं किया करते ? तब क्या दाहिर के पुत्र पैदल ही लड़ते थे ? और यदि वे घोड़े पर चढ़कर अपनी सेना को लड़ाते थे तो घोड़े की सवारी उन्होंने गुरुकुल से बाहर कहाँ सीखी थी ?

कोई पूछता है—'क्या गुरुकुल के ब्रह्मचारी साबुन लगाते हैं ?' जब कपड़े धोने के लिए धोबी नहीं रहता तब ब्रह्मचारीगण स्वयं ही साबुन से कपड़े साफ कर लेते हैं। ब्रह्मचारीगण साबुन से सिर तथा बदन साफ कर लेते थे। सिर में नियमपूर्वक पहले आँवले डाले जाते थे। एक बार मेरी अनुपस्थिति में ज्ञात हुआ कि भण्डार में आँवले नहीं रहे। इस पर सिर में साबुन लगाना शुरू हुआ। मैंने जब आन्दोलन किया तो पता लगा कि जो आँवलों की बोरी गत वर्ष के व्यय से बच रही थी, वह भण्डारी पद में अधिक परिवर्तन के कारण भृत्यों ने हवन सामग्री में मिला दी। उसी समय आँवलों के लिए लिखा गया और इस समय के व्यय के लिए कनखल से आँवले मँगाए गए। मेरा मतलब यह नहीं है कि सुगन्धरहित-साबुन (जैसा कि गुरुकुल में बर्ता जाता है) का लगाना ब्रह्मचारियों के लिए वर्जित है; मेरा तात्पर्य यह है कि विरोधी लोग बात का बतंगड़ बनाकर केवल गुरुकुल को हानि पहुँचाने के लिए ऐसी-ऐसी गप्पें उड़ाते रहते हैं। इस प्रकार की न मालूम कितनी और गप्पें उड़ाई गई होंगी। जिस पर यहाँ विचार करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। मैंने यह तीन बातें केवल नमूने के तौर पर पेश की हैं। मुझे निश्चय है कि जिस प्रकार व्यक्तिगत झूठे आक्षेपों पर बुद्धिमान पुरुषों ने कुछ भी विश्वास नहीं किया, वैसे ही ऊपर लिखित कुटिल आक्षेपों का भी उन पर कोई असर नहीं हुआ। किन्तु कुछ आक्षेप ऐसे हैं जिनको सुनकर बुद्धिमान पुरुष भी धोखे में आ जाते हैं, कारण यह है कि वे आक्षेप गुरुकुल पाठ प्रणाली के मूल सिद्धान्तों पर कुठार का काम करने के लिए उठाए जाते हैं। कहा जाता है कि

गुरुकुल की पाठ प्रणाली ऋषि दयानन्द की बतलाई हुई पाठन प्रणाली के विरुद्ध है क्योंकि इस कुल में–

(1) अंग्रेजी पढ़ाई जाती है (2) अंग्रेजी ढंग की खेलें और कसरतें कराई जाती हैं, (3) इतिहास और भूगोल पढ़ाया जाता है, (4) साइंस (science) की शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता है (5) परीक्षा गुरुकुल के ही अध्यापकों से कराई जाती है और (6) तालीम मुफ्त नहीं दी जाती।

एक ही आक्षेप के अन्तर्गत छह प्रकार के दोष जो गुरुकुल पर लगाए जाते हैं, उनका परिहार करने से प्रथम यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जो लोग इन विषयों से विरोध के लिए कुछ अन्य युक्तियाँ रखते हैं उन पर इस समय विचार करना मेरा काम नहीं। ऐसे विवेचकों का उत्तर कई बार दिया जा चुका है और आगे को भी जब कभी कोई नई युक्ति सामने आएगी, तो उस पर उसी समय विचार होगा। किन्तु यहाँ प्रश्नकर्ताओं की प्रतिज्ञा यह है कि गुरुकुल कांगड़ी में उपरोक्त विषयों की शिक्षा स्वामी दयानन्दजी की पाठ प्रणाली के विरुद्ध है, इसलिए यदि यह सिद्ध हो जाए कि यहाँ की पाठ प्रणाली का इन विषयों में ऋषि दयानन्द की आज्ञाओं से विरोध नहीं तो आक्षेप करनेवालों का मुँह बन्द हो जाना चाहिए।

पहला प्रश्न यह है कि–

क्या ऋषि दयानन्द इंग्लिश भाषा की पढ़ाई के विरुद्ध थे ?

इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने से पहले एक और प्रश्न उठाना ठीक होगा। प्रश्न यह है–'क्या ऋषि दयानन्द संस्कृत विभिन्न सर्वभाषाओं की पढ़ाई के विरुद्ध थे ? ''यदि यह सिद्ध हो जाए कि ऋषि सर्व अन्य भाषाओं की शिक्षा के विरुद्ध थे तब तो मामला साफ है–अंग्रेजी की पढ़ाई भी ऋषि की आज्ञा के विरुद्ध आप-से-आप सिद्ध हो जाएगी। मेरी प्रतिज्ञा यह है कि न केवल यही कि ऋषि दयानन्द अन्य भाषाओं की पढ़ाई के विरुद्ध न थे किन्तु अन्य भाषाओं का पढ़ाना आर्य सन्तान के लिए आवश्यक समझते थे। दूसरे समुल्लास में शिक्षा का प्रकरण आरम्भ करते ही ऋषि लिखते हैं–'जब पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों तभी नागरी अक्षरों का अभ्यास कराएँ **अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी**।' जो अक्षर मैंने मोटे कर दिए हैं उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अन्य भाषाओं का पढ़ाना भी श्री स्वामी जी महाराज आवश्यक समझते थे, नहीं तो उन भाषाओं के अक्षरों के सिखाने की सम्मति न देते। इस पर कोई-कोई महाशय यहाँ तक तर्क शक्ति को बढ़ाया करते हैं कि संस्कृत की पढ़ाई के साथ-ही-साथ अंग्रेजी की पढ़ाई को ऋषि दयानन्द की पाठ विधि के अनुकूल बता देते हैं। शायद यही कारण था कि जब सिकन्दराबाद गुरुकुल अभी आर्य प्रतिनिधि सभा युक्त प्रान्त के आधीन नहीं हुआ था तो उसमें छोटी श्रेणियों से ही अंग्रेजी की पढ़ाई का आरम्भ कर दिया जाता था और इस समय गुजराँवाला के बोर्डिंग स्कूल में भी लाला रलाराम ने पहली श्रेणी

से ही इंग्लिश की पढ़ाई का प्रचार कर रखा है। मैंने सनातनी भाइयों के ऋषि कुल ब्रह्मचारी आश्रम में भी देखा था कि इंग्लिश की पढ़ाई पहली श्रेणी से ही कराई जाती है। मेरी सम्मति में पाँच वर्ष की आयु से अक्षराभ्यास का मतलब कुछ अन्य ही है। जो शिक्षा सम्बन्धी नियम सभ्य देशों में आज प्रचलित हुए हैं ऋषि के लिए वह बहुत पहले ही स्पष्ट थे। बड़ी आयु में जिन महाशयों ने किसी भाषा का अक्षराभ्यास आरम्भ किया है वे जानते हैं कि उनके हस्ताक्षर आदर्श नहीं बन सकते। बंगालियों के हस्ताक्षर प्रायः बड़े सुन्दर होते हैं; इसका कारण यही है कि पाँच वर्ष की आयु में ही उनके हाथों में लेखनी दे, पट्टिका बिछा उनसे बंग भाषा तथा इंग्लिश की लिपि का अभ्यास कराया जाता है। ऋषि आनन्द इस नियम को जानते हुए आवश्यक समझते थे कि जिस भाषा में बालकों को आगे चलकर पढ़ना हो उस की लिपि का अभ्यास पहले ही कर लिया जाए। इससे बढ़कर उनका कोई मतलब न था। मैं लाला लाजपत राय जी के लेखों की समीक्षा करते हुए सिद्ध कर चुका हूँ कि संस्कृत व्याकरण से बढ़कर किसी भाषा का व्याकरण नहीं है, और यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि यदि एक प्राचीन भाषा का पूर्ण व्याकरण पढ़ लिया जाए तो अन्य नवीन भाषाओं का पढ़ना बहुत सुगम हो जाता है। बस यह जतलाने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृत व्याकरण की समाप्ति पर ही अन्य भाषा की पढ़ाई का आरम्भ होना चाहिए। इसी नियम के समीप पहुँचने के लिए गुरुकुल कांगड़ी पाठ विधि में अंग्रेजी सातवीं श्रेणी से रखी गई है, मेरी सम्मति में यदि आठवीं में रखी जाती तो और भी अच्छा होता क्योंकि उस समय तक महामुनि पतंजलिकृत महाभाष्य का भी आवश्यक भाग हो चुका है। (यह केवल मेरी ही सम्मति है। नियम वही रहेगा जो सभा ने स्वीकार किया है)

अस्तु। मैंने अभी तक केवल इतना ही दिखलाया है कि ऋषि दयानन्द ने अन्य भाषाओं के अक्षरों के सीखने की आज्ञा दी है। इस पर पूर्व पक्षी कह सकता है कि ऋषि ने केवल हाथ टिकाने के लिए ऐसा उपदेश दिया है—इससे अन्य देशीय भाषाओं के पढ़ने की आज्ञा स्पष्ट नहीं निकलती। उत्तर में ऋषि दयानन्द के पूनावाले प्रसिद्ध पन्द्रह व्याख्यानों में से कुछ लेख उद्धृत किया करता हूँ। ऋषि कहते हैं—

लाख के घर का स्पष्ट वृत्तान्त और उसका भेद विदुर ने युधिष्ठिर को बरबेरी (Borbery) देश की भाषा में बता दिया था। वह भाषा धर्मराज युधिष्ठिर को आती थी। लोकोक्ति है कि इसीलिए पाण्डव लाख के गृह में आग लगाए जाने पर भी इस भीषण दुःख से बच गए थे। देखो ! विदुर, युधिष्ठिर, भीष्मादि को बहुत-सी भाषाओं का ज्ञान था। वह अरबी भाषा भी बोल सकते थे। नए शास्त्री महाराजों में यदि कहो कि यावनी और म्लेक्ष भाषा सीखने में कोई हर्ज नहीं तो वे कहते हैं कि :

'न वदेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठ गतैरपि।
हस्तिना ताड्यमानोपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम्।'

—व्याख्यान 12, इतिहास

अर्थात्—"वेद और छह दर्शनों से प्राचीन पुस्तकों का **विविध भाषाओं** में अनुवाद करके सब लोगों को जिस सुगमता से प्राचीन विद्या उपलब्ध हो सके ऐसा प्रयत्न करना चाहिए…"

यावनी भाषा से तात्पर्य उर्दू, फ़ारसी आदि का है और म्लेक्ष भाषा से मतलब इंग्लिशादि यूरोपियन भाषाओं से है। तब सन्देह नहीं रहता कि राजभाषा होने के कारण ऋषि अंग्रेजी की पढ़ाई भी किसी अंश में आवश्यक समझते थे।

किन्तु आक्षेप फिर भी जमा ही रहता है। पूर्व पक्षी कहता है—"हम भी इंग्लिश भाषा का सिखाना बुरा नहीं समझते किन्तु कांगड़ी गुरुकुल में तो इंग्लिश भाषा की प्रधानता है; संस्कृत गौण समझी जाती है।" यह आक्षेप कैसा निर्मूल और झूठा है प्रयत्क्ष प्रमाण द्वारा ही सिद्ध हो जाएगा।

इस बात का पता लगाने के लिए कि दो विवादास्पद विषयों में से, किसी शिक्षणालय में, किसको प्राधान्य है, एक ही प्रकार है। जिस भाषा का पढ़ाई के लिए अधिक समय दिया जाए और साथ ही जिस भाषा में अधिक योग्य कराने का प्रबन्ध किया जाए वही उस विद्यालय की प्रधान भाषा कहलाने के योग्य होगी। गुरुकुल में सबसे पहले तो प्रथम छह वर्षों तक इंग्लिश का नाम भी नहीं लिया जाता और संस्कृत व्याकरण तथा साहित्य की पढ़ाई पर ही बल दिया जाता है। उसके पश्चात् 8-10 श्रेणी तक भी अधिक समय संस्कृत को ही दिया जाता है। इस समय यह भी जतला देना आवश्यक है कि प्रत्येक विषय (गणितादि) की पढ़ाई का साधन आर्यभाषा है जिसके लिए अलग समय दिया जाता है। यह आर्यभाषा भी अधिकतः संस्कृत की पढ़ाई में ही सहायकारी होती है। नीचे मैं एक नक्शा देता हूँ जिससे ज्ञात हो जाएगा कि प्रथम से दस श्रेणी तक संस्कृत भाषा, आर्य भाषा तथा इंग्लिश को कितना-कितना समय दिया जाता है—

(**नोट**—सप्ताह में पढ़ाई के 63 अन्तर हैं) प्रथम के 56 अन्तर क्योंकि छोटे बच्चों को एक अन्तर कम बैठाया जाता है। प्रत्येक अन्तर 45 मिनिट का है :

श्रेणी	आर्य भाषा	संस्कृत	इंग्लिश
1	12	23	x
2	10	25	x
3	7	32	x
4	6	36	x

5	5	36	x
6	3	36	x
7	2	29	12
8	2	30	12
9	x	29	12
10	x	30	10
योग	47	306	46

ऊपर तालिका से सिद्ध होता है कि इंग्लिश को आर्य भाषा से अधिक समय नहीं दिया जाता—और अपनी मातृभाषा के सीखने में विदेशी भाषाओं की अपेक्षा कम समय की आवश्यकता होती है।

पाठविधि से ज्ञात होगा कि जहाँ दशम श्रेणी तक इंग्लिश में एन्ट्रेन्स (Entrance standard) तक की योग्यता प्राप्त होने की आशा की गई है। वहाँ संस्कृत में (M.A.) एम.ए. तथा शास्त्री की ही योग्यता की आशा तक ही सन्तोष नहीं किया गया, प्रत्युत उससे बढ़कर योग्यता प्राप्त कराने का प्रयत्न किया गया है।

मैंने ऊपर जो कुछ लिखा है उसमें अनुमान तथा शुष्क युक्ति का कुछ भी दखल नहीं है। गुरुकुल की पाठविधि के अनुकूल पढ़ाने से जो परिणाम निकले हैं उनकी निर्पक्ष विद्वानों ने परीक्षा करके वड़ा सन्तोष प्रकट किया है।

[सद्धर्म प्रचारक, 22 जुलाई, 1908]

काव्यतीर्थ जी का मत

काव्यतीर्थ जी का लेख आज के क्रोड़ पत्र में पाठकगण अवलोकन करेंगे। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि काव्यतीर्थ जी न केवल सत्यार्थ प्रकाश के अन्त में दिए हुए 51 मन्तव्यों को ही मानना आर्य समाज के सभासद् के लिए आवश्यक समझते हैं प्रत्युत ऋषि दयानन्द के वेद विषयक प्रत्येक लेख को मान की दृष्टि से देखना भी योग्य मानते हैं। महाशय 'क्ष' के लेख मेरे गुरुकुल भूमि में आने से पहले ही छप रहे थे, इसलिए मेरी दृष्टि लेख के उस अंग पर न पड़ी थी जहाँ काव्यतीर्थ जी को विश्रुवादी बतलाया गया था। मुझे भली प्रकार स्मरण है और अन्य कतिपय महाशयों को भी स्मरण होगा कि जब सरस्वती सम्मेलन में इस विषय पर विवाद हुआ था कि छह शास्त्रों में जीवात्मा को विभु या अणु या मध्यम परिमाणी क्या माना है तो काव्यतीर्थ जी ने स्पष्ट कह दिया था कि उनका निज मत तो वही है जो ऋषि दयानन्द का है—अर्थात् यह कि जीवात्मा विभु नहीं, अणु है—किन्तु छह शास्त्रों में इस विषय पर विरोध है।

काव्यतीर्थजी के इस लेख के पश्चात् महाशय 'क्ष' को कुछ भी वक्तव्य न रहना चाहिए। वह भी यह मालूम करके बड़े प्रसन्न होंगे कि एक विद्वान के विषय में जो भ्रमजनक विचार उठ रहे थे वह दूर हो गए। मैं समझता हूँ कि महाशय रामचन्द्र शर्मा जी को भी अब काव्यतीर्थ जी की संरक्षा का विचार छोड़कर अपने अभीष्ट विषय पर स्वतन्त्र विचार करना चाहिए। हाँ, वेदार्थ विचार पर महाशय 'क्ष' तथा काव्यतीर्थ जी का परस्पर विचार चलेगा तो आशा है कि उस से बड़े-बड़े उत्तम परिणाम निकलेंगे।

[सद्धर्म प्रचारक, 22 जुलाई, 1908]

अपने परम धर्म को भूल गए

'वेदों का पढ़ना, पढ़ाना, सुनना, सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।' इसी आधार रूप नियम की परवा न करने के कारण आज आर्यसमाजी अँधेरे में हाथ पैर मारनेवाले की तरह संदिग्ध अवस्था में डोल रहे हैं। अभी एक पोस्टकार्ड आया था, जिसका उत्तर पृथक भेजने में कम लाभ समझकर मैं यहाँ ही लिख देता हूँ। महाशय चाननराम शर्मा पटियाले से लिखते हैं—'स्वामी जी ने यजुर्वेद के बारहवें अध्याय के चौथे मन्त्र में 'वामदेव' शब्द का अर्थ ऐसा लिखा है कि 'ऋषि वामदेव ने चारों वेद पढ़ाए'। जबकि स्वामी जी का सिद्धान्त है कि वेद में इतिहास नहीं तो फिर ऐसा क्यों लिखा ? या इसका कुछ और मतलब है, या कि स्वामी जी की ग़लती हैं...'

वेदभाष्य में केवल संस्कृत भाव स्वामी जी महाराज का लिखवाया हुआ है और भाषा का भाग पण्डितों का बनाया है। इसीलिए वेदभाष्य के टाइटिल पेज पर छपा है कि—'इस भाष्य की भाषा को पण्डितों ने बनाई और संस्कृत को भी उन्होंने शोधा है।'

यजुर्वेद के 12 अध्याय के चौथे मन्त्र के भाष्य में संस्कृत भाग तो निम्नलिखित है—'(वामदेव्यम्) वामदेवेनदृष्टं विज्ञातं विज्ञापितं वा' किन्तु भाषार्थ यूँ किया है—'(वामदेव्यम्) वामदेव ऋषि ने जाने वा पढ़ाए।'

इतने से ही स्पष्ट सिद्ध है कि 'वामदेव' से ऋषि विशेष स्वामी दयानन्द जी ने नहीं लिखा प्रत्युत पण्डितों के हस्तक्षेप से ही अनर्थ हुआ। जब इस मन्त्र का भाष्य छप चुका था उस समय पण्डित लेखराम जी वैदिक यन्त्रालय में जा निकले थे। उन्होंने देखते ही शोर मचाया था और प्रबन्धकर्ता को वह अंक जला शुद्ध छापने की प्रेरणा की थी; किन्तु धन हानि का प्रश्न था इस समय किसी ने न सुना। उक्त पण्डित जी ने तब अशुद्धियों की एक सूची छपवाकर बाँटी थी जिस पर फिर किसी ने ध्यान न दिया। उसके पश्चात पण्डित श्यामजीकृष्ण यन्त्रालय के अधिष्ठाता बनाए गए थे। उन्होंने भाष्य पर यह नोट छपवा दिया था जो मैंने ऊपर दिया है।

ऋषि दयानन्द ने इसी 'वामदेव' शब्द के अर्थ अन्य स्थानों में भी किए हैं

जिनमें से ऋग्वेद के चौथे मण्डल के सूत्र 16 के मन्त्र 18 में इस पद के अर्थ इस प्रकार किए हैं। (वामदेवस्य) सुरुप युक्तस्य विदुषः.......(वामदेवस्य) उत्तम रूप से उत्तम विद्वान्'।

पण्डित काव्यतीर्थ जी को वेद तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों के विचार की एक प्रकार से धुन लग गई है। इस प्रकार के सन्देहों की सूची बनाते जाएँ और अन्य विद्वानों से भी विचार करने के पश्चात शंकाओं का समाधान समाचार पत्रों में छपवाने के अतिरिक्त पुस्तकाकार भी निकाल दें। प्रत्येक आर्य पुरुष यदि प्रातः स्वाध्याय के समय थोड़ा-सा वेद पाठ विचारपूर्वक कर लिया करें तो उनके बहुत-से संशय आपसे आप ही निवृत्त हो जाया करें।

[सद्धर्म प्रचारक, 22 जुलाई, 1908]

गुरुकुल पाठ प्रणाली

[2]

दूसरा प्रश्न पाठक वृन्द के सामने उपस्थित करने से प्रथम मैं यह बतला देना आवश्यक समझता हूँ कि गुरुकुल में दो प्रकार के व्यायाम कराए जाते हैं। प्रातःकाल तो ऐसी कसरतें कराई जाती हैं जिनसे नसें दृढ़ होकर शरीर पुष्ट हो और सायंकाल के लिए ऐसी खेलें तथा कसरतें नियत हैं जिनसे शरीर में स्फूर्ति आवे और ब्रह्मचारी अपनी रक्षा की विद्या सीख सकें। जो लोग वैदिक नियमों को ठीक न समझने के कारण तथा आलस्य वश होकर शारीरिक व्यायाम का सर्वथा खंडन करते हुए भी ऋषि दयानन्द के अनुयायी होने का दम भरा करते हैं उनको तो मैं केवल यही सलाह दूँगा कि ऋषि दयानन्द के जीवन पर पक्षपातहीन होकर दृष्टि डालें। ऋषि ने अपने आचार से इस विषय में बड़ी प्रौढ़ शिक्षा दी है। हाँ, जो लोग स्वार्थियों के बहकाने से शुद्ध हृदय से यह आशंका करते हैं कि अंग्रेजी ढंग से व्यायाम वा खेल गुरुकुल में होने से वह कुल ऐंग्लो कुल बन जाता है उनकी तसल्ली के लिए मुझे कुछ लिखना है। दंड, बैठक तथा अन्य प्रकार की प्रातःकाल वाली कसरतें तो सब पुराने ढंग की है। सायंकाल की कबड्डी, फरी, गतका, बनैठी, कूदना, फाँदना, कुश्ती, घुड़सवारी आदि पर भी विद्वेषी से विद्वेषी तक आशंका नहीं कर सकता। हाँ, प्रातः जो डम्बबेल से कसरत कराई जाती है और सायंकाल जो क्रिकेट (cricket) फुटबाल (Football) तथा हॉकी (hockey) कभी-कभी खिलाई जाती है उस पर आशंका होती है जब तक कि आशंका करनेवालों के सामने इन खेलों की असलियत प्रकट न हो।

यहाँ पहला प्रश्न यह है कि एक पल के लिए यदि ऐसी कल्पना कर भी लें कि यह सारे खेल यूरोप वा इंग्लैंड से ही निकले हैं तो क्या इसलिए यह सर्वथा त्याज्य हैं। उत्तर इसका भी ऋषि दयानन्द जी से ही पूछिए। अपने पूनावाले नवें व्याख्यान में ऋषि आर्यों की प्राचीन युद्ध विद्या की श्रेष्ठता जतलाते हुए लिखते हैं—"अंग्रेज़ों में अब तक व्यूह रचना का पूरा ज्ञान नहीं है। थोड़ी बहुत कवायद करते हैं। इतने से ही तुम लोगों को निश्चय होने लगा है कि पुराने आर्य लोगों

की अपेक्षा ये युद्ध विद्या में अधिक निपुण हैं; किन्तु यह कहावत सत्य है कि जिस देश में वृक्ष नहीं वहाँ अरिण्ड ही प्रधान है।''

यहाँ तक अपने पुरुषाओं के गौरव को भूले हुए भारतवासियों को सचेत करके ऋषि को शंका हुई कि कहीं अंग्रेज़ों की सर्व योग्यताओं को ही तुच्छ न समझने लग जावें; इसलिए ऋषि ने ऊपर उद्धृत किए लेख के नीचे ही लिख दिया—

''मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि हमारी अपेक्षा अंग्रेज़ों में उत्तम गुण नहीं है, प्रत्युत उनमें बहुत से अच्छे गुण हैं। उनके अच्छे गुणों को हमें स्वीकार करना चाहिए।'' फिर सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास में लिखा है :

''जो यूरोपियनों में बाल्यावस्था में विवाह न करना, लड़का-लड़की को विद्या सुशिक्षा करना-कराना, स्वयंवर विवाह होना, बुरे-बुरे आदमियों का उपेदश नहीं होना, वे विद्वान होकर जिस किसी पाखंड में नहीं फँसते जो कुछ करते हैं वह सब परस्पर विचार और सभा से निश्चित करके करते हैं **अपनी स्वजाति की उन्नति के लिए** तन, मन, धन व्यय करते हैं आलस्य को छोड़ उद्योग किया करते हैं......'' जिन अक्षरों को मैंने मोटा कर दिया है वह बहुत ही विचारणीय हैं। प्रथम तो इस लेख से यह प्रतीत होता है कि ऋषि सर्व कामों को सभा से निश्चित होकर किया जाना अत्यन्त श्रेष्ठ समझते थे। आजकल जो लोग आर्य समाज के संघात को तोड़कर सम्मिलन की शक्ति का नाश करने का प्रयत्न कर रहे हैं वे ऋषि की दृष्टि में मनुष्यपन से बाहर हैं। दूसरी बात स्पष्ट यह है कि ऋषि दयानन्द धर्मोन्नति का साधन पुरुपार्थ को मानते थे। इस पुरुषार्थ को स्थिर करने के लिए मन और शरीर दोनों का पुष्ट होना आवश्यक है और शरीर पुष्ट हो नहीं सकता जब तक शारीरिक व्यायाम न किया जावे। अंग्रेज़ों में जो पुरुषार्थ का शुभ गुण है उसका कारण यह है कि 99 फीसदी अंग्रेज़ शारीरिक व्यायाम नियमपूर्वक करते हैं। क्या आर्य समाज के वे साधारण सभासद वा अग्रगणी जिनकी 'ज़बान कतरनी की तरह' चलती है सबके सब नियमपूर्वक शारीरिक व्यायाम करते हैं ?

ऊपर के लेखों से स्पष्ट विदित हुआ कि अंग्रेज़ों के अच्छे गुणों को ग्रहण करने की हमें ऋषि दयानन्द ही आज्ञा दे गए हैं। इंगलैंड का प्रसिद्ध सेनापति वेलिंगटन (Wellington) कहा करता था कि नेपोलियन (Napolean) पर जो विजय वाटरलू (Waterloo) के मैदान में हुई उसकी बुनियाद Eton के क्रिकेट के मैदान (Cricket field) में रखी गई थी—जिसका मतलब यह है कि युद्ध में बिना घबराए संघात के काम करने का अभ्यास उस सेना के सैनिकों ने क्रिकेट की खेल में सीखा था। जब इन खेलों ने अंग्रेज़ों को इतना बल दिया है तो हम लोग उससे लाभ उठाकर ऋषि आज्ञा के भंग करनेवाले कैसे ठहर सकते हैं।

किन्तु मुझे तो ऊपर के लेखों तथा युक्तियों का आश्रय लेने की भी आवश्यकता नहीं। थोड़े-से विचार से ज्ञात होगा कि इन खेलों को अपनाने में हम

किसी अन्य देश का अनुकरण नहीं कर रहे। मनुष्य सारे संसार के एक ही प्रकार के हैं और उनमें चेष्टाएँ भी एक ही प्रकार की उठा करती हैं। किसी खेल पर भी न अंग्रेजों की ही मोहर लगी हुई है और न हमारी ही लग सकती है। एक अंग्रेजी खेल का नाम 'Hide and seek' है; पंजाब में इसी को 'लुक्कन मीची' कहते हैं। क्या पंजाबियों ने अंग्रेजों से यह खेल सीखा वा अंग्रेजों ने पंजाबियों से ? सम्भव है कि दोनों ने प्राचीन आर्यों से सीखी हो। अंग्रेजों की एक खेल है—Blind man's buff—उसी को हमारे यहाँ अन्धा-थोपी कहते हैं। हमारे यहाँ जो भागकर एक टाँग से कूदने का खेल है उसे अंग्रेजी में कहते हैं—'Hop, step and jump' अंग्रेजों की Prisoner's base क्या हमारी कबड्डी से मिलती-जुलती नहीं है ? मुझे याद है कि जब गत शीतकाल में महाशय नेविन्सन (Mr. Nevinson) गुरुकुल पधारे थे तो ब्रह्मचारियों को कबड्डी खेलते देख टापने लग गए थे और उन्होंने मुझसे कहा कि कपड़े फेंककर लंगोट लगाकर खेलने की इच्छा उन्हें भी हो रही है। विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं; इतने से ही पता लग जाएगा कि संसार में खेलें एक ही प्रकार की होती हैं और एक दूसरे से उत्तम खेलें सीखने में कुछ लज्जा नहीं करनी चाहिए, किन्तु गुरुकुल में तो इन खेलों पर अंग्रेज़ियत का कोई चिन्ह बाकी नहीं रहा। हमारे यहाँ cricket का खेल नहीं, कन्दुक क्रीड़ा होती है; फुटवाल (football) नहीं खेला जाता, पादककुन्दक क्रीड़ा का विधान है। देहरादून के बूट पहननेवालों के साथ हमारे ब्रह्मचारियों ने नंगे पैर मुकाबला किया था। हमारे यहाँ over नहीं होता प्रत्युत 'समाप्त' बोला जाता है। हमने यह सब खेलें अपनी बना ली हैं।

मैं समझता हूँ कि कोई भी समझदार आदमी ऊपर की व्यवस्था को पढ़कर इस सन्देह में नहीं रहेगा कि आक्षेप करनेवालों का तात्पर्य ही कुछ और है—सुधार नहीं। इन खेलों के लिए सामान भी स्यालकोट से बहुधा स्वदेशी ही आता है। किन्तु मुझे इतने दोष चालन की भी आवश्यकता न थी। मैं यह सिद्ध करने के लिए तैयार हूँ कि गुरुकुल में किसी विदेशी खेल का प्रचार ही नहीं किया गया। क्या क्रिकेट और फुटवाल नई खेलें हैं ? फुटवाल के विषय में तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसे इंग्लैंड में रोमन (Roamans) लोगों ने पहुँचाई। रोमन लोगों ने बहुत-सी विद्याएँ यूनानियों (The Greek) से सीखी थीं, और कुछ ऐतिहासिकों ने अनुमान किया है कि यह खेल भी 'यूनान' और 'रोम' में गई। जब बहुत-सी सभ्यताओं का भारतवर्ष से यूनान में जाना सिद्ध है तो यह मानने में संकोच नहीं हो सकता कि कि कदाचित यह खेलें भी भारतवर्ष से ही अन्य देशों में फैली हों। गेंद की खेल को 'कन्दुक' अमरकोश में माना है।

"गेन्दुकः कन्दुको……"

पैर से मारकर गेंद खेलना इस देश में यूनानियों के आने से पहले ही प्रचलित

था। 'कन्दुक' के अर्थ आप्टे के संस्कृत-अंग्रेजी कोश में 'खेलने की गेंद' कर उसका प्रयोग दिखाया है :

पातितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कंदुकः।

यह तो प्रसिद्ध ही है कि घोड़े पर चढ़कर जो लकड़ी का गेंद लाठी से चलाया जाता है और जिसका नाम पोलो (Polo) है, भारतवर्ष से ही यूरोप में गया है। इस शब्द के अर्थ अमेरिका में प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ डाक्टर ह्विट्नी (Dr. Whitney) द्वारा सम्पादित Century Dictionary में यह किए हैं :

"A game of balls resembling hockey, played on horseback. It is of eastern origin, and is played in India, whence it has been introduced into Europe and America." इसका तात्पर्य यह है कि यह घोड़े पर चढ़कर गेंद का खेल है जो hockey के सदृश है यह भारतवर्ष से यूरोप तथा अमेरिका में फैलाया गया है। पोलो तथा हाकी (hockey) में इतना ही भेद है कि उत्तर खेल पैदल खेला जाता है। इस खेल का नाम भारतवर्ष में वीटा था। महाभारत में लिखा है :

कुमारास्त्वथ निष्क्रम्य समेता गज साह्वयात्, क्रीडन्तो वीटया तत्र वीराः पर्य्यचरन्मुदा।। पपात कूपे सा वीटा तेषां वै क्रीड़तान्तदा, ततस्ते यत्र मातिष्ठन्वीटामुद्धर्तुमादृता।।

(आदि पर्व)

आप्टे के कोश में 'वीटा' के अर्थ इस प्रकार लिखे हैं :

"A samll piece of wood (about a span long) struck with a stick or bat in a game played by boys (called in Marathi विटी दाडूचा खेल)'' प्राचीन इतिहास के देखने से विदित होता है कि गेंद चाहे पैर से खेली जाए चाहे हाथ से खेली जाए, इस खेल को गेंद की बनावट के कारण 'वीटा' ही कहते थे। इसी का अपभ्रंश वर्तमान गुल्ली डंडा प्रतीत होता है।

मेरे इस लेख को कुछ गम्भीराशय सज्जन अनावश्यक बतलाएँगे, और लिखते हुए मुझे स्वयं हँसी आती थी किन्तु किसी-किसी समय में यह भी सिद्ध करने की आवश्यकता होती है कि 'दो और दो मिलकर चार होते हैं' और कि 'रोटी खाना पाप नहीं है।'

तीसरा कारण इस कुल को 'ऐंग्लो कुल' की उपाधि देने का यह है कि इसमें :

इतिहास, भूगोल पढ़ाए जाते हैं, और साथ ही कहा जाता है कि इतिहास और भूगोल पढ़ाना ऋषि दयानन्द की स्कीम के विरुद्ध है। मैं आश्चर्य करता हूँ कि लोग इस प्रकार के झूठे दावों का हौसला कैसे कर लेते हैं। ''इतिहास और भूगोल को ऋषि दयानन्द की पाठ विधि में स्थान नहीं,'' यह कैसे आश्चर्य की

बात है ! उत्तर में शायद यह कहा जाए कि ऋषि दयानन्द शतपथ और ब्राह्मणादि को ही इतिहास मानते थे और उन्हीं को पढ़ाना आवश्यक समझते थे। प्राचीन भारत का इतिहास तो अवश्य वेद, ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों से ही बनाया जा सकता है जिसके लिए गुरुकुल की ओर से प्रयत्न किया जा रहा है; किन्तु ऋषि दयानन्द यही नहीं कि नवीन इतिहास की पढ़ाई के विरुद्ध न थे प्रत्युत वह इसका आन्दोलन अत्यावश्यक समझते थे। भूगोल और खगोल दोनों के पढ़ाने पर तो उन्होंने अपनी पाठविधि में ही बड़ा जोर दिया है किन्तु इतिहास के संशोधन के लिए जगह-जगह पर प्रेरणा की है।

पूना में स्वामी जी ने पन्द्रह व्याख्यान दिए थे, जिनमें से एक में अपना वृत्तान्त वर्णन किया, सात में वेद से लेकर विविध धर्म विषयों पर उपदेश दिए और सात केवल इतिहास के अर्थ से इतिहास विषयक पहले व्याख्यान में ही लिखते हैं :

"**इतिहासो नाम वृत्तम्**। पुराने वृत्त का वर्णन करना इतिहास कहलाता है। इतिहास सृष्टि उत्पत्ति के समय से लेकर आज के समय तक चला आता है।"

क्या इस लेख से स्पष्ट नहीं होता कि ऋषि दयानन्द न केवल भारतवर्ष के प्राचीन तथा नवीन मुसलमानों और अंग्रेजों के राज्य वृत्तान्त, इतिहास का जानना ही सच्ची शिक्षा का एक अंग समझते थे प्रत्युत संसार के सर्व देशों तथा सर्व संस्थाओं के इतिहास का जानना आर्यों के लिए आवश्यक समझते थे। मैं इन सात व्याख्यानों में से कुछ लेख उद्धृत करता हूँ जिनसे न केवल यह ज्ञात होगा कि ऋषि दयानन्द इतिहास विद्या को अत्यन्तावश्यक समझते थे प्रत्युत यह भी सिद्ध होगा कि सच्चे इतिहास का वह मूल तत्त्व, जिसे पश्चिमात्य सभ्यों ने आज समझा है उससे ऋषि दयानन्द बहुत पहले परिचित थे :

(क) "इससे आगे मनुष्य सृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् मनुष्यों का इतिहास आरम्भ किया जाता है। विविध देशों की विविध मनुष्य समाजों में प्राचीन काल में बहुत-से ग्रन्थकर्ता हो चुके हैं। इन सर्व ग्रन्थकारों का, केवल प्राचीन होने के कारण ही मान करना न्याय्यता से गिरा हुआ अमल है। हमें सत्यासत्य में विवेचन करना चाहिए। यदि ठगों की किताब में यह लिखा हो कि मनुष्य को मारकर चोरी करनी चाहिए तो क्या उस पुस्तक की प्राचीनता के कारण उसकी सर्व बातें सत्य मानने के योग्य हो सकती हैं ? कदापि नहीं !"

(ख) "पहले पहल मनुष्य सृष्टि हिमालय पहाड़ के किसी भाग में हुई। इस सिद्धान्त के साथ विदेशी लोगों की सहमति होने के कारण यह सिद्धान्त मानने योग्य है।" (आठवाँ व्याख्यान)

इसके पश्चात् 8, 9 तथा 10 वें व्याख्यान में कई प्रसिद्ध कहानियों का संशोधन करते हुए लिखते हैं :

(ग) "अब प्रश्न यह होता है कि हमारे देश के इतिहास में ऐसा गड़बड़

क्यों हो गया, और इसका क्या कारण है कि किसी घटना वा ग्रन्थ की तिथि आदि का ठीक पता नहीं लगता ? जानना चाहिए कि स्वार्थी लोगों ने किताबों में से तिथियाँ उड़ा दीं और जैनियों और मुसलमानों ने ग्रन्थ जला दिए।''

यह है ऋषि दयानन्द का लेख—वर्तमान समय के शुद्ध इतिहास को जिसकी पाठ प्रणाली से माहिर बतलाया जाता है ! यूरोप के हाल पर दृष्टि डालते हुए ऋषि लिखते हैं :

(घ) ''लूथर (Luther) से धीर पुरुषों से सहस्रों के विरुद्ध होते हुए भी पोप की प्रतिज्ञा के विरुद्ध उपेदश आरम्भ कर दिया और अपनी जान तक न्योछावर करने के लिए तैयार हो गए। उस देश में यदि ऐश्वर्य आया और उसकी उन्नति हुई तो आश्चर्य की बात नहीं है।''

पाठकगण ! क्या ऊपर के लेखों से स्पष्ट विदित नहीं कि ऋषि दयानन्द इतिहास को मनुष्योन्नति की जान समझते थे ? और इतिहास चलता भूगोल विद्या के आधार पर है, इसलिए मैं इतिहास विषय पर ऋषि दयानन्द की अन्तिम सम्मति प्रकट करने से पहले यह भी दिखलाऊँगा कि वह भूगोल का जानना भी आवश्यक समझते थे।

[सद्धर्म प्रचारक, 29 जुलाई, 1908]

गुरुकुल पाठ प्रणाली

[3]

एक प्रसिद्ध पश्चिमीय विद्वान् ने कहा है, "इतिहास के दो बड़े आधार हैं; एक काल निर्णय विद्या और दूसरा भूगोल विद्या।" यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जावे तो इतिहास का आरम्भ ही भूगोल विद्या से होता है और काल उससे भी पहले विद्यमान होता है। ऋषि दयानन्द ने बहुत-सी घटनाओं के काल निर्णय करने का प्रयत्न किया है, और आश्चर्य की बात यह है कि उनके निर्णय किए हुए काल के साथ प्रसिद्ध ऐतिहासिक अब सहमत हैं। महाभारत के युद्ध की तिथि 5,000 वर्ष तथा शंकराचार्य की तिथि 2,200 वर्ष पहले जो ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में बतलाई, क्या आजकल के इतिहास निरीक्षक उसी के समीप नहीं पहुँच रहे ? और भूगोल विद्या के विषय में एक ही लेख का उद्धृत करना काफी है। महाराजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने वाले राजाओं की नामावली देते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं :

"सुनो ! चीन का भगदत्त, अमेरिका का बब्रुवाहन, यूरोप देश का विडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आँख वाले, यवन जिसको यूनान कह आए और ईरान के शल्य आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध में आज्ञानुसार आए थे।" (सत्यार्थ। सप्तम संस्करण पृ.294)

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में लिखा है, "और जो-जो जहाँ-जहाँ भूगोलों वा पुस्तकों अथवा मन में सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा वह सब वेदों में से ही हुआ है।" (पृ. 341)। यहाँ अपने भूगोल के अतिरिक्त अन्य भूगोलों के विषय में ज्ञान उपलब्ध करने की भी आवश्यकता दीखती है। इस समय इतिहास विद्या से अनभिज्ञ होने के कारण आर्य सन्तान सारे संसार की ठोकरें सहन करती हुई अपना सिर छिपाए बैठी हैं। अभी कल की बात है कि सारे संसार का एक इतिहास छपा है। पुस्तक का नाम है—Historian's History of the world. इसमें भारतवर्ष का जो प्राचीन इतिहास दिया गया था उसकी समाप्ति पर हिन्दुओं के आचरणों के विषय में घृणित से घृणित शब्दों का प्रयोग किया गया था। यदि हमारे शास्त्रियों

तथा इतिहास के शत्रुओं पर ही भारत के गौरव की रक्षा का निर्भर होता तो आर्य सन्तान की यह निन्दा सर्व देशों में बिना उत्तर के फैल जाती। सौभाग्य से उस ग्रन्थ के ग्राहकों में सुरेन्द्रनाथ, गुरुदास चट्टोपाध्याय, शरतचन्द्रदासादि भी थे। उनके दृढ़तापूर्वक असम्मति प्रकाश करने पर उक्त इतिहास के प्रकाशित करनेवालों ने, इस डर से कि इस देश में उनकी पुस्तकें कदाचित् न बिकेंगी, उस लेख के स्थान में दूसरा छपा हुआ पत्रा भेज दिया। किन्तु फिर भी क्या कुछ हानि दूर हुई ? उस ग्रन्थ के पढ़ने से ज्ञात हुआ कि बीसियों अशुद्धियाँ अब तक विद्यमान हैं जिसके कारण सभ्य जगत की दृष्टि में भारतनिवासी गिरे ही रहेंगे।

यद्यपि आज स्वामी दयानन्द के कुछ गिरे हुए स्वार्थी शिष्य इन कमियों को अनुभव नहीं करते, और अपनी तुच्छ शत्रुताओं में फँसकर, केवल अपने शत्रु पर विजय पाने के विचार से, इतिहास की पढ़ाई को ऋषि के मन्तव्य के विरुद्ध बतला रहे हैं; तथापि ऋषि दयानन्द केवल इतिहास के पाठन को ही आवश्यक नहीं बतलाते थे, प्रत्युत भारतवर्ष के इतिहास पर जो कलंक विदेशियों ने लगाया है उसको दूर करना भी अत्यावश्यक समझते थे। सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास की समाप्ति पर आप लिखते हैं :

''यह आर्यवर्त निवासी लोगों के मत विषय में संक्षेप से लिखा। इसके आगे जो थोड़ा-सा आर्यराजाओं का इतिहास मिला है इसको सब सज्जनों के जताने के लिए प्रकाशित किया जाता है–

''अब आर्यवर्त देशीय राजवंश कि जिसमें श्रीमान् महाराज 'युधिष्ठिर' से लेके महाराज 'यशपाल' पर्यन्त हुए हैं उस इतिहास को लिखते हैं। और श्रीमान् महाराज 'स्वायंभव मनु' से लेके महाराज युधिष्ठिर पर्यन्त का इतिहास महाभारतादि में लिखा ही है और इससे सज्जन लोगों को इधर के कुछ इतिहास का वर्तमान विदित होगा। यद्यपि यह विद्यार्थी से मिलित 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका' जो पाक्षिक पत्र श्रीनाथद्वारे से निकलता था (जो राजपूताना देश मेवाड़ राज उदयपुर, चित्तौड़ गढ़ में सबको विदित है) **उससे हमने अनुवाद किया है। यदि ऐसे ही हमारे आर्य सज्जन लोग इतिहास और विद्या पुस्तकों का खोजकर प्रकाशन करेंगे तो देश को बड़ा ही लाभ पहुँचेगा।''**

आर्य सज्जनों ! जिन अक्षरों को मैंने मोटा कर दिया है उनको बार-बार पढ़िए। ऋषि की इसी आज्ञा को शिरोधार्य समझ महाशय रामदेव ने भारत का प्राचीन इतिहास लिखना आरम्भ किया और उनके अनुकरण में गुरुकुल के ब्रह्मचारी भी अपने प्राचीन ग्रन्थों तथा इतिहासों का आन्दोलन करने का प्रयत्न कर रहे हैं। क्या यह शोक की बात नहीं कि जिस ऐतिहासक तत्त्वान्वेषण (Historical Research work) के लिए ऋषि दयानन्द ने ऐसी स्पष्ट आज्ञा दी उस इतिहास के पढ़ाने को ही ऋषि की पाठ विधि के विरुद्ध बतलाया जावे।

इस पर भी सम्भव है कि उलटी देखनेवाले यह कह उठें कि स्वामी दयानन्द प्राचीन इतिहास की पढ़ाई को ठीक समझते हुए भी नई मुसलमानों तथा अंग्रेजों के समय की हिस्टरी पढ़ाने के विरुद्ध थे। ऐसे पुरुषों का मुँह बन्द करने के लिए 11वें समुल्लास के अन्तिम शब्द ज्यूँ के त्यूँ उद्धृत कर देता हूँ। राजा यशपाल तक की वंशावली दर्ज करके ऋषि दयानन्द लिखते हैं–"राजा यशपाल के ऊपर सुलतान शहाबुद्दीन गोरी गढ़ गज़नी से चढ़ाई करके आया और राजा यशपाल को प्रयाग के किले में संवत् 1249 साल में पकड़कर कैद किया। पश्चात् इन्द्रप्रस्थ अर्थात् दिल्ली का राज्य आप करने लगा। पीढ़ी 53 वर्ष 754 मास 1 दिन 17 इनका विस्तार बहुत इतिहास पुस्तकों में लिखा है इसलिए यहाँ नहीं लिखा।"

मैं नहीं समझता कि इससे आगे कुछ भी इस विषय में लिखने की आवश्यकता है।

चौथा आक्षेप है कि

साइंस की पढ़ाई पर अधिक बल दिया नहीं जाता है। प्रथम तो सबसे अधिक बल यहाँ संस्कृत साहित्य तथा वेदांगों पर दिया जाता है; किन्तु इससे मुझे इनकार नहीं कि यद्यपि इस समय साइंस का तीसरा दर्जा है तथापि हम सब वह दिन शीघ्र लाना चाहते हैं जब साइंस को संस्कृत के नीचे दूसरा दर्जा मिल सके। मैं नहीं समझता कि लोग बुद्धिमत्ता का अभिमान रखते हुए भी साइंस (पदार्थ विज्ञान) का किसी देश विशेष के साथ सम्बन्ध क्यूँ जोड़ते हैं। पदार्थ विज्ञान का अंग्रेजी के साथ जो विशेष सम्बन्ध बतलाते हैं **उन्हें इतनी भी खबर नहीं** कि पदार्थों तथा तद्विषयक क्रियाओं का वर्णन करने के लिए अंग्रेजों को बहुधा लातीनी (Latin) भाषा का आश्रय लेना पड़ता है क्यूँकि यूरोपियन भाषाओं में से उसी भाषा को शब्दों का भंडार समझा गया है। तब साइंस का अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मनादि भाषाओं के साथ इतना सम्बन्ध नहीं जितना लैटिन (Latin) के साथ है। किन्तु यूरोपियन संस्कृतज्ञ कहते हैं कि संस्कृत भाषा उससे भी बढ़कर शब्दों की खान है। इसीलिए उसे 'More copious than Latin' कहा है। कोई ऐसा वैज्ञानिक विचार नहीं जिसके लिए संस्कृत भाषा में शब्द न मिल सके। जो पूर्णता इस भाषा के धातुओं को है वह अन्य किसी भाषा को नसीब नहीं। तब यदि हम पदार्थ विज्ञान का सबसे बढ़कर सम्बन्ध संस्कृत के साथ बतलावें तो ठीक ही समझना चाहिए। साइंस के विरोधी कहते हैं कि हमको 'फिलोसोफी' पढ़नी चाहिए। अंग्रेजी से इतनी घृणा और प्रयोग करेंगे तो अंग्रेजी शब्द का। अस्तु ! जब इंग्लिश शब्द का प्रयोग किया है तो उसके अर्थ भी उसी भाषा के पंडितों से पूछने चाहिए। शब्द Philosophy (फिलोसोफी) ग्रीक (Greek) भाषा के दो शब्दों के मिलाने से बना है Philo और sophia। Philo = I love, and sophia = wisdon, Knowledge.

इसलिए फिलोसफर कौन है ? who loves Knowledge and wisdom

अर्थात् वह जो विद्या और तत्त्वज्ञान का प्रेमी हो और इसलिए 'फिलोसफी' के अर्थ हुए The love of Knowledge and wisdom अर्थात् विद्या तथा तत्त्व ज्ञान से प्रेम। किन्तु क्या Science का तत्त्वज्ञान से कुछ विरोध है ? उत्तर में प्रसिद्ध Century Dictionary नामी इंग्लिश भाषा के महाकोश से, (जिसके निर्माता अमेरिका के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ डाक्टर ह्विट्नी Ph. D.L.L.D. हैं) Philosophy शब्द के कुछ अर्थ उद्धृत करता है :

"The organized sum of sciences." साइंस का संघटित पुंज "The fundamental part of any science" किसी Science का प्रधान अंग।

बेकन वर्तमान यूरोपियन फिलासोफी को आकाश से पृथ्वी पर लानेवाला' समझा जाता है, उसने फिलासोफी शब्द का लक्षण निम्नलिखित किया है :

"In philosophy, the contemplations of man do either penetiate unto God or are circumferred to nature, or are reflected or roverted upon himself. Out of which several inquiries there do airse three knwoledges divine **philosophy,** natural **philosophy,** and human **philosophy** or humanity."

यहाँ लार्ड बेकन ने स्पष्ट तथा तीन प्रकार की विद्याएँ बतलाई हैं। एक ईश्वरी विद्या, दूसरी प्राकृतिक विद्या और तीसरी जीवात्मा सम्बन्धी विद्या। मैं जानता हूँ कि आर्यसमाज में जो महाशय साइंस की पढ़ाई के विरोधी हैं वह Science शब्द का संकुचित अर्थों में प्रयोग करते हैं। वह Philosophy तो परमात्मा तथा जीवात्मा सम्बन्धी विद्याओं को समझते हैं और प्रकृति सम्बन्धी विद्या के लिए Science शब्द का प्रयोग करते हैं। अंग्रेज़ी में जहाँ प्रकृति सम्बन्धी विद्याओं को Natural Science बतलाया गया है वहाँ उनके तत्त्वज्ञान को Natural Philosophy बतलाया गया है।

ऋषि दयानन्द के लेखों से विदित होता है कि वह Physical Science प्राकृतिक विद्याओं से आरम्भ करके आत्मविद्या की ओर ले जाना चाहते थे; इसीलिए तो उन्होंने वेदों की उत्पत्ति तथा उसके विषयादि का विचार करने के पश्चात् सबसे पहले सृष्टि विद्या की आलोचना की है। उसके पश्चात् विषय सूची इस प्रकार चलती है :

(1) पृथिव्यादि लोकभ्रमण विषय।
(2) धारणाकर्षण विषय।
(3) प्रकाश्यप्रकाश विषय।
(4) गणित विद्या।

इन चार विद्याओं के पश्चात् 'प्रार्थना, याचना, समर्पण' तथा 'उपासना' और 'मुक्ति' विषयों पर लिखने के पश्चात् 'नौ विमानादि विद्या' तथा 'तार विद्या' विषयक

लेख हैं। क्या इन विषयों पर गूढ़ विचार करने वाले ऋषि के मत में 'पदार्थ विद्या' का पढ़ाना 'पाप' तो क्या 'अनावश्यक' वा 'साधारण' भी समझा जा सकता है ? मुझे अधिक युक्तियाँ तथा अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है; मैं इसके पश्चात् ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से बहुत-से वाक्य उद्धृत कर देता हूँ, जिनसे पाठक गण स्वयं यह परिणाम निकालने के योग्य जाएँगे कि 'साइंस' की पढ़ाई के विषय में ऋषि दयानन्द के क्या विचार थे।

(1) ''अब सृष्टि विषय के पश्चात् पृथ्वी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं, इस विषय में लिखा जाता है। इसमें यह सिद्धान्त है कि वेद शास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथ्वी और सूर्य आदि सब लोक घूमते है।'' (भूमिका, पृ. 140)

(2) ''जिन पुरुषों को विमानादि सवारियों की सिद्धि की इच्छा हो वे वायु, अग्नि और जल से उनको सिद्ध करें, यह और्ण नामक आचार्य का मत है।''

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यदि कलायन्त्रादि बनाने की आवश्यकता हो तो पहले अग्नि आदि के गुणादि जानने चाहिए।

मुझे आश्चर्य होता है जब देखता हूँ कि Art School, Art School की पुकार वे मचाते हैं, जिन्हें मामूली Hand Looms खड्डियों और जुराब बुनने की कल का नाम शिल्पकार्यालय रखते शरम नहीं आती और जो ऐसे आडम्बरों से रुपया इकट्ठा करके उसे दूसरों को बदनाम करने के लिए ट्रेक्ट छपवाने में लगाते हैं, उनके मस्तिष्क में क्यूँ यह मामूली बात नहीं घुसती कि बिना उच्च श्रेणी के पदार्थ विज्ञान के कला कौशलादि की प्रवीणता ही असम्भव नहीं प्रत्युत उनके निर्माण का आरम्भ भी कठिन है।

(3) ''पृथ्वी के विकार काष्ठ और लोहा आदि के कला यन्त्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुण सवारियों वा अन्य कारीगारियों में किए जाते हैं···कलायन्त्रों के हनन से वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से युक्तिपूर्वक प्रयोग से विमानादि सवारियों का धारण, पोषण और वेग होते हैं। जैसे घोड़े और बैल चाबुक मारने से शीघ्र चलते हैं वैसे ही कला कौशल से धारण और वायु आदि की कलाओं करके प्रेरने से सब प्रकार की शिल्प विद्या सिद्ध होती है।''(पृ. 201)

यहाँ एक बात अवश्य देखने योग्य है। जहाँ-जहाँ ऋषि ने वेद मन्त्रों का प्रमाण कला कौशलादि विषयक दिया है वहाँ अन्त में लिखा है—''इसलिए इन उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करो।'' जब मनुष्य पदार्थों के गुणों से ही (जिसका जानना ही साइंस है) अनभिज्ञ होंगे तो वह इन यानों को सिद्ध करके वेदाज्ञा का कैसे पालन कर सकेंगे।

(4) ''इस महा गम्भीर शिल्प विद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते किन्तु जो महा विद्वान्, हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं वे ही सिद्ध कर सकते हैं''।

(पृ. 208 व 209)

क्या शिल्प कार्यालय इधर-उधर से अनाथ और आवारागर्द लड़कों को जमा करके चल सकते हैं और उनसे इस देश की कुछ भी उन्नति हो सकती है।

(5) उपवेदों की पढ़ाई के विषय में लिखते हुए लिखा है–"शिल्प शास्त्र जिसके प्रतिपादन में विश्वकर्मा त्वष्टा देवज्ञ और मयकृत संहिता रची गई है"। (पृ. 292)

क्या विशेष अर्थ वेद के न मिलते हुए वर्तमान साइंस की सिद्धियों से लाभ उठाना हमारा कर्तव्य नहीं ?

(6) "विद्या–जिससे ईश्वर से लेके पृथ्वी पर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उनसे यथा योग्य उपकार लेना होता है इसका नाम विद्या है।" (आर्योदेश्य रत्नमाला) क्या बिना पदार्थ विद्या का अध्ययन किए पृथ्वी आदि प्राकृतिक पदार्थों से यथा योग्य उपकार लिया जा सकता है ?

(तथा)

(8) सत्यार्थ प्रकाश में पाठ विधि देते हुए ऋषि लिखते हैं–

"**अर्थ वेद की जिसको शिल्प विद्या कहते हैं उसको पदार्थ, गुण, विज्ञान, क्रियाकौशल नाना विधि पदार्थों** का निर्माण पृथ्वी से लेके आकाश पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीख के अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला है उस विद्या को सीख के दो वर्ष में ज्योतिष शास्त्र सूर्य सिद्धान्तादि जिसमें बीज गणित, अंक, भूगोल, खगोल और भूगर्भ विद्या है इसको यथावत् सीखें।" (सप्तम संस्करण, पृ. 71)

जिन शब्दों को मैंने काला कर दिया है उन पर एक साधारण दृष्टि डालने से भी विदित होगा कि ऋषि ने Chemistry, Physics आदि सभी Physical Science के अंग पढ़ाने का विधान किया है क्योंकि उनकी सम्मति में उत्तम कक्षा के शिल्पी बनने के लिए उन सभी विद्याओं की जानने की आवश्यकता है। तभी ऊपर के लेख की समाप्ति पर उन्होंने लिखा है–"तत्पश्चात् सर्व प्रकार की हस्त क्रिया यन्त्र-कला आदि को सीखें।"

यदि अब भी कोई स्वार्थी पुरुष सर्व साधारण को यह धोखा देने में कृत कार्य हो जाए कि ऋषि दयानन्द Science साइंस की पढ़ाई के विरुद्ध थे तो आश्चर्य होगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 5 अगस्त, 1908]

गुरुकुल पाठ प्रणाली

[4]

यह तो स्मृति का प्रमाण हुआ क्योंकि वेदवेत्ता ऋषि वेदों के आधार पर जो धर्म ग्रन्थ रचते हैं उनका नाम ही स्मृति रखा जाता है, किन्तु सदाचार की साक्षी भी यही मिलती है कि पदार्थ विज्ञान की शिक्षा वेदशास्त्रों से उतरकर मुख्य है। डाक्टर जी.वाइज (C. Wiese) जर्मनी देश के एक प्रसिद्ध शिक्षक थे जिनके साथ सम्वत् 1936 में ऋषि दयानन्द ने, अपने कुछ शिष्यों को पदार्थ तथा शिल्प शिक्षा ग्रहण करने के लिए जर्मनी भेजने के सम्बन्ध में, पत्र व्यवहार किया था। उक्त महाशय के 4 पत्र वैदिक मैगजीन (Vedic Magazine) में छप चुके हैं। जो यह काम वैदिक आज्ञा के विरुद्ध ऋषि दयानन्द समझते तो क्या उसके लिए प्रयत्न करने की स्वयम् आज्ञा देते ? अपने वेदभाष्य में स्थान-स्थान पर ऋषि ने पदार्थ तथा शिल्प विद्या के सिद्ध करने की आज्ञा दी है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है :

"जो पहले समय में आर्य लोगों ने अश्व विद्या के नाम से शीघ्र गमन हेतु शिल्प विद्या उत्पन्न की थी वह अग्नि विद्या की ही उन्नति थी।"

फिर तीसरे मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं—"ईश्वर की आज्ञा में रहने तथा शिल्प विद्या सम्बन्धी कार्य की सिद्धि के लिए भौतिक अग्नि को सिद्ध करनेवाले मनुष्यों को अक्षय अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता सो धन प्राप्त होता है।"

फिर चतुर्थ मन्त्र की व्याख्या में लिखा है—"इसी प्रकार ईश्वर ने दिव्य गुण युक्त अग्नि भी रचा है कि जो उत्तम शिल्प विद्या का उत्पन्न करनेवाला है। उन गुणों को केवल धार्मिक उद्योगी और विद्वान् मनुष्य ही प्राप्त होने के योग्य होता है।"

फिर मन्त्र 5 की व्याख्या में—"यह भी जानना उचित है कि विद्वानों के समागम और संसारी पदार्थों को उनके गुण सहित विचारने से परमदयालु परमेश्वर अनन्त सुखदाता और भौतिक अग्नि शिल्प विद्या का सिद्ध करनेवाला होता है।" दूसरे सूक्त के प्रथम मन्त्र का भावार्थ यूँ लिखा है—"इस मन्त्र में ईश्वर ने शिल्प

विद्या को सिद्ध करने का उपदेश किया है जिससे मनुष्य लोग कला युक्त सवारियों को बनाकर संसार में अपना तथा अन्य लोगों के उपकार के सब सुख पावें।''

उसी सूक्त का दूसरा मन्त्र लीजिए—''जो शिल्प विद्या को सिद्ध करने की इच्छा करते हैं उन पुरुषों को चाहिए कि **विद्या** और **हस्तक्रिया** से उक्त अश्वियों को प्रसिद्ध करके उनसे उपयोग लेवें।''

यहाँ स्पष्टतया Physical Sciences theoretical and applied के सीखने की आज्ञा है।

कहाँ तक लिखता चला जाऊँ, जो आर्य पुरुष स्वाध्याय के समय ऋषि दयानन्द कृत वेदभाष्य का पाठ करते हैं वे साक्षी दे सकते हैं कि पदार्थ विज्ञान की प्राप्ति पर ऋषि दयानन्द ने बड़ा बल दिया है, क्योंकि उसी की प्राप्ति को वह उन्नति की पहली सीढ़ी समझते थे। मैं इस विषय को समाप्त करने से पहले संस्कृत गद्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ कादम्बरी का एक भाग उद्धृत करता हूँ जिससे न केवल यही सिद्ध होगा कि राज पुत्रों तक को पदार्थ विद्या और शिल्प क्रिया की शिक्षा का विधान है प्रत्युत यह कि ब्रह्मचारी के लिए वे सर्वगुण (तैरना, कूदना, फाँदना आदि) अवश्य ग्राह्य है जिनके लिए स्वार्थी पुरुष गुरुकुल को बदनाम करने की चेष्टा करते रहते हैं।

> *''क्रमेण कृतचूड़ाकरणादिक्रियाकलापस्य शैशवमतिचक्राम चन्द्रापीडस्य। तारापीडो व्यासङ्ग विघातार्थं बहिर्नगरादनुसिप्रमधर्मक्रोशमात्रायामम्, अतिमहता तुहिनगिरिशिखरमालानुकारिणा सुधाधवलितेन प्राकारमण्डलेन परिवृतम्, अनुप्राकारमाहितेन महता परिखावलयेन परिवेष्ठितम्, अति दृढकपाटसंपुटम्, उद्घाटितैकद्वार प्रवेशम्, एकान्तोपरचिततुरङ्गवाह्या-लीविभागम्, अधःकल्पितव्यायामशालम्, अमरागाराकारं विद्या मन्दिर मकारयत्। सर्वविद्याचार्य्याणां च संग्रहे यत्नमतिमहान्त मन्वतिष्ठत्। तत्रस्थं च तं केसरि किशोरकमिव पञ्जरगतं कृत्वा प्रतिषिद्धनिर्गमम्, आचार्यकुलपुत्र प्रायपरिजनपरिवारम्,* ***अपनी ताशेषशिशुजनक्रीड़ाव्यासङ्गम्''***

इसी प्रकार क्रम से चूड़ाकरणादि संस्कार हो चुकने पर चन्द्रापीड की बाल्यावस्था गुजर गई। राजा तारपीड ने व्यासङ्ग को हटाने के लिए नगर से बाहर सिप्रा नदी के समीप आध कोस लम्बा, बड़ी भारी श्वेत चौगिर्द की दीवार से घिरा हुआ, उसी दीवार के साथ-साथ बाहर की ओर खुदी हुई खाई से युक्त, बड़े दृढ़ दरवाज़ोंवाला, एक बड़े द्वार से सुभूषित, एक तरफ बनाई हुई अश्वादि सवारी योग्य जन्तुओं के समूह के रहने के स्थान से युक्त, नीचे की तरफ एक व्यायामशाला से मंडित देवों के गृह के समान एक विद्या मन्दिर बनवाया। राजा ने सब विद्याओं के संग्रह में भी बड़ा भारी प्रयत्न किया। वहाँ पिंजरे में बँधे हुए शेर के बच्चे की

तरह उसके बाहर जाने का निरोध करके, केवल आचार्यों के पुत्र परिवार के साथ, छोटे बच्चों को समस्त खेल-कूदों का त्याग करवाकर, केवल पठन मात्र में प्रयुक्त करके सब विद्याओं के

> *अनन्यमनसम्, अखिल विद्योपादानार्थ माचार्येभ्यश्चन्द्रापीडं शोभायने दिवसे, वैशम्पायनद्वितीयमर्पयां बभूव। प्रतिदिनं चोत्थायोत्थाय सह विलासवत्या विरलपरिजनस्तत्रैव गत्वैनमालोकयामास राजा। चन्द्रापीडोऽप्यनन्यहृदयतया तथायन्त्रितो राज्ञाचिरेणैव यथास्वमात्मकौशलं प्रकटयद्भिः पात्रवशादुपजातोत्साहै राचार्यैरुपदिश्यमानाः सर्वा विद्या जग्राह। मणिदर्पण इवातिनिर्मले तस्मिन् संचक्राम सकलः कलाकलापः। तथाहि। पदे, वाक्ये, प्रमाणे, धर्मशास्त्रे, राजनीतिषु, चापचक्र चर्मकृपाणशक्तितोमरपरशुगदाप्रभृतिषु, सर्वेष्वायुधविशेषेषु, रथचर्यासु, गजपृष्ठेषु, वीणावेणु मुरजकांस्यतालदर्दुटपुटप्रभृतिषु वाद्येषु, भरतादिप्रणीतेषु नृत्तशास्त्रेषु नारदीयप्रभृतिषु गान्धर्व वेद विशेषेषु हस्तिशिक्षायाम्, तुरङ्गवयोज्ञाने, पुरुषलक्षण, चित्रकर्म्मणि। पत्रच्छेद्ये, पुस्तक व्यापारे लेख्यककर्म्मणि, सर्वासु द्यूत कलासु,*

अधिगम के लिए, राजा ने चन्द्रापीड को वैशम्पायन के सहित आचार्यों के हाथ में अर्पित कर दिया। तारापीड प्रतिदिन विलासवती के सहित थोड़े-से साथियों के साथ उसे एक बार देख जाता था। चन्द्रापीड भी उत्तम पात्र के मिलने से अधिक उत्साह युक्त आचार्यों द्वारा अति कौशल से शिक्षित किया जाकर शीघ्र ही सब विद्याओं में प्रवीण होने लगा। जैसे मीन के दर्पण में सब वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता है वैसे ही उसमें भी सब विद्याएँ प्रकाशित होने लगीं। व्याकरण, साहित्य, न्याय, धर्मशास्त्र, राजनीति, धनुष, चक्र, ढाल, तलवार, बरछा, भाला, कुल्हाड़ा, गदा, आदि सब युग के शस्त्रों में, रथ चलाने में, हाथी की सवारी करने में, सितार, बाँसुरी, गुरज, छैने, ताल, ढोल आदि समस्त बाजे बजाने में, मारत आदि प्रणीतनास शास्त्रों में, नारदादि कृत गन्धर्व वेद विशेषों में, हाथी को ठीक रास्ते पर चलाने में, घोड़े की अवस्था जानने की विद्या में, पुरुषों के

> *शकुनिरुतज्ञाने, ग्रह गणिते, रत्नपरीक्षासु, दारु कर्म्मणि, दन्त व्यापारे, वास्तुविद्यासु, आयुर्वेद, यन्त्र प्रयोगे, विषापहरणे, सुरुङ्गोपभेदे, तरणे, लंघने, प्लुतिषु, इन्द्रजाले, कथासु, नाटकेषु, आख्यायिकासु, काव्येषु, महाभारतेतिहास पुराणरामायणेषु, सर्वलिपिषु, सर्वदेशभाषासु, सर्व संज्ञासु, सर्वशिल्पेषु, छन्दःसु, अन्येषुचापि लोकविशेषेषु कौशलमवाप।*

लक्षण पहचानने में, चित्र बनाने में पत्र छेद्य (Paper cutting) में, पुस्तक रचना

में, लेखन कला में, सब द्यूत कलाओं में, पक्षियों के शब्दों के पहचानने की विद्या में, ग्रहों की गणित में, रत्नों के पहचानने में , बढ़ई के कार्य में, दन्तों की रचनादि की विद्या में, गृहविद्या (इंजीनियरिंग) वैद्यक शास्त्र में, यन्त्रों के प्रयोग (Use Machines) में, विष उतारने की विद्या में, सुरंग खोदने में, तैरने, कूदने और फाँदने में, विज्ञान के अद्‌भुत परीक्षणों में, कथा, नाटक, आख्यायिका काव्य, महाभारत, इतिहास, पुराण, रामायण आदि में, सब प्रकार की लिपियों में, सब देश की भाषाओं में, सब प्रकार की संज्ञाओं में (वैज्ञानिकादि नाम करने की क्रिया में) सब शिल्पों में, छन्द (शास्त्र) में, और अन्य भी अनेक विद्याओं में वह निपुणता को प्राप्त हो गया।

जो नव शिक्षित दल के शिरोमणि यह समझते हैं कि इस समय का Kindergarten System यूरोपियनों की कल्पना विशेष का परिणाम है उन्हें ऊपर उद्धृत किए लेख को विचारपूर्वक पढ़ना चाहिए। इस लेख में कहीं खींचातानी की आवश्यकता नहीं है, सारा लेख स्पष्ट है। ऊपर कथित विषयों का प्रबन्ध करने के लिए कितने धन की आवश्यकता है, यह बतलाने की जरूरत नहीं। प्राचीन काल में राज सभा की ओर से गुरुकुल विद्यालयों के व्ययादि का प्रबन्ध होता था तथा शिक्षा के अधिक प्रचार के कारण प्रजा की श्रद्धा के पात्र भी ऐसे विद्यालय ही थे। जो करोड़ों रुपए प्रतिवर्ष तीर्थ नामधारी जल, स्थलादि पर स्वार्थी आलसियों की भेंट हो तो नगर-नगर तथा ग्राम-ग्राम के पास गुरुकुल स्थापित हो सकते हैं।

चौथा आक्षेप है कि :

परीक्षा गुरुकुल के अध्यापक ही करते हैं

यह आक्षेप जिन पुरुषों की ओर से किया जाता है उनकी चलाई हुई पाठशालाओं में नियमपूर्वक परीक्षा कभी होती ही नहीं। यह लोग यदि परीक्षा का आडम्बर रचकर बाहर से कभी कोई परीक्षक बुलाते भी हैं तो अपने ऐसे हार्दिक मित्रों को जो केवल उनका मान रखना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। किन्तु मुझे इससे कुछ मतलब नहीं कि ऐसे पुरुषों का स्वयम् क्या आचरण है। मुझे तो गुरुकुल कांगड़ी के सम्बन्ध में ऐसे आक्षेपों का उत्तर देना है।

पूर्व पक्षी यह आक्षेप करता है कि यतः गुरुकुल में अध्यापक ही परीक्षक हैं, अतः वहाँ के ब्रह्मचारियों की योग्यता का ठीक पता नहीं लग सकता। मैं ऐसे पूर्व पक्षी से पूछता हूँ कि क्या प्राचीन गुरुकुलों में बाहर से परीक्षक आया करते थे ? क्या द्रोणाचार्य ने कौरवों तथा पांडवों की, ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर परीक्षा किन्हीं अन्य आचार्यों से कराई थी ? प्राचीन गुरुकुलाश्रमों के विषय में तो सन्देह ही नहीं कि उनमें वर्तमान समय की आत्मघातक परीक्षा प्रणाली प्रचलित ही न थी। मनु भगवान ने भी कहीं किसी ऐसी परीक्षा का वर्णन नहीं किया। उन्होंने

यह लिखकर कि :

आचार्य्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेद पारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सासत्या साऽजराऽमरा।

तीसरे अध्याय के आरम्भ में ही लिख दिया है—**गुरुणानु मतः स्नात्वा समावृत्तो यथा विधि।** अर्थात् "गुरु की आज्ञा से यथा विधि स्नान और समावर्तन करके" गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। तात्पर्य स्पष्ट यह विदित होता है कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के अधिकारानधिकार का निश्चय करना केवल गुरु के आधीन था।

कितना ही क्यों न ढूँढ़ा जाए प्राचीन काल में वर्तमान समय की परीक्षा प्रणाली (School examination system) का कहीं भी पता न था। इसलिए यह परिणाम निकालने में हम भूल नहीं कर रहे कि पूर्व पक्षी इस विषय के वर्तमान अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के आश्रय पर ही बाहरवालों से परीक्षा कराने के पक्षपाती बन रहे हैं। इसके उत्तर में केवल इतना ही कह देना काफी था कि वर्तमान भारतीय विश्वविद्यालयों (University) के परीक्षा क्रम को दूषित समझकर उसके बुरे परिणामों से विद्यार्थियों को बचाना भी गुरुकुल के उद्देश्यों में से एक समझा गया था। यही कारण है कि पहली बार गुरुकुल के नियम प्रकाशित करते हुए उसकी भूमिका में सरकारी परीक्षा क्रम के भयानक परिणामों का बड़ा भीषण चित्र खींचा गया था। इस समय भी प्रत्येक यूनिवर्सिटी परीक्षा के पश्चात् बीसियों आत्मघात के समाचार सुनाई देते हैं। वर्तमान अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का जिस जाति ने इस देश में प्रचार किया है उनके विचार भी इस विषय में बदल चले हैं। मुझे इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, केवल पश्चिमीय विद्वानों के एक दो प्रमाण पेशकर देना ही मैं काफी समझता हूँ। किन्तु ऐसे प्रमाण पेश करने से पहले यह बतलाना आवश्यक है कि गुरुकुल की निचली श्रेणियों की परीक्षा तो पढ़ानेवालों से अन्य पुरुष करते हैं और ऊपर की श्रेणियों की परीक्षा अपने-अपने विषय में अध्यापक स्वयं करते हैं।

Sir Oliver Lodge सर आलिवर लाज इंग्लैंड के बर्मिंघम विश्वविद्यालय (Birmingham University) के आचार्य हैं उन्होंने 'पाठविधि तथा पाठशाला संशोधन' (School Teaching and School Reform) विषय पर एक पुस्तक छपवाई है। इसी विषय पर उन्होंने अध्यापक तैयार करनेवाले विद्यालय में व्याख्यान भी दिए थे। वह कालिजों की परीक्षा का वर्णन करते हुए लिखते हैं :

"...That is the object of external examiners at a University, a wholesome breath from outside, a conference with other masters of a subject, a help, and is felt to be a help to all."

बाहर के परीक्षकों का इस विश्वविद्यालय में यह निमित्त है कि बाहर से एक

हितावह झोंका आवे एक विषय के आचार्यों के साथ मन्त्रण हो सके, जो सहायता होती है और जिसे सब सहायता समझते हैं।"

गुरुकुल में ऊपर की शिक्षा का अनुसरण किया जाता है। जो विद्वान् शिक्षक यहाँ आते हैं वे अध्यापकों के साथ मिलकर विद्यार्थियों की परीक्षा लेते हैं, और जो अनुमति वे उस समय देते हैं उससे बड़ा लाभ होता है।

फिर उक्त शिरोमणि शिक्षक लिखते हैं :

But these external examiners co-operate with the internal examiners or teachers : they do not set questions in entire independence of them, without knowing or earing what the students have been taught, nor what range of subjects has been attempted and they do not determine results on the outcome of a few hours' paper work, in isolation from the teacher, who knows the students well, and with no regard to the record of work done during term.

In all this I myself hope to see some approximation in School procedure to that which has been found to works so well in College Procedure; and in so for as it does not work well in any school, it must be because the teachers in that school are either incompetent or lazy, (pages 79 & 80)

For really educational purposes I am convinced that they (examinations) should be conducted chiefly by or in co-operation with the teacher - the competent teacher. If people are competent to teach they are competent to examine, so long as they play fair. (pages 81 &82)

[सद्धर्म प्रचारक, 12 अगस्त, 1908]

गुरुकुल पाठ प्रणाली

[5]

"किन्तु यह बाह्य परीक्षक अन्तरस्थ परीक्षकों अर्थात् अध्यापकों के सहायकारी होते हैं। वे अध्यापकों से सर्वथा स्वतन्त्र, बिना यह जाने या परवा किए कि विद्यार्थियों को क्या पढ़ाया गया है और न यह जानकर कि किस परिधि के विषयों में प्रयत्न किया गया है प्रश्न नहीं देते;और न वह कुछ घंटों के काग़ज़ी काम पर, अध्यापक से पृथक् होकर (जोकि विद्यार्थियों को तथा विद्यालय सत्रकाल में किए हुए उनके काम को भली प्रकार जानता है) परीक्षा परिणाम निश्चय करते हैं। इस सब में मैं विद्यालय व्यवहार विधि को उसके समीपवर्ती देखने की आशा रखता हूँ जोकि महाविद्यालय के सम्बन्ध में ऐसी फलदायक हो रही हैं, और यदि वह किसी विद्यालय में ठीक प्रकार काम नहीं करती तो उस विद्यालय के अध्यापक या तो अयोग्य हैं या आलसी हैं। (पृ. 81-82) मुझे निश्चय है कि शिक्षा के सच्चे उद्देश्य की पूर्ति के लिए, परीक्षा मुख्यतः अध्यापकों (योग्य अध्यापकों) के द्वारा वा उनकी सहकारिता में होनी चाहिए। यदि कोई पुरुष पढ़ाने के योग्य हैं तो वे परीक्षा लेने के भी योग्य हैं—जब तक कि वे शुद्ध भाव से काम करें।

ईंग्लैंड तथा अमेरिका के अतिरिक्त जर्मनी आदि में तो इस नियम पर दिनों दिन प्रकाश पड़ ही रहा है और लोग पुराने आर्यवर्तीय शिक्षकों के आदर्श की ओर आ ही रहे हैं, किन्तु भारतवर्ष में भी दीन विद्यार्थियों की दर्दनाक पुकार ने कठोर-से-कठोर हृदयों को हिला दिया है। एक विशेष घटना सहस्र युक्तियों से बढ़कर बल रखती है—यह लोकोक्ति ठीक ही है; इसलिए एक नई कहानी सुनाता हूँ। गुरुकुल में एक अध्यापक का भाई पिछली सरकारी परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहा ! बेचारा शर्म के मारे घर से भाग गया। कई सप्ताह के पश्चात् अब पता लगा कि उनके किसी मित्र के यहाँ आ गया है। चिट्ठी आने पर अध्यापक महाशय छुट्टी माँगने आए। असुविधा होने के कारण मैंने इस समय छुट्टी देने में अशक्तता प्रकट की। अध्यापक महाशय ने बड़ी सर्द आह भरकर कहा—"मेरे भाई का साथी जो फेल हुआ था उसने आत्मघात कर लिया है; कहीं यह भी ऐसा न करे। एक बार तो

मुझे उसे बचाने का प्रयत्न कर लेने दीजिए।" छुट्टी लेकर अध्यापक महाशय गए हुए हैं। परमात्मा उनके अपने भाई को बचाने में सहायता दे। क्या ऊपर कथित घटना कहीं इक्का-दुक्का देखने में आती है ? क्या यह सच नहीं कि आए वर्ष बीसियों विद्यार्थी परीक्षा रूपी राक्षस की भेंट होते हैं ? एन्ट्रेंस में अनुत्तीर्ण होने के दुःख को असह्य समझकर रेल की सड़क पर सिर रखकर काटते हुए एक सुकुमार बालक को मैंने देखा है।

इन्हीं भीषण घटनाओं को इस देश के लिए दुखदाई समझकर गुरुकुल के नियमों में यह नियम रखा गया है कि परीक्षा के विशेष नियम स्वयम् ही बनाए जाएँगे। इसी दुःख से भारतसन्तान को पीड़ित देखकर अधिकारी परीक्षा के लिए अपने ही महाविद्यालय के अध्यापक परीक्षक नियत किए गए हैं। और सच पूछिए तो बाहर से आया हुआ कोई भी विद्वान् एक विद्यालय के विद्यार्थियों की परीक्षा बिना अध्यापकों की सहकारिता के नहीं ले सकता।

सबसे पहले यह सोचने की आवश्यकता है कि परीक्षा का उद्देश्य क्या है ? क्या इसका उद्देश्य यह नहीं है कि जो शारीरिक, मानसिक व आत्मिक उन्नति एक ब्रह्मचारी द्वारा किसी नियत समय में की जाए उसका, जहाँ तक हो सके, ठीक परिणाम लगाया जावे। यदि परीक्षा का यह लक्षण ठीक है तो क्या अध्यापक के बिना विद्यार्थियों की योग्यता को कोई भी अन्य विद्वान् ठीक निखार कर सकता है ? एक दृढ़ व्रतधारी व्यायाम करनेवाला लड़का परीक्षा आठ-दस पहले अपने रोगी भाई की सेवा में रातों जागता हुआ दुर्बल हो गया और इसलिए कुएँ में गिर गया। क्या एक अपरिचित परीक्षक उसकी शारीरिक दशा पर ठीक सम्मति स्थिर कर सकता है। इसे तो जाने दीजिए क्योंकि सरकारी कालिजों तथा स्कूलों में तो व्यक्तिगत शारीरिक उन्नति की दशा पर कुछ ध्यान ही नहीं दिया जाता और अन्य स्वदेशीय पाठशालाओं में भी शारीरिकोन्नति पर कुछ ऐसा ध्यान नहीं दिया जाता, किन्तु मानसिक परीक्षा में भी विद्यार्थियों से अपरिचित पुरुष उनकी योग्यता का ठीक पता लगा सकता है ? यही कारण है कि इस समय ब्रिटिश इंडियन गवर्नमेंट के शिक्षा विभाग की ओर से भी यही प्रेरणा हो रही है। अभी सात मास व्यतीत नहीं हुए कि निम्नलिखित लेख इंग्लिश भाषा में समाचार पत्रों में निकला था :

"In a recent meeting of the East India Association, London, Mr. Morison announced that Mr. Orange Director General of Education in India is pressing, for the introduction of some system whereby Indian youths may be allowed to matriculate upon the joint recommendation of the Inspector and the Head Master, thus doing away with the Entrance examination. Mr. Morison would go better than Mr. Orange. He expressed the opinion, that he would like this principle to be extended to all the subjects of the B.A. exmination, excepting English. "The most

useful and suggestive education was that in which the living word of the teacher was the great and vital thing, and for that we had substituted the dead word of the text book."

उपरोक्त उद्धृत लेख का अनुवाद देने से पहले यह बतलाना आवश्यक है कि मिस्टर मारसन साहब अलीगढ़ के मुसलमानी कालेज के प्रिन्सिपल (Prinicpal) थे और इस समय भारतवर्ष के राज महामन्त्री (लार्ड मोरले) की काउन्सिल (Council) के सभासद् हैं।

अर्थ—ईस्ट इंडिया एसोसिएशन (भारत सम्बन्धी सभा) लन्दन के एक नूतन अधिवेशन में मिस्टर मारिसन ने यह समाचार सुनाया कि मिस्टर 'ओरेञ्ज' भारतीय शिक्षा विभाग के 'डाइरेक्टर जेनरल' किसी ऐसे विशेष क्रम के प्रचारण पर ज़ोर दे रहे हैं जिससे हिन्दोस्तानी युवकों को इन्स्पेक्टर और हेडमास्टर के संयुक्त अनुशासन पर महाविद्यालय में प्रवेश की आज्ञा मिले अर्थात् एन्ट्रेन्स की परीक्षा का उच्छेद कर दिया जाए। मिस्टर मारिसन मिस्टर ओरेञ्ज से भी आगे बढ़ने को तैयार हैं। उन्होंने यह सम्मति दी कि वह इस नियम को इंग्लिश के अतिरिक्त अन्य सर्व बी.ए. (परीक्षा) के विषयों तक भी विस्तृत करना चाहते हैं। "सबसे अधिक लाभदायक तथा शिक्षा वह है जिसमें अध्यापक का सजीव शब्द ही मुख्य तथा मर्मस्पृश है, और (शोक कि) उसके स्थान में हमने पाठविधि के मुर्दा शब्द का प्रयोग कर दिया है।"

इसी पाठविधि के मुर्दा शब्द को अलग करके अध्यापक के जीवित जागृत शब्द से विद्यार्थियों के अन्दर जीवन डालने का प्रयत्न करनेवाले गुरुकुल पर जिस स्वदेश में ऐसे आक्षेप हों उनकी उन्नति की क्या आशा बँध सकती है। किन्तु सन्तोषजनक यह बात है कि जहाँ आक्षेप केवल कुछ एक स्वार्थी पुरुषों की ओर से किए जाते हैं वहाँ लाखों सुशिक्षित तथा अशिक्षित सज्जन दिन रात इस कुल की वृद्धि की मंगल इच्छा से परमात्मा के पास अपनी हार्दिक प्रार्थना को पहुँचा रहे हैं।

अब केवल एक अन्तिम आक्षेप रह गया है जिसका उत्तर देने से पहले, एक और कुनीति युक्त वागजाल को काटने की आवश्यकता है जिसके द्वारा इस समय 'नाना रूप धरा कौलाः' एक दूसरे से अन्य विषयों में विरोध रखते हुए भी केवल गुरुकुल (कांगड़ी) को जड़ से उखाड़ने के शुभ संकल्प से मिलकर जोर लगा रहे हैं मैं पहले ही सिद्ध कर चुका हूँ कि समय विभाग के अनुसार अंग्रेजी पर बहुत कम बल दिया जाता है और उसे उतना समय भी नहीं दिया जाता जितना मातृभाषा को मिल रहा है। किन्तु आक्षेप करनेवालों को तो 'येन केन प्रकारेण' गुरुकुल को जड़ से उखाड़ डालना है और वह हो नहीं सकता जब तक कि गुरुकुल को सर्व प्रकार की सहायता मिलनी बन्द न हो जावे। इस समय किसी संस्थापन का भी

चलना दुस्तर है जब तक कि उसे पूरी आर्थिक सहायता न मिल सके। गुरुकुल को सर्वसाधारण (स्त्री पुरुष) में सर्वोपरि सहायता इसीलिए मिलती है कि उसे प्राचीन शास्त्रों तथा वेद की शिक्षा का एक मात्र साधन समझा जाता है। यदि लोगों को यह निश्चय हो जावे कि इस विद्यालय में संस्कृत पर इंग्लिश से कम व्यय होता है तो विपक्षियों का अनुमान है कि गुरुकुल को धन मिलना बन्द हो जावेगा और थोड़े ही दिनों में उसकी समाप्ति हो जावेगी। ऐसे विरोधियों को इससे कुछ मतलब नहीं कि वे स्वयं क्या कर रहे हैं। जिनका उद्देश्य ही अंग्रेजी का प्रचार हो रहा है और जिन्होंने झाड़ों पर झाड़ें खाते हुए भी सरकारी कर्मचारियों की खुशामद और गुलामी का 'तौक' अपने गले में डाल छोड़ा है वह भी यह आक्षेप करते हैं कि गुरुकुल में जो व्यय होता है उसमें केवल 9 पाई (तीन पैसे) प्रति रुपया संस्कृत की शिक्षा पर व्यय किया जाता है। अतः यह गप्प गुरुकुल के गत वर्ष के बजट के आधार पर उड़ाई जाती है इसलिए मैं उसी बजट से सिद्ध करूँगा कि पूर्व पक्षियों का यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल है। यद्यपि एक विषय की पढ़ाई पर कम व्यय होने का यह अर्थ नहीं है कि उसकी पढ़ाई की ओर कम ध्यान है क्योंकि जिस विषय के लिए कम आदमी मिलेंगे उसके पढ़ानेवालों को अधिक वेतन देना पड़ता है फिर भी बजट के देखने से प्रतीत होगा कि अंग्रेज़ी के पढ़ानेवाले हमारे लिए अप्राप्त होते हुए भी (क्योंकि सरकारी नौकरी को छोड़कर गुरुकुल में काम करना बड़े ही स्वार्थ त्यागियों का काम है) अंग्रेजी पर बहुत कम व्यय होता है।

[सद्धर्म प्रचारक, 19 अगस्त, 1908]

सिद्धान्तों में सुलह

सुलह या माध्यस्थ्यावलम्बन को अंग्रेजी में (compromise) कहते हैं। माध्यस्थ्यावलम्बन वहाँ कहा जाता है जहाँ कि दो विरोधी पक्ष, अपने विरोध के विषयों में से, कुछ-कुछ अंश का त्याग करके, दूसरे के अपने अमाननीय पक्ष के कुछ अंशों को मानकर आपस में सुलह कर लेते हैं। धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक, इन सभी विषयों के विरोधों का परिहार करने के लिए compromise एक बड़ा भारी साधन माना जाता है। राजनीतिकों का सदा यही कथन रहता है कि राजनीतिक को स्वार्थसाधन के लिए धार्मिक तथा गार्हस्थ्य व्यवहारों और विरोधों में compromise कर लेना ही चाहिए। राजनीतिकों का सिद्धान्त है कि औचिती (enpediency) के वश से यदि माध्यस्थ्यावलम्बन करने के लिए आत्मा के शब्द को दबाना भी पड़े तो कोई हरज नहीं। कार्य सिद्धि करना मनुष्य का धर्म है, उनके लिए उपाय चाहे कैसे ही हों—पापमिश्रित हों या शुद्ध, सब प्रकार के कार्य सिद्धि कर लेना ही योग्य है। यह विचार नए राजनीतिज्ञों का ही नहीं है, इसका मूल बड़े प्राचीन काल से हमारे ग्रन्थों में भी पाया जाता है। पंचतंत्र में एक श्लोक है—

स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुं, कार्यसिद्धिं विचारयन्

अर्थात् यदि कार्य सिद्धि के लिए छल से शत्रुओं का दास्य भी करना पड़े तो कोई परवा नहीं। ऐसे ही हमारे कई नये फैशन के वेदज्ञ और शास्त्री लोग भी यही समझने लग गए हैं कि कार्य सिद्धि के लिए यदि धूर्तता तथा चालाकी से भी काम लिया जावे तो वह उत्तम राजनीति ही समझी जावेगी। ये लोग कहते हैं कि धर्म को कभी छोड़ना नहीं चाहिए, परन्तु उनका साथ ही यह भी कथन है कि धर्म, कार्यसिद्धि है, यह आवश्यक नहीं कि सत्य बोलने को भी धर्म समझा जावे, और चाहे जो उपाय करने पड़े उसे न छोड़ा जावे। ऐसे विचार तथा ऐसे लोग केवल राजनैतिक संसार में ही परिमित नहीं है, वर्तमान समय में संसार का कोई कार्य नहीं है जहाँ कि इस बदबख़्त सुलह के रोग compromise ने अपना अड्डा न जमाया हो।

संसार के सब भोगों में से कम सुलह करनेवाला स्थान धर्म का है। इतिहास

बतलाता है कि जितना कम माध्यस्थ्यावलम्बन धर्म के संरक्षकों ने किया है इतना और किसी प्रकार के मनुष्यों ने नहीं किया। मतों के भेद प्रति भेद होने का कारण ही माध्यस्थ्यावलम्बन का अभाव है। आप यदि राजनीतिक मतभेदों के इतिहास को देखें तो आप को प्रतीत होगा कि उनमें मतभेद सालों तक छुपे पड़े रहते हैं, परन्तु धार्मिक संसार का यह हाल नहीं। आप आर्यसमाज के ही बीस वर्ष के इतिहास को देखिए तो आपको प्रतीत होगा कि किस तरह इतने थोड़े समय में इसमें भेद प्रतिभेद हो गए हैं। यह एक ही उदाहरण धार्मिक संसार की माध्यस्थ्यावलम्बन को भली प्रकार से दर्शाता है। परन्तु समय का प्रभाव बड़ा ही प्रबल है। समय किसी को भी अपने पंजे से बचने नहीं देता। जिस धर्मवाद का आश्रय ही अमाध्यस्थ्यावलम्बन, या सुलह न करना है, आज उस धार्मिक संसार में भी compromise ने अपना पग घुसेड़े बिना नहीं छोड़ा। लोग अब कहते हैं कि भाई यदि हिन्दू या मुसलमानों में कोई बुराइयाँ हों, तो उन्हें बेशक प्रकट करो, परन्तु अपने राजाओं के धर्म को बुरा-भला कहना अच्छा नहीं। एक और तरफ से आवाज आती है कि यदि तुम्हारे देशी राजा दुराचारी हों, प्रजा का पालन न करते हों, प्रजा पर अत्याचार करते हों, उनको तो खूब खरी सुनावो, परन्तु अंग्रेजी सरकार की बात भी सामाजिक पत्रों में न करो, क्योंकि समाज का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसे-ऐसे मत हैं जिनका मूल केवल माध्यस्थ्यावलम्बन ही है। इन मतों के रखनेवाले लोग निस्सन्देह समाज के हितैषी हैं परन्तु उनके मत हितैषी के बदले हानिकारक हैं। इसी बात को प्रकट करने के लिए हम आज यह परीक्षा करना चाहते हैं कि क्या सिद्धान्त विषय में माध्यस्थ्यावलम्बन योग्य है ? क्या principle के झगड़ों को compromise से ढीला करने या नष्ट करना मनुष्य समाज का हितकारी हो सकता है।

सबसे प्रथम हम यह देखते हैं कि सिद्धान्त या principle किसको कहते हैं ? सिद्ध और अन्त इन दो शब्दों से मिलकर सिद्धान्त शब्द की उत्पत्ति होती है। सिद्ध से निर्णीत निश्चित तथा विविक्त बात ली जाती है, और अन्त शब्द का अर्थ है परिणाम। निर्णीत परिणाम का नाम सिद्धान्त है। यह एक निर्णीत परिणाम है कि पाप करने से कर्ता को दुःख होता है, इसलिए 'पुरुष को पाप न करना चाहिए' यह एक सिद्धान्त है। जो एक मनुष्य का, किसी विषय में निश्चय हो चुका हो कि यह कार्य करना अच्छा है उस पुरुष के लिए 'उस कार्य को करना चाहिए' यह एक सिद्धान्त हो जाएगा। यदि उस मनुष्य को उस कार्य के अच्छे होने में अभी सन्देह है तो वह 'उसे करना चाहिए' यह उसका सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। इसलिए सिद्धान्त उस निर्णय को कहते हैं जो कि आत्मा द्वारा आगा-पीछा विचार कर किया गया हो। अब माध्यस्थ्यावलम्बन के शब्दार्थ लीजिए। दो विरुद्ध सिद्धान्तों के विरोधी अंशों का त्याग करके विरोध को मिटा देना माध्यस्थ्यावलम्बन कहाता है। जब उस सिद्धान्त का एक अंश छोड़ दिया गया तो

वह सिद्धान्त ही नहीं रह सकता। और यदि वह एक अंश को छोड़ने पर सिद्धान्त हुआ है तो वह प्रथम सिद्धान्त नहीं हो सकता था। इसलिए सिद्धान्तों में माध्यवस्थ्यावलम्बन का काम नहीं। principle के सवाल में compromise उपयुक्त नहीं। परन्तु लोगों में यहाँ यह हुज्जत हुआ करती है कि करें तो क्या करें ? कोई-कोई समय ही ऐसे हैं कि उनमें compromise के बिना काम ही नहीं चलता। जब किसी एक ही सिद्धान्त के अनेक शत्रु हो जावें तो उनका इकट्ठा सामना करना कठिन हो जाता है। इसलिए वहाँ यह आवश्यक होता है कि दो विरोधियों में से एक के साथ compromise कर छोड़ें और दूसरे शत्रु से लड़ते रहें। जब एक शत्रु का विध्वंस कर चुकें तब दूसरे शत्रु के साथ भी संग्राम प्रारम्भ करें। परन्तु यह कथन बड़ा ही निस्सार है। यदि उस सिद्धान्त के प्रचारकों का यह विश्वास हो कि पक्ष सत्य है तो यह कहना कि शायद विरोध से वह सिद्धान्त दबे, सत्य नहीं। विरोध से कभी सत्य दब नहीं सकता। जितना ही किसी सत्य का विरोध अधिक होगा उतना ही उस सत्य की सत्यता का प्रकाश अधिक होगा। हाँ यह और बात है कि उस सिद्धान्त का प्रचार जो लोग शुरू करें, वे विरोध से नाशित कर दिए जावें, और उस सत्य को संसार में विस्तृत और मनुष्य देखें।

एक सिद्धान्त के जितने शत्रु हैं उन सब शत्रुओं का इकट्ठा सामना करने से कई लाभ हैं। यदि उस सिद्धान्त को प्रत्येक विरोधी मत की गन्दगी से पृथक् न रखा जावे तो सम्भव है कि एक तटस्थ पुरुष उस सिद्धान्त को उसकी छोड़ी हुई गन्दगी से मिला हुआ समझकर उसे छूने से दूर रहे। सब विरोधियों का सामना न करने से सिद्धान्त का वास्तविक तेजस्वी, या मलिन स्वरूप प्रकट नहीं होता। जब सिद्धान्त का स्वरूप ही स्पष्ट प्रकाशित नहीं हुआ तो उसको लोग ठीक तेज में कैसे देख सकते हैं। फिर उसका उपयुक्त प्रचार कैसे हो सकता है ? इसलिए किसी सच्चे सिद्धान्त के प्रचार में या प्रकाश में माध्यस्थ्यावलम्बन की नीति का अवलम्बन करना उस सिद्धान्त के रूप को बिगाड़ना है। उसके कई अंशों को राजदंड आदि के डर से छुपा रखना उसके वास्तविक लाभ को कम करना है। अतः प्रत्येक सिद्धान्त को वीरता से, बिना किसी तेजस्वी अंश को दबाए निर्भीक होकर प्रकाशित करना चाहिए।

कई लोगों का यहाँ यह कथन है कि यदि काम निकालने के लिए किसी सिद्धान्त के एक अंश को दबा छोड़ा जावे तो कोई हानि नहीं है। कल्पना कीजिए कि एक किसी जन समाज का यह सिद्धान्त है कि मनुष्य को किसी प्रकार के भी ऐसे कार्य में सम्मिलित न होना चाहिए कि जिस कार्य से किसी धर्म विरुद्ध कार्यवाही के होने का डर हो, समझिए कि वह जनसमाज एक ऐसे देश में है जहाँ के राजशासन से देश में दरिद्रता अधिक फैलती है और इसलिए वह कार्य एक बुरे परिणाम में समाप्त होता है। फिर यदि वह जनसमाज केवल इस डर से कि

कहीं हमें राजदंड न भोगना पड़े, अपने लोगों को उस शासन की सहायता करने से नहीं रोकता और न ही ऐसे शासन के, खुले में दोष दर्शाता है तो यह कोई बुरी बात नहीं। वह जनसमाज अपने सिद्धान्त को भी नहीं छोड़ता और काम भी चला लेता है। परन्तु इस मत को यदि ध्यान से देखें तो प्रतीत होता है कि इसमें कुछ भी सार नहीं है। जितनी देर उस सिद्धान्त को प्रकाशित नहीं किया जाता तब तक उसके शुभ परिणाम विलम्बित होते रहेंगे। यदि सौ हजार मनुष्य इस मत के प्रचार के लिए मर भी जावें तो कोई बात नहीं। परन्तु जो उस सिद्धान्त के प्रचार से सहस्रों जनों को शान्ति होनी है वह भी भुलानी नहीं चाहिए। सार यह कि सिद्धान्त के विषय में डर से, औचिती सोचकर या किसी भी अन्य कारण से माध्यस्थ्यावलम्बन हानिकारक ही है। आप प्रोटेस्टेंट क्रिश्चियन मत का इतिहास देखिए। आप उस इतिहास में उस मत के इतनी विस्तृति का कारण स्पष्ट पावेंगे। जब इस मत की अवस्था बाल्य तथा यौवन थी उस समय इस धर्म में compromise नाम को न था। चाहे इतिहास उन प्रोटेस्टेंट राजाओं पर, तथा यूरोप की उन प्रोटेस्टेंट प्रजाओं पर जिनने कि इसके लिए अपने आपको खतरे में डाला तथा अपने प्रिय प्राणों तक से हाथ धो डाले, कितनी ही क्रूर दृष्टि रखता हो परन्तु प्रोटेस्टेंट क्रिश्चियन मत के विस्तार का यदि वास्तविक मूल कहीं है, तो वह उन्हीं लोगों के रुधिर में हैं—यदि इस क्रिश्चियन मत रूपी गृह का कोई आधार है तो वह उन शहीदों की भस्मावशेष अस्थिएँ ही हैं। इसी प्रकार आप बौद्ध मत के प्रचार के कारण ढूँढ़िए तो आप को प्रतीत होगा कि जब तक तो बौद्ध लोगों ने अपना अस्तित्व हिन्दू धर्म से जुदा रखा, अर्थात् हिन्दुओं के साथ compromise न किया तब तक तो उसका प्रचार होता रहा, परन्तु जब उसने अपने आपको को हिन्दुओं में मिला लिया, भारतवर्ष में बौद्ध का प्रचार सर्वथा हट गया। इन दृष्टान्तों से यह परिणाम निकलता है कि कोई धर्म तब तक उन्नत तथा विस्तीर्ण नहीं हो सकता जब तक कि उसके प्रचारकों के अन्दर से माध्यस्थ्यावलम्बन compromise की स्पिरिट का अभाव न हो जाए। कट्टरपना ही सिद्धान्त का प्राण है। स्पष्टवादिता ही धर्म प्रचार का मुख्य उपाय है। किसी सिद्धान्त सम्बन्धी बात को न छुपाना ही नीति का मूल तत्त्व है। इसलिए सिद्धान्त और माध्यस्थ्यावलम्बन में साँप और नकुल का सा बैर है।

[सद्धर्म प्रचारक, 9 सितम्बर, 1908]

आर्य समाज में आरम्भिक शिक्षा

विद्या के गुण वर्णन के लिए बड़े-बड़े कवि लोगों ने अपनी लेखनी उठाई है। भर्तृहरि ने लिखा है कि "विद्या से बढ़कर अपना और कोई बन्धु नहीं हो सकता, क्योंकि चोर इसको चुरा नहीं सकते और राजा इसको छीन नहीं सकता," भला इससे अच्छा साथ रहनेवाला और कौन-सा बन्धु होगा ? एक और कवि ने राजा और विद्वान् में से विद्वान् को ही उत्कृष्ट माना है क्योंकि उसकी सम्मति में "राजा का अपने देश में मान होता है, किन्तु विद्वान् जहाँ कहीं भी जावे, वहीं उसका आदर होता है"। एक विद्वान् ने तो विद्याहीन को पशु ही माना है। वेद में स्पष्ट लिखा है, "विद्या से ही अमृत की प्राप्ति होती है।" विद्या के बिना सच्चे ज्ञान के बिना कोई भी प्राणी मुक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए विद्या की प्राप्ति तथा शिक्षा का दान प्रत्येक प्राणी का यथाशक्ति मुख्य कर्तव्य है।

आजकल सारे संसार में ही शिक्षा का प्रश्न बड़े महत्त्व का प्रश्न बन रहा है। इंग्लैंड के बड़े-बड़े दिमाग शिक्षा के प्रश्न को हल करने में लगे हुए हैं। प्रतिवर्ष बीसियों नई-नई पुस्तकें शिक्षा पर निकल रही हैं। सैकड़ों विद्वान् इस विषय पर नए-नए अनुभव प्राप्त करके लोगों को उन्नति के पथ की ओर ले जा रहे हैं। विद्या का आदर्श क्या है ? विद्या हमें पढ़नी क्यों चाहिए ? विद्या के पढ़ने से क्या लाभ है ? इन प्रश्नों ने पश्चिमी विद्वानों को वर्षों तक भ्रम में डाल रखा था। हमारे पुराने ऋषियों ने बहुत काल से यह निश्चय कर रखा है कि विद्या को विद्या के लिए ही पढ़ना चाहिए। इसी निश्चय की ओर अब पश्चिम के विद्वान् भी आ रहे हैं। पहले लोग विद्या का फल रोटी कमाना तथा पेट पालना समझते थे, परन्तु ये विचार अब गम्भीर विद्वान् छोड़ते जाते हैं।

किन्तु आज हम शिक्षा के इन अंगों पर विचार करना नहीं चाहते, हमारे लेख का उद्देश्य शिक्षा के एक और अंग पर विचार करने का है। हमारा मतलब आरम्भिक शिक्षा या Primary education से है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि संसार में वैदिक धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसका प्रकाश से वा विद्या से सबसे बढ़कर सम्बन्ध है। ईसाई मत तभी तक लोगों को अपने झंडे के नीचे रख सकता है, जब तक संसार में मूर्खता का राज्य है। पौराणिक मत की पोल तभी तक सुरक्षित

है जब तक शिक्षा का प्रचार नहीं हुआ। कुरानी मत और विज्ञान या विद्या में घोर विरोध है। ज्यों-ज्यों विद्या के प्रकाश का प्रसार होता जाता है, त्यों-त्यों इन मतों से फैलाया हुआ अँधेरा दूर होता जाता है। पर वैदिक धर्म की बात इनसे सर्वथा उलटी है। ज्यों-ज्यों विद्या की उषा अँधेरे को विरल करती जाती है, त्यों-त्यों वैदिक धर्म के सूर्य का उदय समय समीप आता जाता है। इन मतों की भाँति वैदिक धर्म तथा विद्या का विरोध नहीं है प्रत्युत गाढ़ा साहचर्य है। नये विज्ञान के प्रचार के साथ-ही-साथ इन मतों की जड़ें खोखली हो रही हैं, पढ़े-लिखे लोगों का इन पर से विश्वास उठता जाता है, किन्तु विज्ञान प्रसार वैदिक धर्म के मार्ग को सुलभ कर देता है और विद्या की उन्नति के साथ-साथ वैदिक धर्म पर लोगों का विश्वास होता जाता है। इसीलिए हमारा विचार है कि आर्यसमाज यदि वैदिक धर्म को संसार में फैलाना चाहता है, यदि आर्यसमाज संसार को 'ओइम्' की शीतल छाया के नीचे लाना चाहता है तो उसे शिक्षा प्रचार में सब का अग्रसर होना चाहिए।

हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि आर्यसमाज ने अब तक इस ओर ध्यान नहीं दिया, अथवा आर्यसमाज आज तक इस ओर से बेपरवाह रहा है। हमारा तो यह ही विश्वास है कि देश में शिक्षा प्रसार में यदि आर्यसमाज सबसे आगे नहीं तो किसी से पीछे भी नहीं है। जिस समय देश के नेताओं ने राष्ट्रीय शिक्षा के प्रश्न का स्वप्न भी नहीं लिया था, जिस समय बड़े-बड़े लोग अंग्रेज़ी शिक्षा को ही अपने अभ्युदय का हेतु समझ रहे हैं, उसी समय आर्यसमाज ने इस प्रश्न को हल कर लिया था। सर्व साधारण उस समय आर्यसमाज को पागल तथा देश को पीछे ले जानेवाला कहते थे, अंग्रेजी पढ़े लोग इसकी बात को असम्भव तथा जंगली कहकर चिढ़ाया करते थे, किन्तु आर्यसमाज ने इन तानों की परवाह न करते हुए, निडर होकर गुरुकुल की स्कीम को लोगों के सामने रख दिया और पंजाब की प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल स्थापित करके लोगों के लिए सच्ची शिक्षा का द्वार भी खोल दिया। इसी प्रकार यदि आर्यसमाज के पिछले 10 वर्षों के इतिहास का आलोचन किया जाए तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि आर्यसमाज ने अपना अधिक परिश्रम तथा धन शिक्षा के प्रसार में व्यय किया है।

किन्तु आर्यसमाज ने जितना काम शिक्षा के लिए किया है, उसी से उसे सन्तुष्ट न हो जाना चाहिए। हम समझते हैं कि अभी आर्यसमाज के सामने बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा है। गुरुकुल खोलकर समाज ने उच्च शिक्षा का आदर्श बता दिया, किन्तु इसके साथ ही साथ साधारण शिक्षा की ओर ध्यान देना भी उसी का काम है। हम बतला आए हैं कि जहाँ मूर्खता है वहाँ वैदिक धर्म अपना पैर नहीं जमा सकता। साधारण शिक्षा के बिना मनुष्य वैदिक धर्म को कुछ भी नहीं समझ सकता। **इसलिए वैदिक धर्म को विस्तृत करने के लिए प्रत्येक आर्यसमाजी का अपने बालक को आरम्भिक शिक्षा देना परम कर्तव्य है।**

प्रत्येक आर्यसमाजी की इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह अपने लड़के को गुरुकुल में पढ़ा सके और न ही गुरुकुल अभी सब बालकों को शिक्षा दे सकता है, इसलिए प्रश्न यह है कि आर्यसमाज अपने बालकों को शिक्षित कैसे करे ? हमारा यह दृढ़ मत है कि जैसे धारा नगरी में संस्कृत से अनभिज्ञ कोई भी मनुष्य नहीं था उसी प्रकार आर्यसमाज में एक भी अशिक्षित मनुष्य और एक भी अशिक्षित बालक न होना चाहिए। किन्तु यह काम पूरा कैसे हो ? आर्यसमाज कैसे जाने कि उसके प्रत्येक सभासद् ने न्यून से न्यून आरम्भिक शिक्षा पाई है ? आर्यसमाज के पास यह जानने के लिए क्या प्रमाण है कि उसका प्रत्येक सभासद् अपने लड़कों को पढ़ाता है ? आजकल कई इस प्रकार की जातियाँ आर्यसमाज में सम्मिलित हो रही हैं जिनमें शिक्षा का सर्वथा ही अभाव है, उनको शिक्षित करना भी आर्यसमाज का ही कर्तव्य है।

इस समय सबसे बढ़कर प्रश्न धन का है। इतने लोगों को और बालकों को शिक्षित करने के लिए धन कहाँ से आवे ? आर्यसमाज आगे ही चन्दे के भार से दब रहा है। यह नया काम इसे और भी दबा देगा। यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है, इसलिए आज इतना ही बताकर कि न्यून से न्यून प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक आर्यसमाजी का तथा अपने बालकों को प्रारम्भिक शिक्षा देना आर्यसमाज का कर्तव्य है, हम अपने लेख को समाप्त करते हैं। इस प्रश्न को अमली स्वरूप कैसे दिया जा सकता है ? इसका विचार हम किसी और अंक के लिए छोड़ते हैं।

[सद्धर्म प्रचारक, 23 सितम्बर, 1908]

स्वाध्याय

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुतरुद्र ध्वं हुवेम।
—यजु.। 34 अ.। 34 मं.।

भावार्थ—जो मनुष्य प्रातःकाल परमेश्वर की उपासना, अग्निहोत्र, ऐश्वर्य की उन्नति का उपाय, प्राण और अपान की पुष्टि करना, अध्यापक, उपेदशक, विद्वानों तथा औषधि का सेवन और जीवात्मा को प्राप्त होने वा जानने को प्रयत्न करते हैं वे सब सुखों से सुशोभित होते हैं।

उपर्युक्त वेदमन्त्र में स्वाध्याय की आवश्यकता ठीक प्रकार से बता दी गई है। स्वाध्याय सद्ग्रन्थों के अध्ययन और अच्छे पुरुषों के संग को कहते हैं। स्वाध्याय करने से बहुत से लाभ हैं। सबसे बड़ा तो स्वाध्याय का यही लाभ है कि स्वाध्याय से मनुष्य की विद्या बढ़ती है और मनुष्य भले-बुरे, उचित-अनुचित और कर्तव्याकर्तव्य का विचार ठीक प्रकार से कर सकता है। स्वाध्याय के बिना मनुष्य का एक बड़ा सहायक—विद्या मनुष्य से जुदा हो जाती है और मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से विहीन होकर दुख भोगता है। आर्यसमाज के आरंभिक दिनों में समाजी लोगों में स्वाध्याय करने की रीति ठीक प्रकार से विद्यमान थी। सामाजिक पुरुषों को सामाजिक ग्रन्थों के देखने का शौक था, प्रत्येक समाजी सत्यार्थ-प्रकाशादि स्वामी जी के मुख्य-मुख्य ग्रन्थों का स्वाध्याय अपना नैतिक कार्य समझता था। उन दिनों में आजकल की अपेक्षा समाजी चाहे संख्या में कम ही थे तो भी इसमें सन्देह नहीं कि उस समय सामाजिक सिद्धान्तों से ठीक प्रकार से अनभिज्ञ मनुष्यों की संख्या आजकल के वैसे लोगों की अपेक्षा कहीं ज्यादा थी। उन दिनों के सामाजिक पत्रों को उठाइए व आदि से अन्त तक धार्मिक सिद्धान्तविषयक वाद-विवाद से भरे होंगे। कहीं पुराणों का खंडन होगा, कहीं वेदों को ब्राह्मणातिरिक्त सिद्ध किया होगा। परन्तु उसके पश्चात् वर्तमान काल के सामाजिक पत्रों को भी ले लीजिए, सारे पत्रों में आप को दो एक पत्रों को छोड़कर शायद ही किसी में कोई सिद्धान्त सम्बन्धी चर्चा मिले। आपको मिलेगा क्या ?

या तो कोई लॉर्ड मिंटो या लाला लाजपतराय के नाम कोई चिट्ठा होगा या कोई सामाजिक राजनीति पर Samajic politics कोई लेख होगा। आजकल यदि देखें तो तो सिद्धान्त की जगह राजनीति ने ले ली है। पुराने सामाजिक सिद्धान्तों पर लिखने वाले लेखक अब दो कौड़ी में भी नहीं पूछे जाते। हाँ, आर्यसमाज में अब मान्य उस लेखक का होता है जो चाहे सिद्धान्त के एक अक्षर से भी अभिज्ञ न रहे, उसने कभी स्वामी जी के वेदभाष्य के पत्र भी न पलटे हों, परन्तु वह सामाजिक पुरुषों का झाड़ सकता हो, या बिना सिद्धान्त की कथा के सामाजिकों या अन्य मतालंम्बियों की लच्छेदार भाषा में खबर ले सकता हो। समाज की उठती हुई सन्तति, सामाजिक सिद्धान्तों के अधिक ज्ञान की जरूरत नहीं समझती। इसका फल जो हो रहा है, वह प्रत्यक्ष है। साधारण पब्लिक भी सिद्धान्तों के जानने को उपेक्षा से देखने लगा है, और अब स्थान-स्थान में प्रचारकों तथा शास्त्रार्थों के लिए उपदेशकों के सिवाय काम ही नहीं सिद्ध होता। पहले इन कामों को लोग स्वयं कर सकते थे परन्तु अब उनके लिए परमुखदर्शी होना पड़ता है। बिना उपदेशक के इस शास्त्रार्थ में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

उधर स्वाध्याय के बिना अब उपदेशकों की भी कमी है। और कभी-कभी बड़े उपदेशक तथा व्याख्याता लोग भी स्वाध्याय के अभाव से सिद्धान्त से बिछुड़कर अन्य प्रवाद में बह जाते हैं। इसलिए सामाजिक हितभाव के लिए प्रत्येक मनुष्य को स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिए।

स्वाध्याय का सबसे अधिक योग्य ग्रन्थ स्वामी जी का वेदभाष्य है। जो लोग संस्कृत नहीं समझ सकते वे स्वामी जी के मन्त्रों के आर्यभाषा में लिखे भावार्थो का अध्यापन कर सकते हैं। क्या ही अच्छा हो यदि परोपकारिणी मन्त्रों के भावार्थो का अलग छपवाकर अध्ययन को सुलभ करे। स्वाध्याय के लिए दूसरा दर्जा सत्यार्थप्रकाश के प्रथम दश समुल्लासों का है। एकदम जो वेदभाष्य न खरीद सकें वे सत्यार्थप्रकाश के प्रथम दश समुल्लासों के अभ्यास से बहुत लाभ उठा सकते हैं। उस वास्ते भी यदि परोपकारिणी, जोकि स्वामीजी के ग्रन्थों की स्वामिनी है, सत्यार्थप्रकाश के पूर्वार्द्ध को पृथक् छपवा दे तो बड़ा लाभ हो।

जो उनसे अधिक संस्कृत में विज्ञता रखते हैं वे लोग उपनिषदों का मूलमात्र पढ़ सकते हैं परन्तु उपनिषदों में से भी नैत्यिक स्वाध्याय के योग्य ईश, केन, कठ प्रश्न—ये चार ही उपनिषदें हैं।

यदि प्रत्येक समाजी अपने कार्य के आरम्भ से पूर्व, सन्ध्या-हवनादि नित्य कर्मों के पीछे 15 मिनट भी इन ग्रन्थों का अनुशीलन कर लिया करें तो बड़े लाभ की सम्भावना है। प्रथम तो इससे दिन भर शान्त अवस्था में रहेगा तथा प्रतिदिन सामाजिक सिद्धान्तों का ज्ञान विस्तृत तथा दृढ़ होता जावेगा। स्वाध्याय के अभाव में सामाजिकों की दृष्टि से समाज के वास्तविक उद्देश्य को दूर हटा दिया है। यदि

आर्यसमाजी लोग यह समझकर कि वेद मन्त्रों के अर्थ ही आर्यसमाज का सिद्धान्त है, उनके (स्वामीजी कृत) अर्थों का अध्ययन करते रहते तो फिर उन्हें प्रतीत हो जाता कि मनुष्य को अपने जीवन के किसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए आर्यसमाज के बाहर जाने की जरूरत नहीं, न ही मेमनादि किसी अख्यात सोसाइटी में प्रविष्ट होने की आवश्यकता है।

[सद्धर्म प्रचारक, 30 सितम्बर, 1908]

एक घृणित वातुल आघात

अभी समाचार पत्रों से विदित हुआ है कि 7 नवम्बर की शाम को कलकत्ता नगर के 'अपर टाउन हाल' में बंगाल के लाट महोदय श्रीमान् सर एन्ड्रूफ्रेज़र पर एक 25 वर्ष के जवान बंगाली ने रिवाल्वर चलाया जो दो बार परमात्मा की कृपा से खाली हो गया। अमेरिका के चिकेगो नगर से जो प्रसिद्ध अध्यापक बर्टन आए हैं उनका सर्व साधारण में व्याख्यान था, और लाट महोदय ने उस अधिवेशन का सभापति बनना स्वीकार किया था। लाट महोदय ठीक समय पर छह बजे सायंकाल को पहुँचे; उस समय उस शाम के व्याख्याता नहीं पहुँचे थे। श्रीमानों को कहा गया कि चबूतरे पर बैठकर लेक्चरार की प्रतीक्षा करें। उसी समय एक युवक, जिसने पीछे से अपना नाम जे. राय चौधरी बतलाया, दाहिने हाथ में रिवाल्वर पकड़े और बाएं हाथ से दाहिने को सहारा देते हुए आगे झपटा। उसने रिवाल्वर को लाट महोदय के एक या आध फुट दूर तक भौंक दिया और घोड़ा दबा दिया। पिस्तौल दो बार रंजक चाट गई और मिस्टर बारबर ने उस मनुष्य पर कूदकर उसका हाथ पकड़ा और हथियार छीनने का प्रयत्न किया। महाराजा बर्दवान ने लाट साहब को कमर से पकड़कर घुमा दरवाजे के अन्दर धकेल दिया। आक्रमण करनेवाले युवक पर अन्य लोग भी जा टूटे और वह पकड़ा गया, किन्तु मिस्टर बारबर के बड़ी चोट आई।

यह समाचार साधारण नहीं है। में जानता हूँ कि कुछ भूले हुए भारतनिवासी इस युवक के हौसले की सराहना करेंगे और साथ ही ऐसे निन्दित आघातों को नेशन (nation) के उठने का चिन्ह बतलावेंगे। किन्तु जिन लोगों का सच्चे वैदिक धर्म के साथ सम्बन्ध है वे इस प्रकार के आघातों को घृणा की दृष्टि से ही देखेंगे। सर एन्ड्रूफ्रेज़र के विषय में जो कुछ मैंने पढ़ा वा सुना है उससे प्रतीत होता है कि वह बड़े सदाचारी पुरुष हैं। उनका अपना बर्ताव हिन्दुस्तानियों के साथ बड़ा अच्छा रहा है और वे उन राजप्रतिनिधियों में से एक हैं जो सदैव प्रजा के हित के विचार करते रहते हैं। ऐसे भद्र पुरुष पर इस प्रकार का आघात दिन दहाड़े होना सिद्ध करता है कि या तो घातक पागल है और या उसको लाट महोदय से कोई विशेष द्वेष है। विशेष द्वेष का तो कोई कारण प्रतीत नहीं होता किन्तु पागलपन में भी दो भेद हो सकते हैं। यदि पागलपन साधारण प्रकार का है तो इस युवक

की अवस्था पर शोक ही होगा, किन्तु यदि डाक्टरों की सम्मति में यह साधारण अवस्था में पागल नहीं तो यही समझा जाएगा कि खुदीराम बोसादि के कारनामे पढ़कर इस युवक के हृदय में भी 'इतिहास के नाम यादगार' छोड़ जाने का जोश उत्पन्न हुआ। मेरी सम्मति में ऐसे निन्दित आघात पर सर्वधार्मिक पुरुषों की ओर से बड़ी दृढ़ घृणा प्रकाशित की जानी चाहिए।

किन्तु क्या केवल घृणा प्रकाश करने से हमारा कर्तव्य पूरा हो गया ? मैं जानता हूँ कि आर्यसमाज के सभासद् वैदिक धर्म के गौरव को समझते हैं जिसमें 'अहिंसा' सबसे पहला धर्म का अंग है। जिस समय दो निरपराधिनी देवियों का बिना जाने प्राण हरण हुआ था। उस समय ही यदि भारत के प्रत्येक कोने से उस अत्याचार पर सच्चे मन्यु का प्रकाश होता तो आए दिन इस प्रकार के शोचनीय समाचार न सुनाई देते।

इस समय भारतवर्षीय सर्व साधारण में से बहुत से—केवल हिन्दू ही नहीं प्रत्युत बहुधा मुसलमान—इस समाचार को पढ़कर गुप्त खुशियाँ मनाएँगे। यह मेरी केवल कल्पना मात्र नहीं किन्तु अच्छे-अच्छे मुसलमानों तथा हिन्दुओं से, जिन्हें गवर्नमेंट अपने पक्के मित्र समझती है, मिलकर तथा बर्ताव और बातचीत करके मैंने यह सम्मति स्थिर की है। हाँ, यह निश्चय है कि बहुत से मामूली पढ़े-लिखे हिन्दू-मुसलमान इस समाचार को सुनकर गुप्त आनन्द लेंगे किन्तु वे भी प्रसिद्धि में अंग्रेजी आफिसरों के सामने सह दुःखता ही प्रकट करेंगे। नरम दल वाले राजनीतिक•इसलिए अधिक शोक प्रकट करेंगे कि जिस समय माँगते-माँगते उनके पुरुषार्थ में कुछ सफलता होती है उसी समय कोई-न-कोई दुर्घटना सामने आ खड़ी होती है। गरम दलवाले भी अपने लीडरों को निराश देखकर और उन्हें गिरगिट की तरह रंग बदलने और राजकर्मचारियों से क्षमा के प्रार्थी देखकर अब बारबर बम्ब, अनार्किज़्म और ऐसे आघातों से कानों पर हाथ ही रखेंगे। किन्तु वैदिक धर्मानुयायियों के लिए इससे बढ़कर कारण है कि वे इस दुर्घटना तथा ऐसी पिशाच लीला पर शोक प्रकट करें। आर्यसमाज सारे संसार के अन्दर से हिंसा, असत्य, चोरी, व्याभिचार, अशुचि, असन्तोष, आलस्य और नास्तिकता दूर करने का बीड़ा उठाकर काम करने को उद्यत हुआ है। देश, काल, समय, जाति आदि के भेद को छोड़कर इन सर्व दुर्गुणों से पृथक् होकर तपादि सद्‌गुणों का प्रचार ही इसका उद्देश्य है। आर्यसमाज की सम्मति में जब तक सदाचार की बुनियाद पक्की नहीं होती तब तक मनुष्य अपने उद्देश्य की ओर नहीं चल सकता। मनु महाराज ने दृढ़ शब्दों में बतलाया है कि 'आचार ही परम धर्म है' बिना सदाचार के मनुष्य तथा पशु में भेद क्या है—धर्म्मेणहीना पशुभिस्समाना। आर्यसमाजिस्थ पुरुषों के लिए इस प्रकार के राक्षसी दृश्य बड़ी ही घृणा के पात्र होने चाहिए। तप से बढ़कर आर्यसमाज कोई बल नहीं समझता और उस तप में सहन शक्ति मुख्य साधन है। अपने धर्म

को पालन करने में यदि प्राण भी जाते हों तो उनकी परवा न करना तप है।

"ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तप; शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः स्वःब्रह्मैतदुपास्यैतत्तपः।

तप की महिमा वेदों तथा उपनिषदों ने ही वर्णन नहीं की, तुलसीदास तक तप को सारी सृष्टि का आधार मानते आए हैं–

तप बल रचै प्रपञ्च विधाता।
तप बल विष्णु सकल जगत्राता।।
तप बल शम्भु करै संहारा।
तप बल शेष धरै महिभारा।।

हाँ ! उन ऋषियों की सन्तान, जिन्होंने शान्ति के सँजोए को धारण करके सारे विश्व के दाँत खट्टे कर दिए थे आज तप की महिमा को ही नहीं समझते। मुझे शोक है तो इसका, आर्यसमाज को क्लेश है तो यह ! आर्यसमाज को वर्तमान राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं किन्तु वैदिक धर्म से राजनीति के नियम कभी जुदे नहीं हो सकते। धर्म के प्रचारक सभा का काम है कि राजा तथा प्रजा में से जो उलटे रास्ते चले उसी को सचेत कर देना। यह पिशाच लीला जो कुछ दिनों से चल निकली है उससे आर्यसमाजिस्थ पुरुषों को केवल घृणा ही प्रकट नहीं करनी चाहिए प्रत्युत इस प्रकार के पतित आदमियों को धर्म राज्य में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। घातक पर मुझे क्रोध नहीं होता, उस पर दया आती है। न मालूम किस अविद्या ने उसे इस नीच कर्म की प्रेरणा की। निर्दयी दुष्ट घातक ने सर एन्ड्रू पर क्यों आघात किया ? क्या उसने यह समझा था कि बंगविच्छेद का उसके ऐसे दुष्ट आचार से परिहार हो जाएगा ? क्या उसने देखा नहीं कि एक के मरने पर दूसरा लाट सिर पर खड़ा है। जहाँ तुम्हारे एक लीडर के भाग खड़े होने पर सारा दल तितिर-बितिर हो जाता है। यहाँ एक अंग्रेज़ शासक के मरने पर दूसरा और उसके दूर होने पर तीसरा डटा खड़ा रहता है किन्तु प्रबन्ध को टूटने नहीं देता। क्या पागल घातक ने यह समझा था कि ऐसी घटना से डरकर अंग्रेज हिन्दोस्तान से भाग जाएँगे ? यदि ऐसे ही भागने वाले होते तो तुम्हें मुसलमान लुटेरों से कैसे बचाते और तुम्हारे ही स्वदेशी लुटेरों से तुम्हारी रक्षा कैसे करते ? जो लोग बम्ब और रिवाल्वरों के चलने से प्रसन्न होते हैं उन्हें समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार के आवारागर्द यदि प्राण लेने की विद्या में निपुण भी हो गए तो सरकार अंग्रेज़ी का कुछ न बिगाड़ सकेंगे। प्रत्युत अपने धनाढ्य किन्तु निर्बल, भाइयों को लूटने में ही उनकी शक्ति लगेगी। इस प्रकार के आक्रमण भारत को स्वतन्त्र तो क्या कराएँगे। हाँ, एक ऐसा भयंकर भूत उत्पन्न कर देंगे जिसके खुले मुँह को देखकर गरम से गरम राजनैतिक का शरीर भी ठंडा पड़ जाएगा। परमात्मा ऐसी विपत्ति से इस भाग्यहीन देश को बचावें।

[सद्धर्म प्रचारक, 11 नवम्बर, 1908]

भारत के पुलिटिकल नेता

कैसे हैं जो देश को स्वराज्य दिलाएँगे ? लाल हरदयालु के देश से बाहर जाने पर मैंने जो कुछ विश्वासपात्र मनुष्यों से सुना उसे लिखकर अपनी सम्मति दी। लाला हरदयाल ने उसे झूठ बतलाया, जिस पर मैंने जो कुछ सुना था वह सारा लिख दिया। अब मुझे लाला हरदयाल जी की बातचीत बतलाने वाले घबरा रहे हैं कि कहीं उक्त लाला जी उनको विश्वास तोड़ने वाला न समझ लें। यह उनकी भूल है। हमारे नई रोशनी के युवक जिससे बात करते हैं यह कहकर ही करते हैं कि 'दूसरों को न बतलाना' किन्तु दूसरे आदमी से मिलते ही उसी शर्त पर उसे भी दिल का भेद बतला देते हैं। मेरे पास एडिनवरा से 20 अक्टूबर को चला हुआ पत्र पहुँचा है जिसका एक भाग ज्यों का त्यों लिख देता हूँ :

मैं पिछले महीने की 9 तारीख़ को इस जगह पहुँच गया। बम्बई से लाला हरदयाल जी मिल गए। रास्ता, अच्छे साथी के होने से, अच्छी तरह से कट गया। मैं लाला हरदयाल को विलायत जाना सुनकर बहुत हैरान हुआ। पूछने पर जवाब मिला कि आराम से काम करने नहीं देते इसलिए देश छोड़ना पड़ा है, और बताया कि ''हमें फाँसने के लिए पुलिस ने लाहौर में इश्तिहार लगवा दिए थे कि अंग्रेज़ों को मारो इत्यादि—और इसलिए जसवंतराय आदि ने कहा कि ऐसी दशा में देश त्यागना ही अच्छा है क्योंकि सरकार यह चाहती है कि नई पार्टी का, उसके मुखियों को पकड़कर, नाश कर दे। इसलिए अगर हम पकड़े जाए तो सरकार की कामनाओं के पूरी होने में सहायता देते हैं जोकि महापाप है। यह लाला हरदयाल के देश छोड़ने का प्रयोजन—जिसकी बाबत आपने 8 आश्विन के प्रचारक में लिखा है।'' परिणाम पाठक स्वयम् निकाल लेंगे, मुझे लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं है।

[सद्धर्म प्रचारक, 18 नवम्बर, 1908]

नारी सुधार पर विचार

पढ़ी-लिखी स्त्रियों का नया पंथ स्थापित हो रहा है–यह सब आँखों वाले देख रहे हैं। ऐसी स्त्रियाँ पंजाब तथा युक्तप्रान्त में उँगलियों पर गिनी जा सकती हैं जिन्हें साधारणतया सुशिक्षित कह सकें। जिन्हें सुशिक्षिता कहा जाता है उनमें 99 फीसदी ऐसी हैं जिन्हें केवल अक्षराभ्यास मात्र ही है। इन, पिछले प्रकार की, स्त्रियों की मानसिक अवस्था अपनी अशिक्षिता बहिनों से कुछ बढ़कर नहीं कही जा सकती। शारीरिक अवस्था तो इनकी बहुत ही गिरी हुई होती है। मैंने कई अनपढ़ स्त्रियों के अन्दर पढ़ी-लिखी स्त्रियों से बढ़कर बुद्धि तथा सदाचार की विद्यमानता देखी है। किन्तु ऐसी अवस्था के होते हुए भी जो स्त्रियाँ कुछ थोड़ा-बहुत लिख-पढ़ सकती हैं वे अपने आपको अनपढ़ बहिनों से कुछ विलक्षण ही समझती हैं। जिस प्रकार पहले-पहले अंग्रेजी पढ़े पुरुषों ने सर्व साधारण से निराला एक तीसरा पंथ जारी कर लिया था वही अवस्था इस समय हमारी बहिनों की हो रही है। जो दो अक्षर लिख सकती हैं वह अपने को गार्गी का अवतार समझने लग जाती हैं, और शोक यह है कि उनके इस अभिमानयुक्त व्यवहार में प्रकृति के दास कुछ पुरुष भी उनको सहायता देते हैं। यह प्रसिद्ध है कि खाली ढोल ही अधिक बोलता है और इसलिए जब तक स्त्रियों को गम्भीर उच्च शिक्षा न होगी तब तक इसी प्रकार के परिणाम निकलते रहेंगे। मेरी बहिनों को समझना चाहिए कि पारसी फैशन की साड़ी पहनने तथा अन्य पाश्चात्य पहरावे से मानसिक उन्नति का कोई सम्बन्ध नहीं है और न ही Yes (येस), No (नो), very well (वेरी वेल) सीखकर गिटपिट करने की शक्ति सम्पादन करने से सच्ची सभ्यता में प्रवेश हो सकता है। हमारी स्त्रियों को यह समझ लेना चाहिए कि उनके शास्त्र उनका बड़ा उच्च अधिकार बतलाते हैं। वे मर्दों के लिए खिलौना नहीं बनाई गईं; प्रत्युत प्रत्येक यज्ञ में उनके साथ समअधिकार रखती हैं। इसलिए उनको अपने कर्तव्य का गौरव समझकर सच्ची विद्या का उपार्जन करना चाहिए जिससे वे अपनी अशिक्षिता बहिनों को भी उच्च अधिकारी बनाकर मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए सच्ची देवियाँ सिद्ध हो सकें।

स्त्रियों को राजप्रबंध में अधिकार मिलने के लिए इंग्लिस्तान में बड़ा आन्दोलन हो रहा है। जो स्त्रियाँ राजप्रबन्ध में सम्मति देने का अधिकार उपलब्ध करना चाहती

हैं उन्हें suffragists सफरेजिस्ट्ज़ कहते हैं। इन्होंने इस समय ब्रिटिश पार्लिमेन्ट पर आक्रमण करके दुनिया में धूम मचा दी है। कई बन्दी गृह में हो आई हैं, कइयों पर जुर्माने हुए हैं। इससे वे दबती नहीं किन्तु बम्ब के गोले से काम लेने की धमकी देती हैं। कुछ पढ़े-लिखे मूर्ख अंग्रेजी औरतों के इस असभ्य व्यवहार का अनुकरण भारतवर्ष में देखना चाहते हैं और इसलिए साधारण स्त्रियों को भड़काया करते हैं कि वे मर्दों को अपने से गिरा हुआ समझा करें। मैं अपनी बहिनों को उनके ऐसे मूर्ख मित्रों से सचेत करना चाहता हूँ। स्त्रियों का मर्दों के साथ समाधिकार अवश्य है किन्तु समाधिकार के यह अर्थ नहीं कि जो मर्द करते हैं वही स्त्रियों को करना चाहिए। परमात्मा ने दोनों की शारीरिक बनावट से ही उनके कर्तव्यों का भेद कर दिया। शरीर द्वारा दीनों की रक्षा का काम मर्दों को सौंपा गया है—यदि दो-चार स्त्रियों ने भी मैदान जंग में जौहर दिखाए हों तो इस परिणाम पर नहीं पहुँच सकते कि स्त्रियाँ भी सेनापति बना करें। क्या यदि लाखों पुरुषों में से दस-बीस वाजिदअली शाह ही निकल आवें तो ईश्वरीय नियम को बदला हुआ समझ सकते हैं ? भारत के शिक्षितदल का कर्तव्य है कि जिस गढ़े में यूरोपियन देश गिर चुके हैं और जिसमें से निकलने के लिए वे अब हाथ-पैर मार रहे हैं, उसमें अपने आधे अंग को गिरने से बचावें।

अनुकरण बच्चों का स्वभाव है। जब मनुष्य बड़ा हो जाए तो उसे बिना सोचे-समझे अनुकरण करने के स्वभाव को त्याग देना चाहिए। इस समय सिद्ध हो चुका है कि भारतवर्ष में स्त्री शिक्षा का प्राचीन काल में सदा ही प्रचार रहा है। अभाग्यवश जब अंग्रेज आए तो स्त्री शिक्षा का सर्वथा अभाव था। जिन अंग्रेजों की उत्तेजना से स्त्री शिक्षा का पुनःउद्धार हुआ, भारतनिवासियों ने उनकी एक-एक बात की नकल शुरू कर दी। अंग्रेजों में जब किसी पब्लिक काम में धन की आवश्यकता हुई, तभी प्रदर्शनियाँ करते हैं जिनमें स्त्रियाँ वस्तुएँ बेचती हैं। इस तरह दुगुना-तिगुना लाभ उठाकर पब्लिक कामों को सहायता मिलती है। इसका अनुकरण हमारे स्वदेशी भाई भी करने लग गए हैं। मेरी सम्मति में जो अवस्था (केवल जाहिलों ही नहीं प्रत्युत विद्वान) पुरुषों के सदाचार की इस समय है उस पर विचार करके ऐसी प्रदर्शनियों को, जिनमें आर्य महिलाएँ ही सौदा बेचें और खरीद सकें, सर्वथा बन्द कर देना चाहिए। प्रदर्शनियों में स्त्रियों की तैयार की हुई वस्तुएँ बराबर रखी जावें, किन्तु उनके सम्बन्ध में सर्व व्यावहारिक काम पुरुष करें तो उद्देश्य पूर्ति उत्तमता से हो सकती है। यद्यपि इंगलिस्तान के बड़े ऐतिहासिक विद्वानों की सम्मति यह है कि सभ्यता का दुराचार से घनिष्ठ सम्बन्ध है तथापि यह सिद्ध करना ऋषि सन्तान का अधिकार है कि सच्ची सभ्यता का आधार ही सदाचार है।

[सद्धर्म प्रचारक, 9 दिसंम्बर, 1908]

क्या समय चुप बैठने का है ?

लाहौर में जब मैंने आर्यसमाज और राजनीति विषय में कुछ कहा था उस समय मेरे सामने झाँसी के साहेब मजिस्ट्रेट का केवल फैसला ही था। अब मेरे पास सारी मिसल की नकल आई है, जिसको पढ़कर मुझे और भी आश्चर्य हुआ। यद्यपि मैंने अपनी शक्तिभर प्रयत्न किया फिर भी मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि मजिस्ट्रेट के हुक्म की अपील अभी दायर हुई वा नहीं। मैं इस विषय में आगे क्या करूँगा इस स्थान में लिख नहीं सकता क्योंकि ठीक निश्चय अभी तक नहीं हुआ, किन्तु कहूँगा कुछ अवश्य। जो महाशय कुछ सहायता देना चाहें वे 18 दिसमबर तक गुरुकुल में मुझे पत्र लिखें और उसके पश्चात् 26 दिसम्बर तक अजमेर में वैदिक यन्त्रालय के पते से।

यह तो पीछे विचार होगा कि जो दोष आर्यसमाज पर झूठे लगाए जाते हैं उनके दूर करने के उपाय क्या हैं—

पहले यह पता लगाना है कि आर्यसमाज पर दोष क्या लगाए जाते हैं। दौलतराम के विरुद्ध पहला गवाह जो धनसिंह कान्स्टेबल (पुलिस का सिपाही) है वह कहता है कि भेस बदलकर वह आर्यसमाज के जलसों और कमेटियों में जाया करता था। जिस दिन की दौलतराम की कथा पर अभियोग चला है उसकी कार्यवाही का वर्णन वह इस प्रकार करता है—"इसके बाद दौलतराम खड़े हुए और उन्होंने कहा कि अंग्रेजों के आने से हम लोग बेदीन हो गए और होते जाते हैं और यह सिपाहियों की तरफ मुखातिब होकर कहा था—और ऐसा जोर बँधा है कि और भी बेदीन हो जावेंगे और कहा कि पहले गोला, तोप, बन्दूक—इनका नाम भी नहीं सुना था। अब लोग जान सकते हैं कि यह काहे से बनाए जाते हैं। हम अगले इतवार के लेक्चर में सब बतलावेंगे कि काहे से बनाए जाते हैं।" इस बयान को देख जानकार आदमी हँस पड़ेंगे। सत्यार्थप्रकाश में तो यह सिद्ध किया है कि हमारे पूर्वज तोप बन्दूक बनाना जानते थे। गोले का वहाँ नाम नहीं। सात रुपए के कानस्टेबल ने जो तोते की तरह रटा वही कह दिया। फिर आगे नानकचन्द्र मन्त्री के व्याख्यान का बयान कान्स्टेबल यूँ करता है—हमने रूस, जापान और बांदा और लशकर और भोपाल को इश्तिहार और चिट्ठियाँ भेजी हैं और नोटिस भी भेजा है। अब तक जवाब नहीं आया

है। अगले इतवार को हम सब आप लोगों को सुना देंगे जब जवाब आवेगा (ठीक है रूस और जापान से जवाब सात दिनों में आ जाएगा—सम्पादक) इसकी तशरीह नहीं की कि इश्तिहार, चिट्ठियाँ नोटिस किस वास्ते भेजे गए हैं। फिर बाबू शंकर सहाय ने बैठकर कहना शुरू किया कि तुम सिपाहियों के आने से बहुत ही खुशी हुई और ज़्यादा सिपाही आने चाहिए। और ज्यादा आवेंगे तो ज़्यादा खुशी होगी। सिपाहियों ने कहा कि जलसा देर में शुरू होता है इसलिए हम देर तक नहीं ठहर सकते। इस पर शंकर सहाय ने कहा कि आइन्दा जलसा तीन बजे शुरू होगा। और यह भी कहा कि मन्दिर बहुत ही छोटा है दो हजार रुपया चन्दा जमा हो जावे तो यह बड़ा कर दिया जावे। सिपाहियों ने कहा कि चन्दा हो जावेगा। और कहा कि उस शख्स के मरने से देर हो गई। अगर वह आदमी न मरता तो कभी का काम हो गया होता···" आज इतने पर ही यह बयान समाप्त करता हूँ। कैसा विश्वासपात्र बयान है। यदि यह बयान सच्चा है तो नानकचन्द्र और शंकर सहाय राजविद्रोही सिद्ध होते हैं—गरीब दौलतराम का तो इतना अपराध प्रतीत नहीं होता। किन्तु क्या ऊपर के बयान को पढ़ हँसी रुक सकती है। कैसा आठों गाँठ कुतनै बयान है। मुझे अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

हमारे सम्राट सप्तम एडवर्ड लिखते हैं कि केवल किसी मत विशेष के अनुयायी होने से उनकी किसी हिन्दोस्तानी प्रजा को कोई हानि नहीं पहुँचाई जा सकती। लॉर्ड मिन्टो महोदय इस लेख का समर्थन करते हैं। मैं श्रीमान लार्ड मिन्टो के सामने इसी मुकद्दमे का एक बयान रखता हूँ जो शपथ खाकर दिया गया है। सुबराम सूबेदार ने दौलतराम के, उनकी पलटन से, आटा इकट्ठा करने का वर्णन करते हुए कहा, "मुलजिम ने कहा··कि मैं ब्राह्मण हूँ आर्य नहीं हूँ। लावारिस बच्चों को पढ़ाता हूँ उन्हीं के वास्ते आटा ले जाता हूँ। साल गुजिश्ता (गत वर्ष) में हुक्म मिला था कि कोई आर्यसमाज (मतलब आर्यसमाजी) पलटन में न आने पावे न सिपाही समाज में जाने पावे, इसलिए मैंने मुलजिम से दरियाफ़्त किया था कि वह आर्यसमाज तो नहीं है। फौज में मुनादी है कि समाज में कोई सिपाही न जावे··अफसर साहेब को इत्तला 24 अगस्त सं. 1908 तारीख़ को दी गई। इस पर 20) रुपए मेरी तनख़्वाह कम कर दी गई और 10) रुपए जमादार की तनख्वाह कम हो गए। यह कमी तनख्वाह की फौरन रिपोर्ट न करने से हो गई। मैं फिर सविनय पूछता हूँ कि क्या अपील आदि की प्रतीक्षा न करके श्रीमान सरजान ह्यूवेट स्वयम् इस मुकद्दमें की सारी मिसल को न सुनेंगे ? यदि न सुनेंगे तो क्या स्पष्ट शब्दों में यह आज्ञा न देंगे कि आर्य सामाजिक पुरुषों को ब्रिटिश प्रजा के अधिकार नहीं क्योंकि बात स्पष्ट होने पर आर्यसमाज पुरुष धर्म और सांसारिक में से जिसके साथ प्रेम होगा उसके पीछे लग सकेंगे।

[सद्धर्म प्रचारक, 16 दिसम्बर, 1908]

गुरुकुल पाठ प्रणाली

[6]

अब केवल एक आक्षेप का ही उत्तर देना बाकी रह गया है। वह यह है—गुरुकुल में तालीम मुफ्त नहीं दी जाती। इस प्रकार का आक्षेप करने वाले महानुभाव या तो गुरुकुल के छपे हुए नियमों तथा गुरुकुल के वर्तमान प्रबन्ध की अवलोकन किए बिना ही अपनी सम्मति दे देते हैं, वा सब कुछ जानते हुए भी किसी प्रयोजन विशेष को सिद्ध करने के लिए इस प्रकार के आक्षेपों को सर्व साधारण में फैलाने का प्रयत्न करते हैं। गुरुकुल के नियमों को साधारण रीति से देखने से ही विदित होता है कि यदि किसी ब्रह्मचारी के संरक्षक से कुछ लिया जाता है तो वह उस ब्रह्मचारी के भोजन तथा अन्य पालन पोषण के सामान में व्यय होती है, शिक्षा सर्वथा बिना मूल्य दी जाती है। गुरुकुल नियमावलि की धारा 13 इस प्रकार है : "पुस्तकें, पदार्थ विद्योपकारक तथा अन्य सामग्री—इस शिक्षणालय के पठन-पाठन उद्देश्य की पूर्ति तथा अध्यापकों और विद्यार्थियों के विशेष लाभ के लिए पुस्तकें, लिपि सज्जा, पदार्थविद्योपकरण, पुस्तकालय, आसन चौकी आदि नक्शे, यन्त्र तथा अद्‌भुतालय एवं व्यायामालय तथा अन्य सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के निज व्यय से प्रस्तुत की जाएगी।"

यदि गत वर्ष के आनुमानिक आय-व्यय के ब्यौरे को ही देखा जाए तो पता लगेगा कि 1,18,394 रुपया जो कुल आनुमानिक व्यय समझा गया था उसमें शिक्षा का आनुमानिक व्यय 19,632 नियत था। इस रकम के अतिरिक्त जो अध्यापक अधिष्ठातादि के वेतन तथा पुस्तकादि सामान के क्रय में व्यय होती रही। निम्नलिखित व्यय भी शिक्षा विभाग में ही पड़ने चाहिए।

1000) सामान विद्यालय के लिए
8000) रसक्रिया भवनार्थ यन्त्रादि।
1000) सरस्वती यात्रा का व्यय।
3000) पुस्तक तैयारी।

13000) योग

इस प्रकार कुछ व्यय जो ब्रह्मचारियों की शिक्षा पर हुआ वह 32,632) ठहरता है। इसमें से एक पाई भी ब्रह्मचारियों के संरक्षकों से नहीं ली जाती।

अब देखना यह है कि ब्रह्मचारियों के शारीरिक पालन-पोषण पर जो कुछ व्यय होता है वह भी सब का सब उनके संरक्षकों से ही लिया जाता है वा उसका कुछ भाग गुरुकुल की स्वामिनी सभा को भी देना पड़ता है। यों तो ब्रह्मचारियों के पालन-पोषण के लिए बजट में 24,330) की रकम ही लिखी है किन्तु कुछ अन्य व्यय भी है जो ब्रह्मचारियों के पालने में ही पड़ने चाहिए, यथा 2000) औषधालय का व्यय तथा 2000) घोड़ों का व्यय। यह सब मिलाकर ब्रह्मचारियों के पालन पर 28,330) लिया जाता था। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्रह्मचारियों के पालन-पोषण पर जो व्यय होता है उसका भी तीसरा हिस्सा उनके संरक्षकों से लिया जाता है। पूरा शुल्क एक ब्रह्मचारी के लिए दर्शन श्रेणी तक 10) मासिक नियत है किन्तु यह भी सबसे नहीं लिया जाता। इस विषय में गुरुकुल के प्रथम पंच-वर्षीय वृत्तान्त के पृ. 96 से कुछ लेख उद्धृत करके दिखलाता हूँ कि आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब शनैः-शनैः अपने आदर्श की ओर आने का प्रयत्न कर रही है। पृ. 96 का लेख निम्न प्रकार है :

"1. विद्यादान ब्रह्मचारियों को बिना मूल्य (मुफ्त) ही दिया जाता है क्योंकि ब्रह्मचारियों के संरक्षक जो दस रुपए मासिक देते हैं वह ब्रह्मचारियों के खान, पान, स्थान, वस्त्रादि के लिए भी कठिनता से काफी होते हैं।

2. कई विद्यार्थियों के खान पानादि का कुल व्यय और कई विद्यार्थियों के खान-पानादि का आंशिक व्यय गुरुकुल की ओर से दिया जाता है जिसका वृत्तान्त निम्नलिखित ब्यौरे से ज्ञात होगा–"

इसके नीचे रिपोर्ट में कुल कमी शुल्क की 158) मासिक दिखाई गई है और उसके पश्चात् अब तक 70) मासिक की ओर रियायत दी गई है।

यों तो गोशाला और वाटिका के ठीक प्रकार चलाने पर जो व्यय होता है तथा ब्रह्मचारियों के आश्रम, विद्यालय, व्यायामशाला, अध्यापकगृह, भृत्यगृहादि पर जो कुछ व्यय होता है वा होगा वह सब ब्रह्मचारियों की शिक्षा तथा पालन-पोषण में ही व्यय होता है। किन्तु ऊपर लिखे ब्यौरे पर ही यदि सन्तोष करें तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि जो कुछ साधारण रीत्या उनकी शिक्षादि पर व्यय होता है उसका बहुत कम हिस्सा उनसे वसूल किया जाता है।

और इस स्थान में एक बात मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। जो लोग मुफ्त तालीम का शोर मचाकर गुरुकुल को बदनाम करना चाहते हैं उनके इन्स्टीट्यूशनों को यदि गहरी दृष्टि से देखा जाए तो विचित्र लीला दीखती है। उन इन्स्टीट्यूशनों में आज तक जितने छात्र आए उनमें से इस समय पाँच या छठा हिस्सा भी विद्यमान नहीं है। या तो यह सब 25 वर्षों के स्थान में चार, पाँच, छह वा सात वर्षों में

ही ब्रह्मचर्यव्रत को पूर्ण करके समावर्तन संस्कार के योग्य समझे गए और या यह वैसे ही घर लौट गए। ऐसा विद्यार्थियों की दुर्दशा का हाल बराबर समाचार पत्रों में छपता रहता है। मुफ़्त तालीमवाले गुरुकुलों में पढ़ाई आदि तो एक ओर रही; छात्रों को किसी-किसी समय पेट भर खाने को भी नहीं मिलता। जब कोई कार्यदर्शक ही न हो तो सदाचार की दृढ़ता भी कैसे रह सकती है। इन सब बातों के लिए अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं क्योंकि इनसे प्रायः पड़ोस के लोग परिचित होते हैं। किन्तु इससे बढ़कर यह है कि यह लोग मुफ्त तालीम न देते हुए भी मुफ्त तालीम का शोर मचाते हैं।

प्रथम तो जितने पुरुष अपने बालकों को भरती कराने जाते हैं उनसे 20) तख्तादि के लिए पेशगी दान लिया जाता था और यथाशक्ति चन्दा लिया जाता था। लाला मोहनलाल श्रीगोविन्दपुर निवासी के दो लड़के गुरुकुल बदायूँ में मुफ्त तालीम पाते थे। लाला साहब न केवल गुरुकुल बदायूँ के लिए विशेष चन्दा ही करते कराते थे प्रत्युत 12) मासिक चन्दा देते थे। जब एक बार जाकर लड़कों की अवस्था खराब देखी और कई बार उनको रोटी से भी लाचार देखा तब गुरुकुल कांगड़ी में बड़े परिश्रम के पश्चात् दाखिल करा पाए। जब लड़के आए तो उनके चेहरे और शरीर पीले पड़े हुए थे और मुद्दत तक वे सर्व ब्रह्मचारियों से पृथक से प्रतीत होते रहे। इसी प्रकार पंडित चतुर्भुज शर्मा बिजनौर वाले का एक पुत्र (जो अब गुरुकुल कांगड़ी में पढ़ता है) भी इन्हीं शर्तों पर मुफ्त तालीम पाता था। एक महाशय के पास एक अनाथ लड़का था उन्होंने उसके साथ दो तीन सौ रुपया देकर उसे गुरुकुल बदायूँ में मुफ्त तालीम के लिए दाखिल कराया। वह लड़का कुछ काल के पश्चात् ही एक दिन शाम को कूप में डूब गया और गुरुकुल वालों को उसके डूबने की खबर तब लगी जब दूसरी सुबह अन्य विद्यार्थी कूप पर स्नान करने के लिए गए। इस प्रकार के सैकड़ों घटनाएँ पेश हो सकती हैं और इनसे भी बढ़कर बीसियों दुराचारों का सबूत पेश किया जाता सकता है जिससे ज्ञात होगा कि मुफ्त तालीम का प्रचार भी तभी लाभदायक हो सकता है जब कि मुफ्त तालीम देनेवोल शिक्षणालयों का प्रबन्ध भी नियमानुसार धर्मात्मा सदाचारी तथा अपने कर्तव्य को समझनेवाले पुरुषों के हाथ में हो; और यह हो नहीं सकता जब तक कि ऐसे विद्यालयों के प्रबन्ध में स्थिरता न हो। प्रबन्ध में स्थिरता का एक साधन स्थिर कोष का होना है। प्राचीन काल में गुरुकुल के पास सारे राज्य की शक्ति तथा ऐश्वर्य हुआ करते थे। राजा तथा धनाढ्य प्रजा अपना कर्तव्य समझते थे कि गुरुकुलों के लिए सर्व सामान आप से आप पहुँच जावें। इसी दृढ़ आशा पर गुरु जन निस्सन्देह होकर काम किया करते थे।

आज वह दशा नहीं रही। राजा की पाठ विधि जुदा है और प्रजा की जुदा। जब तक प्राचीन ऋषियों की पाठ प्रणाली तथा शिक्षा शासन के उत्तम फल प्रत्यक्ष

न दिखा दिए जाएँ तब तक राज से किसी सहायता की आशा भी नहीं कर सकते। इसलिए आज कल गुरुकुल के चलने का सारा बोझ सर्व साधारण शिक्षित दल पर ही है। जब राज पर बोझ हुआ करता था तब गुरुकुलों के आचार्यों को प्रबन्ध के लिए धन की चिन्ता नहीं होती थी और वे केवल ब्राह्मण का काम करते हुए ही अपना कर्तव्य पालन करते थे। आज जहाँ आचार्यों की योग्यता कुछ भी नहीं वहाँ उनके कर्तव्य बहुत ही बढ़ रहे हैं। यदि ऐसी अवस्था में इन आचार्यों पर अंकुश को सर्वथा हटाकर इनके अधिकार भी बढ़ा दिए जावें तो इन सबको सीधा अत्याचार के गढ़े में गिरा देना होगा। किन्तु आजकल के विचित्र आचार्य तथा विलायती संन्यासी स्थिर कोष का नाम 'नाशक कोष' धरते हुए उसे परमात्मा की आज्ञा का उल्लंघन बतलाते हैं और यह नहीं समझते कि जिस परमात्मा के पास सनातन स्थिर कोष (प्रकृति) है जिस पर वह नियमानुकूल काम करता हुआ ही नाना प्रकार के सुन्दर जगत का निर्माण करता है उस परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध स्थिर कोष को बतलाना नास्तिकपन है। किन्तु ऐसे व्यसनी संन्यासियों का इनमें भी एक मतलब सिद्ध होता है। यदि आचार्य सर्व आय को एक हाथ से गोलक में डालता जाए और दूसरे हाथ से उसमें से निकाल व्यय करता जाए तो 'किस्सा मुख़तसर' हो जाता है। न कोई बहीखाता, न किसी लेखक की आवश्यकता। सब काम सरलता तथा किफायत से होते हैं और पब्लिक को नुक्ताचीनी करके अपनी आत्मा को गिराने का भी अवसर नहीं मिलता। शायद ऐसे ही आचार्यों और संन्यासियों के विषय में कविवर तुलसीदास जी ने लिखा है :

चौपाई

मिथ्या रंभ दंभ रत जोई।
ता कहे संत कहहिं सब कोई

दोहा

अशुभवेश भूषणधरे भक्षाभक्ष जे खाहिं।
तेइ योगी सिद्ध नर पूज्य ते कलियुग माहिं।

तोमर छन्द

बहु दाम संवारहिं धाम जाती।
विषया हरिलीन गई बिरती।
तपसी धनवंत दरिद्र गृही।
कलि कौतुकतातन जात कही।

क्या ऐसे सन्तों के अधीन गुरुकुलों के प्रबन्ध को छोड़ना सरल हृदय बालकों

के मन और आत्मा का नाश करना नहीं है ? ऐसी घोर अन्धकार की अवस्था में आवश्यक है कि सर्वसाधारण के निरीक्षण रूपी दीपक का आश्रय अवश्य लिया जाए जिससे न केवल गुरुकुलों के ब्रह्मचारियों की रक्षा होगी प्रत्युत इन कलियुगी आचार्यों के मन और आत्मा भी गिरने से बच जाएँगे। मुफ़्त तालीम की पुकार केवल उपरोक्त प्रकार गुरुकुलों की बुनियाद डालने वाले कर्तव्य-शून्य पुरुष ही नहीं मचाते किन्तु वे लोग भी जो बड़े जिम्मेवार कहलाते हुए ऐसे इन्स्टीट्यूशनों के नेता हैं जिनमें कभी मामूली पढ़ाई की फीस के दूर होने की भी सम्भावना नहीं है। किन्तु उन लोगों का अपना अमल क्या है ? गत वर्ष जब पंजाब और युक्त प्रान्त में दुष्काल पड़ा था गुरुकुल में भी ब्रह्मचारियों के भोजन में कमी करने का प्रश्न कई भाइयों ने पेश किया था, किन्तु गुरुकुल के प्रबन्धकर्ताओं ने यह सोचकर कि यह कुल है जिसके बच्चों को प्रत्येक समय में एक प्रकार के बर्ताव की अमली शिक्षा मिलनी चाहिए, भोजनादि में किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं किया था। इस विषय में जो कुछ मैंने उसी समय लिखा था उसे 10 फाल्गुन 1964 के प्रचारक से उद्धृत करता हूँ :

"सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में भोजन मात्र तथा निवास स्थान की फीस 12) मासिक थी। अब आश्रम निवासियों का दूध बन्द कर दिया गया। देहरादून दयानन्द स्कूल में बोर्डिंग की फीस 10 से 12) मासिक हो गई। दयानन्द स्कूल लाहौर में भी 9) के स्थान पर 11) कर दिए गए। परन्तु गुरुकुल में परमात्मा की कृपा से न दूध और न फलों के देने में कुछ परिवर्तन किया गया है और ब्रह्मचारियों के किसी नियम में भी परिवर्तन नहीं हुआ।"

मैंने ऊपर का सारा लेख इसलिए लिखा है कि गुरुकुल शिक्षाप्रणाली के प्रेमियों को स्पष्टतया विदित हो जाए कि जो लोग गुरुकुल के विरुद्ध 'मुफ्त तालीम' का युद्ध नाद उठाते हैं उनका मतलब किसी सुधार से नहीं प्रत्युत उनका तात्पर्य केवल गुरुकुल को हानि पहुँचाना मात्र ही होता है। लोग गुरुकुल (कांगड़ी) के विरोधी क्यूँ बने और किस द्वेषाग्नि से पीड़ित होकर वे इस गुरुकुल को जड़ से उखाड़ने की चिन्ता में गिरे हुए हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर देने की मुझे आवश्यकता नहीं, क्योंकि ऐसा करने से कोई प्रयोजन विशेष तो शायद ही सिद्ध हो, किन्तु बहुत पुरुषों के आत्माओं के अधिक गिरने से उलटी हानि की सम्भावना है।

किन्तु क्या मैं उस शुल्क को जो गुरुकुल विद्यार्थियों से इस समय लिया जाता है ठीक समझता हूँ ? इस प्रश्न का उत्तर मेरे अमल से ही मिल सकता है। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के गत वार्षिक अधिवेशन में मेरी ओर से जो प्रस्ताव पेश हुआ था उसी से मेरी तद्विषयक सम्मति का पता लग सकता है—

"श्रीमान मन्त्री जी आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब ! नमस्ते,

मेरी ओर से निम्नलिखित प्रस्ताव अन्तरंग सभा के आगामी अधिवेशन में

इसलिए प्रविष्ट कर दीजिए कि उक्त सभा इस प्रस्ताव को भी सभा के आगामी साधारण वार्षिक वृहदाधिवेशन के विचारार्थ स्वीकार करे।

प्रस्ताव

इस सभा की सम्मति में वह समय आ गया है जब कि गुरुकुल में ब्रह्मचारियों से शुल्क देना सर्वथा बन्द कर देना चाहिए। इसलिए निश्चय हुआ कि आगामी वर्ष सर्व ब्रह्मचारी बिना शुल्क के ही प्रविष्ट किए जावें। और जो ब्रह्मचारी इस समय गुरुकुल में पढ़ते हैं उनकी बाबत भी शुल्क की बाकी अगस्त सन् 1908 तक वसूल करके आगे को शुल्क लेना बन्द कर दिया जावे।

मेरे इस प्रस्ताव के हेतु निम्नलिखित हैं–

(1) गुरुकुल नियम धारा 6 के नीचे निम्नलिखित नोट आरम्भ से ही चला आता है :

"When in course of time sufficient funds shall have been collected for the maintenance of this seminary, all the Vidyarthis admitted shall be educated and maintained free of charge."

मैंने गुरुकुल की पहली अर्ध वार्षिक रिपोर्ट सभा के सामने रखकर ही प्रार्थना की थी कि धन की प्रतीक्षा न करते हुए सबका ही शुल्क मोचन करके गुरुकुल को उसके आदर्श की ओर चलने दें। उसके पश्चात् भी दो बार फिर मैंने ऐसे ही प्रस्ताव किए जिन पर कुछ भी विचार न किया गया।

(2) इस समय यद्यपि कुछ ब्रह्मचारियों का सर्वथा शुल्क मोचन है कुछ आधा वा उससे भी कम शुल्क देते हैं। तथापि 3/4 इस समय भी पूरा शुल्क देते हैं। इस भेद का ब्रह्मचारियों पर तो, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा परन्तु ब्रह्मचारियों के संरक्षकों के दिलों में अच्छा भाव नहीं रहता। बहुतों ने इसी कारण अपने पुत्रों पर बुरा प्रभाव डालने का भी प्रयत्न किया है। जिससे आगे को हानि होने की सम्भावना है।

(3) कुछ ब्रह्मचारी जब 10) मासिक पर प्रविष्ट हुए तो उनके संरक्षकों की आर्थिक दशा अच्छी थी, किन्तु पश्चात् खराब हो गई। फिर उनका शुल्क देनेवाला कोई न रहा। ऐसी अवस्था में कभी-कभी बहुत ही कष्ट हुआ तथा ब्रह्मचारियों पर ऐसे सम्बन्धियों का दबाव पड़ गया जो पड़ना नहीं चाहिए था। सर्वथा शुल्क मोचन होने पर जैसे कड़े नियम चाहें बना सकते हैं और उनकी तामील भी हो सकती है।

(4) ऐसा करने से, धनी तथा निर्धन सबके साथ समव्यवहार ही कर भविष्यत के लिए सर्व प्रकार की शिकायतें दूर हो जाएँगी।

(5) जब तक आप शुल्क लेते जाएँगे तब तक धन ज़ोर-शोर से नहीं आवेगा और उस समय यदि इस समय की तरह स्थिर कोष से भी आप व्यय करेंगे तो कोई आक्षेप न करेगा।

(6) सर्वथा शुल्क मोचन होने पर थोड़ा वेतन लेकर काम करनेवाले भी अधिक मिल सकेंगे। समाप्ति पर निवेदन है कि यह समय पग आगे बढ़ाने का है। सभा ने एक शाखा गुरुकुल मुलतान प्रान्त में खोलने का भी निश्चय कर लिया है। तब क्या योग्य नहीं है कि इसी प्रकार से शुल्क लेने की प्रथा को बदल दिया जावे। मुझे यह भी आशा पड़ती है कि यदि सभा मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लेगी तो वर्तमान ब्रह्मचारियों के सौ संरक्षक ऐसे अवश्य निकल आवेंगे जो पाँच-पाँच सौ रुपया देकर एक दम से 50,000) का आरम्भिक कोष स्थिर कर दें। मैं भी संरक्षकों में से एक हूँ और 500) देने को उद्यत हूं यदि सर्वथा शुल्क मोचन हो जावे।

सच्चे विश्वास से यदि श्रीसभा यह सात्त्विक नियम स्वीकार करेगी तो धनाभाव से कभी भी गुरुकुल को बन्द करना न पड़ेगा। मैं आशा करता हूँ कि आर्यप्रतिनिधि सभा के सभासद् मेरे इस प्रस्ताव पर गहरा विचार करके शास्त्र मर्यादा के स्थिर करने में सहायक होंगे।

आपका
मुन्शीराम
सभासद् आर्यप्रतिनिधि सभा, पंजाब।

यद्यपि इस पत्र में सर्वथा शुल्क मोचन के लिए संक्षेपतः युक्तियाँ दी गई हैं तथापि मैं इतनी युक्तियों की भी आवश्यकता नहीं समझता। मेरे इस प्रस्ताव के पेश होने से मुफ्त तालीम के विषय पर सहयोगी 'प्रकाश' के सम्पादकीय कालमों में बड़े दार्शनिक विचार निकले हैं। यह सच है उन गम्भीर दार्शनिक लेखों में भी मेरी सम्मति को नहीं बदला, किन्तु उन लेखों की युक्तियाँ ऐसी प्रबल थीं कि उनका सविस्तार उत्तर देना मेरे लिए भी आवश्यक था। मैंने क्यूँ उनका उत्तर देने की आवश्यकता नहीं समझी ? इसलिए कि आर्यप्रतिनिधि सभा एक धार्मिक प्रतिज्ञा कर चुकी है जिसका पूर्ण करना उसका कर्तव्य है। यह प्रतिज्ञा हो चुकी है कि जब आवश्यक कोष पूर्ण हो जाएगा तो किसी ब्रह्मचारी के संरक्षक से भी कुछ नहीं लिया जाएगा। तब दलीलबाजी से अब मतलब क्या ?

किन्तु मुझसे फिर प्रश्न हो सकता है कि जब मेरी शुल्क मोचन के विषय में ऐसी दृढ़ सम्मति है तो इस प्रस्ताव के स्वीकार कराने में मैंने इतना बल क्यूँ न लगाया कि यह पास ही हो जाता। मैं मानता हूँ कि मैंने इस प्रस्ताव के स्वीकार कराने में अधिक बल नहीं लगाया, किन्तु उसका का कारण यह नहीं कि प्रस्ताव भेजने के पश्चात् मेरी सम्मति में कुछ परिवर्तन आ गया था। कारण केवल यह

था कि सभा के प्रतिज्ञा पूर्ण करने का समय नहीं आया था। जब तक इतना कोष पूर्ण नहीं हुआ कि निश्चिन्तता से गुरुकुल का काम चल सके। जिस सभा के सभासद् गुरुकुल का कोष पूर्ण करने के लिए एक अंगुली हिलाने को भी तैयार नहीं उससे सर्वथा शुल्क मोचन का प्रस्ताव स्वीकार कराने से भी क्या लाभ ? जिस समय आर्यप्रतिनिधि सभा के सभासद अपने कर्तव्य को समझ लेंगे उस समय मुझे अन्य किसी उनके सेवक को इस प्रकार के प्रस्ताव पेश करने की जरूरत न होगी।

अब यहाँ मैं इस लेखमाला को समाप्त करता हूँ। मैंने यथाशक्ति यह दिखाने की कोशिश की है कि गुरुकुल की पाठ प्रणाली ऋषि दयानन्द की बतलाई हुई पाठविधि के सर्वथा अनुकूल है।

[सद्धर्म प्रचारक, 23 दिसम्बर, 1908]

गुरुकुल शिक्षाप्रणाली का भविष्य

आर्यसमाज के नए मित्र महाशय नेविन्सन (Nevinson) ने गुरुकुल को 'वामा रहित स्वर्ग' की उपाधि दी है। इस एक आक्षेप के अतिरिक्त बड़े से बड़े नव शिक्षा के पक्षपाती ने भी गुरुकुल पर कोई दोषारोपण नहीं किया। सांसारिक झगड़ों से, 25 वर्षों की आयु तक, अलग रखने का परिणाम क्या होगा, इस प्रश्न का उत्तर दलीलों से दिया जा नहीं सकता। परमेश्वर की कृपा से वह दिन समीप आ रहा है जब इस प्रश्न का उत्तर गुरुकुल में ब्रह्मचर्य अवस्था को समाप्त करके, इसी कुल के धार्मिक सुपुत्र अपने जीवन से देंगे; किन्तु जब तक वह समय नहीं आता तब तक भी इस आक्षेप का उत्तर कुछ न कुछ दिया जा ही सकता है। यह माना कि 25 वर्षों की आयु तक अलग रखने के परिणाम इस समय सिद्ध नहीं किए जा सकते; किन्तु यह तो दिखलाया जा सकता है कि 'वामा सहित' वर्तमान सभ्यता युक्त विद्यालयों में संसार युद्ध के अन्दर लिप्त होते हुए विद्यार्थियों की क्या दशा है और उनका भविष्य क्या हुआ करता है। यदि बड़े शहरों में में रहकर कालिजों के विद्यार्थियों के आचरणों की रक्षा का प्रश्न बहुत ही कठिन हो जाता है तो क्या यह परीक्षा करना अयुक्त है कि शहरों के प्रभाव से जुदा रख तथा दिन रात के धार्मिक क्षण से उनकी अवस्था क्या हो सकती है ?

मनुष्य शरीर, मन और आत्मा के संयोग का नाम है। आदर्श मनुष्य बनाना उत्तम शिक्षा प्रणाली का मुख्य उद्देश्य है। तब जिस शिक्षा प्रणाली में शरीर, मन और आत्मा की उन्नति के ठीक साधन सम्मिलित हों उसी को आदर्श शिक्षा प्रणाली कह सकते हैं। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में शरीर की उन्नति के प्रबन्ध की उत्तमता में तो इस संख्या के कट्टर-से-कट्टर विरोधी को भी सन्देह नहीं हो सकता। मानसिक शक्तियों के विकास का भी यहाँ वर्तमान कालिजों की अपेक्षा उत्तम होगा ही क्योंकि यहाँ के नियम ऐसे स्तब्ध नहीं हैं कि उनकी अयुक्तता प्रतीत होने पर उनमें उचित परिवर्तन सुगमता से न किया जा सके। मानसिक परीक्षा के नियम भी ऐसे स्वाभाविक रखे गए हैं कि उसका बोझ बच्चों के सरल हृदयों पर हानिकारक सिद्ध नहीं हो सकता। आत्मिकोन्नति तथा आत्मरक्षा का प्रबन्ध भी ऐसी संस्थाओं में ही उत्तम हो सकता है यदि योग्य विद्वान् सरल आत्माओं को सीधे रास्ते पर

चलानेवाले मिल जावें। यह 'यदि' ऊपर के सारे लेख के साथ ही लगाने की आवश्यकता है। यदि शारीरिक तथा मानसिक उन्नति में स्वयम् लगे हुए अधिष्ठाता बच्चों की रक्षा का भार अपने ऊपर लें तो उनको वाणी द्वारा इन शिक्षाओं की आवश्यकता नहीं रहती।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के भविष्य पर विचार करते हुए अब यह सोचने की आवश्यकता नहीं रही कि इसके उच्च स्कीम को चलाने के लिए धन कहाँ से आवेगा। जिस समय आज के शिरोमणि गुरुकुल को खोलने का विचार उत्पन्न हुआ था, उस समय 30 सहस्र रुपयों का इकट्ठा करना एक अचम्भा समझा जाता था, किन्तु आज गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर घर बैठे पचार हजार जमा हो जाना लोगों की आँखों में जँचता भी नहीं। मुलतान के चौधरी रामकृष्ण जी का 80,000) अस्सी हजार की सम्पत्ति दानकर देना और शाखा गुरुकुल की पूर्ति के लिए बड़ी उदारता से सदैव अपना कोष खोले रहना आज अचम्भा प्रतीत नहीं होता। युक्त प्रान्त की प्रतिनिधि सभा के गुरुकुल का वार्षिकोत्सव अभी फर्रुखाबाद में हुआ है। वहाँ से समाचार आया है कि 7000) नकद जमा होने तथा 5000) की प्रतिज्ञा होने के अतिरिक्त आर्यसमाज के एक भूषण ने अपनी एक लाख से अधिक की कुल जायदाद उस गुरुकुल को भेंट कर दी और स्वयम् 50) मासिक गुज़ारा लेकर आजन्म उसकी सेवा के लिए तैयार हो गए हैं। उसी गुरुकुल को एक फर्रुखाबाद के रईस ने 70 सहस्र के मूल्य की भूमि तथा मकान दान करके दे दिया है। सारांश यह है कि गुरुकुल कांगड़ी ने अपनी जो आर्थिक दशा दस वर्षों की लगातार कोशिश से बनाई थी वह फर्रुखाबाद गुरुकुल को सहज में ही प्राप्त हो गई। मुझे अपने युक्तप्रान्तीय भाइयों की इतनी बड़ी कृतकार्यता पर बड़ा ही आनन्द हुआ है और मैं उन्हें इस समय पर बधाई देता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि गुरुकुल कांगड़ी के आगामी वार्षिकोत्सव पर प्राप्त धन की राशि बढ़ाने का प्रयत्न गुरुकुल के प्रेमी अवश्य करेंगे, और यदि मनुष्यों ने विशेष न किया तब भी परमात्मा की कृपा से धनाभाव से गुरुकुल का काम कभी रुक नहीं सकता।

तब प्रश्न वही उपस्थित रहता है कि गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की रक्षा तथा उन्नति के लिए कौन-सा साधन मुख्य है जिससे सिद्ध होने से अन्य सर्व साधनों की सिद्धि होने की सम्भावना है। सबसे पहले धन को ही लीजिए। गुरुकुल फर्रुखाबाद के वार्षिकोत्सव पर यद्यपि दो लाख की सम्पत्ति प्राप्त हुई किन्तु मेरी सम्मति में वास्तविक प्राप्ति श्रीमान् कुँवर हुकुमसिंह का आत्म-समर्पण ही समझना चाहिए। यदि कुँवर हुकुमसिंह जी अपनी सेवा ब्रह्मचर्याश्रम के पुनर्जीवित करने के शुभकार्य के अर्पण करने का संकल्प न करते तो इतना धन भी गुरुकुल के कार्यकर्ताओं की सहायता के लिए न मिलता। दबा खजाना मिलने का अब जमाना नहीं रहा और मेरी सम्मति में कभी था भी नहीं। माया मर्द के साथ रहती है जैसे

छाया वृक्ष के ही गिर्द घूमती है। जहाँ मर्द है वहाँ माया की कुछ कमी नहीं। यह आवश्यक नहीं कि जहाँ माया हो वहाँ मर्द अवश्य ही हो। तब गुरुकुलों के बाह्य प्रबन्ध को चलाने का मुख्य साधन भी मनुष्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं। और अंतरीय साधन तो मनुष्य के सिवास और हो ही नहीं सकता। परिणाम यह निकला कि जो महानुभाव गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को ही मनुष्य सृष्टि की भावी दशा के सुधार का साधन समझते हैं उन्हें अपने शरीर, मन तथा आत्माओं को इसकी सेवा के योग्य बनाना चाहिए, क्योंकि इस संस्था के भविष्य का निर्भर इसके चलानेवालों के जीवनों की अवस्था पर है।

[सद्धर्म प्रचारक, 6 जनवरी, 1909]

स्त्री-सुधार पर विचार

कन्याओं की ठीक शिक्षा के प्रबन्ध पर ही धार्मिका माताओं का तैयार होना तथा भावी सन्तानों के अन्दर शुद्ध भावों का उत्पन्न करना निर्भर है; तब कन्या शिक्षा की ओर भारत प्रजा का जितना ध्यान खिंचे उतना ही थोड़ा है। जब से बालकों के लिए गुरुकुल कांगड़ी में स्थापित हुआ है तब से ही दीर्घदर्शी मनुष्यों की यह सम्मति थी कि बालिकाओं के लिए भी उसी शिक्षा प्रणाली से सुशिक्षित करने का प्रबन्ध होना चाहिए। केवल इस पत्र में ही कन्या गुरुकुल के लिए आन्दोलन नहीं होता रहा प्रत्युत जिस समय गुरुकुल की पाठ विधि तथा उसके नियम पहले-पहल सम्वत् 1946 में निर्धारित तथा प्रकाशित किए गए थे उस समय भी बतलाया गया था कि आवश्यक धन राशि के एकत्र होने पर कन्याओं के लिए जुदा गुरुकुल खोला जाएगा। अब फर्रुखाबाद गुरुकुल के वार्षिकोत्सव के समाचारों से ज्ञात हुआ है कि "बाबू विश्वम्भरनाथ रईस आगरा ने अपना जीवन और कुल जायदाद अस्सी हज़ार 8000) रुपये की वक़्फ़ (दान) कर दी ताकि कन्या गुरुकुल जारी किया जावे" कन्या गुरुकुल खोलने का विचार बड़ा उच्च है और यदि आर्य प्रतिनिधि सभा युक्त प्रान्त के पास योग्य धर्मशीला स्त्रियाँ अधिष्ठातृ पद का काम करने के लिए विद्यमान हों तो कन्या गुरुकुल खोलकर उक्त सभा मनुष्य शिक्षा की दोनों आवश्यकताओं को पूरा कर सकेगी।

ऋषि दयानन्द ने स्त्री जाति के साथ क्या उपकार किया—इसका पता आज लगाना कठिन प्रतीत होता है। आज तो यह समझा जाता है कि स्त्री शिक्षा की लहर ही कहीं बाहर से उठी थी किन्तु पुराने पत्र बतलाते हैं कि ऋषि दयानन्द ने ही सबसे पहले स्त्रियों को सुशिक्षिता बनाने तथा उन्हें पुरुषों के समाधिकार दिलाने के लिए आवाज उठाई थी। जिस मेरठ में मुद्दत से स्त्री शिक्षा का काम हो रहा है, उसको आर्यसमाज में स्त्रियों के अधिकार देने की जो दशा थी वह एक पत्र से विदित होगी, जिसे मैं आज स्थान देता हूँ।

माई भगवती का नाम किस पुराने आर्य ने नहीं सुना ? माई भगवती ने स्त्री जाति के पुनरुद्धार में अपना अन्तिम जीवन लगा दिया था। अपने पति से जुदा होकर जब माई भगवती ने नवीन वेदान्ती साधुओं का आश्रय लिया था उस

समय कौन कह सकता था कि उनकी अवस्था की समाप्ति कहाँ पर होगी ! किन्तु धर्म की जिज्ञासा से प्यासी देवी भगवती को ऋषि के शान्तिदायक उपदेश सुनने का अवसर मिला। सारा जीवन ही पलट गया। देवी भगवती के दो पत्र मुझे मिले हैं जो उन्होंने ऋषि के चरणों में समर्पित किए थे। उन दोनों को यहाँ दर्ज करता हूँ। उनसे न केवल देवियों को ही माईजी का नम्रभाव मालूम करके लाभ पहुँचेगा, प्रत्युत पुरुष भी उनसे कुछ लाभ कर सकेंगे।

[सद्धर्म प्रचारक, 13 जनवरी, 1909]

आर्यसमाज की संस्था को दृढ़ करो

दूसरा विषय 'पंजाब के दयानन्द कालेज से संबंध रखनेवाले भाइयों के संस्था में मिलाने पर विचार' रूपी है। इस समय यह विचार निरर्थक है कि पंजाब में आर्यसमाज के दो दल क्यूँ हुए। जो लोग इस जुदाएगी का कारण केवल अधिकारों की भूख वा धन की प्यास बतलाते रहे हैं उनका मुँह चिरकाल से बन्द हो चुका है। आज इससे इनकार नहीं हो सकता कि भाई से भाई के बिछोड़े का कारण धार्मिक सिद्धान्तों का भेद ही था। यह सम्भवतया निश्चित है कि कुछ-कुछ मनुष्य दोनों दलों में ही अपनी-अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए काम कर रहे थे, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भ में धर्म के मूल में मतभेद की फूट का कारण हुआ। किन्तु इस समय वह व्यवस्था सर्वथा बदल चुकी है। सरलता से बातचीत करने पर कालेज पार्टी के एक प्रसिद्ध लीडर ने स्पष्ट कर दिया कि उनमें से केवल तीन वा चार प्रसिद्ध पुरुष ऐसे रह गए हैं जो माँस-भक्षण को पाप नहीं समझते और सारी पार्टी को उनकी खातिर मन्जूर है और केवल उन्हीं के हृदय को न दुखाने के विचार से यह घोषणा पत्र नहीं दिया जाता कि उनका विचार गुरुकुल पार्टी से इस विषय में मिलता है। मैंने हँसकर कहा था कि यदि मुझे उन भद्र पुरुषों के नाम बतलाए जाएँ तो मैं हाथ-पैर जोड़कर उनको मना लूँगा, किन्तु मुझे उन भद्र पुरुषों के नाम अब तक ज्ञात नहीं हुए नहीं तो मैं कुछ न कुछ प्रयत्न उन महाशयों के विचारों को बदलने के लिए करता ही। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या गुरुकुल पार्टी में ऐसे आदमी नहीं हैं जिनसे यदि स्पष्ट पूछा जाए और उन्हें उत्तर देने के लिए तंग कर दिया जाए तो उनको यह मानना पड़े कि वे भी माँस भक्षण करते हुए उस कर्म को वेद विरुद्ध वा पाप नहीं समझते। बाकी रहा 51 सिद्धान्तों के मानने वा न मानने का प्रश्न--सो जहाँ तक मुझे मालूम है इस समय कालेज वाले भाई भी 51 तो क्या 52 सिद्धान्तों तक मानने के लिए तैयार हैं। मनुष्य को आत्म परीक्षण से बड़ी उत्तम शिक्षा मिलती है। किन्तु फिर भी कुछ पुरुष झूठी लज्जा से डरकर अपने अन्तःकरण के परिवर्तनों को मानने के लिए तैयार नहीं होते। मुझमें अन्य दोष कितने ही भरे हों और कितनी ही अन्य कमजोरियों का मैं शिकार हूँ किन्तु जब कभी मेरी सम्मति बदलती है मैं उसको छिपाने का प्रयत्न नहीं करता प्रत्युत उसको प्रकाशित करने में कुछ (दूरदर्शियों की

दृष्टि में) 'देश काल पात्र' का भी कुछ विचार नहीं करता। अब भी मेरी यह प्रकृति बदली नहीं है। सिद्धान्त भेद पर बड़ा बल देनेवाला मैं था किन्तु कुछ काल से जहाँ ऋषि दयानन्द के बतलाए सिद्धान्तों पर मुझे स्वयम् अधिक निश्चय हो गया है वहाँ दूसरों को जबरदस्ती इन सिद्धान्तों का मनवाना मुझे धर्म के विरुद्ध प्रतीत होने लगा है। मेरे हृदय में प्रश्न उठता है—"क्या इस प्रकार हम अपने उपदेशकों तक को तो कहीं मक्कार नहीं बना रहे ?" जहाँ तजुरबे ने मुझे इस हद तक पहुँचाया वहाँ मुझसे विरुद्ध विचार रखने वाले कालेज पार्टीवालों ने आपापन्थियों से सताए जाकर वा किसी अन्य कारण से दूसरी हद की शरण ली अर्थात् जहाँ गुरुकुल पार्टी के बड़े-से-बड़े हुए चलते पुर्जों ने 51 सिद्धान्तों को मानना केवल आर्यसभासदों के लिए ही आवश्यक समझा है वहाँ कालेज पार्टी के दूरदर्शी लीडर साधारण आर्यों तक के लिए 51 सिद्धान्तों के मानने की शर्त आवश्यक बतलाने को तैयार हैं। मुझे इस बात के मानने में संकोच नहीं है कि आगरे के अधिवेशन में कालेज वाले भाइयों की प्रादेशिक सभा के प्रतिनिधियों को सार्वदेशिक सभा में न लिए जाने पर मैंने ही जोर दिया था। किन्तु उस के पश्चात् मेरी सम्मति बदल गई और यदि अब मुझे उक्त सभा में बैठने का अवसर मिलता (जो नहीं मिलेगा) तो मैं अपनी बदली हुई सम्मति का वहाँ प्रकाश करता। ऊपर के लेख से मेरे पाठकों ने यह परिणाम निकाला होगा कि मेरी सम्मति में कालेजवाले पंजाबी भाइयों की प्रादेशिक भाषा के मिलाने में अब कोई रुकावट बाकी नहीं रही। सिद्धान्त आदि के भेद के विचार से तो कोई रुकावट नहीं प्रतीत होती क्योंकि पंजाब के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों के आर्य भाई मतभेद के होते हुए भी इकट्ठे हो रहे हैं, किन्तु बड़ी भारी रुकावट आर्य प्रतिनिधि सभाओं के नियम डाल रहे हैं। पंजाब की रजिस्टर्ड आर्य प्रतिनिधि सभा के नियमों को यदि कुछ समय के लिए भुला भी दें तब भी जिन आरम्भिक नियमों पर पंजाब की रजिस्टर्ड सभा तथा हमारे कालेज वाले भाइयों की प्रादेशिक सभा की बुनियाद रखी गई है उनके पढ़ने से ज्ञात होगा कि जहाँ एक देश के लिए एक ही सार्वदेशिक सभा होनी चाहिए वहाँ एक प्रदेश के लिए भी एक ही प्रान्तिक आर्य प्रतिनिधि सभा होनी चाहिए। मैंने अभी अपने दो लेख ही निकाले थे कि लाहौर से एक रजिस्टर्ड पारसल पहुँचा जिसमें निम्नलिखित लघु पुस्तकें थीं : (1) राय मूलराज का सं. 1893 ई. वाला अंग्रेजी व्याख्यान 'आर्यसमाज' विषय पर, (2) राय मूलराज का लेख "Toleration in the Arya Samaj" शीर्षक से जिसके साथ मुम्बई के नियमोपनियमादि भी छपे हुए हैं, (3) प्रदेश सभा के नियम जो सं. 1886 ई. में मुम्बई समाज के मन्त्री श्री सेवकलाल कृष्णदास जी ने छपवाए थे। पारसल के ऊपर भेजनेवाले का नाम बिहारीलाल था। मैंने अनुमान किया कि पैकेट के भेजनेवाले पंडित बिहारीलाल शास्त्री हैं जो राय मूलराज के औषधालय के प्रवन्धकर्ता हैं और इसलिए इस परिणाम पर पहुँचना मेरे लिए कठिन न था कि ये अमूल्य ट्रैक्ट श्री राय मूलराज ने ही मेरे

नाम भिजवाए जिनके लिए मैं उनको अब धन्यवाद देता हूँ।

उक्त प्रदेश सभा का नियम धारा (2) इस प्रकार है : "एक प्रदेश में जितने आर्यसमाज हों उन सबकी एक प्रतिनिधि-सभा होगी जिसका नाम प्रदेश सभा होगा" तब पंजाब प्रदेश में भी केवल एक ही प्रान्तिक आर्य प्रतिनिधि सभा होनी चाहिए, और उसी सम्मिलित सभा के प्रतिनिधि सार्वदेशिक सभा में आने चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि या तो जिस-जिस नगर में दो-दो आर्यसमाज हैं वे इकट्ठे हो जावें और फिर से प्रतिनिधियों का चुनाव कर लें वा इस प्रकार की दोनों समाजों के जुदे-जुदे प्रतिनिधि एक ही प्रान्तिक सभा में भेज दिए जाएँ और समाजों को शनैः-शनैः इकट्ठा किया जाए। मेरी सम्मति तो यही है कि एकदम से प्रत्येक नगर वा ग्राम में एक-एक ही आर्यसमाज कर दी जाए और सारा चुनाव फिर से होकर नई सभा बने जो या तो वर्तमान रजिस्टर्ड प्रतिनिधि सभा बने जो या तो वर्तमान रजिस्टर्ड प्रतिनिधि सभा ही समझी जावे वा इस रजिस्टरी को तोड़कर नई सभा की फिर से रजिस्टरी करा ली जाए। इसका परिणाम यह होगा कि कालिजपार्टी के भाइयों को गुरुकुलादि के सर्व प्रबन्धों में हिस्सा लेने का मौका मिलेगा।

तीसरा विषय मैंने यह रखा है कि गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को सार्वदेशिक सभा के अधीन करने पर विचार किया जाए। मेरी सम्मति पहले से ही रही है कि गुरुकुल सार्वदेशिक सभा के अधीन होना चाहिए। सार्वदेशिक सभा के नियम मैंने उस समय बनाए थे जब कि मैं गुरुकुल के आरम्भिक व्यय के लिए 30 सहस्र इकट्ठा करता भ्रमण कर रहा था। इस समय भी मैंने गुरुकुल को उक्त सभा के अधीन रखने का ही प्रस्ताव किया था। अब फिर मेरा यही विचार है। गुरुकुल का काम ऐसा महान है कि उसको पूर्णरीत्या चलाना एक प्रान्त तो क्या सारे भारतवर्ष के आर्यसमाजों के लिए भी कठिन है जब तक कि आर्य सन्तान मात्र उनकी सहायता न करें। इसलिए गुरुकुल का सारा प्रबन्ध सार्वदेशिक सभा के अधीन हो जावे जिसका कर्तव्य गुरुकुल की विश्वविद्यालय अर्थात् University and Research Institute की हद तक पहुँचाना हो। गुरुकुल की पाठविधि ऐसी बनाई जावे कि प्रथम आठ वर्षों की पढ़ाई तक विविध प्रान्तों में शाखाएँ खुल सकें जिनका प्रबन्ध प्रान्तिक सभाओं के आधीन रहे यदि कोई अन्य पुरुष भी शाखा खोलें तो गुरुकुल के नियमानुसार चलने पर उनका भी सम्बन्ध (affiliation) गुरुकुल विश्वविद्यालय के साथ कर लिया जावे। गुरुकुल विश्वविद्यालय का सारा धन सर्व प्रतिनिधियाँ सार्वदेशिक सभा के सुपुर्द कर दें जिसकी जनरल सभा में बजटादि पेश हुआ करें, किन्तु प्रबन्ध के लिए एक विशेष सभा बने जिसमें न गुरुकुल के स्नातकों (Graduates) तथा अध्यापकों के ही प्रतिनिधि लिए जाएँ प्रत्युत संरक्षकों के भी एक वा दो प्रतिनिधि स्वीकार किए जाएँ। उपदेशक विद्यालय का उक्त सभा के अधीन खुलना पहले ही स्वीकार हो चुका है। इस प्रकार भविष्य मे आर्य विद्वान

बनाने का सारा काम एक ही केन्द्र में होता रहेगा।

जब गुरुकुल सार्वदेशिक सभा के आधीन हो जाए तो उसका कार्यालय भी हरद्वार के पास गुरुकुल के मायापुर वाली वाटिका में जम सकती है और उसके गौरव के अनुकूल ही सर्व कार्यवाही हो सकती है। इस पर एक प्रश्न उठेगा ? क्या प्रतिनिधि सभाएँ हाथ में आए हुए अधिकार को छोड़ने के लिए तैयार होंगी ? हमारे सामने जापान का दृष्टान्त विद्यमान है। जब सर्व छोटे सरदारों ने अपनी सारी रियासतें और ऐश्वर्य केवल देश हित के विचार से मिकाडो के हवाले कर दिया तो क्या धर्म के लिए थोड़ा धन और अधिकार छोड़ना आर्यसमाज के सभासदों के लिए कठिन होना चाहिए ?

दूसरा प्रश्न और है। ऐसी अवस्था में D.A.V. College और कन्या महाविद्यालय को भी क्या इसी सभा के अधीन लाना होगा। मेरी सम्मति में इन दोनों संस्थाओं को इस प्रकार छोड़ने से फिर काम अधूरा रह जाएगा। इनके साथ आर्यसमाज की संस्था का जो सम्बन्ध रह सकता है वह यह है कि दोनों इन्स्टीट्यूशनों की प्रबन्धकर्तृ सभाएँ अपने में सार्वदेशिक सभा के दो-दो प्रतिनिधि ले लिया करें और सार्वदेशिक सभा की ओर से कुछ अन्य नियम बन जाएँ जिनके पालन करते जावें। पर इन दोनों वा अन्य इन्स्टीट्यूशनों को समाजों के वार्षिकोत्सवों के अतिरिक्त अन्य समयों पर, अपने कोश के लिए अपील करने का अधिकार दिया जाए।

चौथे विषय पर अपनी सम्मति ऊपर दे चुका हूँ। इन सर्व विषयों के विचार के पश्चात् सार्वदेशिक सभा आर्यसमाज की संस्था को स्थिर करने के लिए आर्यसमाज के प्रतिनिधियों की एक कान्फरेन्स बुलावे, जिसके अधिवेशन बराबर दस-बारह दिनों तक होकर संस्था के नियमों को दृढ़ किया जाए। उन कान्फ्रेन्स में सम्मिलित होनेवालों की योग्यता तो केवल इतनी ही काफी है कि कि वे किसी न किसी आर्यसमाज के आर्यसभासद् अवश्य हों, किन्तु उनके लिए साधारण आर्यों की भी सम्मतिएँ ली जाएँ प्रत्येक समाज में बीस-बीस आर्यो का समूह बना दिए जाएँ। प्रत्येक बीस के समूह को एक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार हो। चुनाव के लिए तीन मास का अवकाश दिया जावे। उस समय तक जितने विशेष प्रतिनिधियों की सूची हो जावे उन सबको फिर तीन मास का अवकाश देकर एकत्र किया जाए। उन कान्फ्रेन्स में सम्मिलित होनेवाले यह तो एक प्रकार के प्रतिनिधि होंगे। दूसरे संन्यासी वा ऐसे विद्वान् ब्राह्मण हैं जिनका किसी समाज के रजिस्टर पर साधारण आर्यों में भी नाम नहीं। उनमें से ऐसों को सम्मिलित किया जावे जिनके लिए दस ऐसे आर्यसमाजों की अन्तरंग सभाओं की सम्मतियाँ आ जावें जिनका सम्बन्ध किसी प्रान्तिक सभा के साथ हो। जब इस प्रकार की अपूर्व वृहत् सभा एकत्र हो तो पहले उसके प्रधान और मन्त्री का निर्वाचन हो जिसके पश्चात् कार्यवाही का आरम्भ हो।

[सद्धर्म प्रचारक, 30 जून, 1909]

लीडर शब्द पर तो विचार करो

क्या यह शब्द वा इस का भाव आर्यसमाज ने अपने प्राचीन शास्त्रों से लिया है ? निस्सन्देह यह शब्द अंग्रेजी का है और हम सबने यह भाव भी अंग्रेजों से ही लिया है। इंग्लैंड के राज प्रबन्ध में दो राजनीतिक दलों (Political parties) का दख़ल है—दोनों के जुदे-जुदे लीडर होते हैं, जिन्हें उनकी अपनी-अपनी पोलिटिकल पार्टी चुनती है। जब लीडर के विचार के साथ किसी प्रधान नियम में उसके अनुयाइयों का भेद हो जाए तो लीडर अपने पद से जुदा हो जाता है, जैसे लिबरल पार्टी की लीडरी से लॉर्ड रोजबरी जुदे हो गए थे। यह परस्पर विरुद्ध दो दलों के द्वारा राजशासन की प्रथा जिन-जिन अन्य देशों में भी प्रचलित थी, वा कर ली गई, वहाँ भी ऐसी ही लीडरी की संस्था चली हुई है। जिस दल का बहु पक्ष होता है उसी को राजशासन सौंपा जाता है और उनका लीडर ही अपने अनुयाइयों में सर्व अधिकारों को बाँट देता है। क्या ऐसी अवस्था आर्यसमाज की है ? प्रत्यक्ष दीखता है कि नहीं। तब लीडर की कोई आवश्यकता ही नहीं। वैसे तो आर्यसमाज का लीडर परमात्मा ही है किन्तु प्रत्येक आर्यसमाज का सामयिक लीडर उसके प्रधान को कह सकते हैं, और इसी प्रकार एक प्रान्त की आर्यसमाजों का लीडर उस प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान को मानना चाहिए। प्रधान को पूरे अधिकार इस समय भी प्राप्त हैं जिनके द्वारा वह अकस्मात् भीड़ पड़ने पर समाज की रक्षा कर सकता है। हाँ, यह आवश्यक है कि प्रधान ऐसे सज्जन को बनाया जावे जो आर्य पुरुषों का विश्वासपात्र हो जब ऐसा किया जाएगा तो लीडर से अनुयाइयों को हानि न पहुँचेगी और न अनुयाइयों में लीडर को। मैंने वर्तमान समय के अव्यवस्थित लीडरों का नाम **नवाब बे मुल्क** रखा हुआ है। न तो समय पड़े पर वे सर्वसाधारण से कोई काम कराने की शक्ति रखते हैं और यदि उनसे स्वयम् कोई काम बिगड़ जाए तो वह किसी के पास उत्तरदाता भी नहीं। इसीलिए इस समय लीडरी की मट्टी पलीत हो रही है। सबको आत्मरक्षा का अधिकार समझा जाता है, लीडर को आत्मा से शून्य बनाना पड़ता है। आज वह लीडरी का काम कर सकता है जिसके या तो आत्मा का चिन्ह भी शेष न रहा हो, ज़िसके अन्दर भय, शंका, लज्जा की उत्पत्ति ही बन्द हो चुकी हो; या वह जो मानवी सर्व

निर्बलताओं का स्वामी होकर अपने अन्दर निर्बल दया तथा करुणा का बीज नाश कर चुका हो। इनमें से पहला तो कामयाब लीडर सिद्ध होगा, दूसरा केवल अपने आत्मा की तुष्टि को ही प्राप्त कर सकेगा। आजकल आर्यसमाज के **लीडर की स्थिति पादकन्दु (football) से बढ़कर नहीं।**

पादकन्दु एक ओर लुढ़कता जाता है; एकदम ज़ोर से लात लगती है—"हमें जिता।" लुढ़कता हुआ दूसरी ओर जाता है; बूट का ढेडा लगता है—"कमबख़्त हमें जिता।" जिधर जाए उधर ही लात पड़ती है। कोई नहीं कहता "दोनों को खिला" प्रत्येक कहता है "हमारे दल को जिता।" मनुष्य सब निर्बल हैं। सबसे ही भूल चूक होती है। किसी से कम किसी से अधिक। अब एक पक्ष को सर्वथा कैसे जिताया जा सके।

कई भाई इस पर भी कुछ आशंका करेंगे। वे कहेंगे—"आप तो आनन्द से लीडरी का लहरा लेते रहे, अब हमारे लिए रास्ता ही बन्द कर दिया। चुपचाप क्यों न चल दिए, जिससे कुछ दिन हम भी लीडरी के झूले के ठंडे झोंके ले सकें।" ऐसी आशंका करने वालों की भूल है कि यदि वे समझते हैं कि किसी के रंग में मैं भंग डालता हूँ। यदि कोई नवाब बे मुल्क बनने की इच्छा रखता है तो मैदान में आवे, मैं सबसे पहले उसकी लीडरी को स्वीकार करूँगा। आखिर मैं भी तो निर्बल मनुष्य हूँ। सम्भव है किसी दूसरे से बिगड़ जाए। तब मुझे भी तो अपनी तसल्ली के लिए पादकन्दु की आवश्यकता होगी। और लीडर तो—हे आर्य पुरुषो ! तुम्हारे लिए बना-बनाया मौजूद है।

[सद्धर्म प्रचारक, 11 अगस्त, 1909]

पटियाला का अभियोग

गत 17 फरवरी की दोपहर दिन के समय श्रीमान पटियाला नरेश पोलिटिकल एजेन्ट साहब के साथ अपने न्यायालय में बैठे। मिस्टर वार्बटन बुलाए गए, जिनके साथ प्रायः आधे घंटे तक बातचीत हुई। तदनन्तर वार्बर्टन साहब चले गए। पुनः प्रायः पन्द्रह मिनट के पश्चात पोलिटिकल एजेन्ट साहब भी न्यायालय से चले गए। और तदनन्तर अभियुक्तों की बुलाहट हुई। अभियुक्त जब न्यायालय के अहाते में पहुँच गए तब श्रीमान पटियाला नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी पोलिटिकल एजेन्ट साहब के समीप गए और एक पत्र तथा पत्रों की एक फाइल उनके यहाँ से शीघ्र ही वापिस लाए। तब अभियुक्त न्यायालय के भीतर बुलाए गए। जब देर तक श्रीमान पटियाला नरेश तथा अभियुक्तों के बीच बातचीत हो चुकी जो सम्भव है कि किसी अन्य समय विस्तारपूर्वक छपे तो निश्चित हुआ कि अभियुक्तगण जो क्षमापत्र दे चुके हैं उसके संशोधन के विषय में विचार करेंगे तथा उस संशोधन के शब्द क्या-क्या होंगे इसका निर्णय श्रीमान पटियाला नरेश अपने प्राइवेट सेक्रेटरी द्वारा करेंगे। दूसरे दिन ग्यारह बजे तक के लिए न्यायालय की कार्यवाही बन्द की गई। अभियुक्तों को समझा-बुझाकर उनके काउंसिल (वकील) ने राजी किया कि वे अपने पहले क्षमापत्र के निम्नलिखित शब्दों को बदल दें :

"तथापि अज्ञानतावश यदि हम लोगों में से किसी ने कोई निर्बुद्धिता का काम किया है तो उसके लिए हम लोग घोर पश्चाताप करते हैं तथा अज्ञानतावश यदि हम लोगों में से किसी ने कोई निर्बुद्धिता का काम किया है तो उसके लिए हम लोग क्षमापार्थी हैं।"

अठारह फरवरी को प्रातःकाल 9 नौ बजे राय ज्वालाप्रसाद अभियुक्त तथा अभियुक्तों के वकील म. मुंशीराम उक्त संशोधन को लेकर श्रीमान् पटियाला नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी मिस्टर मिस्त्री के पास पहुँचे। मिस्टर मिस्त्री ने उक्त संशोधन को पसन्द किया और संशोधित मसविदे को श्रीमान् पटियाला नरेश की सेवा में यह स्पष्ट प्रतिज्ञा कर ले गए कि यदि श्रीमान् पटियाला नरेश सब प्रकार पूरी क्षमा प्रदान करने को तैयार न होंगे तो उक्त मसविदा अभियुक्तों को लौटा दिया जाएगा। मिस्टर मिस्त्री प्रायः पन्द्रह मिनटों में वापिस आए और कहा कि श्रीमान महाराज

उक्त मसविदे को स्वीकार करने को तैयार हैं परन्तु वह चाहते हैं कि इस विषय में पोलिटिकल एजेन्ट साहब की सम्मति ले लें और क्योंकि वह पोलिटिकल एजेन्ट साहब के साथ शिकार खेलने के लिए शीघ्र ही जावेंगे अतः इस विषय में भी वहीं सम्मति ले लेंगे। अभियुक्तों के वकील तथा राय ज्वालाप्रसाद पुनः सन्ध्या समय मिस्टर मिस्त्री से मिलने गए जब कि मिस्टर मिस्त्री ने दोनों को बधाई दी और कहा कि श्रीमान महाराज ने क्षमा प्रार्थना को स्वीकार कर लिया, अब समझना चाहिए कि अभियोग की समाप्ति हो गई। पुनः मिस्टर मिस्त्री ने कहा कि अब अभियुक्तों के हस्ताक्षर युक्त क्षमापत्र की आवश्यकता है। यह सुनकर राय ज्वालाप्रसाद शीघ्र ही वहाँ से चले और अभियुक्तों से हस्ताक्षर करा प्रार्थनापत्र मिस्टर मिस्त्री के पास ले आए। मिस्टर मिस्त्री ने प्रार्थनापत्र ले लिया और कहा कि वह श्रीमान् महाराज से निवेदन करेंगे कि समाज मन्दिर भी वापिस मिल जाए।

उन्नीस फरवरी को जब पटियाला नरेश के न्यायालय में पधारने का कोई लक्षण दीख न पड़ा और जबकि यह जनरल सुनाई देने लगा कि महाराज कठिन ज्वर से पीड़ित हो रहे हैं तब सन्ध्या समय प्रायः पाँच बजे अभियुक्तों के वकील तथा राय ज्वालाप्रसाद मिस्टर मिस्त्री के पास पहुँचे जब कि मिस्टर मिस्त्री ने बड़े शोक से सुनाया कि यद्यपि मैंने बड़ी विनती की तथापि बड़ी ही अशुभ आज्ञा (अर्थात् कि अभियुक्त एक सप्ताह के भीतर राज से निकल जाए) दी गई है और उक्त आज्ञा विशेष न्यायालय (तीनों जज महाशयों की सभा) के पास इसलिए भेज दी गई है कि वह उसे शीघ्र ही सुना दें।

मिस्टर मिस्त्री के यहाँ से अभियुक्तों के वकील महात्मा (मुंशीराम जी) तथा राय ज्वालाप्रसाद ने लौटकर देखा कि विशेष न्यायकर्तृ सभा (Special Tribunal) बैठी हुई है और अभियुक्तों की पुकार हो रही है। जब सब अभियुक्त उपस्थित हो गए तो न्यायकर्तृ सभा के प्रधान सरदार भगवानसिंह ने निम्नलिखित आज्ञा पढ़ सुनाई :

"I have considered carefully the petition and prayer of the accused in this case and also the police evidence. It was never meant to infer that every member of the Arya Samaj in India or that society was seditious. The offence alleged against them is a very grave one and though it is necessary that serious notice should be taken of the conduct of persons guilty of such offences, I think the action I am taking will meet the case and will also I hope act as a deterrent to others. The accused have in their petition assured me that they had no intention of entertaining any feeling except those of deep loyalty towards the Patiala Raj and the Paramount Power, and further that if they have nuwitingly committed any indiscration they tender an unqualified apology. They also promise that in future they

will taken special care to do nothing which may be misconstrued as being calculated to stir up feeling of ill-will towards the Patiala Raj or His Majesty the king Emperor. I am willing to accept this apology on the assurance given and to order that the trial of the accused to stopped and proceedings against them withdrawn, but I am not willing that any person against whom their has been even a breath of suspicious of disloyalty to Patiala Raj or British Government should remain in my employ on in my State. and I therefore order that all the accused who are in my employ shall be at once dismissed from the posts or appointments which they hold and shall leave my State within one week and never enter it again without my special permission. This order, together with the petition of apology in original be forwarded to the special tribunal for compliance and a copy there of to the Inspector General of State Police for information."

अनुवाद

''उस अभियोग में मैंने अभियुक्तों के निवेदन पत्र तथा उनकी प्रार्थना तथा पुलिस की साक्षी पर बड़ी सावधानी के साथ विचार किया है। यह अभिप्राय कभी नहीं था कि भारतवर्षीय आर्यसमाज का प्रत्येक सभासद् वा वह समाज राजविद्रोही है। जो अपराध उनके अभियुक्तों के विरुद्ध लगाया गया है वह बहुत बड़ा है और यद्यपि यह आवश्यक है कि ऐसे अपराधों के करने वालों के चाल चलन के विरुद्ध कठिन विचार किया जाए तथापि मैं समझता हूँ कि जो कार्यवाही मैं करता हूँ वह पर्याप्त होगी और मैं आशा करता हूँ कि यह कार्यवाही औरों को अपराध करने से रोकने में भी काम देगी। अभियुक्तों ने अपने प्रार्थना पत्र द्वारा मुझे विश्वास दिलाया है कि वे पटियाला राज्य तथा अंग्रेजी साम्राज्य के लिए पूर्ण राजभक्ति के भावों के अतिरिक्त कोई भी अन्य भाव धारण नहीं करते तथा वे यह भी कहते हैं कि यदि अज्ञानतावश उन्होंने कोई निर्बुद्धिता का काम किया है तो वे क्षमा के प्रार्थी हैं। ये यह भी प्रतिज्ञा करते हैं कि भविष्य में ये विशेष सावधानता धारण करेंगे और कोई भी ऐसा कार्य न करेंगे जिसका किसी प्रकार तोड़-मरोड़कर भी ऐसा भाव निकाला जा सके कि इस कार्य से पटियाला राज्य वा श्रीमान् राज राजेश्वर (सम्राट एडवर्ड सप्तम) के विरुद्ध अमंगल कामना भड़काई जाती है। उक्त विश्वास दिलाने पर मैं क्षमा प्रार्थना को स्वीकार करता हूँ और आज्ञा देता हूँ कि अभियुक्तों के विरुद्ध जो अभियोग चल रहा है वह न चले और जो कार्यवाही उनके विरुद्ध हो रही है वह बन्द की जावे। परन्तु मैं ऐसा नहीं चाहता कि कोई पुरुष जिसके विरुद्ध पटियाला राज्य वा ब्रिटिश गवर्नमेंट की अराजभक्ति के सन्देह का गन्ध

हो वह मेरी सेवा करे वा मेरे राज्य में रहे। अतः मैं आज्ञा देता हूँ कि वह सब अभियुक्त जो मेरी सेवा में रहे हैं एकदम अपने-अपने पदों से पदच्युत किए जाएँ और एक सप्ताह के भीतर-भीतर मेरे राज्य से निकल जाएँ और मेरी विशेष स्वीकृति प्राप्त किए विना कभी भी पुनः इस राज्य में प्रवेश न करें। यह आज्ञा अमल क्षमापत्र के साथ विशेष न्यायकर्तृ सभा (Special Tribunal) के पास भेजी जावे कि वे एतदनुसार कार्य करें और उनकी कापी स्टेट पुलिस के इन्स्पेक्टर जनरल के पास उनकी सूचना के लिए भेजी जावे।''

उक्त आज्ञा सुनाई जाने के पश्चात् अभियुक्तों के वकील (श्री महात्मा मुंशी राम जी) उठे और न्यायकर्तृ सभा को सम्बोधित करते हुए इस प्रकार बोले :

''विशेष न्यायकर्तृ के सभ्यगण ! यह यथातथ्य होता कि इस आज्ञा को श्रीमान् पटियाला नरेश स्वयं सुनाते, मुझे शोक है कि हिज हाइनेस ने (श्रीमान् पटियाला नरेश) ऐसा करना योग्य न समझा'' अभियुक्तों के वकील केवल इतना ही कह सके थे जब कि कोर्ट ने उन्हें आगे बोलने देने से रोकना चाहा। तब वकील महाशय ने निवेदन किया कि वह अपराधी जो फाँसी पर शीघ्र ही लटकाए जाने को होता है उसे भी अपनी अन्तिम बातें कथन करने की आज्ञा मिल जाती है, मैं अपना प्रतिवाद केवल इस कारण सुनाना चाहता हूँ कि अभियोग निर्णय विषयक बातचीत मेरे द्वारा हुई और मैंने ही अभियुक्तों को प्रार्थनापत्र के संशोधन के लिए समझा-बुझाकर तैयार किया। अतः अभियुक्तों के वकील महाशय को कोर्ट की आज्ञा शिरोधार्य कर बैठना पड़ा। वकील महाशय ने कोर्ट से फिर पूछा कि समाज मन्दिर और अभियुक्तों के पत्रादि वापिस मिलने के विषय में कोई आज्ञा दी जाएगी वा नहीं ? इसके उत्तर में न्यायकर्ताओं (जजों) ने कहा कि हिज हाइनेस (श्रीमान् पटियाला नरेश) की आज्ञा सुना देने के पश्चात् यह न्यायकर्तृ सभा टूट गई अतः यह और कुछ सुन नहीं सकती।

तब श्रीमान् पटियाला नरेश की आज्ञा की कापी प्राप्त करने के लिए दो प्रार्थनापत्र एक राव ज्वालाप्रसाद की ओर से और दूसरा अन्यान्य अभियुक्तों की ओर से प्रस्तुत किए गए। क्योंकि रात अधिक हो गई थी अतः केवल एक कापी, जिस पर सरदार भगवानसिंह का हस्ताक्षर था, प्राप्त हो सकी और दूसरी कापी के लिए आज्ञा मिली कि वह इक्कीस फरवरी को दी जाएगी।

अभियुक्तों ने उपरोक्त सब आज्ञाओं को बड़ी शान्ति के साथ श्रवण किया। इनमें से कई प्राचीन राज कर्मचारियों के वंश हैं जिनकी सहस्रों की सम्पत्ति पटियाला राज्य में विद्यमान है तथा अभियुक्तों में से कतिपय ऐसे हैं जिनके पीछे उनकी सम्पत्ति का प्रबन्ध करनेवाला कोई भी नहीं है।

(सद्धर्म प्रचारक, 23 फरवरी, 1910)

पटियाले के अभियोग की समाप्ति पर भारतीय पत्रों की सम्मतियाँ

1. हमने प्रायः लिखा है कि ब्रिटिश राज्य अपराध लगे बाद अभियुक्त (alleged) अपराधियों के साथ वह कार्यवाही करने को तैयार नहीं हो सकता जो एक स्वदेशी (native) शासक कर सकता है। उपरोक्त कथन का उदाहरण पटियाला अभियोग का फैसला है। आर्यसमाज के सभासदों की एक संख्या पर उनके रियासत (पटियाला) और ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध प्रचार के अपराध लगाए गए जिनके लिए उन्हें अपनी सफाई का अवसर दिया गया। अभियुक्तों में से बहुत-से तो पटियाला राज्य के सेवकों में से थे। अभियोग चलाने के समय चिन्ह अशुभ ही दिखाई देते थे और अभियोग के परिणाम भी भयानक बताए जाते थे। ऐसी अवस्था में सारे अभियुक्तों ने मिलकर उस अपराध के लिए जो अनजाने उनसे हो गया हो क्षमापत्र दिया प्रतीत होता है। क्योंकि यह पहला अपराध था, दरबार ने काफी न्याय किया है और महाराज ने अभियोग बन्द कर दिया और अभियुक्तों को यह शर्त लगाकर कि एक सप्ताह में राज्य से बाहर हो जाएँ स्वतन्त्र कर दिया।

हम अंग्रेजी राज्य के रहनेवालों को जो नियम और विधि आदि के गोरखधन्धे में फँसे रहते हैं यह कार्यवाही आश्चर्ययुक्त शीघ्रता से की गई मालूम हो सकती है। परन्तु यह सब कुछ हुआ है और उभय पक्षों में से किसी ने भी शिकायत करने का चिन्ह भी प्रकट नहीं किया है न अभियोग चलाने वालों के वकील ने और न पुलिस ने जिसने यह सारा अभियोग (case) उठाया था। मुजरिमों के उन परिवारों पर जिनके संरक्षक इस अभियोग में फँसे हुए थे दया प्रकट करने के पश्चात् उन वकीलों की हालत काबिल-ए-रहम है जिनको इस अभियोग से भारी धन कमाने की आशाएँ थीं। वकील महाशयों के लिए तो ब्रिटिश न्यायालय अपने जौहर दिखाने को खुले हुए हैं। अभियुक्तों के परिवारों को निःसन्देह पटियाला दरबार का धन्यवाद करना चाहिए कि दरबार ने उनके संरक्षकों को समय पर ही छोड़ दिया। सम्भव था कि वे अपने संरक्षकों के वर्षों तक भी दर्शन न कर सके।

(The Indian Spector.)

2. यह विदित है कि पटियाला दरबार ने सब मुजरिमों के विरुद्ध जो राज्यविद्रोह का अभियोग था उसको वापिस ले लिया है। और फैसला ऐसा हुआ जिस पर सब ही विचारशील पुरुष दरबार और विशेष महाराज को धन्यवाद देंगे। इसके साथ ही इन अभियुक्तों की सात दिनों के भीतर पटियाला राज्य से बाहर हो जाने की आज्ञा पर आश्चर्य और निराशता प्रकट कर सकते हैं। इसी आज्ञा के सम्बन्ध में स्पष्ट ही दो बातें माननी पड़ती हैं। प्रथम तो यह कि मुजरिम वस्तुतः अपराधी थे। दूसरे यह कि क्या केवल शंका मात्र पर ही देश निकाला दे देना उचित था। दूसरी बात ध्यानपूर्वक समालोचना के सन्मुख एक क्षण भी नहीं ठहर सकती। और पहली बात के सम्बन्ध में यह समझ लेना युक्तियुक्त ही है कि दरबार अभियोग की कार्यवाही को बन्द न करता यदि अभियोग के सम्बन्ध में उसकी सम्मति वही रहती जिसके साथ अभियोग चलाया गया था। प्रत्येक अवस्था में अधूरी तजवीजों को काम में लाना सन्देह युक्त राजनीति है। नरमी और सख़्ती दोनों का एक ही समय में अच्छा जोड़ नहीं बनता। महाराजा साहिब की सरकार ने मुकद्दमा वापिस लेकर जो वास्तविक प्रजा के दिल परचाने का कार्य किया है उसका प्रभाव कुछ कम ही हो जाता है जब कि इसके साथ वह आज्ञा जोड़ दी जाती है जिसने इतने पुरुषों को देश निकाला दिला दिया है जिनमें से कइयों ने जाति की उत्तम सेवा की है। हमें आशा है कि दरबार अवसर को देखेगा और उपरोक्त आज्ञा को सन्मुख कर देगा।

(The Bengali in the Arya Samaj)

पटियाला के मुकद्दमे में सर्वसाधारण की आशा पूर्ण भी हुई और अपूर्ण भी रही। पूरी तो यों कि अभियोग वापिस लिया गया और अभियुक्तों को छोड़कर दिया गया। और अपूर्ण इसलिए कि बहुत से मुजरिमों को नौकरी से पृथक् करके और राज्य की सीमा से एक सप्ताह में निकल जाने की आज्ञा देकर एक टेढ़े तरीके से दंड दिया गया है। हमें भय है कि यह आज्ञा बहुत-से बहिष्कृत पुरुषों के लिए जिनका कोई ठिकाना नहीं है एक बड़ी भयानक कठिनाई सिद्ध होगी। ऐसा मालूम होता है कि दरबार रियासत को तमाम ऐसे मनुष्यों में जिन पर विद्रोह के मिलान का सन्देह हो, माफ करना चाहता है यद्यपि उनका कोई अपराध सिद्ध नहीं किया गया है। हम यह कहने पर मजबूर होते हैं कि नौजवान महाराजा ने अपने राज्य के निवासियों को उन अपराधों के लिए जिनके वे अपराधी नहीं थे देश निकाला देकर अपनी अभियोग सम्बन्धी आज्ञा के दयाभाव को नष्ट कर दिया है।

(The Advocate)

यदि देश निकाला ही उद्देश्य था तो यह तो बिना इतने बेगुनाह आदमियों

के पकड़ने और इतनी मुद्दत तक बिना अपराध लगाए उनको कारागार में रखने के भी महाराजा की आज्ञा से किया जा सकता था। अब तो यह बात बहुत ही स्पष्ट है कि महाराजा के नवयुवक होने का लाभ उठाया गया है मिस्टर ग्रे (Mr. Grey) ने तो समझा कि बस मानिकतल्ला की साजिश जैसा ही बड़ा शिकार उसको मिल गया है और उसने चाहा कि न्यायालय (Special Court) इस अभियोग में किसी कानूनादि की परवाह न करे। मिस्टर वारबर्टन (Mr. Warbarton) तो किसी भी न्यायालय से बढ़कर बलवान मालूम होते थे। अब सारे मामले के साफ हो जाने पर मालूम होता है कि उन मनुष्यों के विरुद्ध जो वर्तमान राज्य शासन में परिवर्तन (Revolution) लानेवाले समझे गए थे सिवाय शंका मात्र के और कुछ भी न था—क्या अब महाराजा साहिब मिस्टर वारबर्टन को पूर्णतया राज्यभक्ति द्वारा प्राप्त हुए (Well earned) सुप्राप्त विश्राम पर भेजेंगे।

(The Bengali)

पटियाला

25 फरवरी को राय ज्वालाप्रसाद जी ऐग्जीक्यूटिव इंजीनियर ने पटियाला रियासत को ख़ैराबाद कहा। नगर छोड़ने से पूर्व राय साहब महाराजा साहिब को मिलने के लिए गए और आधा घंटा तक बातचीत करते रहे। सारे के सारे मुजरिमों ने पटियाला छोड़ दिया है। मुकद्दमे के मध्य जिन महाशयों को छोड़ दिया गया था वह अपने दुखी भ्राताओं की खातिर पटियाला राज्य की नौकरी छोड़ रहे हैं क्योंकि वह ख्याल करते हैं कि जब निरपराधियों को इस प्रकार निकाला जा सका है तो वह भी अमन से नहीं रह सकते सम्भव हो सकता है कि उनके विरुद्ध भी किसी दिन कोई मनघड़ंत अपराध लगा दिया जावे।

[सद्धर्म प्रचारक, 2 मार्च, 1910]

आगामी मनुष्यगणना और आर्यसमाज का कर्तव्य

आगामी मनुष्यगणना के सम्बन्ध में चारों ओर भयानक कोलाहल मचा हुआ है। मुसलमानों ने प्रयत्न किया कि आर्य जाति का गढ़ तोड़ डालें। उनका जादू चल गया। मनुष्यगणना के अध्यक्ष 'गेट' साहब हैं; उन्होंने आज्ञा दे दी कि जैन और सिक्ख हिन्दू कहने पर भी हिन्दू न लिख जाएँ। यदि ऐसा ही पौराणिकों के विषय में कहा जाता तो मैं भी सहमत हो जाता, क्योंकि ये सभी आर्य सन्तान हैं। किन्तु वहाँ काम तलब तो आर्य सन्तान का बल घटाने से था। फिर, जिन्हें अछूत जातियाँ कहा जाता है; उन्हें हिन्दुओं से अलग गिनने का विचार प्रकट हुआ, जो अब फिर विचारसाध्य कहा जाता है। किन्तु इन सर्व विषयों में तो गेट साहब मान गए कि उनका मतलब हिन्दुओं की संख्या घटाने से न था, चलो छुट्टी हुई। लार्ड हार्डिंग के समय में मुसलमानों का उपद्रव आगे बढ़ता प्रतीत नहीं होता। यहाँ इस सारी बहस का ही ख़ात्मा हो गया। किन्तु पैसा अखबार के 'अइय्यद हकीम' अब तक औंघते हुए यही हाँक लगाए जाते हैं कि सनातनी हिन्दू, ब्राह्मसमाजी, देवसमाजी, मुसलमान और ईसाई सब सहमत हैं कि अछूत जातियों को हिन्दुओं में शामिल न किया जाए। तब सिद्ध हुआ कि गेट साहब को सीधे मार्ग पर लानेवाले एक आर्यसमाजी ही हैं, जिनका पैसा अखबार ने जिक्र नहीं किया। अस्तु ! यह झगड़ा तो समाप्त ही समझना चाहिए।

किन्तु इस सम्बन्ध में पंडित रैमल जी की सम्मति विचार के योग्य है जो आज के प्राप्त पत्र के रूप में कहीं और मुद्रित की गई है। पंडित रैमल जी का यह कथन सत्य है कि आर्यसन्तान मात्र को हिन्दू के स्थान में अपने आप को आर्य लिखाना चाहिए। यद्यपि राय बहादुर लाला लालचन्द्रादि आज हिन्दू-सभा पर मस्त हुए नाम की महिमा को भूल रहे हैं, तथापि कोई समय था जब आर्यपत्रिका के कालमों में इन्हीं रायसाहब के अनुयायी और शायद राय बहादुर स्वयं भी 'हिन्दू' शब्द से घृणा प्रकट किया करते थे। श्री शारदाचरण मित्रजी, जिनसे बढ़कर आर्यसन्तान का मित्र इस समय न देखने में आएगा, लाहौर मे कह गए हैं कि हिन्दू हमारा नाम नहीं। काशी के पंडित ऋषि दयानन्द के कार्यरम्भ करने से पहले व्यवस्था दे चुके हैं कि हम सब आर्य हैं, हिन्दू नहीं। पुराणों तक में कहीं हिन्दू

शब्द नहीं आया। वैदिक और पौराणिक हिन्दू कहलानेवालों को जाने दीजिए जैनियों और बौद्धों के ग्रन्थों में भी आर्य शब्द का ही प्रयोग मिलता है। तब क्यों न सर्व आर्यसन्तानमात्र अपने आपको आर्य लिखावें ? गणना करनेवालों का जब कर्तव्य है कि जो लिखाया जावे वही लिखें तो अवश्य एक दूषित शब्द से बचने का सब प्रयत्न कर सकते हैं। मेरे पास मरदुम शुमारी का कोई फार्म नहीं किन्तु यदि (race) जाति का कोई खाना नहीं तो गवर्नमेन्ट से प्रार्थना करके नया बनवाना चाहिए। तब (race) जाति के स्थान में सब आर्य लिखावें और मजहब के खाने में जैनी, बौद्ध, सिक्ख, सनातनधर्मी, आर्यसमाजी आदि का भेद लिखा जा सकता है। पंडित रैमल जी का लेख सहस्रों की संख्या में छपकर बँटेगा और आशा है कि उसका कुछ प्रभाव भी पड़ेगा। यह तो लम्बी बातें हैं। न जानें इसका कोई परिणाम निकले वा नहीं। किन्तु आर्यसामाजिकों के सामने तो स्पष्ट प्रश्न उपस्थित हो गया है। कई भाइयों की सम्मति है कि गवर्नमेन्ट से प्रार्थना की जाए कि आर्यों के लिए कोई विशेष ख़ाना खोलने की आज्ञा दें। हमारी प्रार्थनाएँ तो इस समय उलटा ही असर पैदा करती हैं, इसलिए प्रार्थनाओं को छोड़कर आत्मरक्षा के लिए सहन करने को उद्यत होना चाहिए। मनुष्यगणना वाले जो-जो प्रश्न करेंगे उनके उत्तर को मैंने देने का विचार किया है उनकी ओर अन्य आर्य पुरुषों की दृष्टि भी दिलाना चाहता हूँ। पहला प्रश्न होगा—"तुम्हारा मजहब क्या है ?" यद्यपि मजहब से हमें सरोकार नहीं किन्तु 'धर्म' के लिए इन बेचारों के पास शब्द नहीं इसलिए उत्तर होगा—"वैदिक आर्य।" फिर 'मजहब' या 'फिरका' पूछेंगे। मैं उत्तर दूँगा कि कोई नहीं, क्योंकि मेरी सम्मति में वैदिक धर्म का कोई विशेष फिरका हो ही नहीं सकता। तीसरा प्रश्न होगा—"तुम्हारी जात क्या है ?" मेरा उत्तर यह होगा कि 'जात-पाँत का वैदिक आर्य धर्म में पता भी नहीं लगता, इसलिए मेरी जात कोई नहीं। हम आर्य लोग गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था मानते हैं, जिसके लिए तुम्हारे यहाँ कोई खाना नहीं। यदि बहुत आग्रह करते हो तो मुझे गृहस्थ लिख लो और गुरुकुल के छात्रों को जात के खाने में ब्रह्मचारी लिखे लो।"

मेरी सम्मति में इससे अधिक पूछने का किसी शुमार कुनिन्दे को अधिकार नहीं। यदि यह उत्तर पाकर भी कोई शुमार कुनिन्दा पड़ोसियों से पूछकर एक आर्यसमाजिस्थ पुरुष की छोड़ी हुई जात लिख ले, वा उसका मजहब हिन्दू लिखकर फिरके के ख़ाने में उसे आर्य लिख ले, तो ज्ञात होने पर उसके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करनी चाहिए।

यदि कोई भाई मुझे लिखकर वा अन्य समाचारपत्रों द्वारा इससे उत्तम सम्मति देंगे तो निश्चय होने पर उसी का अनुसरण करूँगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 14 दिसम्बर, 1910]

आर्यसमाज में स्वाध्याय का अभाव

थोड़े समय से कुछ विचारशील विद्वानों ने अनुभव किया है कि, आर्यसमाज का साहित्य उतना उच्च नहीं है, जितना होना चाहिए। उनका कथन है कि आर्यसमाज में वेदों और प्राचीन शास्त्रों के सच्चे पांडित्य की बहुत कमी है; आर्यसमाजिकों के लेखों में छिछोरापन, व्यक्तिगत आक्षेप आदि दोष आ रहे हैं, उनमें विचारों और भावों की गहराई, तथा विस्तृत ज्ञान का प्रभाव बहुत कम देखने में आता है। कई लोगों का मत है कि आर्यसमाज की इस दशा के चित्र खींचने में बहुत अत्युक्ति से काम लिया जाता है; आर्यसमाज का यह पहलू इतना काला नहीं है, जितना उसे दिखलाने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस विषय पर लिखते हुए लेखन अत्युक्ति से काम लेते हैं और इसके उत्कृष्ट पहलू को सर्वथा भूल जाते हैं, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि उन विद्वानों का यह कथन भी सर्वथा निर्मूलक नहीं है। अपने अन्दर की ओर दृष्टि डालकर दोषों का देखना सदा कष्टदायी हुआ करता है, परन्तु दोषों के देखे बिना उनका सुधार होना भी असम्भव है। इसी प्रकार यदि बाहर के लोगों के आक्षेपों से डरकर समाज की त्रुटियों की ओर से पट्टी बाँधी जावेगी, तो वे दोष चिरस्थायी हो जावेंगे, और उनके बढ़ जाने पर उनका दूर करना कठिन हो जावेगा।

इस बात से किसी को इनकार नहीं हो सकता कि आजकल आर्यसमाज के लेखों में बहुतांश में गम्भीरता और पंडिताई की बहुत कमी दिखलाई देती है। छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े विषयों पर विवाद शुरू होते ही पत्रों के लेखों की टोन साधारणतया हलकी और व्यक्तिगत आक्षेपों से पूर्ण हो जाती है। वे किसी विषय की प्रमाणपूर्वक गम्भीरता, शान्ति और युक्ति से बहुत कम विवेचना करते हैं, और इसीलिए देखा जाता है कि जिन विषयों में इस प्रकार के विचार की आवश्यकता होती है उन पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। दृष्टान्त के लिए अभी हाल की एक घटना ले लीजिए। काशी में कुछ लोगों ने मिलकर भोजन किया जिसका नाम 'ब्रह्मभोज' (?) रखा गया। इसी को लक्ष्य में रखकर छूत-छात और लक्ष्याभक्ष्य पर विवाद आरम्भ हुआ। इस विषय पर युक्ति और प्रमाणों से सज्जित लेख बहुत कम निकले, किन्तु अनुचित भाषा, कटुवचन तथा व्यक्तिगत आक्षेपों

से भरे हुए, युक्ति और प्रमाण से शून्य, और भावों को उत्तेजित करनेवाले लेखों से पत्रों के पृष्ठों पर पृष्ठ काले कर दिए गए। यदि इन लेखों के लिखनेवाले ही दोषी होते तो थोड़ी संख्या समझकर उन पर ध्यान देने की आवश्यकता न होती, परन्तु शोक तो यह है कि सर्वसाधारण लोगों का अधिक भाग ऐसे लेखों को बड़ी रुचि से पढ़ता है और कई अंशों में उन्हें उत्साहित भी करता है।

इस रुचि के बिगड़ने का परिणाम क्या हुआ है ? वेद, शास्त्र और सिद्धान्त सम्बन्धी जितने गम्भीर विषय हैं, उन पर कोई ध्यान नहीं देता। जिन पुस्तकों में हँसी और छिछोरेपन से काम लिया गया हो, जिन पुस्तकों में युक्ति की जगह अनुचित आक्षेपों का प्रयोग किया गया हो, जिन पुस्तकों में प्रमाणों की जगह जोशीले शब्दों से पूरी की गई हो, उन पुस्तकों के खरीदने वाले और पढ़नेवाले लोग मिल जाते हैं, किन्तु किसी वेद शास्त्र सम्बन्धी गम्भीर विवेचना या अन्वेषणा से पूर्ण कोई पुस्तक लिखिए, ऐसी पुस्तक की प्रतियाँ ग्रन्थकर्ता के घर की अलमारी को ही सुशोभित करती रहती हैं। ऐसी पुस्तकों को पढ़नेवाले और उन पर विचार करनेवाले लोग बहुत ही थोड़े हैं। दृष्टान्त के लिए पं. शिवशंकर जी की पुस्तकों को ले लीजिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पं. शिवशंकर जी वैदिक विषय के बहुत अच्छे ज्ञाता हैं, और उन्होंने 'वैदिक इतिहासार्थ निर्णय' नामी पुस्तक को लिखकर अपनी गम्भीर विवेचना और अन्वेषणा शक्ति का परिचय दिया है। पुस्तक में उन्होंने बड़ी योग्यता से सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वेदों में इतिहास नहीं है और स्वदेशी तथा विदेशी विद्वानों की दी हुई युक्तियों की प्रमाणपूर्वक आलोचना की। पुस्तक में जिस शान्ति और गम्भीरता से काम लिया गया वह आदर्श हो सकती है। परन्तु कितने लोगों ने इस पुस्तक को पढ़ा ? कितने पत्रों ने इसकी समालोचना की ? साधारण को जाने दीजिए, आश्चर्य तो यह है कि हमारे संस्कृत के विद्वान लोग भी इन विषयों पर ध्यान देना जरूरी नहीं समझते। कितने संस्कृत के विद्वान ऐसे निकले जिन्होंने इस पुस्तक को साद्यन्त पढ़कर इस पर अपने विचार प्रकट किए ? वेद आर्यसमाज का आधार ग्रन्थ है, परन्तु आर्यसामाजिक लोगों के वेद विषयक औदासीन्य को देखकर आश्चर्य करना पड़ता है। आर्यसमाज के पंडित भी इस विषय पर कितना ध्यान देते हैं इसका एक और दृष्टान्त लीजिए। पिछले वर्ष 'सरस्वती सम्मेलन' में, श्रीसातवलेकर जी ने 'वेद के विषय प्रतिपादन की शैली' इस विषय पर निवन्ध पढ़ा। जो सज्जन वैदिक विषयों में रुचि रखते हैं वे जानते हैं कि वह निबन्ध कितने पांडित्य और गम्भीर खोज से लिखा हुआ था। लेखक ने वेद को विचारने और उसके अर्थ करने की एक ऐसी शैली बताई, जिसके अनुसार विचार करने से वेदविषयक कई अनिवार्य शंकाओं का उत्तर सहज में ही मिल सकता है। निबन्ध के अन्त में आर्यसमाज के पंडितों द्वारा की गई समालोचना को सुनकर आश्चर्य ही नहीं किन्तु अश्रुपात करना पड़ता था। उस निबन्ध के आशय को बहुत

ही थोड़े सुननेवालों ने समझा और जिन्होंने समझा वे भी उस विषय मे कुछ कहने का साहस नहीं कर सकते थे। ऐसे उपयोगी विषय की अब तक किसी भी पंडित ने विरुद्ध या पक्ष में आलोचना करनी उचित न समझी, किन्तु सामयिक सभापति स्वामी हरिप्रसाद जी की कही हुई एक दो छोटी-सी बातों को लेकर इतना लम्बा-चौड़ा विवाद खड़ा कर दिया गया, और यदि सभापति के ही व्याख्यान को पढ़ा जावे तो उससे कोई वेदज्ञाता का परिचय नहीं मिलता। निबन्धकर्ता के गम्भीर विषयों को स्पर्शमात्र भी न करके, एक तुच्छ-सी अप्रासंगिक बात पर इतना लम्बा व्याख्यान दे डालना वक्ता के तद्वविषयक अल्पप्रवेश के सिवाय और किस बात का सूचक है। निबन्ध में पुनरावृत्ति का कहीं जिक्र नहीं था, किन्तु वहाँ केवल इतना ही दिखाया गया था कि वेदों के मूलमन्त्रों की संख्या भागवत और रामायण के श्लोकों से कहीं कम है, परन्तु फिर भी शोक है लोग वेदों के अनुशीलन से घबराते हैं। निबन्ध के इसी आशय को न समझकर स्वामी हरिप्रसाद जी ने वेदों की काट-छाँट की बेसुरी तान छेड़ दी। आर्यसमाज का श्रोतृसमूह इन विषयों की ओर ध्यान देने का आदि होता तो कभी सम्भव न था, उसके विद्वान् लोग इनसे इतनी उपेक्षा न कर सकते।

इस, औदासीन्य और उपेक्षा का कारण क्या है ? इसका एक शब्द में उत्तर 'स्वाध्याय का अभाव' है। आर्यसमाजियों की अधिक संख्या प्रतिदिन अपने वेदादि धर्मग्रन्थों का अनुशीलन करना अपना कर्तव्य नहीं समझते। यदि प्रतिदिन किसी न किसी सच्छास्त्र के अध्ययन में थोड़ा समय लगा दिया जावे तो कभी सम्भव नहीं कि इन गम्भीर विषयों की ओर से इतना औदासीन्य हो और इनकी जगह हलके और अगम्भीर साहित्य की ओर लोगों का ध्यान जावे। स्वाध्याय में आश्चर्यजनक शक्ति है। वह मनुष्य के हलकेपन को नष्ट कर देता है, सच्छास्त्रों द्वारा महान् आत्माओं की संगति से मनुष्य का मन नम्र, अगर्वित और अपने असली मूल्य को समझने के योग्य हो जाता है। अतएव प्रत्येक आर्य को उचित है कि वह हर दिन अपना थोड़ा समय स्वाध्याय में लगावे। इसके साथ आर्यविद्वानों का भी कर्तव्य है कि वे स्वयं थोथे विवादों को छोड़कर वेदादि गम्भीर ग्रन्थों के विचार में प्रवृत्त हों, और लोगों की रुचि भी सुधारने का यत्न करें।

[सद्धर्म प्रचारक, 29 दिसम्बर, 1910]

आर्यावर्त की अतिप्राचीन धार्मिक अवस्था

धर्म-अधर्म विषय में परमात्मा ने जो कुछ वेदों के द्वारा उपदेश किया है वह तो सर्वोपरि और पृथ्वी मात्र के मनुष्यों के लिए है, परन्तु उन उपदेशों को अवगत कर किस-किस मनुष्य समुदाय ने किस-किस समय उनको अधिकतर धारण किया। यह वृत्तान्त विशेष-विशेष मनुष्य समुदायों के अभ्युदय के इतिहासों से प्रकट होता है। इसका कारण यह है कि सांसारिक जितने प्रकार की उन्नतियाँ हैं जब वह धर्म के साथ-साथ चलती है तो चिरस्थाई और जब धर्म रहित हो जाती है तो शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। अतः जब हम किसी मनुष्य समुदाय के अभ्युदय को देखें अथवा किसी मनुष्य समुदाय के अभ्युदय के वृत्तान्तों को इतिहास में पढ़ें तो हमें चाहिए कि हम उन मूल धार्मिक सिद्धान्तों का पता लगाएँ जिन पर चलते हुए उक्त मनुष्य समुदाय समृद्धशाली बने हों।

ऐसा भी सम्भव है कि किसी मनुष्य समुदाय के बीच धर्म-अधर्म विषयक अत्युच्च शिक्षाएँ वर्तमान हों परन्तु वह मनुष्य समुदाय अभ्युदय नहीं प्रत्युत दुर्दशा को प्राप्त हो। इसका कारण यह है कि उस मनुष्य समुदाय के बीच अत्युच्च धार्मिक शिक्षाओं के वर्तमान रहते हुए भी उस समुदाय ने धार्मिक शिक्षाओं का आचरण परित्याग कर दिया तथापि किसी भी मनुष्य समुदाय के बीच यदि अत्युच्च धार्मिक शिक्षाएँ मिलें तो यह परिणाम अवश्य निकलेगा कि इस मनुष्य समुदाय के बीच किसी समय अत्युच्च धार्मिक पुरुष विद्यमान थे और क्योंकि यथार्थ धार्मिक पुरुष वे ही कहलाते हैं जो आत्मवत अन्यान्य मनुष्यों को समझते हों अतः जिस समय उनकी प्रकटता हुई होगी निस्सन्देह उन्होंने अपने जैसा धार्मिक अन्यों को भी बनाने का यत्न किया होगा और इस प्रकार अनेक धार्मिक पुरुषों की शिक्षा और सदाचार से वह मनुष्य समुदाय जिसके भीतर से उत्पन्न हुए होंगे अवश्य ही धार्मिक एवं विशेष उन्नत और समृद्धशाली बन गया होगा।

आर्यावर्त की अति प्राचीन काल की महोन्नति के वृत्तान्त जब हम अति प्राचीन महर्षियों के ग्रन्थों में पढ़ते हैं तो स्वभावतः यह प्रश्न हृदय में उठता है कि अति प्राचीन आर्य इतने उन्नत क्यों हैं। इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ते हुए इसी परिणाम पर पहुँचना पड़ता है कि अति प्राचीन आर्य बड़े धार्मिक थे। इन आर्यों

की धार्मिक अवस्था की जाँच के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, महर्षि मनु की धार्मिक शिक्षाओं, वैदिक शाखाओं तथा तत्कालीन अन्यान्य आर्य ग्रन्थों के अवगाहन की आवश्यकता है परन्तु यह अवगाहन कठिन और समयसाध्य और धीरे-धीरे ही हो सकता है। अतः इस समय हम केवल उस धार्मिक अवस्था का संक्षेपतः वर्णन करना चाहते हैं जिनका पता मनुस्मृति से लगता है। जिस मनुस्मृति का प्रमाण धर्म रक्षक श्री रामचन्द्र महाराज जैसे महात्मा जी अपने आचरणों के पोषण के लिए दे चुके हैं।

मनुस्मृति में वर्णाश्रम धर्म विस्तृत रूप में वर्णित है और सार्वभौम धर्म बीजवत एक ही श्लोक 'धृतिक्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्' में दर्शा दिया गया है। एवं धर्म-अधर्म के बतलानेवाले श्लोक मनुस्मृति में बहुत हैं परन्तु विस्तारभय से उन सबको अंकित न कर कतिपय श्लोक और उनके भावार्थ ही हम संग्रह कर देते हैं। यह शिक्षाएँ ऐसी उत्तम हैं कि इन्हें धारण कर कोई भी पुरुष विशेष उच्च बने बिना नहीं रह सकता। फिर कैसे सम्भव है कि जिन प्राचीन आर्यों ने इन शिक्षाओं को धारण किया था वे महोन्नति को प्राप्त न हुए हों।

आचार भ्रष्ट विप्र वेदाध्ययन का फल भोग नहीं सकता परन्तु जो आचारवान (अच्छे आचरण वा चालचलन का) है वह (वेदाध्ययन से उत्पन्न होनेवाले) सभी फलों का भागी होता है। इस प्रकार आचार से उत्पन्न हुई (धर्म की) गति को देखकर मुनियों ने सब तपों के मूल सबसे श्रेष्ठ आचार को ग्रहण किया था। आचार के (प्रभाव से) आयु आचार के द्वारा ही मनोवांछित संतति, तथा आचार से ही अक्षय धन मिलता है। और आचार अलक्षण को नष्ट कर देता है। दुराचार से पुरुष की संसार में निन्दा होती है, (वह) दुख का भागी सदा रोगी और मृतप्राय भी हो जाता है। वेदाध्ययन, संग, त्याग, यज्ञ, नियम तथा तप उस पुरुष से कभी भी सिद्ध नहीं होते जिसका स्वभाव बुरा है। जो लोग अर्थ (धन संचय) और काम (इन्द्रियों के भोग) में नहीं फँसे हुए हैं उन्हीं के लिए धर्म ज्ञान का विधान है (अर्थात् धर्मोपदेश को वे ही धारण कर सकते हैं) और जो धर्म का जिज्ञासु पुरुष है उसके लिए सर्वोपरि प्रमाण (धर्म का बतानेवाला) वेद है। धर्म करता हुआ यदि दुख भी पावे और अधर्मियों पापियों को उनके कर्मों के विपरीत शीघ्र फल मिलता हुआ देखे (अर्थात् अधर्मियों को उनके कर्मों के अनुसार शीघ्र ही दुख मिलने के बदले में यदि शीघ्र ही सुख मिलता हुआ देखे) तो भी अपने मन को अधर्म में न लगावे। इस लोक में किया हुआ जो अधर्म तुरन्त नहीं फलता जैसे कि पृथ्वी तुरन्त फल नहीं देती (पृथ्वी में बीज बोने पर जब वह वृक्षाकार हो जाता है और उसके फलने का समय आता है तभी फलता है तुरन्त नहीं उसी प्रकार किए हुए अधर्म का फल परमात्मा के नियमों के अनुसार जब मिलने का समय आता है तभी मिलता

है) (वह भी) किया हुआ अधर्म धीरे-धीरे फैलता हुआ अधर्म करनेवाले के मूलों को काट ही देता है।

सब जीवों को पीड़ा न देता हुआ परलोक में सहायता पाने के लिए धर्म को धीरे-धीरे संचय करे जैसे कि दीमक धीरे-धीरे बांबी को बनाती है। परलोक में सहायता देने के लिए पिता-माता विद्यमान नहीं रहते और न पुत्र न स्त्री और न कोई सम्बन्धी (प्रत्युत) वहाँ केवल एक धर्म ही सहायता के लिए विद्यमान रहता है।

[सद्धर्म प्रचारक, 18 जनवरी, 1911]

आर्यों को राजनीतिक अधिकार

सहयोगी आर्यमित्र में निम्नलिखित नोट पढ़कर बड़ा आश्चर्य हुआ। वह नोट इस प्रकार है :

"इसमें सन्देह नहीं है कि आजकल मुसलमान लोग जैसी चालाकी के साथ पोलिटिकल कामों में अपने अधिकार बढ़ाने की चेष्टा कर रहे हैं उससे यह सम्भव है कि पोलिटिकल अधिकारों में आर्यों की संख्या को हिन्दुओं से पृथक् समझने और समझाने का पूर्ण उद्योग करें और जब आर्य लोग सरकार से अपने पोलिटिकल अधिकार पाने की प्रार्थना करें तो मुसलमान लोग झट से कह उठें कि साहिब यह तो आर्य हैं, इनको पोलिटिकल विषयों से कोई सम्बन्ध नहीं है, इससे आर्यों की वही दशा न हो जाए कि 'दोनों से गए पांडे हवला हुए न मांडे' अब आर्यों को यदि सरकार से मुसलमान और हिन्दुओं के समान पोलिटिकल अधिकार लेने हैं तो उन्हें चाहिए कि अपनी एक ऐसी सभा बनावें कि वह पोलिटिकल मामलों में सरकार से प्रार्थना किया करे और कौन्सिलों में आर्यो का पृथक् प्रतिनिधि नियत कराने की चेष्टा करे अथवा मनुष्यगणना में अपने को हिन्दू और वैदिकधर्मी लिखावें क्योंकि इन दोनों में से किसी एक मार्ग का अनुसरण बिना किए आर्यो को बड़ी भारी हानि उठानी पड़ेगी।"

हमने इस नोट को पढ़कर बहुत कुछ आगे-पीछे देखा, कि कोई कहीं इसके लेखक का नाम मिले, क्योंकि हमें यह आशा न थी कि ऐसा नोट एक आर्य-सम्पादक की लेखनी से निकला होगा। किन्तु जब हमने अन्य किसी भी लेखक का नाम न पाया तो हमें बड़ा शोक तथा आश्चर्य हुआ। आर्यसामाजिकों को राजनैतिक अधिकारों से क्या प्रयोजन ? और यदि कोई प्रयोजन हो, तो भी यदि वह अपने आप को 'आर्यत्व' से हिन्दूपने में गिराए बिना नहीं सिद्ध हो सकता तो उसे धिक्कार है। गिरने के अतिरिक्त आर्यों के लिए अपने आपको हिन्दू कहना असत्य भी है। क्योंकि आर्यों ने पहले से ही अपने आप को कभी हिन्दू नहीं माना। ऐसी अवस्था में हम नहीं जानते कि 'आर्यमित्र' के सम्पादक महोदय का इस नोट के लिखने से क्या तात्पर्य है, जबकि अन्यत्र वे स्वयं ही लिख चुके हैं 'हमारी समझ में आर्यो को किसी विजातीय जनों की चालों पर ध्यान न देकर आर्य लिखना ही उचित है।'

[सद्धर्म प्रचारक, 15 फरवरी, 1911]

विश्वविद्यालयों की भरमार और गुरुकुल की विशेषताएँ

फारिस-टर्की आदि देशों की जागृति ने भारतवर्ष के मुसलमानों को भी जगा दिया है। वे अपनी पुरानी अज्ञान निद्रा में से जाग उठे हैं, और संसार के जीवन युद्ध में विजय होने के लिए उन्होंने अव हाथ-पाँव मारने प्रारम्भ किंए हैं। मुसलमानों की यह नवीन जागृति कई रूपों में प्रकट हो रही है। अपनी शिक्षा को अपने हाथ में लेने का यत्न उन रूपों में से एक रूप है। वे अपनी जाति के बच्चों का शिक्षण अपने ही हाथों में लेने का यत्न कर रहे हैं। इस कार्य की पूर्ति के लिए वे अपना मुहम्मदी विश्वविद्यालय पृथक् स्थापित करना चाहते हैं। आगा खाँ जैसा सरकार और मुसलमानों द्वारा आदृतपुरुष, उस विश्वविद्यालय की स्थापनार्थ धन एकत्रित करने के लिए सारे भारतवर्ष का दौरा लगा रहा है। कृतकृत्यता की श्री ने आगा खाँ पर कृपा दृष्टि की है। जहाँ कहीं पर वह जाता है, वहीं पर बड़े-बड़े मुसलमान रईस और खाँ बहादुर, बड़े उत्सुक चित्तों से उसका स्वागत करते हैं। सो धन के विषय में तो मुसलमानी विश्वविद्यालय के बनने में कोई कसर नहीं दीख पड़ती। कसर केवल यह है कि सरकार से चार्टर अभी नहीं मिला। किन्तु वह मिला ही समझना चाहिए। क्योंकि यह आशा नहीं होती कि सरकार इस समय मुसलमानों की प्रार्थना स्वीकार न करे। जिस प्रकार से आगा खाँ का चारों तरफ स्वागत हो रहा है, उससे भी प्रतीत होता है कि मुसलमानों को चार्टर मिल जाने का पूरा विश्वास है।

खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है। पं. मदनमोहन मालवीय जी ने बहुत बरसों से अपने हिन्दू विश्वविद्यालय के खरबूजे को खेत में डाल रखा था। अब तक तो उसने कोई रंग न पकड़ा था किन्तु मुसलमानी विश्वविद्यालय की रंग पकड़ता देखकर वह भी अब रंग पकड़ने लगा है। मालवीय जी पूरे-पूरे दिल से प्रायः किसी काम में लगते नहीं यदि वे अन्य सब विचारों को छोड़कर इसी कार्य में दत्तचित्त हो जावें तो सम्भव है कि इनको भी विजयश्री प्राप्त हो। फिर चार्टर का झगड़ा रह जाएगा। उसके लिए आवश्यक है कि मुसलमानी विश्व विद्यालय को चार्टर मिलने की प्रतीक्षा की जावे। किन्तु मालवीय जी जैसे स्पष्ट वक्ता को

चार्टर मिलना हमें तो असम्भव ही प्रतीत होता है। अच्छा तो यही है कि हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए चार्टर लिया ही न जावे, और बंगाल के जातीय विश्वविद्यालय का ही अनुकरण किया जावे।

इतने खरबूजों को पकता देखकर कश्मीर नरेश को भी एक क्षत्रिय विश्वविद्यालय की आवश्यकता प्रतीत हुई है। किन्तु क्षत्रिय विश्वविद्यालय के खरबूजे का तो अभी फूल ही आया है, उसके विषय में कुछ विशेष कहना उचित समय से पूर्व होगा।

श्रीमती ऐनी बेसेंट का विश्वविद्यालय रूपी खरबूजा तो, ऐसा दीखता है, कि पकने से पहले ही सड़ने लगा है, विश्वविद्यालय चलना तो अभी कोसों दूर है। घर में फूट ने अभी से राज जमा लिया है। कहते हैं, कि काशी का सेन्ट्रल हिन्दू कालेज भी ठीक प्रकार से नहीं चल रहा। धन का आना बन्द हो रहा है। कई कालेज के सहायक, अपनी सहायता को बन्द कर रहे हैं। देखें आगे क्या होता है ?

ये सब शाही विश्वविद्यालय हैं। अब ये विश्वविद्यालय स्थापित होंगे, तब लाखों रुपयों की जायदादें इनके अधिकार में होंगी; शक्तिशालिनी ब्रिटिश गवर्नमेन्ट का चार्टर रूपी छत्र इनके सिर पर छाया हुआ होगा; आगा खाँ जैसे वैभवसम्पन्न तथा राजादृत पुरुष इसके पोषक होंगे; किंबहुना ! श्री का इन विश्वविद्यालयों में वास होगा। किन्तु आर्य पुरुषो ! इन विश्वविद्यालयों की श्री और सम्पत्ति की चकाचौंध में घबरा न जाना। कहीं यह न समझ बैठना कि इन सम्पत्तिशाली विश्वविद्यालयों के सामने आपका निर्धन गुरुकुल तुच्छ है।

माना कि विश्वविद्यालय निर्धन है; चार्टर रूपी स्वर्ग का पास इसको नहीं मिला हुआ, सर और रायसाहिब इसके सिर पर नहीं हैं। यह सब कुछ ठीक है किन्तु आपके गुरुकुल को वह धन प्राप्त है—वह चार्टर मिला हुआ है, जो अन्य विश्वविद्यालयों को नहीं मिल सकता। इसके ऊपर उस राजा का छत्र छाया हुआ है जिसके सामने संसार के समस्त नरेशों की शक्तियाँ तुच्छ हैं, आपके प्यारे गुरुकुल को वह वर प्राप्त है, जो अन्य किसी विश्वविद्यालय के भाग्य में नहीं लिखा।

इस समय नए से नए विश्वविद्यालय बन रहे हैं। गुरुकुल को भी स्थापित हुए अब पर्याप्त समय व्यतीत हो गया है। अतः हम यह चाहते हैं कि अन्य विश्वविद्यालयों की अपेक्षा गुरुकुल में जो-जो विशेषताएँ हैं, उन्हें स्पष्टतया सब लोगों के सामने रखने के लिए गुरुकुल के मुख्य तथा गौण उद्देश्यों पर विचार करें।

इस विचार के करने की एक और कारण से भी आवश्यकता है। इस समय अनेक प्रकार के विचार गुरुकुल के उद्देश्यों के विषयों में लोगों के अन्दर फैल रहे हैं। कई महाशय समझते हैं कि गुरुकुल का मुख्य उद्देश्य ब्रह्मचर्य की प्राचीन प्रथा का पुनर्जीवन करना है, अन्य सब उद्देश्य गौण हैं। अन्य महाशयों की सम्मति है

कि गुरुकुल की स्थापना आर्यसमाज के लिए वेदज्ञ उपदेशक पैदा करने के लिए ही की गई थी। इनसे भी पृथक वे महाशय हैं जो समझते हैं कि गुरुकुल का उद्देश्य सर्वांग सम्पन्न मनुष्य बनाना है। इस प्रकार अनेक विधि बातें गुरुकुल के उद्देश्यों के विषय में इस समय चारों तरफ सुनाई दे रही हैं। और इन उद्देश्यों के पृथक-पृथक समझने से प्रायः गुरुकुल की कार्यनीति के विषय में मतभेद होते रहते हैं।

[सद्धर्म प्रचारक, 1 मार्च, 1911]

मि. गोखले का प्रारम्भिक शिक्षा सम्बन्धी नियम

[एक विरुद्ध शब्द]

वायसराय की कौंसिल के कलकत्ते के अधिवेशन में मि. गोखले ने प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में प्रस्ताव किया था। उसे दो मास से अधिक समय व्यतीत हो गया—किन्तु साधारण भारतीय प्रजा ने उसके पक्ष में कोई विशेष आवाज नहीं उठाई। जैसी कई लोगों की आशा थी, कि इस प्रस्ताव के पेश होते ही सारा भारतवर्ष सहानुभूति के शब्द से गूँज उठेगा वैसा नहीं हुआ। अभी अन्य अनेक पत्रों ने इस विषय को लेकर लोगों को आलस्य से जगाने का यत्न किया है। इस जगाने का फल तो देखें क्या होता है—किन्तु इतना हम अवश्य कहेंगे कि इस प्रस्ताव के विषय में अभी तक देश के अन्दर किसी प्रकार की हलचल का न मचना भी एक विशेष घटना है—यह भी एक ध्यान देने योग्य बात है। इस बात को लोगों के आलस्य मात्र का फल कह देना ठीक नहीं। लोगों में आलस्य है इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं किन्तु वह आलस्य तभी तक रहता है जब तक कोई उत्तेजक बात उनके सामने न आवे। इस बिल को सुनकर लोगों का एकदम उत्तेजित न हो जाना बता रहा है कि इस बिल या प्रस्ताव में कोई न्यूनता है जो लोगों के दिल में खटक गई है। कोई कमी है जो लोगों को इसका पोषण करने से रोकती है।

हमारी सम्मति में भी इस बिल में अनेक कमियाँ ही नहीं कई ऐसी बातें भी हैं जिनके नियम बन जाने से भावात्मक हानि होने की सम्भावना है। आज हम उन्हीं पर कुछ विचार करेंगे।

1. शिक्षा का अपने हाथ में न होना : वह समय गए जब लोग स्कूलों को मुक्ति का सीधा रास्ता समझते थे। अब वह समय आ गया है जब लोग उनके दोषों को भी देखने लग गए हैं। सारे देश में इस समय एक लहर चल गई है, जिसका रूप शिक्षा को अपने हाथ में लेने का है। अब हर एक देशवासी सरकारी स्कूलों की शिक्षा की अपेक्षा यूनिवर्सिटी से असम्बद्ध सुनियमित विद्यालयों में अपने बालक को पढ़ाना अच्छा समझने लग गया है। गुरुकुल विश्वविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय मुहम्मडन विश्वविद्यालय तथा काशी-विश्वविद्यालयादि अनेक

विश्वविद्यालयों के लिए यत्र इस बात के सूचक हैं कि सरकारी शिक्षा की माया अब टूट चुकी है। जो माया देशवासियों के मनों में टूट चुकी है यह प्रस्ताव उसे फिर से व्यवस्थापित करना चाहता है। यह सारे देश के बालकों का भविष्य स्कूलों के मास्टरों के हाथों में दे देता है। इन प्रारम्भिक शिक्षा देने वाले स्कूलों का प्रबन्ध इस प्रस्ताव द्वारा उसी Department of public Instruction के अधीन होगा जिसके अधीन अब सारे प्रान्त की शिक्षा रहती है। सरकारी यूनिवर्सिटी से असम्बद्ध स्कूल या विद्यालय देश में आगे ही थोड़े हैं, अब इस नियम द्वारा उनका और भी सत्यानाश हो जाएगा। इन स्कूलों में अब निर्धनों के लिए मि. गोखले मुफ़्त शिक्षा कराना चाहते हैं--यह एक और साधन, देशसम्मतिशिक्षा को गिराने का होगा। यह हम मानते हैं कि शिक्षा एक अनमोल रत्न है, वह हर एक को प्राप्त होनी चाहिए। किन्तु यदि वह रत्न बिना एक बड़े हित-त्याग के नहीं हो सकता तो उसे दूर से नमस्कार है। अतः हमारी सम्मति में या तो इन आरम्भिक स्कूलों की शिक्षाप्रणाली तत्तत्प्रान्त के लोगों के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में हो और सरकार का केवल निरीक्षण तथा सहायता रहे, या इस शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं। हम अब तक इसके बिना, संस्कृत की पाठशालाओं और फारसी के मकतबों के आश्रय जीते आए हैं और आगे देशी विश्वविद्यालयों के आश्रय जीते रहेंगे।

2. स्वाधीन शिक्षा का अभाव : सब संरक्षकों के लिए इस प्रस्ताव द्वारा यह आवश्यक होगा कि वे अपने-अपने पुत्रों को निवासस्थान में एक मील के अन्दर-अन्दर बने हुए स्कूल में कुछ नियत समय के लिए अवश्य भेजें। इसमें तीन अपवाद हैं। तीन हालतों के होने पर बालक का स्कूल में जाना रुक सकता है। (1) निवासस्थान से एक मील की दूरी तक कोई सरकार सम्मत स्कूल न हो (2) लड़का बीमार हो या कोई अत्यावश्यक घरेलू काम हो (3) या बालक किसी अन्य संतोषदायक प्रकार से शिक्षा पा रहा हो। सन्तोषदायक किसके लिए ? निःसन्देह शिक्षा के उन अधिकारियों के लिए जो सरकार की ओर से निश्चित हैं और यह उत्तर भारतवर्ष की शिक्षा के भविष्य पर चौका फेर देता है। इस प्रस्ताव के अनुसार कोई भी 6 और 10 वर्ष के बीच की उम्र का बालक, किसी ऐसे विद्यालयों में शिक्षा न पा सकेगा, जहाँ की शिक्षा से सरकार को सम्पूर्णतया सन्तोष न हो। वह सन्तोष किन बातों से होगा ? इस प्रश्न को मि. गोखले का प्रस्ताव सरकार के कर्मचारियों के हाथ में छोड़ देता है, और इस प्रकार यह प्रस्ताव सब यूनिवर्सिटी से असम्बद्ध लोकसम्मत विद्यालयों के भविष्य को सन्देह में डाल देता है। क्या इसी प्रस्ताव की पुष्टि हमारे कौंसिल के मेम्बर लोगों में चाहते हैं।

3. विशेष कर का भार : इस प्रस्ताव का आठवाँ भाग यह है कि इस शिक्षा के मौलम्य के लिए म्युनिसिपैलिटी यदि चाहे तो विशेष कर भी लगा सकती है। क्या आगे करों की लोगों पर कमी है। यदि मान भी लिया जाए कि अभी करों

की कुछ गुंजायश है, तो क्या अन्य अनावश्यक व्ययों को कम करके पहले ही कर में से इस शिक्षा के लिए प्रबन्ध नहीं हो सकता ? इस प्रश्न का उत्तर शायद मि. गोखले भी नहीं में न दें। उस हालत में हमारा प्रश्न है कि मि. गोखले को इस नियम के बना देने की क्या आवश्यकता पड़ी थी। वह शिक्षा जो पढ़नेवाले के पेट की रोटी भी छीन लेती है--बहुत मँहगी है। यह तीन कारण है–जो हमारी सम्मति में लोगों को इस प्रस्ताव के विरक्त करते हैं, और हमारी समझ में उन्हें करना भी चाहिए। यदि मि. गोखले सर्वसाधारण में शिक्षा फैलाने के इतने भारी पक्षपाती हैं तो क्यों नहीं वे सारे भारतवर्ष भर में चक्कर लगाकर इतना धन इकट्ठा कर लेते कि उससे न केवल एक खुला विश्वविद्यालय ही बन जावे, साथ ही प्रारम्भिक मुफ्त शिक्षा देने वाले पंचायती स्कूल भी गाँव-गाँव में खुल सके। मि. गोखले जैसे प्रभावशाली, सच्चे, योग्य तथा परोपकारी पुरुष के लिए इस पवित्र कार्य में कृतकृत्य हो जाना कुछ कठिन नहीं। ऐसे पवित्र तथा भविष्य में फलनेवाले कार्य को छोड़कर एक ऐसे प्रस्ताव का करना–जिसका उद्देश्य यद्यपि अच्छा है तथापि जो देश के भविष्य को सन्देह में डालता तथा चलती हुई लहर के विरुद्ध कार्य करता है, न जाने मि. गोखले जैसे विचारशील को क्यों सूझा ?

[सद्धर्म प्रचारक, 7 मई, 1911]

पंजाब पर सरस्वती देवी का प्रकोप

भारतवर्ष से इतर सभ्य देशों की हवा जाने दीजिए—वे हमसे बहुत दूर हैं। भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों पर ही दृष्टि डालने में हमें स्पष्ट दीख पड़ता है कि पंजाब पर सरस्वती देवी का विशेष प्रकोप है। भारतवर्ष के और सब प्रान्त अपने-अपने योग्य विद्याव्यसनियों पर अभिमान कर रहे हैं—बंगाल अपने बंकिम पर मोहित है—महाराष्ट्र अपने चिपलूणकर और तिलक के गुण गाता हुआ नहीं थकता—संयुक्त प्रान्त अपने बापूदेव के काम पर गर्व कर सकता—किन्तु निर्धन बेचारा पंजाब किसी का नाम लेकर अभिमान नहीं कर सकता। क्या यूनिवर्सिटी से और क्या पाठशाला से—कहीं से भी पंजाब ने गत शताब्दि में सरस्वती देवी का कोई सच्चा पुत्र नहीं तैयार किया। गुरुदत्त और हरपाल पर पंजाब यूनिवर्सिटी शायद किसी दिन अभिमान कर सकती—किन्तु उन दोनों को भी निर्दय काल ने पंजाब की गोद में न रहने दिया। एक को तो मृत्यु का दूत उठा ले गया—और दूसरा एक और शक्ति से निकम्मा करके बाहर कर दिया गया। इस समय या इस से पूर्व और कोई विद्या के अन्तरिक्ष में चन्द्रमा के समान प्रकाशित होनेवाला तीव्र बुद्धि विद्वान् पंजाब ने उत्पन्न नहीं किया। एक विद्या सूर्य के अभाव के साथ अब तक किसी प्रकार की विद्या या साहित्य सम्बन्धिनी सभा का न होना पंजाब का दरिद्रता के दृश्य को और भी बढ़ा देता है। बंगीय साहित्यपरिषद् बंगाल में, मराठी साहित्यपरिषद् महाराष्ट्र में और इसी प्रकार हिन्दी साहित्य सम्मेलन (कुछ टूटा-फूटा) संयुक्त प्रान्त में, साहित्योन्नति का कार्य कर रहे हैं। किन्तु पंजाब में इस प्रकार का कुछ भी देखने में नहीं आता। सुनते हैं—एक नागरी प्रचारिणी सभा लाहौर में अवस्थित है, किन्तु शायद सारे पंजाब में सौ या दो सौ आदमियों को ही यह पता होगा कि वह लाहौर की किस गली में ठहरी हुई है—और वहाँ क्या काम करती है ?

दो तीन वर्ष हुए—लाहौर में एक ऐतिहासिक सभा बनी थी—उसके सभासदों की संख्या भी अच्छी थी—नियम भी उसके बड़े शानदार थे, किन्तु सरस्वती देवी के प्रकोप का प्रमाण देखिए कि वह सभा दो या तीन अधिवेशनों के पीछे ही काल की गाल में चली गई। अब कुछ दिनों से भगत ईश्वरदास जी की एक Congress of orientalists का विज्ञापन पत्रों में छप रहा है। किन्तु इस सभा का प्रारम्भ इतना

सुस्त और चेष्टाहीन है कि इसके किसी चमकीले भविष्य की आशा करने का साहस नहीं होता।

पंजाब की साहित्यसम्बन्धिनी इस दुर्दशा को देखकर आश्चर्य होता है। वह पंजाब जिसके निवासी इंग्लिश जैसे परिश्रमी, फ्रेंच जाति जैसे उत्साही और जर्मन जाति जैसे अध्यात्मचिन्ता परायण हैं; साहित्य की उन्नति करने में इतना पीछे रह गया है—यह देख विस्मित होना पड़ा है। कहा जाता है कि विचार जागृति और साहित्योन्नति का परस्पर वही सम्बन्ध है जो सूर्य और प्रकाश का है। जिस समाज में विचार जागृति हो जाएँ—वहाँ साहित्य की उन्नति का होना आवश्यक है। बंगाल और महाराष्ट्र अपने पास के दृष्टान्त हैं। क्रान्ति से पूर्वकालीन इटली, और वर्तमानकालीन आयरलैंड इसके दूरवर्ती उदाहरण हैं। पंजाब में विचार जागृति हुए 25 वर्ष से अधिक हो गए। जिस दिन पंजाब में ऋषि दयानन्द का शुभागमन हुआ, उसी दिन सारे पंजाब के निवासियों से, चाहे वे आर्य हों—चाहे अनार्य विचार जागृति की एक लहर चल गई थी, किन्तु फिर भी उस अभागे देश पर सरस्वती देवी का प्रकोप ही रहा। इसका कारण क्या है ?

इस विचित्र आश्चर्यजनक घटना का मुख्य कारण यह है कि अब तक पंजाब की कोई अपनी भाषा नहीं है। अंग्रेजी शिक्षा पंजाब में एक तो आई ही बहुत पीछे—आने पर भी उसे कोई विशेष कृतकार्यता प्राप्त नहीं हुई। कारण इसका यह था कि विचार जागृति ने पंजाब के निवासियों की आँखें पाश्चात्य सभ्यता पर से उठकर अपनी प्राचीन आर्य सभ्यता की ओर खिंच गई थीं। ऋषि दयानन्द के सिंहगर्जन से इस विषय में पंजाब का एक-एक कोना प्रभावित हो गया था। उस असीम शक्तिशाली पुरुष ने अपने प्रभाव से पाश्चात्य विद्या तथा सभ्यता के प्रवाह को पंजाब में बड़ा भारी धक्का पहुँचाया। उस धक्के के कारण आज तक भी उन दोनों के कदम पंजाब में नहीं जमे और जब तक विचार जागृति का एक लेशमात्र भी विद्यमान है—पंजाब पाश्चात्य सभ्यता के चमकीले संचारों से पूर्णतया प्रभावित नहीं हो सका। अतएव, अंग्रेजी में निपुणता और शुद्ध पाश्चात्य विद्या में पारगमिता पंजाब में कभी भी सुलभ नहीं हो सके।

इंग्लिश के दर्जे पर दूसरी भाषा जिसे यहाँ पर कुछ अधिकार प्राप्त था—और है—वह उर्दू है। पंजाब में मुसलमानों का राज्य बहुत शताब्दियों तक रहा है अतः वहाँ उर्दू और फारसी का अधिक प्रभाव होना स्वाभाविक है। किन्तु, विचार जागृति के दिन से ही पंजाब पर से उर्दू का सिक्का भी पिघलने लगा। उर्दू का नाम यावनी भाषा पड़ गया—और उसे केवल आवश्यक ही समझकर काम में लाया जाने लगा। मुसलमानों में तथा आर्यों में जो विरोध बढ़ा उसने उर्दू के प्राधान्य को और भी कम कर दिया। इन कारणों से अंग्रेजी के और उर्दू के गिरते हुए व्यापार की गत वर्षों की राष्ट्रीय जागृति ने बहुत ही भारी धक्का पहुँचाया है। जो कुछ उनका थोड़ा

बहुत प्रभाव बचा था—अब वह भी धूल में मिल गया है।

इन दोनों से उतरकर तीसरे स्थान पर गुरुमुखी या पंजाबी भाषा अपनी मुख्यता दिखलाने खड़ी हुई। किन्तु उसके विद्या में प्रयोग करनेवाले इतने कम विद्वान थे, और वह भाषा इतनी अपूर्ण तथा साहित्यरहित थी कि उसे अधिकार-युद्ध में खड़े तक रहने का मौका न मिला। ट्रिब्यून ने इसकी वकालत में अच्छा नाम पाया किन्तु वह वकालत न फली—और अब उसको अधिकार के स्वीकार करनेवाले अद्भुतमति सज्जन उँगलियों पर गिने जा सकते हैं।

इन तीनों भाषाओं पर से ही पंजाब के शिक्षित लोगों का स्वत्व उड़ गया है। वे इनका प्रयोग करते तो हैं किन्तु घबराते हुए। वे इनका प्रयोग करने पर बाधित हैं—वस्तुतः उनका एक बड़ा हिस्सा इनमें से किसी को भी अपनी भविष्यत् भाषा नहीं समझता। इन तीन भाषाओं का ही पंजाब में प्रचार है—और इन तीनों में ही पंजाब के शिक्षित समाज के प्रधान भाग का स्वत्व नहीं, तब भला साहित्य की उन्नति खाक हो ? जिसको हम अपना ही नहीं समझते—जिस पर हमारी कोई भविष्यत् आशाएँ ही अवलम्बित नहीं हैं—उसके लिए हम लहू क्यों बहावें ? उसके लिए हम अपनी आजीविका क्यों बिगाड़ें ? ऐसे-ऐसे विचार हैं जो पंजाब के शिक्षित सज्जनों को साहित्योन्नति करने से रोकते हैं।

इन सब साहित्योन्नति के विघ्नों को हटाने का एक ही उपाय है और वह उपाय यह है कि उस भाषा को प्रयोग में लाया जावे जिसमें हमारा स्वत्व है—जिस पर हमारी भविष्यत् आशाएँ अवलम्बित हैं। ऐसी भाषा आर्यभाषा (हिन्दी) है। भारतवर्ष के भविष्य के साथ आर्यभाषा का भविष्य बँधा हुआ है। आर्यों की वास्तविक भाषा आर्यभाषा है—उसी में उनका स्वत्व है। जब तक हम उसका आश्रय न लेंगे, जब तक हम अपने सब कामों में उसको ही स्थान न देंगे तब तक पंजाब के साहित्यान्धकार में से निकालना दुष्कर है। भाषा के बिना साहित्य की उन्नति पृथ्वी के बिना लता की वृद्धि के समान है। जब एक अपनी भाषा हो गई तब साहित्यरूपी वृक्ष को उस पर जमा देना और सरस्वती देवी को प्रसन्न कर लेना पंजाब की शुद्ध आर्य रुधिर से परिपूरित जाति के लिए कोई कठिन कार्य न होगा। देवि सरस्वती ! हमारी आप से यह विनयपूर्वक प्रार्थना है कि आप पंजाब के आर्यनिवासियों के चित्तों में ऐसी उत्तेजना करें कि वे आर्यभाषा का आश्रयण करते हुए आप को प्रसन्न करने में शक्त हों।

[सद्धर्म प्रचारक, 7 जून, 1911]

गुरुकुल प्रबन्धकर्त्री सभा

गुरुकुल का कार्य दिनों दिन बढ़ रहा है। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं, त्यों-त्यों गुरुकुल के प्रबन्ध विषयक पेज भी बढ़ रहे हैं। जिन बातों पर विचार करने का पहले स्वप्न भी न था—उन पर अब विचार करना पड़ता है। पहले केवल छोटी श्रेणियों के लिए पाठविधियाँ तैयार हुआ करती थीं सो उनके तैयार करने में विशेष विचार की आवश्यकता न समझी जाती थी। किन्तु अब महाविद्यालय की पाठविधियों तैयार करनी हैं। पहले छोटी श्रेणी के लिए अध्यापकादि नियुक्त करने होते थे उनके करने में कठिनता न थी, योग्य मुख्याध्यापक और मुख्याधिष्ठाता ही उनका निश्चय कर लिया करते थे; किन्तु अब महाविद्यालय के लिए अध्यापक निश्चित करते हैं। पहले गुरुकुल की शिक्षा का विस्तार बहुत थोड़ा था किन्तु अब उसकी विस्तृति बहुत बढ़ गई है। पहले अकेले मुख्याधिष्ठाता तथा मुख्याध्यापक ही इस कार्य को कर सकते थे किन्तु अब ऐसा करना असम्भव है।

इस विषय विस्तार के अतिरिक्त अब गुरुकुल के भविष्य को उन्नत करने के लिए कई प्रकार के विषयों में सुधार की आवश्यकता है। शिक्षासम्बन्धी, प्रबन्धसम्बन्धी सब प्रकार के सुधारों की आवश्यकताएँ अनुभव हो रही हैं—जिनका होना एक उन्नतिशील विद्यालय के लिए आवश्यक है। इन सब सुधारों तथा संशोधनों के करने के लिए, जहाँ तक विस्तृत सम्मतियाँ ली जा सकें अच्छा है। जितने अधिक योग्य तथा शिक्षित योग्य पुरुषों की सम्मतियों से वे सुधार हो सकें उतना ही भला है।

इन दोनों आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए, अब गुरुकुल का प्रबन्ध किसी ऐसी सभा या उपसभा के हाथ में चाहिए जो (1) गुरुकुल के कार्यों के लिए अधिक समय दे सके (2) गुरुकुल के शिक्षा तथा प्रबन्धादि विषयक प्रश्नों की स्वयं गुरुकुल में रहकर पड़ताल कर सके (3) गुरुकुल के हितसाधन को एकमात्र अपना प्रयोजन समझे (4) और गुरुकुल के शिक्षादि-सम्बन्धी प्रश्नों के समझने के लिए विशेष योग्यता रखती हो। जिस सभा में ये चार बातें नहीं हैं, वह इस समय बढ़ते हुए गुरुकुल के कार्य को ठीक तरह पर नहीं सँभाल सकती और उसके कठिन प्रश्नों को हल नहीं कर सकती।

इस समय गुरुकुल का कार्य आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के साधारण और उसकी अन्तरंग सभा के विशेष अधिकार में है। साधारण अधिकार के विषय में तो विचार नहीं है वह तो प्रतिनिधि सभा का अखंडनीयता विद्यमान है, रहेगा और रहना चाहिए। गुरुकुल की साधारण नीति की नियन्त्री सभा श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा ही है। इस नीति के नियमन के लिए उसके पास साधन, बजट का पास करना है। गुरुकुल का धनसम्बन्धी सारा अधिकार प्रतिनिधिसभा के पास रहने से वह सदा उसकी साधारण नीति का नियमन रख सकती है। यदि वह गुरुकुल की विशेष प्रबन्धकर्त्री सभा के किसी कार्य से भी नाराज होगी तो बजट का न पास करना इसके हाथ में है। जब तक यह बजट का शस्त्र उसके हाथ में है—तब तक गुरुकुल का प्रबन्ध कभी भी उसके हाथ से निकल नहीं सका।

अब रही विशेष प्रबन्ध की बात। इस समय गुरुकुल का विशेष प्रबन्ध प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा के हाथ में है। इस सभा में रखनेवाले साधारणतया तो सारे पंजाब भर के सभासद् चुने जाने जाते हैं—किन्तु कोरम होने के लिए एक काफी संख्या ख़ास लाहौर के सभासदों की रखी जाती है। जो सभासद् इस सभा में चुने जाते हैं उनकी साधारण सामाजिक अवस्थिति पर ध्यान रखा जाता है। प्रायः वे सज्जन ही अन्तरंग सभा में रखे जाते हैं जो आर्यसमाज में प्रतिष्ठित हों—सभा के पक्के हितैषी हों—और समाज के कार्यों में विशेष अनुराग रखें। इसके अधिवेशन प्रायः लाहौर में ही होते हैं। और किसी स्थान पर उनका होना बहुत कुछ असम्भव-सा होता है। और जगहों की तो जाने दीजिए, गुरुकुल में भी सिवा वार्षिकोत्सव के समय के इसका अधिवेशन नहीं हो सकता—और तब भी दो-दो दिन तक कोरम नहीं होता।

[सद्धर्म प्रचारक, 7 जून, 1911]

आर्यसमाज और राष्ट्रीयता

[1]

इस समय चारों ओर शोर मच रहा है कि आर्यसमाज एक राजनीतिक सभा है—वह एक राष्ट्रीय संस्था है। पुराने पक्के आर्यसमाजियों के मनों में आर्यसमाज के धार्मिक सभा होने के विचार इतने दृढ़ हो चुके हैं कि वे इन उपर्युक्त वाक्यों को सुनकर आश्चर्यित और विस्मित हो जाते हैं। वे इस नये राजनैतिक और राष्ट्रीय मसले को समझ नहीं सकते। किन्तु एक ऐसे मनुष्यों का समूह भी आर्यसमाज में विद्यमान है जो इस कथन को सुनकर जरा भी नहीं चौंकता। उनके लिए यह कथन ऐसा ही स्वाभाविक है जैसे क्रिश्चियनिटी को युद्ध का धर्म कहना। हर एक मनुष्य जानता है कि क्रिश्चियनिटी एक धर्म है—उसका राज्य विजय या युद्ध में कोई विशेष सम्बन्ध न होना चाहिए। किन्तु जिन लोगों ने गत शताब्दियों के युद्धों तथा विजयों का इतिहास पढ़ा है, तथा आज भी पढ़ रहे हैं वे जानते हैं कि क्रिश्चियनिटी युद्ध तथा अशान्ति का दूत है—सन्धि और शान्ति का नहीं। क्रिश्चियनिटी इस समय ब्राह्मण वेश में राक्षस का कार्य कर रही है—हम उसे छद्मभेदी रावण से उपमा दे सकते हैं। दूसरा इस्लाम का दृष्टान्त भी उनके सामने है। इस्लाम भी एक धर्म था और अब भी है। किन्तु क्या कोई यह भूल सकता है कि किसी दिन इस्लाम संसार का सबसे बड़ा देशविजयी धर्म था। वह धर्म था—और फिर भी राज्य विजय और युद्ध के विचार उसके साथ लगे हुए थे। इन सब दृष्टान्तों को पढ़कर उनके धर्म को युद्ध राष्ट्र और विजय के साथ मिलाने की आदत पड़ गई है। इसलिए आर्यसमाज को राजनीतिक सभा सुनते हुए उनके दिलों को कोई आश्चर्य प्रतीत नहीं होता।

किन्तु वस्तुतः आर्यसमाज एक धार्मिक सभा है। सिवा धर्मप्रचार के आर्यसमाज का और कोई उद्देश्य नहीं। आर्यसमाज मन्दिर, आर्यसमाज कोष तथा आर्यसमाजिक संस्थाओं से कोई ऐसा काम नहीं किया जा सकता जो धर्म से इतर किसी वस्तु से सम्बन्ध रखता है। यदि ऐसा किया जाए—यदि आर्यसामाजिक शक्तियों को धर्म से इतर किसी वस्तु के विस्तार में लगाया जाए तो वह अधर्म

है—वह पाप है। यदि कोई मनुष्य आर्यसमाज मन्दिर में स्वदेशी के पक्ष में व्याख्यान देता है तो वह उतना ही अपराधी है जितना वह मनुष्य जो स्वदेशी के खंडन में या विदेशी व्यापार के पक्ष में व्याख्यान देता है। यदि कोई भूला हुआ मनुष्य समाज मन्दिर में राजनैतिक हलचल की आवश्यकताओं पर एक व्याख्यान देता है, तो वह इतना ही बड़ा दोषी है जितना वह मनुष्य जो एक राज्यधिकारी के दीर्घ जीवन के लिए बड़ी-बड़ी प्रार्थनाएँ करता है।

आर्यसमाज एक धार्मिक संस्था है। आर्यसमाज मन्दिर केवल धार्मिक कार्यों में ही काम आ सकते हैं। गर्म या नर्म, मॉडरेट या एक्स्ट्रोमिस्ट, लायल या कोई और ये सब मनुष्य आर्यसमाज में केवल वैदिक-धर्मी रूप से बैठते हैं अन्य किसी रूप में नहीं। आर्यसमाज मन्दिर एक ऐसा स्थान है जहाँ किन्हीं भी राजनैतिक विचारों के रखनेवाला वैदिकधर्मी आत्मा की शान्ति के लिए आश्रय पा सकता है। जो मनुष्य, या जो समाज उस शान्ति तथा धर्म के अलावा समाज मन्दिर में राजद्रोह या राजभक्ति के उपदेश देता है वह समाज मन्दिर के गौरव को घटाता है। इसी प्रकार आर्यसमाज के धन कोष तथा संस्थाओं को भी केवल धर्म कार्य में लगाना हमारा कार्य है—इससे अन्यत्र कहीं नहीं।

जब तक इस आर्यसमाज के उद्देश्य को ठीक-ठीक नहीं समझते, तब तक हम चारों तरफ से ठोकरें ही ठोकरें खाएँगे। प्रचारक अपने जन्मदिन से आर्यसमाज को विशुद्ध धार्मिक संस्था समझता रहा तथा कहता रहा है। जिस दिन आर्यसमाज के भूले हुए सभासदों ने आर्यसमाज के प्लेटफार्म को 'कौम-कौम' के नाद से गुंजा दिया था, जिस दिन आर्यसमाज को हिन्दू सुधारक सभा कहकर उसकी हस्ती को हिन्दू कौम में मिला देने का उपक्रम किया गया था, उस दिन प्रचारक ने अपनी निर्बल किन्तु सत्य से भरी हुई आवाज उठाई थी। उस दिन उसे कौम फरोश कहा गया; उसे जाति को बेचने वाला कहा गया। किन्तु प्रचारक का विश्वास था कि वे लोग जो आर्यसमाज के सत्व की 'कौम' के कुंड में आहुति करना चाहते हैं भूल पर हैं।

समय ने पलटा खाया। घटना चक्र का क्रम बदल गया। भारतवर्ष की राजनीतिक नौका समय की आँधी से बहाई जाकर राजनीति के घोर भँवर में जा पड़ी। भारतवर्ष एक स्मरणीय तूफान से घिर गया—और सिवा गिरे हुए और गिराए जाते हुए के और कुछ दिखाई न देता था। राजनीति अपने भयानकतम रूप में प्रकट हुई, भारतवर्ष का एक कोना भी उसके प्रभाव से खाली न रहा। यहाँ तक कि सार्वदेशिक वैदिक धर्म का प्रचार करनेवाला आर्यसमाज भी कई स्थानों में उसके प्रवेश से कलंकित हो चला। तब फिर प्रचारक के लिए अपने निर्बल शब्द को सुनाने का समय आया! प्रचारक बहुत चिल्लाया,- उसने बहुत शोर मचाया। किन्तु 'नक्कारख़ाने की तूती की आवाज़ कौन सुनता'। बेचारा प्रचारक अपने कर्तव्य पालन

करके चुप हो रहा।

आज फिर समय है जब प्रचारक अपना शब्द सुनाना चाहता है। यद्यपि इस समय भारतवर्ष की नौका एक स्पष्ट भँवर में नहीं है तथापि यह एक बड़े भारी भँवर के पास पहुँच रही है। आर्यसामाजिक भाइयों को उस समय के लिए तैयार करना प्रचारक अपना कर्तव्य समझता है।

उस तूफान का सामना करने के लिए जो कि इस समय भारतवर्ष के आकाश में दूर से अपने चिन्ह प्रकट कर रहा है, और जिस की विद्युल्लता की दीप्ति को हम हिन्दू-मुहम्मडन प्रश्न के रूप में कुछ-कुछ देख रहे हैं, आर्यसमाज को बहुत प्रबल शुद्ध तथा दृढ़ होने की आवश्यकता है। यदि आर्यसमाज ने अपनी शुद्धि न की, यदि उसमें से सारा कूड़ा-करकट निकालकर बाहर न कर दिया गया, तो निश्चित ही भविष्यत् में आनेवाली आँधी आर्यसमाज के एक-एक टुकड़े को जुदा-जुदा कर देगी। यदि हमने अपनी सामाजिक दुर्गरचना को दृढ़ न कर लिया तो निःसन्देह उस समय विपत्ति रूपी शत्रु के तीर हमारे अंग प्रत्यंग को वेध देंगे।

आर्यसमाज को दृढ़ करने का उपाय क्या है ? इस विषय पर दो लेख हम पहले लिख चुके हैं। आर्यसमाज को दृढ़ करने के दो साधन तो संस्था को दृढ़ करना तथा व्यक्तियों के आचारों को सुधारना है। तीसरा एक उपाय इसका शेष रहता है। वह उपाय आर्यसमाज के वास्तविक रूप को समझता है। इस समय आर्यसमाज के रूप को बातों के अँधेरे में कैसे छुपाने का प्रयत्न किया जाता है यह किसी भी आर्यसमाजी से छुपा नहीं है।

[सद्धर्म प्रचारक, 12 जुलाई, 1911]

कांग्रेस और प्रदर्शिनी

हर साल कांग्रेस के साथ एक प्रदर्शिनी हुआ करती थी। सुनते हैं, इस बार वह न होगी। इसका विशेष कारण क्या है सो प्रतीत नहीं। किन्तु कइयों का विचार है कि धनाभाव ही इसका कारण है। हमारी समझ में कलकत्ते के धनी लोगों के लिए धनाभाव इस कारण नहीं हो सकता। जब पंजाब जैसे साधारण धनी देश ने प्रदर्शिनी कर ली थी तब मारवाड़ियों की थैलियों से भरे हुए कलकत्ते में उसका होना कैसे असम्भव है ? किन्तु पिछली बार इलाहाबाद में कुछ दो एक बातें सर्वथा लोकमत के विपरीत प्रदर्शिनी में हो गई थीं, शायद उन्हीं के डर से कलकत्ते वाले प्रदर्शिनी से बच रहे हैं।

[सद्धर्म प्रचारक, 12 जुलाई, 1911]

आर्यसमाज और राष्ट्रीयता

[2]

प्रस्तावना

इसी शीर्षक वाले प्रथम लेख में हम दिखा आए हैं कि आर्यसमाज एक शुद्ध धार्मिक संस्था है। उसका उद्देश्य केवल उन सच्चाइयों का प्रचार करना है जिन्हें वह सत्य मानता है। उसके प्रचार करने के लिए जो भी धर्मपूर्वक साधन काम में आ सकें, उन्हें वह काम में लाएगा। वह पाठशालाएँ और विद्यालय खोलेगा; वह पुस्तकालय और वाचनालय स्थापित करेगा; वह ट्रेक्ट और पत्र प्रकाशित करेगा। किन्तु इन सब कार्यों का उद्देश्य एक ही होगा और वह अभ्युपगत धर्म का प्रचार करना होगा। साथ ही आर्यसमाज का विश्वास है कि ज्यों-ज्यों लोगों की शिक्षा तथा विद्या बढ़ेगी त्यों-त्यों वे वैदिक धर्म की ओर आएँगे। अतः वह शिक्षा प्रचार भी अच्छा समझता है। शिक्षा प्रचार आर्यसमाज का एक बड़ा भारी उद्देश्य है। शिक्षा और वैदिक धर्म का इतना गाढ़ा सम्बन्ध है कि उसकी उपमा मिलनी कठिन है। यदि कोई उपमा है तो वह सूर्य और प्रकाश की ही है। सूर्य के निकलते ही प्रकाश होना आवश्यक है। इसी प्रकर से शिक्षा के फैलने पर वैदिक धर्म का विस्तार भी जरूरी है। इसलिए, केवल शिक्षा का प्रचार भी वैदिक धर्म के प्रचार में शामिल है।

बस, इतना मर्यादा के आगे आर्यसमाज नहीं बढ़ सकता। इतने कार्यों तक ही उसकी चेष्टाओं का अन्त हो जाता है। यदि इसके आगे कोई स्थानीय आर्यसमाज, कोई प्रतिनिधिसभा या सार्वदेशिक सभा एक भी कदम रखेगी तो वह धर्मच्युत समझी जाएगी।

इतना स्पष्ट हो जाने पर, अब हम चाहते हैं कि इस साधारण सिद्धान्त को विशेष दृष्टान्तों में घटाकर दिखा दें, ताकि वह स्पष्ट हो जाए। अतः आगे इस लेख में हम निम्नलिखित प्रश्नों पर विचार करेंगे। (1) आर्यसमाज और भारतवर्ष का क्या सम्बन्ध है ? (2) आर्यसमाज और आर्य जाति का क्या सम्बन्ध है ?

(3) आर्यसमाज और ब्रिटिश सरकार का क्या सम्बन्ध है ? (4) आर्यसमाज का आर्यसमाजियों से क्या सम्बन्ध है ?

आर्यसमाज और भारतवर्ष

आर्यसमाज की धर्म पुस्तक वेद हैं। वेदों का प्रादुर्भाव सबसे प्रथम भारतवर्ष में हुआ। कई विद्वानों की सम्मति है कि वेदों का प्रकाश एशिया माइनर या हिमालय में हुआ। किन्तु उनकी सम्मति मान लेने पर भी इसमें सन्देह नहीं कि वेदों का विस्तार प्रथम यहीं पर हुआ। फिर अन्यत्र जो आर्य लोग गए वे वेदों के मूल पाठ को भूल गए और अतएव उनके धर्म पुस्तकों में बहुत कुछ बाह्य आवेश हो गए। किन्तु भारतवर्ष में वेदों का मूल पाठ स्थिर रहा और अतएव यहाँ के धर्म पुस्तक शुद्ध वेद ही रहे। इस समय यदि कहीं वेदों को धर्म ग्रन्थ माना जाता है, या यदि कहीं वेदों पर पूर्ण श्रद्धा विद्यमान है तो वह भारतवर्ष है। इसीलिए भारतवर्ष को 'पवित्र भूमि' कहा जाता है। वेदों के सब व्याख्याकार भी भारतवर्ष के ही औरस पुत्र थे। इन सब कारणों से आर्यसमाज भारतवर्ष को पवित्र समझता है—वह उससे प्यार करता है। वह दिन बुरा होगा जिस आर्यसमाज, चाहे वह अमेरिका, इंग्लैंड आदि किसी देश में हों, भारत भूमि को इस भक्ति भरी दृष्टि से न देखेगा।

आर्यसमाज के प्रवर्तक और गत शताब्दी के सितारे ऋषि दयानन्द ने इसी भूमि में जन्म लिया और इसी भूमि में धर्म प्रचार का झंडा गाड़ा। अतः सबसे प्रथम आर्यसमाज यहाँ स्थापित हुआ।

बस, ये दो प्रकार के ही आर्यसमाज और भारतवर्ष के सम्बन्ध हैं। इनके आगे इन दोनों का सम्बन्ध नहीं बढ़ता। किन्तु यह सम्बन्ध भी ऐसा वैसा नहीं है। यह सम्बन्ध अकाट्य है। यह सम्बन्ध उस दिन भी स्थिर रहेगा, जिस दिन वैदिक धर्म का विस्तृत मेघ शान्ति रूपी अमृत की वर्षा करता हुआ अमेरिका और अफ्रीका के सर्द और गर्म स्थानों में एक समान अपनी मंगलध्वनि से दिशाओं को गुंजा देगा, वह सम्बन्ध उस दिन भी स्थिर रहेगा जिस दिन चंचल और उल्लासप्रिय फ्रांस निवासी भी वेदों की सादी किन्तु स्थिरता की दैवी शिक्षा से शिक्षित होकर अधिकार-अधिकार का शोर मचाने के स्थान में 'कर्तव्य' का स्मरण करेगा; और यह सम्बन्ध उस दिन भी स्थिर रहेगा जिस दिन ग्रेट ब्रिटेन के राजा को राज्याधिकार पाने के समय प्रोटेस्टेंट क्रिश्चियन होने का वचन देने की जगह वैदिकधर्मी होने का घोषणा देनी पड़ा करेगी। उस दिन भी आर्यसमाज भारतवर्ष को स्नेह की दृष्टि से देखेगा। किन्तु इससे अधिक कोई सम्बन्ध आर्यसमाज और भारतवर्ष में नहीं है। आर्यसमाज का उद्देश्य सारे संसार में सत्य धर्म का प्रचार करना है—उनकी दृष्टि से मनुष्य मात्र एक से हैं।

जो कोई मनुष्य इससे अधिक कोई सम्बन्ध इन दोनों में बताता है वह भूल पर है।

आर्यसमाज और आर्यजाति

आर्यजाति से यहाँ हमारा अभिप्राय उस जाति से है जिसे आजकल हिन्दू कहा जाता है और जो स्वयं भी अपने आप को 'हिन्दू' पुकारना चाहती है। वह चाहे अपने आपको कुछ पुकारे किन्तु हम उसे आर्यजाति ही पुकारेंगे। हम भी आर्यजाति के ही एक पुत्र हैं। जिस जाति में हमने जन्म लिया है—कम से कम उसका नाम विगड़ता हुआ तो हम नहीं देख सकते। हमें यदि कोई हिन्दू बुलावे तो हम उसे बहुत बुरा मनाएँगे और हम चाहते हैं कि हमारी जाति के सब मनुष्य ऐसा ही मनावे। अस्तु। यह तो विषयान्तर था। अब हम अपने वास्तविक विषय पर आते हैं।

आर्यजाति या हिन्दूजाति एक जाति है यह ऐसी स्पष्ट बात है कि इससे किसी को सन्देह नहीं हो सकता। यह भी उसी तरह से एक जाति है जिस तरह से कि सैल्टिक एक जाति है। हिन्दू शब्द किसी धर्म विशेष को नहीं कहता—यह एक जाति विशेष का वाचक है। हर एक जाति के कई एक विशेष गुण हुआ करते हैं। जैसे आर्यजाति की जो शाखा यूरोप में गई थी उसका एक गुण राजनैतिक स्वाधीनता के लिए यत्न करना कारण विशेषों से हो गया। इसी प्रकार से आर्यजाति की जो शाखा इस समय भारतवर्ष में है उसके भी पहले से कई विशेष गुण रहे हैं वे गुण जातीय विशेषताएँ कहाते हैं। वे जातीय विशेषताएँ हैं, वे धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। ईश्वर में विश्वास न रखनेवाले जैनी, वामी, वैष्णव, शैव आदि पुराने मतों के अनुयायी और ब्राह्मधर्मी और अन्य सुधारकगण सबके सब आर्यजाति में आ जाते हैं, अतः यह स्पष्ट है कि आर्यजाति या हिन्दू जाति एक जाति है—वह धर्म नहीं। यह उन शब्दों से भी स्पष्ट सिद्ध है।

जब आर्यजाति को हमने जाति मान लिया तो फिर उसका आर्यसमाज से सम्बन्ध स्पष्ट है। वह सम्बन्ध 'निषेध' है; अर्थात् जाति और धर्म में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। धर्म का धर्म से कोई सम्बन्ध हो सकता है—जाति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। हम आर्यजाति के हों या सैल्टिक जाति के हों—आर्यसमाज का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। उसका सम्बन्ध हमारे विचारों, सिद्धान्तों और आचारों से है, जाति से नहीं।

अतः समूहरूपेण आर्यसमाज को आर्यजाति के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं।

आर्यसमाज और ब्रिटिश सरकार

यह एक बड़ा पेंचदार तथा कठिनाइयों से भरा हुआ प्रश्न है। साथ ही यह नाजुक भी है। किन्तु तथापि यथा शक्ति इस संक्षेप से इस प्रश्न के उत्तर देने का यत्न करेंगे। आर्यसमाज का उद्देश्य धर्म प्रचार है। जिस-जिस देश में तथा जिस-जिस नगर में वैदिक धर्मियों का समूह हो जाएगा—और वह धर्म का प्रचार करना चाहेगा वहीं-वहीं आर्यसमाजों की स्थापना हो जाएगी। इसलिए, यद्यपि यह प्रश्न केवल आर्यसमाज और ब्रिटिश सरकार का है, तथापि कल यही प्रश्न आर्यसमाज और फ्रेंच सरकार का हो सकता है। अतः यहाँ हम स्पष्टतया कह देना चाहते हैं कि आर्यसमाज का और किसी भी सरकार का कोई विशेष सम्बन्ध न होगा जब तक आर्यसमाज अपने वास्तविक कार्य पर है, उससे किसी भी सरकार को कोई हानि नहीं हो सकती। धार्मिक भावों का फैलाना, आचारों का सुधारना, और शिक्षा का प्रचार, ये ऐसे कार्य हैं कि इनसे सरकार को कार्य में सहायता ही मिलेगी·–विरोध नहीं हो सकता। आर्यसमाज का समूहरूपेण इसके सिवा कुछ कार्य नहीं—अतः कदापि आर्यसामाजिक संस्था का किसी भी अच्छी सरकार से विरोध नहीं हो सकता। हाँ, जो सरकार शिक्षा के प्रचार को बुरा समझे, या लोगों के शरीर मन तथा आत्मा के सुधार को ही हानिकारी समझे—उनका आर्यसमाज अवश्य विरोधी होगा। यहाँ प्रश्न ब्रिटिश सरकार का है। जब हम ब्रिटिश सरकार के राजनियमों उद्देश्यों तथा अन्यदेशीय व्यवहारों पर दृष्टि डालते हैं तो हमें स्पष्टतया पता लगता है कि वह शिक्षा से विरोध नहीं रखती, न ही मनुष्यों के सुधार में उसे कोई लड़ाई है। ऐसी अवस्था में आर्यसामाजिक संस्था तथा ब्रिटिश सरकार का कोई विरोध नहीं हो सकता। जहाँ तक हमें ज्ञान है, आर्यसमाज ने समूहरूपेण कभी भी अपनी वास्तविक उद्देश्य से बढ़कर कान नहीं किया—अतः हमारी समझ में उन लोगों की बात नहीं आती जो आर्यसमाज तथा ब्रिटिश गवर्नमेन्ट में कोई विरोध समझते हैं।

अच्छी सरकार वही कहाती है जो प्रत्येक धर्म को खुला छोड़ दे। धर्म प्रचार के अन्दर हस्तक्षेप करना, सरकार के अधिकार से बाहर है। यदि वह हस्तक्षेप करती है तो वह अत्याचार करती है। ब्रिटिश सरकार ने इसी दिव्य नियम का पालन करते हुए भारतवर्ष में धार्मिक स्वतन्त्रता दे छोड़ी है। आर्यसमाज भी धर्मप्रचारक सभा है उसको भी अपने कार्य में स्वतन्त्रता देकर उसने अपना कर्तव्य पालन किया है। ऐसा करके ब्रिटिश सरकार ने अपना नाम सभ्य सरकारों में लिख लिया। ऐसा न करने पर उनका नाम असभ्य सरकारों में लिखा जाता।

अतः स्पष्ट है कि आर्यसामाजिक संस्था का ब्रिटिश सरकार से विरोध या मैत्री का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। भारतनिवासी होने से चाहे कोई आर्यसमाजी

सरकार के प्रति कोई अन्य भाव रखे—किन्तु आर्यसामाजिक संस्था का सरकार से किसी तरह का सम्बन्ध नहीं। आर्यसमाजी ब्रिटिश सरकार की प्रजा हैं—अतः उनके अधिकारों की रक्षा उसका कर्तव्य है। धार्मिक स्वतन्त्रता भी उनका अधिकार है—उसकी रक्षा भी उसका कर्तव्य है। किन्तु आर्यसामाजिक संस्था ब्रिटिश सरकार के प्रति उदासीन है। आर्यसामाजिक संस्था के कोश, उसके स्थान, और उसके साधन सब ब्रिटिश सरकार के प्रति उदासीन हैं। प्रजा के रूप में, भारतीय आर्यसमाजियों के सरकार के प्रति कुछ कर्तव्य है, किन्तु वे व्यक्तियों तक ही रह जाते हैं उन्हें समाज तक बढ़ाना बड़ी भारी अशुद्धि करना है।

[सद्धर्म प्रचारक, 19 जुलाई, 1911]

क्या हम धर्म को तुच्छ नहीं समझते ?

मनुष्य जीवन में धर्म का क्या उपयोग है ? एक बड़ी भारी कल में तेल का जो उपयोग है, वही मनुष्य जीवन में धर्म का है। यदि एक मशीन के अवयवों को तेल के स्नेह से स्निग्ध न किया जाए तो जो फल दिखाई दें, मनुष्य जीवन में से धर्म के प्रवासन से भी वही फल दिखाई दे सकते हैं। धर्म के बिना हमारा जीवन संघर्षमय हो जाए, उस पर जंकार चढ़ जाए और थोड़ी ही देर में चारों ओर भयानक अग्नि की शिखाएँ उठ-उठकर हमारा दाह करने लगे, धर्म हमारे जीवन का पूरा-पूरा रक्षक तथा स्नेहक है। वही हमारी सुलभस्थिति का हेतु है। धर्म से रहित जीवन मलिन और हेय हो जाता है—इससे कोई भी कार्य लेना असम्भव हो जाता है।

इस साधारण कथन को पर्याप्त दृष्टान्तों से सिद्ध किया जा सकता है। सारे देशों तथा जातियों के इतिहास इस कथन की साक्षी के लिए उपस्थित किए जा सकते हैं। धर्म की आवश्यकताओं को सबसे कम स्वीकार करनेवाले बड़े-बड़े दार्शनिक भी यह स्वीकार कर चुके हैं, कि धर्म सांसारिक परिवर्तनों का सबसे बड़ा कारण है। प्रायः धर्म और अर्थ का विरोध कहा जाता है। किन्तु अर्थशास्त्र के एक बड़े भारी नवीन आचार्य ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि धर्म मनुष्य समाज के मार्ग निर्देश का सबसे बड़ा साधन है। इसी प्रकार, एक बड़े भारी नव्य प्राकृतवादी पाश्चात्य दार्शनिक ने भी अपने ग्रन्थ में धर्म को ही सारी उन्नति का मूल बताया है। पहले, पश्चिम के दार्शनिक तथा वैज्ञानिक लोग धर्म की आवश्यकता को सर्वथा ही तिरोहित करना चाहते थे। धर्म को झूठे विश्वासों की पुड़िया के सिवाय कुछ न समझते थे। जो कोई भी बड़ा दार्शनिक बनने की इच्छा रखता था, वह सबसे प्रथम अपना कार्य सब प्रकार के धार्मिक विश्वासों पर चौका फेरना समझता था। किन्तु अब वह प्रवृत्ति नहीं रही है। अब धर्म के लिए वैसी घृणा विलुप्त हो गई है।

हर एक विचारक ने इस बात को स्वीकार किया है कि धर्म आवश्यक है—यह मनुष्य जीवन में अपरिहेय वस्तु है। दर्शन और विज्ञान ने भी बहुत दिनों तक अपने बड़े भाई से मुँह मोड़ कर अब फिर उसकी ओर मुँह उठाया है। अब उन दोनों को अपनी अशुद्धि मानकर धर्म के सामने सिर झुकाना पड़ा है। वर्तमान समय

के एक महान् वैज्ञानिक ने धर्म के पक्षसमर्थन में सब विरोधियों के खूब ही मुँह तोड़ उत्तर दिए हैं।

वे लोग जो धर्म की आवश्यकता से निषेध करनेवाले थे, उसकी ओर झुक रहे हैं। किन्तु हम, जिन्होंने अपनी वंश परम्परागत जायदाद के साथ ही धार्मिक श्रद्धा का हिस्सा लिया है, उसकी ओर पीठ कर रहे हैं। हमारे आचार्य ऋषि दयानन्द का सबसे बड़ा उपदेश यह था कि

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्।'

धर्म की यदि हिंसा की जाए तो वह हिंसा करनेवाले को कभी जीता नहीं छोड़ता। धर्म बड़ा बदला लेने वाला बल है। किन्तु क्या हमने अपने आचार्य के इस उपदेश पर कुछ भी ध्यान दिया है ?

आज हम इसी विषय में कुछ संक्षेप से लिखना चाहते हैं। हम लोग अपने आपको आर्यसमाजी कहते हैं, तथा ऋषि दयानन्द के शिष्य आघोषित कहते हैं। ऋषि दयानन्द का हमारे लिए सबसे बड़ा सदुपदेश धार्मिक गौरव का था। किन्तु हम उसको भूल गए हैं। वाह्याडम्बर तथा धर्मध्वजा से हमें बेहद प्रेम है किन्तु वास्तविक धर्म से हम कोसों दूर है। शायद बहुत से आर्यपुरुष हमारे इन कथनों में अत्युक्ति का बाहुल्य समझें। किन्तु, हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं, कि हम अत्युक्ति को सर्वथा छोड़कर ही लिख रहे हैं। हमारी यह दृढ़ सम्मति होती जाती है कि हम लोग वस्तुतः धर्म की उतनी आवश्यकता नहीं समझते, जितनी हमें समझनी चाहिए। हम धर्म का नाम लेना जानते हैं, किन्तु उस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझते।

धर्म पर ध्यान देने के, हमारी सम्मति में दो चिन्ह हो सकते हैं। धार्मिक ग्रन्थों का अनुशीलन तथा आचारसुधारण पर विशेष ध्यान। यदि हमारे अन्दर कुछ भी धर्मप्रेम है तो हम अवश्य अपने धार्मिक ग्रन्थों का अनुशीलन करते होंगे। वेदों का अनुशीलन दूर रहा उसके लिए हमारे पास साधन भी थोड़े हैं, और योग्यता भी कम है। किन्तु और धार्मिक ग्रन्थों का अनुशीलन भी तो हम नहीं करते। हम प्रत्येक आर्यसमाजी से प्रार्थना करते हैं कि वह अपने दैनिक जीवन पर दृष्टि डाल कर देखें, कि वे अपने धार्मिक ग्रन्थों के अनुशीलन में कितना समय देते हैं ? हमारा विश्वास है कि यदि आर्यसामाजिक लोग हमारी प्रार्थना स्वीकार करेंगे तो उन्हें पता लगेगा कि वास्तविक धर्मप्रेम से अभी वे बहुत पीछे हैं। अन्य धर्मों के खंडन की पुस्तकों या ट्रेक्ट पढ़ लेना, धर्मग्रन्थानुशीलन नहीं कहाता। दो-एक सामाजिक पत्रों का बाँच लेना भी भिन्न है। धार्मिकग्रन्थों का वास्तविक अनुशीलन हमारे अन्दर से प्रायः सर्वथा उठता जा रहा है। और तो और हमारे बड़े-बड़े उपदेशक

तथा प्रचारक भी कभी-कभी अपने धार्मिक ग्रन्थों से ऐसी अज्ञता प्रकट करते हैं, जिसे देखकर शर्म तथा दुःख के सिवाय और कोई आश्रय नहीं रहता। हमें वह दिन याद है, जिस दिन हमने समाज के एक बड़े भारी वावदूक शास्त्रार्थ करनेवाले को अपने शास्त्रों की अनभिज्ञता के कारण हुए देखा था। यह निश्चय रखना चाहिए कि जब तक हम अपने धार्मिक ग्रन्थों का अनुशीलन प्रारम्भ न करेंगे, तब तक हमारे अन्दर से धार्मिक युद्ध के भावों के स्थान में धार्मिक प्रेम का समावेश न होगा। हमारे अन्दर इतने झगड़ों और संग्रामों के होने का कारण, हमारी वास्तविक धर्म से अरुचि ही है। हम धर्म की धर्म के लिए सेवा नहीं करते हैं। इसका मुख्य कारण, धार्मिक ग्रन्थों के अनुशीलन में हमारी अप्रवृत्ति ही है।

धर्म में प्रेम होने का दूसरा चिन्ह आचार तथा कर्तव्य के लिए श्रद्धा है। यदि किसी के विषय में यह जानना हो कि क्या वह धर्म से वास्तविक प्रेम रखता है तो यह देखना बहुत आवश्यक है कि क्या आचार तथा कर्तव्य के लिए उसके अन्दर किसी प्रकार का स्नेह विद्यमान है ? जिस मनुष्य में इन दोनों चीज़ों के लिए श्रद्धा नहीं है—उसे धार्मिक प्राणी के स्थान में नैतिक प्राणी कहना अधिक यथार्थ होगा। क्या हमारे अन्दर इन दोनों चीज़ों के लिए श्रद्धा विद्यमान है ? क्या आर्यसमाज की वर्तमान दशा इसकी सत्ता में साक्षी देती हैं ?

इसका उत्तर आर्यपुरुष अपने मन से दें। थोड़े दिनों में हम भी देने का यत्न करेंगे।

[सद्धर्म प्रचारक, 6 सितम्बर, 1911]

शिक्षा—क्यों और कैसी ?

[1]

जो वर्ष चल रहा है, इसे यदि शिक्षा वर्ष कहें तो अत्युक्ति न होगी। निःसन्देह यह वर्ष भारतवर्ष के लिए शिक्षा की हलचल का वर्ष है। जिधर देखिए उधर शिक्षा के लिए कोलाहल मचा हुआ है। सबसे प्रथम इस कोलाहल को आप मि. गोखले के शिक्षा-बिल के सम्बन्ध में पाएँगे। हिन्दू यूनिवर्सिटी, मुहम्मडन यूनिवर्सिर्टी, और श्रीमती बेसेन्ट की भारतीय यूनिवर्सिटी के नए प्रस्ताव भी शिक्षा-सम्बन्धी हलचल के ही सूचक हैं। इस हलचल का भारतवर्ष के जीवन में क्या गौरव है ? यह शिक्षा-सम्बन्धी हलचल क्यों उत्पन्न हुई है ? और जिस शिक्षा के लिए यह हलचल है उसका कैसा स्वरूप है ?

सब प्रकार की उन्नति का और विशेषतया राष्ट्रीय तथा सामाजिक उन्नति का प्रथम तथा सबसे मुख्य कारण शिक्षा है। शिक्षा से रहित राष्ट्र उन्नति कर सके—यह अश्रुतपूर्व तथा असम्भव बात है। उन्नति करने के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र का बहुत बड़ा अंश शिक्षित हो। देश में केवल छः सात या दस सैकड़ा मनुष्य भी यदि पड़े हुए हो तो इतनी शिक्षा उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती। उन्नति के लिए राष्ट्र का प्रधान अंश तथा बड़ा अंश शिक्षित होना चाहिए। भारतवर्ष अभी शिक्षा की दृष्टि से बहुत ही अशक्त है तथा अन्य देशों से बहुत ही पीछे है। भारतवर्ष की उन्नति चाहने वालों का सबसे प्रथम कार्य लोगों को शिक्षित करना था। किन्तु आज तक हमारे देश के मुख्य-मुख्य नेता लोग इस अत्यावश्यक कार्य को छोड़कर सभाओं और सोसाइटियों के करने में ही लगे रहे। जड़ का सींचना सर्वथा भुलाकर आज तक उन्होंने पत्तों पर छिड़काव करने में ही अपने यत्न किए और यह नहीं सोचा कि सर्वसाधारण को शिक्षित किए बिना राजनैतिक अधिकारों का पा लेना, वैसा ही है जैसे रेतीले मैदान पर राजभवन का खड़ा कर लेना। सर्वसाधारण को शिक्षित किए बिना पहले तो किसी प्रकार की राजनैतिक या सामाजिक उन्नति का पाना ही असम्भव है, और यदि किसी तरह वह पा भी ली जाए तो उसका स्थिर रखना तो सर्वथा ही असम्भव है।

आज तक हमारे देश के नेता इस बात को भूले हुए थे। हर्ष की बात है कि कुछ दिनों से उनकी आँखें खुली हैं। आँखें खुलने के भी कई विशेष कारण हुए हैं। उन लोगों ने इतने बरसों तक सरकार के सामने अधिकारों के पाने के लिए हाथ फैलाए, किन्तु उन्हें परिवर्तन में कुछ भी न मिला। इसने सबसे प्रथम उनकी आँखें खोलीं, इस घटना ने उन्हें विचार में डाल दिया। वे उस अकृतकार्य मार्ग को छोड़कर, किसी अन्य उन्नति के मार्ग की खोज में लगे। उन्होंने सर्वसाधारण की सबसे बड़ी आवश्यकता को खोजना शुरू किया। आज तक वे लोग केवल कूपमण्डूक नेता थे। आराम चौकियों पर बैठे हुए नेताओं से यह आशा रखनी कि वे देश की वास्तविक आवश्यकताओं को पहचान सकेंगे, दुराशा मात्र है। मि. गोखले इस आवश्यकता के पहचानने वालों में से, इस समय, प्रथम हुए। कारण इसका यह हुआ कि अपनी भारतसेवक मण्डली के सभासदों द्वारा आप सर्वसाधारण से अब बहुत सम्बद्ध रहने लगे हैं। सर्वसाधारण से काम पड़े बिना कभी उनकी वास्तविक आवश्यकता समझ में नहीं आ सकती। जब तक मि. गोखले भी कांग्रेस के कर्णधार रहे, तब तक वे शिक्षा के महत्त्व को नहीं समझे। किन्तु ज्यों ही उनकी सेवक मण्डली ने सर्वसाधारण में कुछ कार्य करना शुरू किया, त्यों ही उनकी आँखें खुल गईं। उन्होंने देखा कि बिना शिक्षा के देश के एक बड़े भारी भाग की सामाजिक तथा आर्थिक दशा का सुधारना नहीं बन सकता। यह समझकर मि. गोखले ने अपना शिक्षा बिल पेश किया।

उधर मुसलमानों में एक नई जागृत्ति का संचार हो गया। आज तक भारतवर्ष के मुसलमान निवासी विद्या और शिक्षा में अपने अन्य स्वदेशियों से बहुत पीछे थे और अतएव वे अपने सामाजिक अधिकारों को कम समझते थे। किन्तु अब थोड़े दिनों से यह समझ बदल गई है। न जाने किस नीति या विचार से प्रयुक्त होकर सरकार ने अपने नए नियम संशोधनों द्वारा भारतीय शासन में मुसलमानों को कुछ विशेष अधिकार दिए। उस समय मुसलमानों को पता लगा कि यद्यपि योग्यता तथा विद्या में वे अपने अन्य स्वदेशियों से बहुत पीछे हैं, तथापि राजनैतिक दृष्टि से उनकी उपयोगिता कम नहीं है। तब उन्हें पता लगा कि अभी तक भारतवर्ष के राजनीतिक क्षेत्र में वे भी एक विशेष भाग हैं। इस आत्मविषयक ज्ञान ने एक नई ही महत्त्वाकांक्षा को उत्पन्न किया।

सर सय्यद अहमद खां ने अलीगढ़ कालेज की नींव रखने से पूर्व एक बहुत बड़ा उद्देश्य सामने रखा था। उस परिश्रमी तथा बुद्धिमान् मुसलमान की यह इच्छा थी कि मुसलमानों के लिए एक ऐसा विश्वविद्यालय खोला जाए, जिसमें दूर-दूर के द्रेशों से आकर सब तरह के मुसलमान शिक्षा पाया करें। यह विचार अब तक अशक्ति के कारण स्थगित रहा। अब सरकार में आश्रय पाते ही उनमें फिर से जागृति उत्पन्न हुई। हिज हाईनेस सर आग़ाखां के नेतृत्व में, सभी प्रारम्भिक

विश्वविद्यालय के विचार का परिणाम शुरू हुआ। मुहम्मडन यूनिवर्सिटी के लिए चारों ओर हलचल मच गई।

मुसलमानों को इस प्रकार कृतकार्य होता देखकर, श्री पं. मदनमोहन मालवीय जी के मन में भी नई उत्साह ज्योति का उदय हुआ। कुछ वर्ष पहले उन्होंने एक हिन्दू यूनिवर्सिटी का प्रस्ताव उठाया था, किन्तु आजकल आर्य सन्तान की नसों में रुधिर जैसा ढीला पड़ा हुआ है उसे सब जानते हैं। अब तक उनकी यूनिवर्सिटी का प्रस्ताव उत्साहीनता के कारण खटाई में पड़ा रहा। आग़ाखां का विजयनाद चारों ओर सुनकर मालवीय जी की भी सुषुप्ति दूर हुई। मुसलमान भाइयों के उत्साह से लज्जित हुए आर्य लोगों का भी दिल उत्साहपूर्ण हो गया। हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए भी प्रयत्न होने लगा।

उन सब प्रकार के काल्पनिक यत्नों से लाभ लेकर लाहौर के कई एक पुरुषार्थी सज्जनों ने एक क्रियात्मक कार्य कर डाला। लाला हरकिशन लाल और लाला लाजपतराय जी ने मिलकर प्रारम्भिक शिक्षा प्रचार के लिए जो यत्न शुरू किया है, वह इसी शिक्षा विषयक हलचल का अंग है। पंजाब की देखा-देखी बंगाल के नेताओं की भी आँखें खुली हैं। डॉ. रासबिहारी घोष, बाबू सुरेन्द्रनाथ और लाला शारदाचरण मिश्र आदि महानुभावों ने मिलकर एक घोषणा पत्र प्रचारित किया है, जिस द्वारा देश के बड़े-बड़े आदमियों को एक विशेष सभा में निमन्त्रण दिया गया है। इस सभा में बंगाल के शिक्षा सम्बन्धी भविष्य पर विचार किया जाएगा।

ये सब देश की शिक्षा जागृति के चिन्ह हैं। इस चिन्ह के गौरव तथा तत्त्व को हम अगले अंक में जानने का यत्न करेंगे।

[सद्धर्म प्रचारक, 27 सितम्बर, 1911]

शिक्षा क्यों और कैसी ?

[2]

विगत सप्ताह, इसी विषय पर लिखते हुए, हमने शिक्षाविद्यालय हलचल का कुछ समीक्षण किया था। उस समीक्षण से हमें पता लगा था कि देश के अन्दर इस समय शिक्षा के लिए बड़ी ही उग्र बुभुक्षा उत्पन्न हो चुकी है। देश के विचारक लोग विशेषतया और सर्वसाधारण सामान्यतया शिक्षा के गौरव को कुछ-कुछ समझने लगे हैं। बड़ौदा नरेश ने इसी भूख के पूरा करने के लिए जो-जो साधन किए हैं, वे अब सर्वज्ञात हो गए हैं। शिक्षा सुधार के विषयों में बड़ौदा ब्रिटिश सरकार से भी दो-चार कदम आगे रहा है। बड़ौदा के आदर्श को ही सामने रखकर, मि० गोखले का बिल प्रस्तावित हुआ है। और रियासतों के नरेश भी बड़ौदा के चरण चिन्हों पर चलने का यत्न कर रहे हैं। सारांश यह कि शिक्षा के लिए भूख व्यापिनी हो रही है।

आज हम इस भूख का विश्लेषण करना चाहते हैं। इस लेख में हम देखना चाहते हैं कि शिक्षा विषयक विद्यमान मांग में कौन-कौन से अवयव वर्तमान हैं और उसकी क्या स्पष्ट विशेषताएँ प्रतीत होती है ?

शिक्षा की माँग की विशेषताएँ

1. शिक्षा की माँग की प्रथम विशेषता यह है कि उसे इस समय सबके लिए समान कर देने का विचार किया जा रहा है। हर एक व्यक्ति चाहे वह किसी कुल या किसी स्थिति का हो—अवश्य शिक्षित होना चाहिए, यह शब्द है जो चारों दिशाओं में उत्तेजित हो रहा है। जातियों और उपजातियों का अब शिक्षा से सम्वन्ध टूटता जाता है, और मनुष्यत्व और शिक्षा का अटूट सम्बन्ध होता जाता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो साधन कार्य में लाए जा सकते हैं, उनके विषय में मतभेद हो सकता है, और है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा को सर्वव्यापी बनाने के विरुद्ध कोई भी नहीं है। मतभेद अनेक अंशों में हो सकता है, दृष्टान्त के लिए आप जबर्दस्ती का प्रश्न ले लीजिए। सबको शिक्षित करने के लिए आवश्यक है

कि अनिच्छुकों को जबर्दस्ती शिक्षित किया जाए। वह जबरदस्ती सामाजिक बल द्वारा की जाए या राजनीतिक बल द्वारा ? यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। सभ्य देशों में राजनैतिक बल ही शिक्षा का प्रचारक होता आया है, इसलिए हमारे देश में भी यही उपाय सफल हो सकता है, यह स्पष्ट है, तथापि मतभेद के लिए स्थान का अभाव नहीं है। पश्चिम में ऐसे विचारकों की कमी नहीं है, जो राज्य के इतने अधिकारों को भयानक समझते हैं, और व्यक्तिवाद को ही प्रधान समझते हैं। ऐसे-ऐसे मतभेद हैं, और रहेंगे; हमें इस समय उनसे अभिप्राय नहीं, यहाँ अभिप्राय केवल प्रवृत्ति से है। सार्वजनिक शिक्षा की, जो पतितपावनी लहर इस समय देश में चल गई है, उसका ज्ञान लेना ही यहाँ हमारे लिए पर्याप्त है।

(2) शिक्षा के लिए वर्तमान हलचल का दूसरा बड़ा अंश धार्मिक शिक्षा सहित शिक्षा के लिए पुकार है। श्री. मालवीय जी से प्रारम्भ करके, सर आग़ाखां तक के सब कार्यकर्ता स्वीकार करते हैं कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली में सबसे बड़ा दोष धार्मिक शिक्षण का अभाव है। केवल प्रजापक्षपाती नेता ही इस कमी को अनुभव कर रहे हैं–ऐसा नहीं, राजकीय पक्ष भी अब इस विषय में सन्दिग्ध हो रहा है। विद्यालयों की शिक्षा से विद्यार्थियों का मानसिक शिक्षण चाहे कितना ही हो जाता हो, किन्तु आत्मिक शिक्षण के गोलक में एक कानी कौड़ी भी नहीं· पड़ती। देश में फैले हुए अराजकतावाद और निषेधवाद का मूल कारण धार्मिक शिक्षण का अभाव ही है। पुस्तकीय धार्मिक शिक्षण के साथ क्रियात्मक धार्मिक शिक्षण के लिए भी पुकार धीमी नहीं है। इस समय विद्यालय के तथा महाविद्यालय के छात्रों के गलों में छोटी अवस्था में ही गृहस्थ के बन्धन पड़ जाने से जो हानियाँ हैं, उन्हें कौन-सा विचारक अनुभव नहीं कर रहा। स्कूलों के साथ ही आश्रमवास की प्रथा का अब सभी अनुमोदन करने लगे हैं। आश्रमवास तथा ब्रह्मचर्य के लिए माँग समान रूप वाली ही समझनी चाहिए। ब्रह्मचर्यपूर्वक आश्रम वास धार्मिक शिक्षण का ही क्रियात्मक अंश है, मुसलमानों और हिन्दुओं के विश्वविद्यालय इस प्रवृत्ति के ज्वलन्तरूप हैं।

(3) शिक्षा विषयक हलचल का तीसरा प्रधान अंग शिक्षण प्रणाली का संशोधन है। भारतवर्ष की वर्तमान शिक्षा कल्पनात्मक अधिक है और क्रियात्मक कम है; अंग्रेजी के अध्यापन को स्कूलों में जो प्राधान्य दिया जाता है, वह विद्यार्थियों की स्वमूलक शक्तियों का ह्रास करनेवाला है। प्राचीन आर्य तथा आर्ष ग्रन्थों का अनुशीलन आवश्यकता से बहुत कम कराया जाता है; विद्यमान शिक्षा से क्लर्क और रेलवे में काम करने वाले ही उत्पन्न किए जा सकते हैं, वास्तविक शिक्षित मनुष्य नहीं; ये सब कथन हैं जो इस समय देश के विचारकों के अन्दर आदर प्राप्त कर रहे हैं। इस समय की शिक्षा को नाम की अधिक और काम को थोड़ी समझा जाता है। इस कमी के पूरा करने के लिए, कई लोगों का विचार है कि

शिक्षा उन्हीं लोगों के हाथों में रहनी चाहिए, जिन लोगों से उसका पूरा सम्बन्ध **हो,** ताकि वे अपने हिताहित का विचार कर के शिक्षा प्रणाली को निश्चित कर **सकें,** और साथ ही अनेक स्वाधीन विश्वविद्यालयों की रचना होनी चाहिए, जिससे **शिक्षा** के विषय में अनेक प्रकार के परीक्षणों द्वारा और परस्पर की डाह (Competition) द्वारा शिक्षा शीघ्र उन्नति को प्राप्त हो सके।

ये तीन ही विशेष प्रवृत्तिएँ हैं, जिनसे शिक्षा विषयक वर्तमान हलचल बनी हुई है।

[सद्धर्म प्रचारक, 11 अक्तूबर, 1911]

कांग्रेस की सार्थकता

यद्यपि इस समय कांग्रेस की सार्थकता का प्रश्न उठाना आश्चर्यजनक प्रतीत होता है, और एक अवस्थित सत्य की सत्यता में सन्देह करने के समान दिखता है, तथापि यदि जरा विचारपूर्ण दृष्टि से देखा जाए, तो प्रतीत होगा कि भारतीय कान्वेशनल कांग्रेस की सार्थकता बहुत सन्दिग्ध हैं, और उससे देश का कोई हित हो सकता है, या हो रहा है, यह बहुत ही दुस्तर प्रश्न है। यह वर्ष जहाँ सारे भारतवर्ष के लिए विशेष है, वहाँ कांग्रेस के लिए भी विशेष ही है। देश के लिए यह दरबार के कारण विशेष है, और कांग्रेस के लिए यह सभापति के चुनाव के लिए विशेष है। न केवल यही कि इस वर्ष युक्तप्रान्त का एक विद्वान् वृद्ध कांग्रेस का सभापति हुआ है, किन्तु यह भी कि अभी एक साल पहले भी उसी प्रान्त का एक योग्य नेता इस पद को प्राप्त कर चुका है—एक विशेष घटना को सूचित करता है। इन सभापतियों से पहले, इस प्रान्त ने कोई भी सभापति कांग्रेस को नहीं दिया था, अब एकदम पास ही पास उसी प्रान्त के दो सज्जनों का चुना जाना सूचित करता है कि यह प्रान्त अब वहाँ पहुँच रहा है, जहाँ अन्य प्रान्त बहुत पूर्व पहुँच चुके थे। यह प्रान्त अब उस पीढ़ी पर पहुँचा है, जिस पर से बंगाल-बम्बई आदि उन्नतिशील प्रान्त बहुत पहले गुजर चुके हैं।

किन्तु अन्य प्रान्त अब कहाँ पहुँच गए हैं ? जो प्रान्त कई बरस पहले ही कांग्रेस-युग को पहुँच चुके थे, वे अब किधर को चल रहे हैं ? क्या वे कांग्रेस की दशा से कुछ आगे बढ़े या अभी वहीं पड़े हुए हैं ? ये प्रश्न हैं जिनका उत्तर लेना इस समय बहुत ही सप्रयोजन सिद्ध हो सकता है। भारत की साधारण दशा इस समय कांग्रेस जैसी संस्था से कुछ उन्नति कर सकती है या नहीं, जब तक यह निश्चय न हो जाए, तब तक कांग्रेस की सार्थकता का जानना कठिन है। आज इस लेख में हम इसी विषय पर अपने कुछ विचार प्रकट करेंगे।

सबसे प्रथम बात, जिसका निश्चय करना प्रस्तुत विषय के समझने के लिए आवश्यक है, यह है कि इस समय भारतवर्ष को किस चीज की आवश्यकता है ? उसकी वास्तविक न्यूनता कहाँ पर निवास करती है, देश की सबसे बड़ी और वास्तविक न्यूनता सर्वसाधारण का अशिक्षित तथा अज्ञता होना है। जब तक

सर्वसाधारण में से अशिक्षा तथा अज्ञता का नाश नहीं होता, तब तक यह आशा रखना सर्वथा व्यर्थ है कि देश की सामाजिक दशा सुधरेगी, उसको राजनैतिक गौरव प्राप्त होगा, या उसका धार्मिक नालिन्य प्रक्षालित होगा। जब तक साधारण प्रजा हमारे पृष्ठ पर नहीं है, तब तक हमारी प्रार्थनाओं की कुछ भी कीमत नहीं, और हमारे प्रस्तावों की कुछ भी सत्ता नहीं। देश की सबसे बड़ी आवश्यकता, सर्वसाधारण में शिक्षा तथा ज्ञान का प्रचार है।

देश की वर्तमान आवश्यकता का हमें पता लग गया, अब दूसरा प्रश्न हमारे सामने यह उपस्थित होता है, कि क्या कांग्रेस या कांग्रेस दल को अन्य चेष्टाएँ इस आवश्यकता को पूरा कर मकती हैं ? जब हम इस प्रश्न पर कुछ गम्भीर विचार करते हैं तब हमें प्रतीत होने लगता है, कि इन वाक्प्रधान संस्थाओं तथा चेष्टाओं से देश की वास्तविक आवश्यकता कदापि पूरी नहीं हो सकती। कांग्रेस दल की सभी हलचलों की टक्करें, अशान्त पड़े हुए भारतीय साधारण जन सागर में ज़रा-सी भी चलायमानता उत्पन्न नहीं कर सकतीं। कांग्रेस के सैकड़ों उज्ज्वल प्रस्ताव और सहस्रों प्रभावशाली व्याख्यान, सर्वसाधारण पर उतना भी असर नहीं कर सकते, जितना असर एक कीड़ी के रींगने से एक पर्वत पर होता है।

सीधे मार्ग से, ये सभाएँ तथा सम्मेलन देश की वास्तविक आवश्यकता को पूरा नहीं करते। उलटा उन लोगों की शक्तियों के वृथा व्यय के हेतु होते हैं, जो देश की इस बड़ी भारी आवश्यकता को पूरा करने का यत्न कर सकते हैं। कांग्रेस का पुराना बीस से अधिक सालों का कार्यवृत्त जब हमारी आँखों के सामने आता है, तब सिवाय अल्प विस्तार वाली मध्यम चमक के कुछ भी हमारी दृष्टि के सन्मुख नहीं आता। देश की सामाजिक आर्थिक तथा धार्मिक दशा के सुधारने में कांग्रेस का जो हिस्सा है, उसका खोज निकालना किसी बहुत ही बड़े सूक्ष्मदर्शी का कार्य है। हाँ, इस कांग्रेस ने कितने देश पुत्र रत्नों का समय वृथा गँवाया, कितने भाइयों में परस्पर विच्छेद कराया, और वास्तविक दृढ़ कार्य को वृथा भाषण द्वारा कितनी क्षति पहुँचाई, इस सब बातों का जानना कोई कठिन कार्य नहीं, और एक साधारण मतिवाला दर्शक, गत वर्षों के इतिहास पर दृष्टि डालता हुआ इन बातों को जान सकता है।

इस सब बातों का विचार करके, देश के कई मुख्य-मुख्य विचारकों ने अपने कार्यों के क्षेत्रों का परिवर्तन प्रारम्भ कर दिया है। यह आज की बात नहीं, तीन-चार वर्ष की बात है, जब देश के बहुत-से चिन्तकों ने यह निर्धारण कर लिया था, कि कांग्रेस के ढंग का देशहित कार्य, देश के वास्तविक हित में अधिक सहायता नहीं दे सकता। यही निर्धारण करके उन्होंने कुछ वास्तविक सदात्मक कार्य करना शुरू भी किया था। यहाँ यह कह देना भी बिना फल के न होगा कि जिस बात को हमारे कई नेताओं ने चार पाँच बरस पहले देखा था, उसी बात को मुसलमानों

के सामयिक गुरु सरसैयद अहमद खां ने और भी पहले देख लिया था। कांग्रेस के साथ अपना कोई भी सम्बन्ध न रखते हुए, और निरर्थक कार्यों में अपना समय व्यर्थ न खोते हुए, उसने एक ऐसा यन्त्र तैयार कर दिया, जिसमें वे प्रतिवर्ष बीसों मुसलमान युवक, मुसलमानों में मुसलमानी भाव के स्थिर रखने के लिए तैयार किए जाने लगे। उसका फल यह हुआ कि इस समय जहाँ अन्य भारतीय लोग सैकड़ों मतभेदों के कारण परस्पर कार्य नहीं कर सकते, और करते भी हैं, तो पूरे विश्वास से नहीं करते, वहाँ मुसलमान लोग, मुसलमानों के लिए कटने-मरने के लिए तैयार बैठे हैं। सारे भारतीय मुसलमान थोड़े-से अपवादों को छोड़कर अपने पृथक तथा संरक्षण में एक मन और एक ही वचन हैं। किन्तु हम, हमारा कुछ न पूछिए। हम लोगों ने पहले से ही ऐसे कोई कार्य प्रारम्भ नहीं किया था, जिससे कोई भावात्मक अच्छे परिणाम निकलते, तथा जाति पुष्टाँग होकर भयानक-से-भयानक आक्रमणों के भी सहने के योग्य होती।

यही वास्तविक न्यूनता है जो इस समय हमारी वास्तविक उन्नति को रोक रही है। हमारी जाति के अंग प्रत्यंग परिपुष्ट नहीं हैं, और इसीलिए हम समय के प्रहारों का सामना नहीं कर सकते। कांग्रेस और कांग्रेस के ढंग की अन्य चेष्टाएँ इस न्यूनता की पूर्ति में न आज तक सहायक हो सकी है, और नहीं आगे हो सकेंगी। इसलिए अब समय है जब इन वाङ्मय चेष्टाओं का त्याग करके, कर्ममय चेष्टाओं का प्रारंभ किया जाए।

[सद्धर्म प्रचाकर, 8 नवम्बर, 1911]

हिन्दु यूनिवर्सिटी नाम मात्र

हिन्दू यूनिवर्सिटी का नाम सुनकर हमें जितनी प्रसन्नता हुई थी, जिस अवस्था में वह अब बनने लगी है, उसे देखकर हमें उतना ही शोक हुआ है। हिन्दू यूनिवर्सिटी के लिए जिन-जिन बातों को हम विष समान समझते थे, वे ही अब उसके साथ सशक्त हो गई हैं। हमारी समझ में उस समय हिन्दू यूनिवर्सिटी की उपयोगिता कोई विशेष नहीं रही। हिन्दू यूनिवर्सिटी से जिन-जिन लाभों की आशा की गई, प्रायः उन सबकी हत्या ही होती दृष्टिगोचर होती है।

धर्म की रक्षा

हिन्दू यूनिवर्सिटी के दो ही प्रकार के उद्देश्य मुख्यतया अब तक उसके प्रस्तावों द्वारा कहे जाते रहे हैं। उनमें से एक धार्मिक और दूसरा शिक्षा विषयक है। हिन्दू यूनिवर्सिटी का धर्म विषयक उद्देश्य यह था कि वह भारतवर्ष में फिर से पुराने सनातन धर्म का प्रादुर्भाव करके वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करे, तथा 'हिन्दू धर्म' की दृढ़ता का हेतु हो। अब वर्तमान अवस्था में क्या यह सम्भव है कि यूनिवर्सिटी के छात्रों को कोई विशेष धार्मिक शिक्षा दी जाए। हमारी समझ में इस उद्देश्य की पूर्ति में मुख्य-मुख्य विघ्न निम्नलिखित हैं—

(1) अभी तक हिन्दू यूनिवर्सिटी के संचालकों ने यह निर्धारण नहीं किया कि 'हिन्दू धर्म कौन-सा है' ? इलाहाबाद के लीडर इस विषय में देश के बड़े-बड़े विद्वानों की सम्मतियाँ ले रहा है, किन्तु सम्मति लेने का परिणाम क्या हुआ है ? उसने उन सम्मतियों को पढ़कर यह सम्मति बनाई है, कि कोई भी नहीं जानता कि निश्चित हिन्दू धर्म (?) क्या है ? हमारी सम्मति उस विद्वान् से मिलती है, जिसने लीडर में लिखा है कि 'हिन्दू है' कोई है ही नहीं, वह कई प्रकार सर्वथा विरुद्ध 'सम्प्रदायों' का समूह है। अतः यह निश्चित करना यूनिवर्सिटी के संचालकों का सबसे प्रथम—यद्यपि सबसे कठिन कार्य है। किन्तु उन्होंने अब तब कोई निश्चित

नहीं किया। जिस यूनिवर्सिटी के लिए दरभंगा नरेश जैसे छूता-छूती सनातनी, श्रीमती बेसेण्ट जैसी थ्यासीफिस्टा, बाबू गंगाप्रसाद जैसे सुधारक, और लाला लाजपतराय जैसे आर्यसमाजी कार्य कर रहे हैं, वहाँ कौन-सा धर्म सिखाया जाएगा ?

(2) यूनिवर्सिटी के, अध्यापक वृन्द में एक बड़ी संख्या यूरोपियन अध्यापकों की होगी। सबसे बड़ा पढ़ाने का ही असर विद्यार्थी पर हुआ करता है. वह अब चिन्हित उद्देश्य से बहुत ही उलटा पड़ेगा।

उत्तम शिक्षा

दूसरा यूनिवर्सिटी का उद्देश्य, जहाँ तक हम समझते हैं, आर्य जाति में उत्तम शिक्षा का अधिक प्रचार करना कहा गया था। हम नहीं जानते कि वर्तमान रूप की यूनिवर्सिटी किस तरह जाति को अधिक शिक्षित करने में समर्थ होगी, सरकारी अन्य यूनिवर्सिटियों से उसमें क्या विशेषता होगी, जिससे वह शिक्षा-प्रचार का कार्य अधिक सफलता से कर सकेगी ? इस यूनिवर्सिटी के सिर पर भी वही शक्ति विद्यमान होगी, जो अन्य यूनिवर्सिटियों के सिर पर है; इसमें भी उसी अपरिचित अंग्रेजी भाषा द्वारा शिक्षा दी जाएगी, जिस द्वारा अन्य यूनिवर्सिटियों में दी जाती है और जिसका हटाना इस यूनिवर्सिटी का प्रथम तथा मुख्य कर्त्तव्य होना चाहिए था। इसमें कोई विशेष सहानुभूति वाले महोपाध्याय गण श्री न होंगे, जो विद्यार्थियों को विशेष चुम्बकित कर सकें, क्योंकि अध्यापक वृन्द में यूरोपियन अध्यापकों की ही बहुतायत होगी। तब हम पूछते हैं कि महाशय ! वह कौन-सी स्वर्गीय बात है, जिसके लिए आप यूनिवर्सिटी को स्थापित कर रहे हैं। वह कौन-सी करामात है जिसे आप इस विश्वविद्यालय से करना चाहते हैं ?

हमारी समझ में, चार्टर हिन्दू यूनिवर्सिटी के प्रस्तावकों को बहुत दूर खींचकर ले गया है, जहाँ वे ठहरना चाहते थे उस स्थान से बहुत ही पृथक हो गए हैं। ऐसी अवस्था में हिन्दू यूनिवर्सिटी को बना डालने का एक ही उद्देश्य हो सकता है, और वह यह कि हम लोग मुसलमानों से पीछे न रह जाएँ। मालवीय जी इस भाव को तामसी भाव कहें, किन्तु वस्तुतः यही भाव है जो बहुत-से कार्यकर्ताओं को इस समय यूनिवर्सिटी के कार्य को अग्रसर करने के लिए प्रेरित कर रहा है।

[सद्धर्म प्रचारक, 15 नवम्बर, 1911]

दरबार का फल

देहली का शाही दरबार बड़ी धूमधाम और कृतकृत्यता से ही रहा है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। छोटे-छोटे विघ्न और तुच्छ बाधाएँ उसकी कृतकृत्यता को मार नहीं सकतीं। सारे कार्य बड़े आवेश और बड़ी तीव्रता से हो रहे हैं। कहा जाता है कि जब रविवार के दिन पल्लाव कैम्प जलकर ख़ाक हो गया, तब उसके थोड़ी ही देर पीछे उसके स्थान पर नया शिविर खड़ा होता हुआ दिखाई दिया। इधर समयानुकूलता का भी ठिकाना नहीं ? सारा कार्य ऐसी समयानुकूलता से चल रहा है कि घड़ी भी उसके सामने क्या है ? तब यदि कोई दैवी दुर्घटना ही न हो गई, तो इसमें जरा भी सन्देह लेश नहीं है कि दरबार पूरी सफलता के साथ हो जाएगा।

किन्तु इस सारे का अन्तिम फल क्या होगा ? ? इस सामयिक शोभा और समारोह का स्थायी परिणाम भी कोई होगा या नहीं ? यह प्रश्न है जो उन लोगों के मनों में ही उठ सकता है, जो देहली नहीं गए हैं। जो इस समय देहली में विद्यमान हैं, उन्हें ऐसे प्रश्नों पर विचार करने में प्रयोजन नहीं है, और न उन के पास सोचने के लिए समय ही है। किन्तु आइए हम इस प्रश्न पर थोड़ा-सा विचार करें।

दरबार की इस सारी रौनक का स्थायी परिणाम क्या होगा ? जहाँ तक हमारी समझ में आया है और जहाँ तक हमने अन्यों के भी इस विषय पर मत पढ़कर निश्चय किया है, इस शोभा का परिणाम एक ही होगा, और वह यह कि भारतवासियों को यह पता लग जाएगा कि अन्त में संसार में एक ऐसा आदमी भी है, जो उनके लिए अपने थोड़े-से विश्राम को तुच्छ समझ सकता है। इसमें कौन सन्देह कर सकता है कि भारत तक आने में सम्राट् जार्ज को सैकड़ों कष्ट भुगतने पड़े होंगे, किन्तु उन की परवा न करके वे यहाँ आए हैं, इसमें यही प्रतीत होता है कि अन्ततः एक ऐसे महानुभाव भी संसार में विद्यमान हैं जो भारत को कष्ट योग्य समझें।

किन्तु हमारी सम्मति में यह एक ही लाभ कोई बड़ा लाभ नहीं। यह बहुत ही छोटा-सा लाभ है। इससे भारतवर्ष के शासन में कोई बड़ा सुभीता नहीं हो सकता, और नहीं केवल इस कारण यह दरबार भारत के लिए मंगलवर्षी हो सकता है। ऐसा करने के लिए आवश्यकता इस बात की है, कि यह सिद्ध कर दिया जाए

कि एक ऐसी भी शक्ति इस भूमि पर है, जो बिना किसी लाग और लपेट के मंगल वर्षा कर सकती है, एक ऐसा भी बल विद्यमान है जो बिना किसी पश्चात्ताप के भारतवर्ष पर सुखों की सहस्रधारा बरसा सकता है।

किन्तु यह परिणाम यह प्रभाव कैसे प्रकट हो सकता है जब तक सम्राट् कोई ऐसा राजनीतिक लाभ भारतवासियों को न दें, जिसके मिलने की ओर कहीं से भी आशा नहीं है। बिना ऐसे एक लाभ के मिले यह दरबार केवल बरसों की स्मृति रहेगा, इसका स्मरण युगान्तस्थायी नहीं रह सकता। बिना किसी विशेष कृपा किए, सम्राट् के शुभागमन का अभीप्सित फल प्राप्त नहीं हो सकता।

[illegible] मेघ के गर्जन और वर्षण का क्या फल हो सकता है, यदि उससे अन्न की [illegible] न हो, और निर्धनजन अपनी-अपनी झोंपड़ी में बैठकर उसे आशीर्वा[illegible]

[सद्धर्म प्रचारक, 9 दिसम्बर 1911]

फारिस का झगड़ा।

जापान से पछाड़ खाकर जो रूस अब तक सिसक रहा था, वह अब फिर से उठकर खड़ा होना चहाता है। उठकर केवल खड़ा होना ही नहीं चाहता, अपनी पुरानी शर्म भी धोना चाहता है। शर्म धोने के लिए भी उसे कोई अच्छा साधन नहीं मिला। वह एक देश पर आततायीपन का प्रहार करने पर उतारू हुआ है। अब अनुय्य किसी एक तरफ से शर्मिन्दा हो जाता है और मुँह दिखाने योग्य नहीं रहता, तब वह प्रायः और लोगों के गले पड़ता फिरा करती है। यही हाल रूस का है।

फारिस देश राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा स्वतन्त्र है। यदि मनुष्यों के और जातियों के अपने भी कोई स्वाभाविक अधिकार हैं, तो यह निःशंक होकर कहना पड़ेगा कि फारिस और फारिस के निवासी राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। अभी थोड़े दिन हुए तब एक एंग्लोइण्डियन पत्र ने फरमाया था कि फारिस अर्ध-स्वतन्त्र है, क्योंकि वह अभी नाबालिग़ है, और देश के रक्षक भूत लिंटन और रूस हैं। यह कथन नीतिज्ञों के पेच का एक नमूना है। वस्तुतः फारिस किसी भी शुद्ध या राजसन्धि द्वारा, किसी अन्य देश के नीचे नहीं है। वह अपने तई सर्वथा स्वतन्त्र है। हाँ, ब्रिटिश सरकार और रूस के बीच फारिस के विषय में कुछ सन्धि अवश्य है, किन्तु फारिस उस द्वारा बद्ध नहीं है। यह अपने आप में सर्वथा स्वतन्त्र है।

फारिस की आर्थिक दशा बहुत वर्षों तक बिगड़ी हुई थी। उसे सुधारने के लिए वहाँ की गवर्न्मेण्ट ने मि. शस्टर नाम के एक कार्यक्षम पुरुष को अपनी आर्थिक देखभाल का काम सौंप दिया। मि. शस्टर ने अपने प्रबन्ध को सुगम करने के लिए एक अंग्रेज को अपने नीचे एक जगह नौकर रखना चाहा। इस पर रूस ने शोर मचाया कि वह कभी भी एक अंग्रेज को फारिस के राज-काज में हाथ न डालने देगा। पहले भी रूस फारिस की वर्तमान सरकार के विरुद्ध कार्रवाइयाँ करता रहा है। जिस राजा को मजलिस ने फारिस के राज सिंहासन पर से च्युत कर दिया था, उसे रूस में ही शरण मिली थी। ऐसी अवस्था में रूस फारिस का गुप्त शत्रु सिद्ध हो चुका था। अब उसने फारिस के आभ्यन्तर प्रबन्ध में भी हस्तक्षेप करने की चेष्टा प्रारम्भ की, उसने उसका कलात्मकयुक्त शासन करना चाहा। इस पर

फारिस भड़क उठा। उसे भड़क उठना भी चाहिए था। क्या कोई प्राणधारी देश यह सहनकर सकता है कि एक अन्य देश उस पर अनाधिकार शासन करे ?

सभी देशों के पक्षपातरहित विचारशील पुरुष रूस की इस कार्यवाही से असन्तुष्ट हैं, सारे के सारे शान्तिप्रेमी इस घटना को साधु नयनों से देख रहे हैं। उन लोगों का हम कथन नहीं करते, जिनका कोई मतलब फारिस में सिद्ध होता है, हमारा कहना उन लोगों के विषय में है जो पक्षपात से रहित हैं। उन लोगों में से शायद ही कोई ऐसा हो जो रूस की नई कार्यवाही को लुटेरापन न समझे। उसकी सेनाओं ने तेहरान की ओर से यात्रा प्रारम्भ कर दी है।

मोरोको और त्रिपोली की बलि को पश्चिमी सभ्यता के वधस्नान में चढ़े हुए अभी देर नहीं हुई; फ्रांस और इटली की डकैती ने जो दुःखश्वास निष्पक्षपात दर्शकों के मुखों से निकाला था, वह अभी विरत नहीं हुआ। रूस ने यह एक और छापा मार दिया। माता के मुख को उज्ज्वल कहनेवाले इन पश्चिमीय सभ्यता के पुत्रों की भयानक खेलें, इस भूमंडल को न जाने कब तक अशान्ति धाम बनाए रखेंगी ?

[सद्धर्म प्रचारक, 10 दिसम्बर, 1911]

साम्राज्य और भारत

दरबार का प्रधान भाग कल समाप्त हो गया। जो कुछ फल दरबार से भारत को मिलना था सो मिल लिया। उसके विषय में हम अन्यत्र अपनी सम्मति दे आए हैं। वह फल यद्यपि चित्त को बहुत सन्तुष्ट करने वाला नहीं है, तो भी वह अकिंचन भी नहीं। किन्तु वे फल और वे लाभ ही दरबार से भारत को प्राप्त नहीं हुए। हमारी समझ में तो भारत को दरबार से और राजतिलक से कोई और ही लाभ हुआ है। वह लाभ क्या है ?

इस दरबार ने साम्राज्य में भारत का स्थान निश्चित कर दिया है। हम कुछ दिन पहले लिख पाए हैं कि इस राजतिलक ने भारतवर्ष को साम्राज्य में दूसरा स्थान प्राप्त कराया है, किन्तु वह हमारी भूल थी। यह दरबार कदापि यह सिद्ध नहीं कर सकता कि ब्रिटिश साम्राज्य में भारत का स्थान दूसरा है। इस दरबार ने सबसे अधिक प्रमाणयुक्त बात यदि कोई सिद्ध की है, तो वह यह है कि भारत का भी साम्राज्य में उतना ही बड़ा अधिकार है जितना बड़ा इंग्लैंड या आयरलैंड का है। साम्राज्य के किसी भी भाग से भारतवर्ष की आवश्यकता या मुख्यता कम नहीं है। सम्राट् का इंग्लैंड छोड़कर भारत आना, फिर भारतीय प्रजा को उसी तरह सम्बोधन करना जैसे इंग्लिश प्रजा को किया जाता है; और फिर भारतीय सरदारों को हाथ मिलाकर पास विठाना—ये सब इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि सम्राट भारत या इंग्लैंड का, और अतएव भारतवासियों और अंग्रेजों का स्थान साम्राज्य में समान समझते हैं।

यह बात अब तक भी स्थिर थी, किन्तु आज इसे सम्राट् ने अपने व्यवहार से इतनी स्पष्टता के साथ सिद्ध कर दिया है कि कोई अन्धा भी इससे इनकार नहीं कर सकता। हमारी समझ से इस दरबार का यही मुख्य फल है, और इस दरबार की सफलता भी तो समझनी चाहिए, यदि आज से भारतवासी और अंग्रेज सभी साम्राज्यवासी इस फल को अपने मनों में धारण करने लगें। आज से किसी भी भारतवासी को अपने अधिकार किसी अन्य देशवासी से कम न समझने चाहिए, (जैसा कि अब तक भी प्रायः रहा है) और न ही किसी अन्य देशवासी अंग्रेज आदि को यह समझना चाहिए कि वह ब्रिटिश साम्राज्य की खास प्रजा में से हैं। यदि

इस दरबार के पीछे भी हमारे अंग्रेज सहवासी--एक साम्राज्यवासी अपने आपको हमारे समान ही सम्राट् की प्रजा न समझें, और अपने विशेष अधिकारों की घोषणा करें, तो समझना चाहिए कि यह दरबार निष्फल गया।

भारत के वर्तमान देशी या अंग्रेजी कर्मचारियों को भी बहुत अच्छी तरह से यह समझ लेना चाहिए कि वे भारत की साधारण प्रजा से अधिक राजभक्त या राजा की प्रजा नहीं हैं। सम्राट् के सम्मुख हम सब समान हैं, भेद केवल इतना है कि सम्राट् की ओर से उन लोगों को और प्रकार की सार्वजनिक सेवा प्राप्त हुई है और साधारण प्रजा को और प्रकार की । हर एक प्रकार की सेवा करने वाले समान सम्राट् की प्रजा के भाग हैं, कोई किसी से बढ़कर अधिकार रखने वाला नहीं है। जहां आज से राजनियमों का पालन करना प्रजा के हर एक सभासद के लिए आवश्यक होना चाहिए, वहां केवल रंग या देश के कारण किसी को भी कोई विशेषता न मिलनी चाहिए और न ही किसी को विशेषता की आशा ही रखनी चाहिए।

हम भारतवासी आज से आघोषणा देते हैं कि हम भी सम्राट् की वैसी प्रजा हैं जैसी प्रजा इंग्लैंड के निवासी हैं। आज से जो कोई एक सम्राट् की प्रजा होता हुआ अपने आप को विशेष बताएगा, या अपने विशेष अधिकारों का आघोषण करेगा, वह सम्राट् का द्रोही होगा।

बस हमारी सम्मति में इस भाव का ब्रिटिश साम्राज्य में फैल जाना ही सम्राट् के भारतगमन का फल होना चाहिए।

[सद्धर्म प्रचारक, 15 दिसंबर, 1911]

कांग्रेस क्या है ?

एक बड़े भारी सभा मंडप में एक ऊँची वेदी बनी हुई है। जिसके ऊपर आपको प्रतिभाशाली मुखों की एक माला दिखाई देती है। जिस मुख की ओर देखिए, वही विद्या, बुद्धि और कल्पना से प्रतिपन्न दिखाई देता है। उन सब सज्जनों के मुखों को देखकर यह कहना पड़ता है कि हो न हो यह सभा प्रतिभाशाली मुनष्यों का एक समूह है।

वेदी के सामने एक बड़ा विस्तृत गोलाकार स्थल है, जिसके कई सुन्दर विभाग किए गए हैं। हर एक विभाग में भिन्न वस्त्रों और भिन्न आकृतियोंवाले सज्जन विराजमान हैं। इन सब सज्जनों के मुखों पर भी बुद्धि और विद्या के चिन्ह दिखाई दे रहे हैं और इसके वस्त्रों तथा वेशों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये बड़ी उच्च शिक्षा पाए हुए महानुभाव हैं।

वेदी पर विराजमान और मंडप में बैठे हुए महानुभावों के बीच-बीच में आप कई एक उत्साही तथा सुशिक्षित स्वयं सेवकों को इधर-उधर घूमते हुए और कार्यव्यग्र पावेंगे। इन स्वयंसेवकों की चाल-ढाल से आपको प्रतीत होगा कि वे किसी बड़े भारी आदर्श कार्य के लिए निरत हैं।

यह दृश्य है जो आपको बड़े गोलाकार सुंदर तथा शोभित मंडप में दिखाई देता है। दृश्य को देखकर आप मोहित हो जाते हैं। आपके मुख से अकस्मात् निकलता है कि कौन कहता है कि कांग्रेस मर गई ? कौन कहता है कि कांग्रेस में अब जीवन-शक्ति शेष नहीं रही ? कांग्रेस जीती-जागती है, उसमें प्राण हैं और जीवन के चिन्ह पाए जाते हैं। प्राण और जीवन के चिन्ह और भी स्पष्ट हो जाते हैं जब आप अकस्मात् वन्देमातरम् के ऊँचे स्वर से चौंक उठते हैं। एक ओर से वन्देमातरम् का नाद प्रारम्भ होता है। और सारे मण्डप वह गूँजने लगता है। बार-बार यह शब्द शांत होता है। और बारम्बार फिर से जागृत होता है। यहाँ तक कि मिनटों तक निरंतर मण्डप 'वन्देमातरम्मय' हो जाता है। चारों ओर देखिए तो सब सज्जन खड़े हैं। वेदी पर के लोग एक पंक्ति में होकर सभापति का स्वागत कर रहे हैं। सभापति आते हैं और एक तरफ विराजमान हो जाते हैं। सभापति के बैठ जाने पर कुछ मंगलाचरण के पश्चात् स्वागतकारिणी सभा के सभापति मेज के सामने

आते हैं, और अपना लंबा-चौड़ा व्याख्यान पढ़ते हैं। स्वागतकारिणी के सभापति के पश्चात् कई एक सज्जन उठकर चुने हुए सभापति का पुनः प्रस्ताव करते हैं और सभापति अपना व्याख्यान पढ़ना शुरू कर देते हैं।

यह हैं दृश्य जो कांग्रेस के प्रथम दिन दिखाई देते हैं। इन्हें देखकर एक नए मनुष्य के मन में संदेह होने लगता है कि क्या सचमुच कांग्रेस को मरी हुई कहना नीतियुक्त है ? क्या उसमें आवेश और जोश की मात्रा में कुछ भी कमी हुई है ? किन्तु महाशय ! इस क्षणिक सन्देह को निवृत करना हो तो आइए, हम आपको इस ऊपर के दृश्यमान चमड़े के नीचे ले जाएँ, वहाँ आपको वास्तविक तत्त्व का पता चलेगा। विशेष गंभीरतापूर्वक विचार करने से आपको कांग्रेस की कुछ और ही दशा प्रतीत होगी। पंडाल, वेदी और बेंच बाह्य स्वरूप हैं, यदि आप इनके भीतर घुसेंगे तो आपको प्रतीत होगा कि वस्तुतः कांग्रेस इस समय एक प्राणरहित और जीवनरहित वस्तु है, उसके बाह्य स्वरूप के अतिरिक्त कहीं भी सुन्दरता नहीं है। सारांश यह कि शायद किसी के मन में भी कांग्रेस के लिए अब प्रेमभावना नहीं रह गई।

पहले से ही कांग्रेस किसी स्थिर कार्य के लिए स्थापित न हुई। उसका उद्देश्य सूरत-विप्लव से पूर्व ही देश की अवस्था में सामाजिक या आर्थिक स्थिर उन्नति करना न था। तब भी वह केवल प्रस्तावों द्वारा कुछ एक राजनीतिक मन्तव्यों को ही प्रकाशित करने पर संतोष करती थी। हां, उस समय एक बात उसमें अवश्य थी, कि यह सारे देश के पढ़े-लिखे लोगों के मत को प्रकाशित करने का दावा करती थी। यह माना कि तब भी ऐसे लोग बहुत थोड़े थे जो इसके कार्य में कोई भाग लेते थे, तथापि उस समय कांग्रेस यह कहने का अधिकार रखती थी कि वह सब देशवासियों को भाग लेने के लिए स्वतंत्रता प्रदान करती है। उस समय कांग्रेस किसी को अपने से पृथक न करती थी, यदि कोई और पृथक होते थे तो अपनी खुशी से होते थे। किन्तु आज अवस्था बदली हुई है। अब कांग्रेस में प्रवेश करने के लिए 'क्रीड' पर हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। और वह क्रीड भी कैसा ? जिससे देश के विचारकों का एक बड़ा असहमत है। निःसंदेह इस नए क्रीड ने कांग्रेस को केवल 'क्रीड़ातुल्य' बना दिया है।

इस क्रीड के बन्धन के कारण कांग्रेस में जाने वाले प्रतिनिधियों का चुनाव सर्वसाधारण द्वारा न होकर कुछ एक क्रीडधारियों द्वारा किया जाता है, अधिवेशनों के प्रबन्ध के कार्य में क्रीडधारियों की ही सम्मति ली जाती है। ऐसी अवस्था में देश के सर्वसाधारण निवासियों को भला किस हेतु से कांग्रेस के साथ कोई प्रेम भावना हो सकती है ? जब कांग्रेस देशवासियों की नहीं, राष्ट्र की नहीं; तब उसे भारतीय या राष्ट्रीय कहना या समझना बड़ी भारी भूल है।

और भी एक कारण है, जिसके कांग्रेस सर्वसाधारण में न केवल प्रिय ही

नहीं है प्रत्युत अप्रिय हो रही है। कांग्रेस प्रतिवर्ष बड़ी धूमधाम के साथ हुआ करती है, उसमें बड़े मार्के की जोरेदार वक्तृताएँ होती हैं; उसका पंडाल सुन्दर तथा बहुमूल्य पदार्थों से सजाया जाता है, यह सब कुछ प्रतिवर्ष हुआ करता है। किन्तु उन धुआँधार व्याख्यानों तथा शोभायुक्त पदार्थों का फल क्या होता है ? सर्वसाधारण केवल बातों से सन्तोष नहीं कर सकते, उन्हें सन्तोष देने के लिए कोई देहधारी पदार्थ चाहिए। केवल बातों से कभी आज तक न सन्तोष हुआ और न आगे होगा। देशवासी किसी संस्था या सभा को तभी पसन्द कर सकते हैं, यदि उसके कथनों, प्रस्तावों तथा व्याख्याओं का कोई मूल्य हो, कोई और प्रस्ताव हो। काम के बिना बात नहीं सोहती, प्रत्युत उलटा वैमनस्य पैदा करती है। कांग्रेस का कार्य ही बिना काम के बात बनाना और हवाई किले खड़े करना है। तब भला लोग उसे क्यों पसन्द करेंगे ?

ऊपर कहे हुए कारणों से कांग्रेस सर्वसाधारण की दृष्टि से बहुत तुच्छ हो रही है। शायद आप हमारे कथन को अत्युक्ति समझें, इसलिए हम प्रमाण भी आपके सामने उपस्थित किए देते हैं। कांग्रेस पंडाल के एक किनारे पर ऊँचे खड़े होकर दृष्टि दौड़ाइए, आपको प्रतीत होगा कि सुविशाल कांग्रेस भवन का 2/3 से अधिक भाग खाली पड़ा है। प्रतिनिधियों के आसनों में से आधे सर्वथा रिक्त पड़े हुए हैं। दर्शकों को बेंचों का तो कहिए ही कुछ नहीं। उसमें एक खल्वाट के सिर के बालों से अधिक पुरुष दिखाई नहीं देते, दर्शकों की संख्या इतनी कम है कि उसका स्मरण करके भी हर एक कांग्रेस पक्षपाती को अपना सिर शर्म से नवा लेना चाहिए। कलकत्ता नगर में कांग्रेस हो और उसमें कठिनता से दो डेढ़ हजार दर्शक हो क्या यह शर्म की बात नहीं। इसी लज्जाजनक दृश्य को हटाने के लिए कांग्रेसवालों ने दूसरे दिन दर्शकों का चन्दा 3/- से कम करके 2/- कर दिया। किन्तु तीसरे दिन भी वही खल्वाटता दृष्टिगोचर हुई। उधर जरा प्रतिनिधियों पर दृष्टि डालिए तो उनकी संख्या 410 के लगभग है। इस चार सौ दस में से 3 पंजाब के हैं और इसके लगभग ही मध्यप्रदेश के हैं। मद्रास और बंगाल के ही प्रतिनिधि हैं जिन्होंने पंडाल को भरना है। एक ऐसी सभा में, जो अपने आपको राष्ट्रीय पुकारने का अभिमान करती है, यह दृश्य देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ता है। हमारा आश्चर्य और भी बढ़ जाता है, जब हमें यह ज्ञात होता है कि कांग्रेस पंडाल में एक समय अधिक-से-अधिक उपस्थिति पाँच सहस्र थी, इससे अधिक वह कभी भी नहीं हुई। किन्तु वह बड़ा हुआ आश्चर्य कई गुणा बढ़ जाता है, जब हम अन्वयव्यतिरेक का प्रयोग करते हैं और देखते हैं कि हमारे पंजाब और संयुक्त प्रान्त के साधारण नगरों के आर्यसमाजों के उत्सवों पर भी कई समयों पर सात-आठ हजार मनुष्य एकत्रित हो जाते हैं। गुरुकुल में वहाँ के निवासी तीन सौ से अधिक नहीं हैं, किन्तु ऐसे समय हो चुके हैं जब उसके वार्षिकोत्सव पर बारह-तेरह सहस्र मनुष्य पंडाल में उपस्थित हों, इसी से कांग्रेस की राष्ट्रीयता और सार्वजनिकता का भेद अच्छी तरह

खुल सकता है।

इस कांग्रेस के पहले भी कलकत्ते में पहुँच गए थे। कांग्रेस हो चुकने से एक दिन पश्चात भी हम वहीं पर रहे। कलकत्ते के बाजारों में घूमता हुआ एक मनुष्य यह स्वप्न में भी नहीं ला सकता था कि इसी नगर में कोई **जातीय महासभा नाम** की सभा हो रही है, या होनेवाली है। हावड़े के स्टेशन पर जिस समय कांग्रेस के सभापति की गाड़ी आनेवाली थी, उसके कुछ ही पहले वह गाड़ी वहाँ पहुँची जिसमें श्री पंडित मदन मोहन मालवीय जी आदि सज्जन आए थे। उसी गाड़ी में आर्यसमाज के एक प्रधान कार्यकर्ता के जाने की आशा थी। यदि आप हमारे कथन का विश्वास करें तो हम आपको बताते हैं कि उस आर्य कार्यकर्ता के स्वागत के लिए जितने सज्जन स्टेशन पर आए हुए थे, कांग्रेस के सभापति के स्वागत के लिए उससे आधे पुरुष भी वहाँ पर विद्यमान न थे। कांग्रेस अपने आपको राष्ट्रीय कहती है, किन्तु उपर्युक्त दृष्टान्त यह दिखा देने के लिए पर्याप्त हैं कि कम से कम वर्तमान समय में कांग्रेस न राष्ट्रीय है न सार्वदेशिक, न देश के साधारणवासियों में मनों में उसके लिए किसी प्रकार का प्रेम है, और न स्नेह। कांग्रेस इस समय एक जीवनरहित और प्रभावरहित संस्था हो रही है, जिसकी सत्ता का वर्तमान रूप के रहते हुए, होना न होना बराबर है। जब तक कांग्रेस के कथन को बल देने के लिए और उसका अनुमोदन करने के लिए देशवासियों के एक बड़े भाग का शब्द उठता था, तब तक वह शक्तिशाली थी। सरकार भी उससे भय खाती थी, उसे अपने साथ मिलाना चाहती थी, किन्तु अब वह सहायहीन है, अब उसके नाद की प्रतिध्वनि करने के लिए भारत का कोना-कोना तैयार नहीं है, तब उसके पास कौन-सा बल शेष रह गया ? न वह सर्वसाधारण के प्रेम की पात्र है और न सरकार ही उसके शब्द को शक्ति परिपोषित मानती है। ऐसी अवस्था में कांग्रेस को एक प्राणरहित और प्रकाशरहित अस्थिपंजर कहें तो अशुद्ध न होगा।

कांग्रेस को फिर कुछ छोटी-मोटी शक्ति बनाने के लिए आवश्यक है कि उसे 'क्रीड' के गड्ढे में से निकालकर सार्वजनिक मार्ग पर डाला जाए। मि. गोखले ने इस बार इस ओर कुछ यत्न किया था, किन्तु मि. भूपेन्द्रनाथ वसु और मि. वाचा के विरोध से यह यत्न सफल न हो सका। अब मि. गोखले का विचार आल इंडिया कांग्रेस कमेटी में पेश होगा, और तदनंतर वह कांग्रेस के आगे अधिवेशन में पेश किया जाएगा। मि. गोखले अपनी सुधारविषयक प्रस्ताव से क्या करना चाहते थे, यह लोकविदित नहीं किया गया किन्तु जहाँ तक उड़ती-उड़ती खबर से पता लगा है, उससे प्रतीत होता है कि आप प्रतिनिधियों के चुनाव को सार्वजनिक करना चाहते थे। आजकल कांग्रेस में आने वाले डेलीगेटों के चुनने वाले भी 'क्रीडधारी' ओत्रिय लोग ही हैं, किन्तु मि. गोखले चाहते थे कि डेलीगेट खुली सभाओं में चुने जाया करें। क्रीड का मानना और उस पर हस्ताक्षर करना डेलीगेटों के लिए ही आवश्यक

हो, डेलीगेटों के चुनने वालों के लिए नहीं।

यद्यपि हमारी यह दृढ़ सम्मति है कि जब तक कोई संस्था या सभा देशहित, राष्ट्रहित या मनुष्यजाति हित की कोई भावात्मक देहधारी कार्य नहीं करती तब तक वह जनप्रिय होने का न अधिकारी रखती है, और न हो सकती है; और इसलिए क्रीड-कांग्रेस जब तक व्याख्यान क्रीड़ा से आगे न बढ़ेगी तब तक वह कभी लोकप्रिय नहीं हो सकती, तथापि मि. गोखले का प्रस्ताव कांग्रेस को कुछ-कुछ सीधे रास्ते की ओर को मोड़ने वाला था।

कांग्रेस को देखकर हमारा यही विचार बना है कि कांग्रेस अपने वर्तमान रूप में एक जीवनहित और प्रभावरहित सभा है—जिसकी सत्ता की आवश्यकता बहुत कुछ संदिग्ध है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कांग्रेस यदि भारत को कोई लाभ नहीं पहुँचा सकती, तो हानि पहुँचाना भी उससे असम्भव है। इसलिए उसका होना न होना बराबर है।

[सद्धर्म प्रचारक, 3 जनवरी, 1912]

शिक्षा कैसी हो ?

'वर्तमान भारत की शिक्षा-विषयक आवश्यकता' इस विषय पर गत 9वीं फरवरी बुधवार को स्थानीय आर्यसमाज-मन्दिर में गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक और महात्मा मुन्शीराम जी के सुपुत्र ब्रह्मचारी-हरिश्चन्द्र और तदुपरान्त स्वयम् मुन्शीराम जी के व्याख्यान हुए। दुर्भाग्यवश हमारे प्रतिनिधि को सभास्थल में पहुँचने में देर हो गई तथा उस समय ब्रह्मचारी का व्याख्यान प्रारम्भ हो गया था। प्रतिनिधि जिस समय वहाँ पहुँचा उस समय आप संस्कृत साहित्य की सूर्य से तुलना कर रहे थे। आपके व्याख्यान का सारांश इसी स्थान के आगे दिया जाता है।

'सूर्य के उदयास्त के समान संस्कृत साहित्य सूर्य का उदयास्त भी बार-बार हुआ करता है। संस्कृत सूर्य को अस्तमित देख उसके उदय के विषय में सन्देहान्वित होने की आवश्यकता नहीं है। जिसने पहली ही बार सूर्य को अस्तमित होते देखा है—यद्यपि यह बात असम्भव है पर उदाहरणार्थ मान लीजिए कि किसी ने पहली ही बार सूर्य को अस्तमित होते देखा है--वह समझ सकता है कि अब उसका पुनः उदय नहीं होगा। पर प्रत्येक सांसारिक पुरुष जानता है कि अस्ताचल को गए हुए सूर्य फिर अवश्यमेव उदित होंगे। यही प्राकृतिक नियम है। उदय के बाद अस्त और अस्त के बाद उदय अनिवार्य है। हमारा संस्कृत सूर्य आज अस्तमित हुआ है सही पर उसका उदय यथासम्भव शीघ्र अवश्य होगा। यह कोई नवीन बात नहीं है। पहले भी ऐसा हो चुका है तथा फिर भी होगा। प्राचीनकाल में संस्कृत सूर्य के अस्तमित होने पर भी राजा विक्रमादित्य के परिश्रम और उद्योग से संस्कृत साहित्य सूर्य का पुनः अभ्युदय हुआ, फिर भी संस्कृत साहित्य नाना रत्नों से सुशोभित हुआ। पर हमारे दुर्भाग्य से फिर भी उसका अस्त हो गया था। इस बार किसी महाराज के नहीं, किन्तु एक संसार के विरक्त महात्मा संन्यासी के दीर्घ उद्योग से उस की पुनरुन्नति की नींव डाली गई है। आप जानते हैं, वह संन्यासी स्वामी दयानन्द थे। स्वामी जी के पास वे सांसारिक साधन नहीं थे जिनकी सहायता से महाराज विक्रमादित्य ने संस्कृत की उन्नति की थी। पर स्वामी जी के पास जो साधन था वह सांसारिक साधनों से भी बड़ा और अधिक प्रभावशाली था, वह साधन आत्मबल था। सांसारिक बल अनित्य हुआ करते हैं पर परमात्मा का बल नित्य है। वह कभी

अकृतकार्य नहीं हो सकता। संस्कृत का उदय अवश्य होगा—होगा नहीं, हो गया है। यदि हमारे दुर्भाग्य से हमारी उपेक्षा से उसका फिर भी कभी अस्त हो तो वह पुनः अपनी दिव्यशक्ति से उदित होगा। पर हमारा कर्त्तव्य इस समय यह है कि स्वामी दयानन्द के प्रताप से उसकी उन्नति का जो सूत्रपात हुआ है उसे फिर से विलुप्त होने से बचाएँ।

संस्कृत की आवश्यकता केवल भारतवर्ष को ही नहीं है प्रत्युत समस्त संसार को है। साक्षात् सूर्य के समान ही संस्कृत-साहित्य के बिना संसार के किसी भी देश का काम नहीं चल सकता। पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान भी संस्कृत की ओर गया है। वे भी इसकी उन्नति और आलोचना करना चाहते हैं। वे समझ गए हैं कि संस्कृत की सहायता के बिना उनके इतिहास की कितनी ही बातें अन्धकार में ही रह जाएगी। इंग्लैंड के एक ऐतिहासिक पीकाक साहब अपनी "India and Greece" नाम की पुस्तक में कहते हैं कि, यूनान के प्राचीन इतिहास का पता अब तक यूनानी प्राचीन लेखों से नहीं लगता। उदाहरणार्थ यूनान वाले कहते हैं कि उनके पूर्वपुरुषों का नाम पेलासगी (Pelasgi) था। पर इस नाम का अर्थ क्या है ? यूनानी नहीं कह सकते कि उनके पूर्व पुरुषों का वह नाम क्यों पड़ा। वे इसका अर्थ नहीं जानते। पीकाक कहते हैं कि जब किसी जाति के नाम का अर्थ उसकी भाषा में न मिले तब समझना चाहिए कि वह किसी दूसरी भाषा से आया है तथा उस नाम से ख्यात लोगों का मूल सम्बन्ध उस देश के या वहाँ की भाषा में उसका अर्थ पाया जाए। इस शब्द का अर्थ यूनानी भाषा से नहीं लगता। किन्तु संस्कृत में इसका अर्थ है। बिहार प्रान्त के एक वृक्ष का नाम 'पेलास' था। उसी के पूजक 'पेलासगी' कहते हैं। पीकाक महाशय की सम्मति है कि सम्भवतः ये ही लोग भारतवर्ष से जाकर यूनान में बस गए। दूसरा शब्द 'मैकिडोनियन' है। इस शब्द का अर्थ भी यूनानी भाषा से नहीं लगता। पर यह 'मगध' से बना है तथा मगधवासी ही यूनान में जाकर 'मैकिडोनियन' कहलाने लगे। वहाँ की और एक जाति का नाम 'ऐबंटी' (Abentes) है। पर इस जाति का प्राचीन इतिहास यूनानी भाषा में नहीं मिलता। पर यह शब्द 'अवन्ती' का अपभ्रंश है तथा अवन्तीवासी ही यूनान में 'ऐबंटी' कहलाए। यूनानी इतिहास में एक जाति का नाम साइक्लाप (Syclopic) है। इसका अर्थ न जानकर होमर के परवर्ती यूनानी विद्वान् इसे 'mythological' वा पुराणों में वर्णित वनपर्वतवासी और ग्वालों का पेश करने वाली जाति विशेष कहने लगे। उनके मत से इसका अधिकतर प्राचीन इतिहास अन्धकार में विलीन हो गया है। पर उनके इस अज्ञान का कारण संस्कृत का अज्ञान है। यूरोपियन विद्वान् अहंकार और घमंड के कारण संस्कृत की उपेक्षा करना चाहते थे पर संस्कृत के बिना उनका काम चल ही नहीं सकता। पीकाक की सम्मति में 'साइक्लापस' शब्द 'गोकुल' से बना है; जैसे गोकुल=गोकुलप्स=साइक्लप्स। इससे

सिद्ध होता है कि यूनानी भी पहले संस्कृत बोलते थे। हम तो संस्कृत को सब भाषाओं की माता मानते हैं। यूरोपियन नहीं मानते। किन्तु वे भी इसे सबसे प्राचीन भाषा और ग्रीक, लैटिन आदि यूरोप की प्राचीन भाषाओं की बड़ी बहिन मानते हैं। संसार की अन्यान्य भाषाएँ शाखा हैं। शाखा वृक्ष नहीं हो सकतीं। उनका मूल एक है और वह खोजने से मिलेगा। इस मूल के बिना प्राचीन यूरोपियन इतिहास के कितने ही महत्व के प्रश्न अधूरे रह जाएँगे।

'यूरोपियनों में सबसे पहले सर विलियम जोन्स ने संस्कृत का अनुशीलन करना प्रारम्भ किया। वह कट्टर इसाई था। उसने किसी आदरबुद्धि से प्रेरित होकर यह अभ्यास आरम्भ नहीं किया था प्रत्युत उसका उद्देश्य विपरीत था। वह संस्कृत का अभ्यास कर हमारे धर्म की तुलना अपने धर्म से करना चाहता था। पर संस्कृत का अभ्यास कर जब उसने अपने देश में इसकी प्रशंसा की उस समय यूरोपियन विद्वानों ने उसका उपहास किया। उनके मत से संस्कृत कोई भाषा ही नहीं पर वह केवल सर विलियम जोन्स जैसे लोगों की कल्पना का फल था। पर इसके बाद मैक्समुलर आदि विद्वानों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की। यूरोप में लाटिन और ग्रीक भाषाएँ ही पूर्णांग समझी जाती थीं पर अब संस्कृत को उनके ऊपर स्थान दिया जाता है। जिसकी प्रशंसा परदेशी विद्वान् इस प्रकार करें, उसकी प्रशंसा हम भारत-सन्तानों के सामने करें, यह बड़े आश्चर्य की बात है। जर्मनी के जिस बड़े भारी विद्वान् ने वहां अपने दर्शन में उपनिषदों का सहारा लिया उसके शिष्य डाक्टर पाल डायसन डुशेन 16 वर्ष तक संस्कृत का अभ्यास कर भारतवर्ष आए थे। आप भारत को संस्कृत की जन्मभूमि होने के कारण अत्यन्त पवित्र मानते थे। आते समय आप प्रोफेसर मैक्समूलर तथा भारत-सचिव से सिफारिश के पत्र लाए थे। पर यहाँ आकर आपने उक्त पत्र बक्स में ही बन्द्र कर रखे। कारण, आप कहते थे कि, 'उन पत्रों की सहायता से मैं जहाँ जाता वहीं के सरकारी अफसर मेरी मेहमानी करते पर मैं भारत-सन्तानों से न मिल सकता तथा मेरा यहाँ आना ही निष्फल हो जाता।' आपने संस्कृत की सहायता से पेशावर से कलकत्ता तक प्रवास किया पर कहीं कठिनता उपस्थित नहीं हुई। आपकी स्त्री भी संस्कृत जानती थी। किन्तु लज्जा के साथ कहना पड़ता है कि अयोध्या में रामचन्द्र के मन्दिर में उनको हताश होना पड़ा। उन्हें हैट पहने देख पण्डों ने भीतर जाने से रोका। आपने बहुत समझाया कि, सोलह वर्ष से रामायण का पाठ कर जिस राम के प्रति मेरा हृदय भक्तिपूर्ण हो रहा है उसकी मूर्ति के सामने सिर नवाने का मुझे पूर्ण अधिकार है; इसलिए भीतर जाने दो।' पर संस्कृत न जानने के कारण पण्डे यह भी न समझ सके कि वह किस भाषा में बोल रहे हैं। अन्त में डाक्टर पाल ड्यूसन को वहाँ से हताश होकर लौटना पड़ा। आपने रायल एशियाटिक सोसाइटी में वक्तृता करते समय कहा था कि 'अब तक तो भारतीय पंडितों ने संस्कृत की रक्षा की है पर

अब उसके विलुप्त होने के दुश्चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे हैं।' शोक ! उस समय गुरुकुल नहीं था नहीं तो हम दिखाते कि संस्कृत का शीघ्र ही अभ्युदय होनेवाला है।

'हम कुछ यूरोपियनों की हाँ में हाँ मिलाते हुए संस्कृत को मातृभाषा मानते हैं। पर संस्कृत के सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् ऐसा नहीं समझते। उस दिन पूर्व बंगाल में 'सारस्वत समाज' के अभिनन्दन-पत्र का उत्तर देते हुए आपके बड़े लाट लॉर्ड हारडिञ्ज ने भी संस्कृत तथा उसके साहित्य की बड़ी प्रशंसा की थी। इसके एक-एक शब्द का सौन्दर्य अनुपम है। इसके एक-एक शब्द में विज्ञान और धर्म भरा पड़ा है। उदाहरणार्थ, पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि, पृथ्वी का चलना हमारा नवीन आविष्कार है। संस्कृत में पृथ्वी को 'गो' कहते हैं। वह शब्द गम् धातु से बना है जिसका अर्थ चलना है। पाश्चात्य ज्योतिष की चरम उन्नति यहीं तक हुई है कि, वे सूर्य मण्डल का भी चलना मानने लगे हैं। सारा सूर्य शब्द ही सर धातु से बना है जिसका अर्थ घसकना या चलना है। अनन्तर आपने कहा कि, पाश्चात्य वैज्ञानिकों के बाईबल का 'गाड' न मानने के कारण हमारे यहाँ के वैज्ञानिक भी ईश्वर को नहीं मानते। पर वे यह नहीं जानते कि, हमारे ईश्वर में और ईसाईयों के 'गॉड' में आकाश-पाताल का अन्तर है। हमारे यहाँ ईश्वर का अति प्राचीन नाम परमात्मा है। इसका अर्थ ही व्यापनेवाला है। इसे वैज्ञानिक असिद्ध नहीं कर सकते। यहाँ तक कि एक सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् ने आत्मा शब्द के लिए यूरोपियन भाषाओं में समानार्थक प्रतिशब्द न पाकर अपनी पुस्तकों में 'आत्मा' का ही प्रयोग किया है। जर्मनी के एक प्रसिद्ध दार्शनिक ने कहा है कि उपनिषदों के अनुशीलन से ही उनको शान्ति मिली। इस जगह आपने प्रसिद्ध नास्तिक ब्राडला का पार्लियामेण्ट से बार-बार निकाला जाना आदि बातों का भी वर्णन किया। अनन्तर धार्मिक शिक्षा का उल्लेख कर प्रसंगवश आपने कहा कि आजकल के लोग गौ-रक्षा विषयक हमारे आन्दोलन को नया तथा राजनीतिक आन्दोलनकार्यों का उठाया हुआ बताते हैं। वे कहते हैं कि प्राचीन काल में यहाँ गौ की हत्या करते थे। पर यह समझ उनकी भूल है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में ही गौ को अघ्न्या कहा है। 'अध्वर' कहा है। इस शब्द का अर्थ ही 'अहिंसा' है। इसी स्थान पर वर्ण शब्द का चुनना अर्थ बताकर जन्म से वर्णभेद माननेवाले सनातनियों पर टीका की और साथ ही आपने कहा कि, भावी हिन्दू यूनिवर्सिटी में सच्ची धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकेगी। अन्त में आपने कहा कि वर्तमान शिक्षा में ये प्रधानतः गुण होने चाहिए (1) संस्कृत का प्राधान्य (2) मातृभाषा द्वारा शिक्षादान और (3) धार्मिक शिक्षा। धार्मिक शिक्षा ब्रह्मचर्य के बिना नहीं होगी। कारण, धर्म का आचरण तप से होता है और तप का मूल ब्रह्मचर्य है। हमारा धर्म क्रियात्मक होना चाहिए न कि केवल शाब्दिक।

व्याख्यान देने के लिए उठे। अतिकाल हो जाने के कारण आपने अपना कथन संक्षेप में ही समाप्त किया। आपने कहा कि, 'वर्तमान शिक्षा की आवश्यकता यह है कि उसमें संस्कृत को प्राधान्य दिया जाए। किसी न किसी प्राचीन भाषा की शिक्षा सब देशों में आवश्यक मानी जाती है। यूरोप के सभी देशों में सब विषयों की शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जाती है पर उसके साथ प्राचीन लाटिन वा ग्रीक भाषा सिखाई जाती है। यहाँ भी विशेषतः आर्य जाति के लिए संस्कृत की शिक्षा आवश्यक है। (इस जगह आपने कहा कि, हम आर्य शब्द में सबका ग्रहण करते हैं। अनन्तर आर्य शब्द के प्रति काशी के पण्डितों की सम्मति तथा 'हिन्दू' शब्द या विदेशीयत्व आदि बातों पर भी प्रसंगवश आपने अनेक बातें कहीं।) इससे बुद्धि का संशोधन होगा। दस वर्ष तक बालकों की बुद्धि के लिए व्यायाम की बड़ी आवश्यकता है। इसी से स्मरणशक्ति बढ़ती है। वैदिक और संस्कृत साहित्य का अध्ययन हमारी शिक्षा का मुख्य अंग होना चाहिए।

'दूसरी आवश्यकता यह है कि हमारे बालकों को सब विषयों की शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जाए। शोक का विषय है कि आज संस्कृत हमारी मातृभाषा नहीं है। आप विश्वास करें या न करें पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि 50-60 वर्ष के बाद संस्कृत भारतवर्ष की मातृभाषा हो जाएगी। इसके बिना तमिल-तेलुगु आदि देशों में काम नहीं चल सकता। लोग कहते हैं, एक मातृभाषा नहीं हो सकतीं। पर यह उनका भ्रम है। गुरुकुल में 14-15 वर्ष के विद्यार्थियों को अनर्गल संस्कृत बोलते देख इस भ्रम का निरसन हो जाएगा। पर मातृभाषा किसे कहते हैं ? हमारे जीवित रहते हमारी भाषा मर नहीं सकती; पर हमारे मरने पर भी वह जीवित रहेगी। फलतः हमारी शिक्षा वैदिक साहित्य और संस्कृत भाषा के बिना कभी पूर्णांग नहीं होगी। पर भाषा का हमारे हृदय पर वैसा प्रभाव नहीं हो सकता। अंग्रेजी 'पोएट्री' पढ़कर एक अंगरेज का बच्चा उसका जैसा रसास्वाद ले सकता है वैसा हम नहीं ले सकते। शब्द का सम्बन्ध आधार-व्यवहार का अर्थ और ही समझते हैं। वहाँ देशभक्त में व्यभिचारादि दोषों का होना बुरा नहीं माना जाता। जापान में वेश्याएँ देशभक्त कहाती हैं; कारण वे अपने उपार्जित अर्थ का एक अंश देशकार्य में देती हैं। पर इन बातों की कल्पना भी हम नहीं कर सकते। इससे सिद्ध है कि, शब्द का सम्बन्ध आचार-विचार से होता है। अतः परकीय भाषाओं से हमारी शिक्षा नहीं हो सकती। हमारी शिक्षा का साधन अपनी मातृभाषा आर्यभाषा ही होनी चाहिए। लोग कहते हैं, आर्य भाषा में पुस्तकें नहीं हैं, उससे शिक्षा कैसे दी जा सकती है। पर यह केवल कहने की बात है। गुरुकुल में आर्य भाषा द्वारा शिक्षा दी जाती है। पारिभाषिक शब्द वे ही रखकर तथा उसके समानार्थक संस्कृत शब्द बताकर

आर्य भाषा द्वारा गणित, विज्ञान आदि सब विषयों की शिक्षा दी जाती है। इसका फल यह होता है कि गुरुकुल के विद्यार्थियों को उन विषयों का ज्ञान मिडिल में ही हो जाता है जिनका यूनिवर्सिटी के इण्ट्रेन्स के विद्यार्थियों को होता है। हमने परभाषा के द्वारा ऐतिहासिक शिक्षा देने की कठिनता देखी है। मातृभाषा में जो बात सहज ही समझ में आ जाती है उसी को परभाषा में पढ़ने वालों को कण्ठस्थ करना पड़ता है। और तो क्या, मैंने बी.ए. के विद्यार्थी को कहते सुना है कि, 'अमुक ऐतिहासिक प्रश्न का उत्तर तो मैं ठीक दे आया हूँ पर उसका अर्थ मेरी समझ में नहीं आया है।' वे इतिहास को रट जाते हैं। पर यदि उत्तर देने के समय बीच की एक लड़ी भूल गई तो सब परिश्रम व्यर्थ हुआ। इसी से शिक्षा मातृभाषा द्वारा होनी चाहिए।

'देश के लिए एक लिपि और एक भाषा की बड़ी आवश्यकता है। मैं दिल्ली दरबार में निमन्त्रित होकर गया था। वहाँ एक दिन एक तमिल और एक बंगाली सम्पादक के साथ सवारी पर कहीं जा रहा था। राह में गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली की बात छिड़ी। उन लोगों ने कहा कि, मातृभाषा में शिक्षा देना आवश्यक है पर एक भाषा की जरूरत नहीं है। कारण अन्य प्रदेशों में अंग्रेजी से काम चल जाता है। उस समय यह बात यहीं तक रही। पर उसी दिन संध्या समय अग्निहोत्र के लिए मैं खीमे से बाहर मैदान में आ रहा था। खीमे में आग लग जाए, इस भय से मुझे भीतर अग्निहोत्र करने की अनुमति नहीं थी। अस्तु ! मैं मैदान में थोड़ी ही दूर गया था कि सवेरे के वे ही तमिल सम्पादक घबराए से मेरे पास आए। मुझे देखते ही उन्होंने ऐसी बातें कहीं जिससे मालूम होता था कि उनको कोई बड़ी भारी खोई चीज मिल गई। उन्होंने कहा कि, 'मैं खीमे में नौकर से झाड़ू देने को कह रहा हूँ पर वह मेरी बात समझता ही नहीं। कभी लोटा लाकर सामने रखता है तो कभी गिलास। कृपाकर आप समझा दें।' मैंने उन्हें सवेरे की बातचीत की याद दिलाकर कहा कि, अब इस समय वे अपनी अंग्रेजी से काम लें। इस पर वे बड़े झल्लाए पर बात समझ गए। मैंने भी उनका काम कर दिया। अनन्तर आपने और भी कई उदाहरणों से दिखाया कि अंग्रेजी द्वारा शिक्षा पाने वालों का आचरण भी निराला हो जाता है। मातृभाषा में शिक्षा मिले बिना मनुष्यत्व उत्पन्न नहीं होता। मनुष्यत्व के प्रधान लक्षण दो हैं– (1) Originality (मौलिकता) अथवा आविष्कार करने की शक्ति; नई-नई बातें ढूँढ़ निकालने की योग्यता; और (2) मनुष्य जीवन का आधार–उसका मेरुदण्ड वा पृष्ठ। वह बल तेज है। तेज वेद से होता है। वेद ही तेज का कारण है। वीर्य तेज है। इसलिए वीर्यधारण की अर्थात् ब्रह्मचर्य की बड़ी आवश्यकता है। आज संसार की शिक्षा वीर्यप्रधान थी। इसी से उससे सदाचार बढ़ता था। वह सदाचार क्रियात्मक होता था। परन्तु आज केवल बातें ही बातें हैं। मैं पूछता हूँ–आज राजभक्ति की इतनी चिल्लाहट है पर सच्चे राजभक्त कितने

हैं ? वाणी से तो सभी राजभक्त हैं पर क्रिया से कौन है ? अभी आपके सम्राट् आए। आपने उनके सम्मानार्थ खूब उत्सव किया। मुख से राजभक्ति प्रगट की। पर कलकत्ता यूनिवर्सिटी के अभिनन्दन-पत्र के उत्तर में सम्राट् ने कहा कि, 'आपको अपने प्राचीन शास्त्र के रत्नों की रक्षा करनी चाहिए।' आप इसकी रक्षा के लिए क्या कर रहे हैं ? क्या इन रत्नों को खोना ही राजभक्ति है ? बड़े लाट ने भी यही बात कही। अब सच कहिए, सम्राट् तथा बड़े लाट ने जो कुछ कहा है उसके प्रतिकूल काम करने वाले राजभक्त हैं ? या अनुकूल करने वाले राजभक्त हैं ? सम्राट् ने अपनी उसी वक्तृता में कलकत्ता यूनिवर्सिटी के संचालकों से कहा– 'you have still to build character.' 'आपको सदाचार की उन्नति करनी चाहिए।' पर ये विचार सदाचार की उन्नति क्या करें ? सदाचार का मूल जो धर्म और उसका मूल ब्रह्मचर्य, वही उनमें नहीं है।

अन्त में सदाचार के विषय में और दो बातें कहकर आपने कहा कि, हमारी शिक्षा में प्रधानतः ये तीन गुण होने चाहिए–(1) वैदिक और संस्कृत साहित्य का अनुशीलन (2) मातृभाषा द्वारा शिक्षा प्रदान, और (3) क्रियात्मक धर्म की शिक्षा जिससे सच्चे राजभक्त नागरिक उत्पन्न हों।

[सद्धर्म प्रचारक, 21 फरवरी, 1912]

सच्ची शिक्षा

आज से कुछ वर्ष पहले हमारे देश में पाश्चात्य शिक्षा के पक्ष में एक प्रबल लहर उठी थी। वह समय बड़ा विचित्र था। विजित जाति के साहित्य से चुँधियाकर हमारे देश के लोग विवेक शक्ति सर्वथा खो बैठे थे, वे भले और बुरे की पहचान करने के योग्य न रहे थे। उसी लहर में वह एक देश के शिक्षित लोगों ने अपने प्राचीन साहित्य, कला कौशल और आचार व्यवहार की तिलांजलि देकर विदेशी–शिक्षापद्धति का आश्रय लिया था। उस समय संस्कृत विद्या के पक्षपाती, मूर्ख और जाति की उन्नति को रोकने वाले समझे जाते थे।

परन्तु समय की गति बड़ी विचित्र है। आज पुराना समय और उसके साथ पुरानी सम्मतियाँ सर्वथा परिवर्तित होती हुई दिख रही हैं। एक दिन मैकाले ने अपने शिक्षा के चिट्ठे में संस्कृत साहित्य की निन्दा करते हुए लिखा था कि सारे संस्कृत-साहित्य में इतनी भी उपयोगी बातें नहीं मिल सकीं जितनी एक अंग्रेजी की छोटी से छोटी पुस्तक में प्राप्त हो सकती हैं। परन्तु आज वे ही अंग्रेज शासक संस्कृत साहित्य की रक्षा और उसके अनुशीलन के लिए लोगों को उत्तेजना दे रहे हैं। स्वयं सम्राट् ने कलकत्ता यूनिवर्सिटी के अभिनन्दन पत्र का उत्तर देते हुए कहा था कि देश की पुरानी विद्या की रक्षा करना भी विश्वविद्यालय का प्रधान कर्त्तव्य है। अभी ढाका में सारस्वत समाज के संस्कृत अभिनन्दन पत्र का उत्तर देते हुए वायसराय ने जो शब्द कहे थे, वे ध्यान देने योग्य हैं। वायसराय ने कहा–

Pandits of the Saraswat Samaj, the Sanskrit language in its hoary antiquity cherishes gems of morality and philosophy which are a precious heirloom to all generations, and I am glad to meet you who make its elevating literature your study.

सारस्वत समाज के पंडितों,

संस्कृत का प्राचीन साहित्य ऐसे धार्मिक और दार्शनिक रत्नों से परिपूर्ण है जिन्हें भारतीय सन्तान को अपनी अमूल्य सम्पत्ति समझना चाहिए, और आप से, जो सदा इस पावन साहित्य के अनुशीलन में लगे रहते हैं–मैं मिलकर बड़ा ही प्रसन्न हुआ हूँ।

विचारशील लोग अब अनुभव करने लग गए हैं कि विदेशी साहित्य चाहे कितना ही उन्नत और उच्चाशय क्यों न हो, वह भिन्न जाति के मन और आत्मा को और विशेषतः ऐसी जाति के मन और आत्मा को जिसका सम्बन्ध प्राचीनकाल से एक विशेष साहित्य के साथ चला आया है—कभी भी पूर्ण रीति से शिक्षित नहीं कर सकता। विदेशी साहित्य द्वारा प्राप्त Culture या शिक्षा, किसी बर्तन पर चढ़ाई हुई कलई से अधिक स्थिर नहीं रह सकती। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार अब विचारशील लोग भारतवासियों की शिक्षा में संस्कृत साहित्य के प्राधान्य को आवश्यक समझने लग गए हैं।

परन्तु हमारे कई देशवासियों को सन्देह है कि कहीं पुराने साहित्य के पँजे में फँसकर फिर से हमारी जाति उन भ्रमभूलक विश्वासों और संकुचित विचारों से जकड़ी न जाए जिनसे विदेशी शिक्षा ने थोड़ी बहुत उन्हें मुक्ति दिलाई है। उनका यह सन्देह सर्वथा निर्मूल भी नहीं है। काशी और नदिया में आजकल जो संस्कृत शिक्षा दी जाती है, उसे देखकर कौन कह सकता है कि यह शिक्षा मन और बुद्धि को उदार बना सकती है। काशी और नदिया में शिक्षा पाए हुए पंडित लोग सब प्रकार के धार्मिक और सामाजिक परिवर्तनों के विरोध के लिए प्रसिद्ध हैं। जो लोग आजकल के आर्य (हिन्दू) समाज में घुसी हुई कुरीतियों को सुधारना चाहते हैं, वे सुधार की विरोधिनी शिक्षा का पक्ष कैसे ले सकते हैं ?

ऐसी दशा में गुरुकुल शिक्षा के पक्षपातियों ने इस कठिन समस्या की मीसांसा बड़ी सुलभ रीति से कर डाली हैं। उनका दावा है कि गुरुकुल की शिक्षा संस्कृत साहित्य की प्रधानता पर अवलम्बित होती हुई भी मन और बुद्धि को उदार बनाने वाली है, क्योंकि वे ऐसे समय के संस्कृत साहित्य की शिक्षा देते हैं जिस समय हमारे देश में यह विचार संकोच उत्पन्न न हुआ था। अर्वाचीन संस्कृत साहित्य ऐसे समय में उत्पन्न हुआ था जिस समय हमारा देश नैतिक दृष्टि से दूसरी जातियों के अधीन होने के कारण अपनी अपूर्वता और स्वाभाविकता खो बैठा था। यदि उस समय का साहित्य मन को उदार न बना सके तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

परन्तु इस समय को छोड़कर, जरा प्राचीन साहित्य की ओर दृष्टि डालिए। उस साहित्य की उत्पत्ति उस समय हुई थी जब हमारी आर्य जाति सब प्रकार से स्वाधीन, क्रियाशील और नए उत्साह से उत्साहित थी। ऐसे समय का साहित्य जहाँ मनुष्य के मन को सच्ची शिक्षा दे सकता है, वहाँ उसके विचारों को भी उदार बना सकता है।

[सद्धर्म प्रचारक, 28 फरवरी, 1912]

मक्खन में बाल की भाँति

मिसेज बेसेंट और उनके 'जी हाँ हुजूर' हिन्दू कालेज में से ऐसे निकाल दिए गए, जैसे मक्खन में से बाल निकाल दिया जाता है। न पत्ता खड़का और न डाली हिली—नए गुरुडम का विशाल मन्दिर एकदम टूटकर पृथ्वी पर आ पड़ा। मन्दिर गिरा भी कैसे, बाहर की आँधी के धक्के से नहीं, प्रबल भूकम्प से नहीं, मन्दिर निवासियों के ही परस्पर कलह से। परस्पर कलह इसे क्यों कहें ? परस्पर कलह से नहीं, किन्तु कुछ एक मन्दिरवासियों के शुभ चिन्तन से। जो विशाल मन्दिर वर्षों से ईंट पर ईंट धरकर और चूने पर चूना जमाकर दृढ़ किया जा रहा था जिस मन्दिर के पुजारी पूज्य देवी बेसेन्ट के लिए देवगुरु के चेलों को भी मात करना चाहते थे, वही मन्दिर कई एक पूर्व पुजारियों के सुविचार से चकनाचूर हो गया।

दृश्य मनोरंजक और शिक्षादायक है। इसकी रोचकता और भी बढ़ जाती है, जब हम स्मरण करते हैं कि यह अधःपात उन लोगों की आँखों के सामने हुआ है, जिन्होंने इस मन्दिर को बनते देखा था और विशेषतया जब हमें बतलाया जाता है कि इस मन्दिर के गिरानेवाले भी वही हैं जिन्होंने मंदिर बनाने में ईंट और गारा उठाने में अपना कन्धा लगाया था। दृश्य कैसा विचित्र है। दर्शक का हृदय स्वभावतः इस विचित्र दृश्य की तह की पहुँचना चाहता है। एक निष्पक्ष दर्शक सोचता है कि यह क्या हुआ ? यह विलक्षण दृश्य देखने में क्यों आया ? इस लेख में हम इसी प्रश्न का संक्षिप्त-सा उत्तर देंगे।

प्रत्येक संस्था पर समय का प्रभाव रहता है। जैसे प्रत्येक पुरुष समय का पुत्र है, समय के प्रभावों को लेकर जन्मता, जीता और मरता है, उसी प्रकार संस्थाएँ भी समय की पुत्रियाँ हैं। उन पर समय अपनी मुहर लगाए बिना नहीं कर सकता। समय की छाप प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर रहती है। प्रकृति रूपी कारीगर बहुत समानता नहीं चाहता, उसे असमानता अधिक पसन्द है, सर्वथा समानता उसे अभीष्ट नहीं। वह नाक, कान हर एक मनुष्य के भिन्न रूप रंग के बनाता है किन्तु उनका ढंग एक ही रहता है। समय की छाप सब संस्थाओं पर रहती है। जो मनुष्य या संस्था समय के विरुद्ध विद्रोही हो जाती है, वह उसे ऐसे निकालकर बाहर कर देता है, जैसे मक्खन में से बाल को निकाल दिया जाता है।

जब सेण्ट्रल हिन्दू कालेज बना था तब वह सर्वथा देश की और जाति की आवश्यकताओं के अनुकूल बना था। उस समय देश को उदार धर्म की और उदार शिक्षा की आवश्यकता थी। श्रीमती मिसेज बेसेण्ट ने उस समय उदार शिक्षा कांगड़ा उठाया। संकुचित सनातन धर्म को कुछ विस्तृत अर्थों में लेते हुए उन्होंने धर्मशिक्षा को आवश्यक स्थान दिया। निज के विद्यालयों की, उदार धर्म शिक्षा की और संगठित कार्य की आवश्यकता थी, समय ने जो भूख उत्पन्न की थी मिसेज बेसेण्ट ने उसे पूरा करने का बीड़ा उठाया, लोगों ने साथ दिया। आर्यसमाज ने बड़े खुले हाथों से शुभ कार्य में सहायता दी और कालेज फूलने-फलने लगा।

ज्यों-ज्यों मिसेज बेसेण्ट को कृतकार्यता आती गई त्यों-त्यों उनकी आँखों के सामने धुँधलापन आने लगा। सफलता ने आँखों पर पट्टी बाँध दी। समय की चाल और देश की आवश्यकता का श्री. बीबी बसन्ती को ध्यान न रहा। पहले हिमालयवासी महात्माओं का नाम लेकर बीबी बसन्ती अपना कार्य सिद्ध करती थीं, उन्हीं के नाम से अल्पज्ञ लोगों को धमकातीं थीं, उन्होंने विचारा कि यह तो बड़ा कठिन और टेढ़ा मार्ग है। हिमालयवासी महात्माओं का नाम लेने से मूढ़ लोगों को सीधा कुछ नहीं दिखाया जाता, कोई मूर्ति उनके सामने पूजने के लिए नहीं स्थापित की जाती, इससे लोगों के अन्दर पर्याप्त श्रद्धा का भाव नहीं उठता वे आँखों से छुपी हुई वस्तु को उस पूजा के भाव से नहीं देख सकते, जैसे सामने रखे हुए पदार्थ को मिसेज बेसेण्ट ने विचारा कि हिमालयवासी गुप्त महात्माओं की जगह एक स्पष्ट कृष्ण मूर्ति का व्रत क्यों न स्थापित किया जाए। महात्मा लोगों के नाम से धमकी देने के स्थान में, इस अबोध बालक के नाम से लोगों को क्यों न धमकाया जाए, यह विचार कर आपने एक मद्रासी लड़के को पकड़ा। उस बालक को ईश्वर का अवतार बतला कर विलायत पढ़ने भेज दिया। ईश्वर का अवतार और विलायत पढ़ने जाएगा, सिंह का पुत्र और अपने नाखूनों को पैना कराने के लिए पथरी वाले के पास जावे। क्या यह दृश्य अद्भुत नहीं है ? अद्भुत क्या, इस सच मानने वालों के मस्तिष्क के ऊपर भरोसा करने वाले का दृश्य और भी अद्भुत है, ईश्वर का अवतार संसार का उद्धार करने के लिए जनमा है, किन्तु विद्याध्ययन के लिए आक्सफोर्ड में भेजा जाता है, इस बात को सच समझने की शक्ति या सर्वथा भोले-भालों में हो सकती है या स्वार्थ-सिद्धि करने की इच्छा रखने वालों ने।

अस्तु ! बीबी बसन्ती ने यह बात प्रसिद्ध कर दी, और कई स्वार्थियों ने कई अल्पज्ञों ने और कई भोले-भाले भक्तों ने यह मान भी ली। बीवी बसन्ती कालेज की प्रबन्धकारिणी सभा का प्रधान है। आपने यह उचित न समझा कि कालेज में पढ़नेवाले विद्यार्थी भावी ईश्वरावतार के पुण्य प्रभाव से बचे रहें। उनके अन्दर से भी चेले बनने प्रारम्भ हुए। कालेज के कई एक प्रबन्धकर्ताओं और विद्यार्थियों ने संरक्षकों को यह अवतार पूजा पसन्द न आई। यह सन्देह की बात चारों ओर घूम

ही रही थी कि बीबी बसन्ती के चेलों की एक चिट्ठी पकड़ी गई, जिसमें अवतार की पुजारिन को भी पूरी-पूरी अलौकिक देवी मानने की बात लिखी थी। वह चिट्ठी इलाहाबाद के लीडर ने प्रकाशित कर दी। बस फिर क्या था ? अवत।र और उसकी पुजारिन के साधक लोग उबल पड़े। कालेज से सब साधकों ने इस्तीफे दे दिये। ला. भगवानदास और उनके और साथियों ने सब साधकों के मुक्ति पत्र स्वीकार कर लिए। अवतार महाराज भी पुजारिन के पँजे से छीन लिए गए। प्रकाश के समय महा अँधेर होने लगा था, वह रुक गया। भारतवासियों के मस्तक पर एक भारी कलंक लगाना चाहता था, वह बच गया। उन्नति के स्थान में अवनति का संचार बढ़ने को उद्यत था, ईश्वर की कृपा हुई कि लोगों की आँखें खुल गईं। समय का प्रभाव जीत गया। अवतार का ढोंग टूट गया।

बीबी बसन्ती ने आकर अपने आपको लोगों के सम्मुख भारत-हितैषी के रूप में प्रकट किया था। लोगों ने उन पर विश्वास किया। भोले-भाले लोग उनकी वाणी के मन्त्र में मुग्ध हो गए। स्त्री जाति का जो स्वाभाविक प्रभाव पुरुष पर पड़ता है, उसने भी बीबी बसन्ती का साथ दिया। जो बात एक पुरुष के मुँह से कही हुई साधारण जँचती है, कई लोगों के लिए वही बात स्त्री के मुख से निकलने पर अमृत समान प्रतीत होती है। यह पुरुष की निर्बलता है कि स्त्री का उसके हृदय पर अधिक प्रभाव पड़ता है। फिर स्त्री भी सामान्य नहीं, किन्तु एक असाधारण प्रतिभा सम्पन्न और अनोखा भाषण करने वाली अपनी हितैषिणी समझकर, एक गौरागंना के हाथों में भोले-भाले भारतवासियों ने अपने भाग्यों की लगाम दे दी। गौरागंना ने महात्माओं की धमकियाँ दीं, पौराणिक प्रभावों से निर्बल हुए हृदयों ने उन्हें सब समझकर स्वीकार किया। बीबी बसन्ती ने सोचा 'वाह-वाह। यह अच्छी भेड़ बकरियाँ हाथ आईं। भारतवासी अच्छे बुद्धू हैं, जो महात्माओं के नाम पर ही लट्टू हैं। क्यों न इन्हें अवतार के नाम का ज़ोर दिखाकर और भी सीधा किया जाए। बीबी बसन्ती ने चाल चली, किन्तु चूक गईं। भोले भारतवासियों के कान में जूँ रींगने लगी। सोए हुए देशवासियों में से भी, किसी-किसी को अवतार के रेशमी कपड़े में लिपटी हुई धोखे की कटारी नजर आई। भांडा फूट गया और मक्खन में से वाल बाहर हुआ।

अब हमारी यही आन्तरिक इच्छा है कि परमात्मा हिन्दू कालेज के चलाने वालों को सामर्थ्य दे कि वे इस शुभ देशोपकारी कार्य को कृतकार्यता पूर्वक निभा सकें।

[सद्धर्म प्रचारक, 24 मई, 1913]

कन्याओं की शिक्षा में सुधार

देश के एक छोर से दूसरे छोर तक दृष्टि दौड़ाइए, आपको स्त्री शिक्षा के लिए हलचल प्रतीत होगी। लोग अपने भूले हुए आधे भाग को भी याद करना चाहते हैं, अर्धांगिनी के अधिकारों का भी स्मरण करना चाहते हैं। यह हमारे देश की जागृति का चिन्ह है। जाति की सभ्यता के दरबार की स्थिति स्त्रियों की अवस्था से ही विदित होती है। जिस देश की स्त्रियाँ अशिक्षित होंगी, उस देश की सन्तान भी अशिक्षित होगी। जिस जाति की माताएँ विदूषियाँ होंगी, उस जाति के पुत्र भी विद्वान और भले-बुरे की परख करने वाले होंगे। किन्तु इससे विपरीत जिस देश की स्त्रियाँ सारा दिन पर्दे में अपना मुख छिपाए रहती है, परमात्मा के दिए हुए अमृत सूर्य प्रकाश के संसर्ग से डरती हैं, उस देश के बच्चे यदि कायर, दुर्बल और साहसहीन हों तो आश्चर्य क्या है ?

यह हमारी उन्नति का लक्षण है कि हमारे अन्दर अपनी माताओं और संगनियों को शिक्षित करने की इच्छा उत्पन्न हुई है। हमारे चित्त में यह विचार घर करने लगा है कि स्त्रियों के रूप में ही कोई भूत भावना नहीं घुसी हुई। हम तो शक्ति को सम्मान की दृष्टि से देखने लगे हैं। संसार के मृदु भाग को हम आदर की नजर से निहारने लगे हैं। स्थान-स्थान पर कन्या पाठशाला खुल रही है। बैथून कालेज और कन्या महाविद्यालय इसी प्रवृत्ति के जीते-जागते दृष्टान्त हैं। हर एक जाति और हर एक सम्प्रदाय के मानने वाले भाई कन्याओं की शिक्षा को अपने प्रोग्राम का आवश्यक अंब बना रहे हैं। न केवल पुरुषों में ही यह प्रवृत्ति पाई जाती है, अपितु स्वयं स्त्रियाँ भी अब इस विषय में हलचल मचाने लगी है। स्त्री शिक्षा का प्रश्न अब प्रभावशालिनी महिलाओं की ओर से भी उठाया जा रहा है। देवियों के शतशः लेख और व्याख्यान इस जागृति के चिन्ह हैं।

इंजन में गैस भर दी गई है। यह समय है जबकि यन्त्रों से उसे नियन्त्रित कर दिया जाए। इस शुभ हलचल के समय में सँभल-सँभलकर डग उठाने की आवश्यकता है। ऐसा न हो कि बिना नियन्त्रण के गैस से प्रेरित हुआ इंजन पटरी पर से चूक जाए। ऐसा न हो कि दबाव के उठाने के लिए दिया हुआ धक्का अवधि से भी पार हो जाए। क्रिया के पीछे दिया हुआ धक्का कभी-कभी बहुत प्रबल

प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। जो लोग भोग-विलास के जीवन के पश्चात साधु संगत से ऊपर को उठते हैं वे कभी-कभी सब सांसारिक उत्तम वस्तुओं को लात मार देतें हैं। परमात्मा के दिए हुए रत्नों को भी छोड़ बैठते हैं।

इसी प्रकार कभी सामाजिक दोषों को दूर करने के लिए किए हुए यत्न उस दोष को हटाकर उससे उल्टे जबरदस्त दोषों को उत्पन्न कर देते हैं। स्त्री शिक्षा का प्रश्न बड़ा कोमल प्रश्न है। इसका ठीक या बुरा होना, हमारे सामाजिक जीवन पर बहुत महान असर डालता है। जाति के गृहस्थ जीवन का बनाना या बिगाड़ना इसी प्रश्न के हल करने पर आश्रित है। हमें इस प्रश्न पर विचार करते हुए इसकी पूर्वापरि पर खूब विचार कर लेना चाहिए ऐसा न हो कि कुएँ से बचकर हम खाई में गिर पड़ें। बिच्छु से बचकर हम साँप के ऊपर गिर पडें। स्त्री-शिक्षा का विषय बहुत विचार योग्य है।

एक ओर स्त्री जाति की वह दशा है, जिसमें भारतवर्ष की माताएँ इस समय डूबी हुई हैं। जो असल में रक्षा का एक साधन था वह इस समय जीवन का भारत बना हुआ है। स्त्रियों में शिक्षा होना, न होना, उनका पर्दे में बंद रखा जाना उनके शरीर मन और आत्मा पर बहुत हानिकारक प्रभाव डालता है। यह एक प्रकार का कुआँ है।

अब दूसरी ओर एक खाई है, उस पर भी दृष्टि डालिए। स्त्री जाति का स्वाभाविक स्थान घर है। स्त्री गृहस्थ की स्वामिनी है। घर का ठीक रखना, बच्चों का पालना, पोसना, यह महिलाओं का ईश्वर-स्वीकृत धर्म है। स्त्रियों का राजनीतिक अधिकार माँगना, शारीरिक उत्पात मचाना और अपने गृहस्थ की चिन्ता को भूल जाना—यह गहरी खाई है। स्त्रियों का अशिक्षित होना भी वैसा ही बुरा है, जैसा बुरा उनका घरों को छोड़-छाड़कर नटखट पुरुषों के मार्ग पर चलना है। स्त्री शिक्षा का भार अपने सिर पर उठाने वालों को इस विषय में अपना पूरा-पूरा उत्तरदायित्व अवश्य समझना चाहिए। जिसमें वे कुएँ से बचकर खाई में जा पड़ें।

इस समय हमारे देश में स्त्री शिक्षा के लिए दो प्रकार के यत्न हो रहे हैं। एक यत्न करनेवाली तो सनातन संस्थाएँ हैं। सुधारकों और खुले विचारोंवाले महानुभावों के विचारों से प्रभावित होकर पुराने ढंग के लोग भी स्त्री शिक्षा देने लगे हैं। उनकी शिक्षा में कोई लंबा चौड़ा विचारणीय प्रश्न नहीं है। उनकी स्थापित की हुई पाठशालाएँ अभी प्रारंभिक अवस्था में है, इसलिए उनके विषय में अवधि को पार कर जाने का भय नहीं है।

दूसरा यत्न संशोधित विचारों के महानुभावों की ओर से या उनकी सभाओं की ओर से, आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज का इस विषय में यत्न बहुत अधिक है। इसलिए इन्हीं दो सम्प्रदायों का ध्यान इस ओर विशेषतया आकृष्ट होना चाहिए। संशोधित विचारों वाले महानुभावों की स्थापित की हुई कन्या पाठशालाएँ अब

प्रारम्भिक अवस्था से निकल चुकी हैं। उनमें बहुत ऊँचे दर्जे की शिक्षा दी जाने लगी है। संस्कृत, अंग्रेजी, विज्ञान आदि की उचित और उन्नत शिक्षा उनमें दी जाती है। उन विद्यालयों के संचालकों को इस प्रश्न पर बहुत ध्यान देना चाहिए। यदि कुएँ से बचकर हमें कहीं खाई का डर है तो वह बहुत ऊँची शिक्षा देने वाली कन्या पाठशालाओं से है। हम यह नहीं कहते कि किसी वर्तमान संस्था में ऐसे दोष आ गए हैं। अभी तक ऐसे अतिशय से हमारी पाठशालाएँ प्रातः बची हुई हैं। किन्तु फिर भी हमें अपने शत्रु से सर्वदा सावधान रहना चाहिए।

[सद्धर्म प्रचारक, 14 जून, 1913]

विश्वविद्यालयों की भरमार और गुरुकुल की विशेषताएँ

[2]

पिछले लेख में हमने उन विश्वविद्यालयों का वर्णन करते हुए, जिनके बनाने का आजकल प्रस्ताव हो रहा है, लिखा था कि यद्यपि यह सब विश्वविद्यालय बड़े शानदार होंगे, तथापि कई ऐसे अंश हैं जिनमें निर्धन गुरुकुल विश्वविद्यालय इन सबसे बहुत ही उच्च है। आज हम अपनी इस प्रतिज्ञा को पूरा करना प्रारम्भ करते हैं।

(1) **ब्रह्मचर्य की प्रथा का पालन :** इस बात के सविस्तार वर्णन करने की आवश्यकता नहीं कि गुरुकुल का सबसे बड़ा उद्देश्य प्रथमाश्रम को दृढ़ करना है। ऋषि दयानन्द का यह विश्वास था कि ब्रह्मधर्माश्रम की प्रथा के बिगड़ने से ही भारत अधोगति को प्राप्त हुआ है और उसके पुनरुद्वार से ही वह फिर से उन्नति के मार्ग का राही बन सकता है। आर्यसमाज का भी प्रथम से यही विश्वास रहा है। जब पहले-पहल 1953 में तथा 1954 में गुरुकुल की स्थापना के लिए आर्य पत्रिका तथा सद्धर्म्म प्रचारक में विचार प्रारम्भ हुवा तथा पुरुषार्थी और प्रेमी आर्य पुरुषों के उत्साह देनेवाले लेख छपने शुरू हुए, तब गुरुकुल स्थापना का सबसे बड़ा उद्देश्य ब्रह्मचर्याश्रम का, जोकि सारे अन्य आश्रमों की नींव है, दृढ़ करना ही बतलाया गया था। इसी प्रथमाश्रम की रक्षा के लिए अपील करते हुए पहले-पहले गुरुकुलार्थ धन किया गया तथा उसकी स्थापना की गई। उस समय की पत्रिका तथा सद्धर्म्म प्रचारक की फाइलों को पढ़िए। आपको यह बात स्पष्ट दीख पड़ेगी।

अपने इस उद्देश्य को पूरा करने की शक्ति गुरुकुल में ही है, अन्य किसी शिक्षा देने वाली संस्था में नहीं हो सकती। इसके कारण निम्नलिखित हैं–

(क) अन्य विद्यालयों का यह मुख्य उद्देश्य नहीं होता। ब्रह्मचर्याश्रम की प्रथा हमारे देश से क्या, सारे संसार से प्रायः उठ गई है। उसकी स्थापना में बड़े विघ्न हैं। यूँ भी ब्रह्मचर्य का पालन करना कोई सुलभ बात नहीं। यह तलवार पर चलने तथा आग पर लेटने के समान कठिन है। यह एक बड़ी भारी तपस्या है जो विशेष-विशेष बन्धनों तथा प्रवन्धों के बिना नहीं हो सकती। जब तक इस आश्रम

पर ही विशेष ध्यान न दिया जाए, तब तक इसका पालन कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। जिन विद्यालयों का ब्रह्मचर्याश्रम का उद्धार गौण भी प्रयोजन नहीं, उनसे भारत की क्या भलाई हो सकती है। अन्य विश्वविद्यालयों का यह मुख्य उद्देश्य नहीं होता, अतः उनसे ब्रह्मचर्याश्रम के उद्धार की आशा रखना वृथा है।

(ख) इसी कारण से, गुरुकुल के नियम ही ऐसे हैं, जो ब्रह्मचर्याश्रम की रक्षा के लिए हितकारी सिद्ध हों। पढ़ना-लिखना या खेलना-कूदना वहीं तक ठीक समझा जाता है, जहाँ तक वह गुरुकुल के मुख्य उद्देश्य का बाधक न हो। ऐसे साहित्य के तथा अन्य प्रकार के ग्रन्थ जो, इस मुख्य उद्देश्य में विघ्नकारी सिद्ध हो सके हों, शिक्षा की कमी की परवाह न करते हुवे भी गुरुकुल के नियमों से पढ़ने बन्द किए जाते हैं।

(ग) गुरुकुल सदा संसार की बेहूदगी के निवास स्थान नगरों से बहुत दूर बनाया जाता है। यह गुरुकुल का नियम भी इसीलिए बनाया गया है ताकि ब्रह्मचर्याश्रम की रक्षारूपी तपस्या में राक्षसीय विघ्न उपस्थित न हों।

(घ) गुरुकुल में हर एक श्रेणी के साथ एक या दो अधिष्ठाताओं का यथायोग्य रहना आवश्यक समझा जाता है। ब्रह्मचारियों के आचार-व्यवहार पर कठोर दृष्टि रखी जाती है। ऐसे भी सज्जन हैं जो इन बन्धनों को नई सभ्यता के नियमों से विरुद्ध समझते हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पुरानी पवित्र सभ्यता के लाने के लिए ये बन्धन आवश्यक हैं। इससे उन प्राणियों को, जिन्हें हम ब्रह्मचारी बनाना चाहते हैं, क्रियाओं तथा चेष्टाओं का प्रतिरोध होता है सही, किन्तु क्या प्रतिरोध तथा बन्धन के बिना आज तक संसार में कोई तपस्या, तपस्या कहाई है। क्या सोने को आभूषण के रूप में लाने के लिए तपाना तथा कूटना आवश्यक नहीं है ? और क्या मणि को सिर पर रखने से प्रथम रगड़ना जरूरी नहीं होता ? किन्तु यह बन्धन अन्य विश्वविद्यालयों में नहीं रह सकते। उन विश्वविद्यालयों की रचना में ऐसी कोई विशेषता नहीं है, जिससे उनमें ये बन्धन लगाए जाएँ, या लगाए जा सकें।

(ङ) फिर गुरुकुल के समस्त ब्रह्मचारियों का भोजनादि प्रबन्ध गुरुकुल के कार्यकर्ता लोग चिकित्सक की सहायता से करते हैं। इसलिए ब्रह्मचारियों को वही भोजन दिया जाता है, जो ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक हो। भोजन तथा रहन-सहन का कितना बड़ा असर मनुष्य के आचार पर पड़ता है, इसे वे ही जान सकते हैं, जिन्होंने इस विषय का विशेष अनुशीलन किया हो। गुरुकुल में इन विषयों पर विशेष ध्यान रखा जाता है, किन्तु अन्य विश्वविद्यालयों के छात्रों के खानपान का प्रबन्ध विश्वविद्यालयों के अधिकारी नहीं कर सके।

इस प्रकार से गुरुकुल की रचना तथा नियमों में ही ऐसी विशेषता है कि उस द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम की रक्षा हो सकती है। अन्य किसी विश्वविद्यालय द्वारा नहीं

हो सकती।

(2) मानुषीय शिक्षा : मानुषीय शिक्षा कहने से हमारा अभिप्राय उस शिक्षा से है, जो एक मनुष्य को मनुष्य बनने में सहायता देती है। शिक्षा वास्तविक शिक्षा वह है जो मनुष्य को मनुष्य बनाए। वह शिक्षा, शिक्षा नहीं कहाती जो मनुष्य को मनुष्य बनाने की जगह आधा मनुष्य बना देवे। लोग आधा मनुष्य बनाने वाली कुशिक्षा को भी शिक्षा नाम से पुकारते हैं। किन्तु गुरुकुल का उद्देश्य शिक्षा से मनुष्यों को मनुष्य पदवी के योग्य बनाना है। उसे शरीर, मन तथा आत्मा से जुदा करना गुरुकुल का उद्देश्य नहीं है। किन्तु वर्तमान अन्य विश्वविद्यालय प्रायः आधे मनुष्य उत्पन्न करते हैं। वे उन्हें शरीर से रहित कर देते हैं, आत्मा के भी जगाने का विशेष परिश्रम उनमें नहीं किया जाता। हाँ, मानसिक उन्नति में कुछ न कुछ परिश्रम विश्वविद्यालयों में होता है, किन्तु भारतवर्ष में अभी मानसिक शिक्षा भी जैसी चाहिए वैसी नहीं मिलती। जिन विषयों की शिक्षा विद्यार्थियों को दी जाती है, उनका सापेक्षक सम्बन्ध प्रायः ठीक नहीं रखा जाता। जिस विषय की जितनी शिक्षा देनी चाहिए, प्रायः उस से अधिक या कम दी जाती है।

शिक्षा विषयक इन कमियों के पूरा करने के लिए यत्न करना गुरुकुल का उद्देश्य है। यह उद्देश्य अन्य साधारण विश्वविद्यालयों द्वारा पूरा नहीं हो सकता। क्योंकि जिन विश्वविद्यालयों को गवर्न्मेण्ट का चार्टर मिला हुआ है उनमें प्रायः एक विशेष नीति शिक्षा देने में अवलम्बित की जाती है, जिसे देशकाल को विचार कर देखा जाए तो कहना पड़ता है कि वह भारतीय विद्यार्थियों की शिक्षा को अधूरा छोड़ देती है।

अब हम क्रमशः शिक्षा के एक-एक अंक को लेकर उन पर विचार प्रारम्भ करते हैं।

शारीरिक शिक्षा : सबसे प्रथम कार्य जो शिक्षा को करना चाहिए वह विद्यार्थी की शारीरिक दशा को ठीक रखना है। शारीरिक दशा का ठीक रहना, तथा शारीरिक शिक्षा का प्राप्त होना न केवल विद्यार्थी को पढ़ने में ही बड़ी भारी सहायता देता है, भविष्यत् जीवन में उसे कार्य करने के भी योग्य बनाता है। इसलिए शारीरिक शिक्षा पर विशेष ध्यान देकर विद्यार्थियों की शारीरिक दशा का सुधारना गुरुकुल का एक उद्देश्य है। इस कार्य के करने में गुरुकुल इसलिए विशेषतया योग्य है, क्योंकि—

(क) वह विद्यार्थियों के ब्रह्मचर्य पर विशेष ध्यान देता है।

(ख) गुरुकुल में भोजनाच्छादन का प्रबन्ध, प्रबन्धकर्ता लोग चिकित्सक की सम्मति से स्वयं करते हैं। यह सब लोग जानते हैं कि बाल्यावस्था के सैकड़ा फीसदी रोग अतिभोजन, अल्पभोजन, निकृष्टभोजन या कपड़ों के कम या अनुचित होने से होते हैं। इन सब बातों पर गुरुकुल में विशेष ध्यान दिया जाता है। वैद्य की

सम्मति के अनुसार हर एक श्रेणी के अधिष्ठाता लोग इन बातों पर खूब ध्यान रख सकते हैं। यह ध्यान वहाँ अच्छी तरह नहीं रखा जा सकता, जहाँ पर बालकों की एक विशेष संख्या के साथ अधिष्ठाता न रहे।

(ग) व्यायाम तथा क्रीड़ाओं का प्रबन्ध भी विशेषतया किया जाता है। यद्यपि क्रीड़ाओं का प्रबन्ध और भी अच्छे महाविद्यालयों तथा विद्यालयों के साथ होता है, तथापि अन्य वृद्धि करने वाला व्यायाम उनमें पूरा-पूरा नहीं होता। खेलकूद मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए पर्याप्त है, किन्तु उससे मनुष्य के पट्ठे मजबूत नहीं होते। पट्ठे मजबूत करने तथा शरीर को कष्ट सहने की आदत डालने के लिए, अन्य दंड बैठक आदि व्यायामों की आवश्यकता होती है। किन्तु इन व्यायामों का करना अन्य विद्यालयों में, विद्यार्थियों के लिए आवश्यक नहीं होता। गुरुकुल में इन सब शरीरोन्नति के साधनों पर अच्छी प्रकार से ध्यान दिया जाता है।

[सद्धर्म प्रचारक, 8 मार्च, 1911]

आर्यसामाजिक गृहस्थों के लिए स्वाध्याय का प्रबन्ध

यह ठीक है कि आर्यसामाजिक गृहस्थों को स्वाध्याय के योग्य बनाने के वास्ते कोई स्थान अवश्य होना चाहिए, किन्तु एक स्थान में बड़ा विद्यालय खोलकर यह कार्य चलाना कठिन है। सम्वत् 1964 में मैंने प्रत्येक आर्यसमाज के अधीन एक आर्य पाठशाला खोलने की तजबीज प्रचारक द्वारा पेश की थी जिसमें आर्यभाषा द्वारा साधारण सांसारिक ज्ञान प्रदान करने की प्रेरणा थी। मेरी उक्त तजबीज पर कुछ सनातन धर्म सभाओं ने अमल करते हुए 'हिन्दी पाठशाला' नाम से कुछ पाठनालय खोले किन्तु आर्य सामाजिक पुरुषों ने उस पर कुछ भी ध्यान न दिया। अब भी यदि प्रत्येक जीते-जागते आर्यसमाज की ओर से एक-एक विद्वान् पण्डित वेतन पर रखकर कुछ आर्य गृहस्थ उसकी सहायता करें तो जहाँ दिन के समय बहुत से आवारा फिरनेवाले बच्चे आर्यभाषा द्वारा धार्मिक तथा व्यावहारिक साधारण शिक्षा ग्रहण कर सकें वहाँ रात को कारोबारी आर्य गृहस्थ अपने धर्मग्रन्थों को पढ़ सका करें। कितने ही आर्य सामाजिक पुरुष हैं जो सन्ध्या अग्निहोत्र की विधि भी नहीं जानते, रात को वे भी निश्चिन्त होकर शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। आर्यभाषा के प्रचार में इस प्रकार कितनी सहायता मिल सकती है उसका विचार जुदा रहा। यदि कम से कम दस आर्यसमाजों की अन्तरंग सभाओं की ओर से इस प्रकार की आर्यभाषा पाठशालाएँ खोलने के लिए आमदगी जाहिर की जाए तो मैं वैसी पाठशालाओं की स्कीम बनाकर पेश कर सकता हूँ।

[सद्धर्म प्रचारक, 8 मार्च, 1911]

कन्याओं की शिक्षा में सुधार

[2]

अजात शत्रु की माता का ही प्रभाव था कि वह चक्रवर्ती राजा बन सका। उपनिषदों ने लिखा है कि प्राचीन आर्य राजा के समय में, सारी की सारी राजधानी में न कोई चोर निवास करता था और न किसी झूठे दग़ाबाज की वहाँ गन्ध तक थी। यह सब एक प्रेममयी जननी के ही प्रभाव से था। नैपोलियन का कथन था कि 'हमारे सब भाई-बहनों में जितने ऊँचे विचार हैं, उनका कारण हमारी माता का ही अच्छा प्रभाव है।' मेजिनी एक संसार द्वारा तिरस्कृत पुरुष है। वह मुनि था, सिद्ध पुरुष था, किन्तु उसके समय संसार उसका शत्रु दिखता था। निराशा के अन्धकार में डूबते हुए, प्रकाश की एक ही किरण थी, जो उसे जीवित रखती थी। एक माता का ही प्रेम था, जिसके आश्रय वह जीता था।

माता का मनुष्य-जीवन पर प्रभाव अतुल है। माता संसार के शुभ गुणों के आधे से भी अधिक भाग की स्वामिनी है। बालक के अनपके घड़े के समान कच्चे हृदय पर अच्छे चित्र और शोभन-रंगों का डालना माता का ही कार्य है। सन्तान की रक्षा करना, उसकी शारीरिक मानसिक और आत्मिक उन्नति के लिए नींव रखना, यह जननी का ही कर्त्तव्य है। इसे हम स्त्री जाति का प्रथम धर्म समझते हैं। सन्तान का पालन-पोषण और भावी समय के लिए तैयार करना यह उसके मुख्य धर्म हैं। माता का दूसरा कर्त्तव्य क्या है ? जो सम्बन्ध धर्मानुकूल किया गया है, जिससे मनुष्य जीवन जैसे शुभ परिणाम की आशा है, जो आश्रम रूपी नदी-नालों की गंगा है, उसी सम्बन्ध की सुरक्षा करना, यह घर की स्वामिनी का दूसरा कर्त्तव्य है। पति की सेवा में कोई त्रुटि न होने पाए—इस पर विवाहिता स्त्री का बड़ा भारी ध्यान होना चाहिए घर से बाहर जितनी गृहस्थ की आवश्यकताएँ हैं, उनको पूरा करना पुरुष का कार्य है। गृहयज्ञ को विधिवार सम्पादित करना यह स्त्री का कर्त्तव्य है। इसलिए घर के लिए उपयोगी जितने भी कार्य हैं, इनका ठीक-ठीक ज्ञान एक विवाहिता के लिए अत्यन्तावश्यक है। घर के कार्यों को विधिपूर्वक निबाहना, यह गृह-स्वामिनी का दूसरा कर्त्तव्य है।

अब उनका अपना जीवन ले लीजिए। जीवन मात्र को उत्तमता से, शारीरिक सा मानसिक और आत्मिक नीरोगता के साथ बिताना, यह प्रत्येक मनुष्य देहधारी प्राणी का धर्म है। अपने जीवन को कृतकार्यतापूर्वक निबाहने के योग्य जो व्यक्ति नहीं है, वह जीता हुआ भी मरे के समान है। अपने जीवन रूपी पुष्प में सुन्दर रूप और मनोहारी सुगन्ध का समावेश करना शरीरधारी के लिए अत्यन्तावश्यक है। यह मनुष्य देहधारी मात्र का धर्म है, इसलिए वह स्त्री जाति का भी धर्म है, यह स्त्री जाति का तीसरा धर्म है। इन धर्मों की क्रमशः अधिकाधिक आवश्यकता है। तीसरा धर्म नारीदेह के लिए प्राण वायु के समान, दूसरा जलपान के समान और प्रथम भोजन के समान है। गृहस्वामिनी के ये तीन धर्म हैं, जिसकी आवश्यकता क्रम से बढ़ती जाती है। अपना सुधार, और धर्मपूर्वक जीवन निर्वाह, उसके पीछे पति की सेवा और तदन्तर सन्तान की पालना करनी—ये क्रम से नारी के पके हुए जीवन रूपी वृक्ष के फल होने चाहिए।

इन विशेष कर्त्तव्यों के अतिरिक्त एक सामान्य कर्त्तव्य भी है, जो संसार की महिला जाति को सम्पादित करना है। जहाँ मनुष्य देह पाने के कारण उसे अपना जीवन धर्मानुकूल बिताना चाहिए, विवाहित होने के कारण पति की सेवा में दत्तचित्त होना चाहिए और माता होने के कारण पुत्र के अनपके या अधपके हृदय पर सुन्दर चित्र डालने का यत्न करना चाहिए, वहाँ संसार रूपी नगर के निवासी होने के कारण संसार में फैले हुए संघर्षण को भी कम करना भी उनका ही कार्य है। संसार में जीवन संग्राम बड़ा कठोर है। व्यक्तियों को तथा जातियों को लड़-झगड़कर ही अपना रास्ता निकालना पड़ता है, यह पृथ्वी एक भट्टी है, जिसमें सारे कोयले घास-फूँस और लकड़ियाँ—यह सब कुछ भस्मसात् हो जाता है। इन वस्तुओं का कहीं ठौर-ठिकाना नहीं लगता। इस अशान्त संसार में पुरुष ईंधन के समान हैं, जो न केवल स्वयं जलाते, अपितु आग को जलने में सहायता देते। इस जलती हुई आग की भट्टी में पानी की बूँदें बरसाने वाला कौन है ? अशांति के साम्राज्य में शान्ति का सन्देशा पहुँचाने वाले कौन-कौन-से तेल की मात्रा है जो मशीन के पुर्जों में आग लगाना रोक सकती है ? निःसन्देह यह शुभमंगल कार्य स्त्री जाति का है। इस दावानल पर पानी वर्षा सकती है। वही अपने सच्चे प्रेम और कल्याणकारी स्नेह में इस अंगारों के ढेर पर सुधा वर्षा सकती है। यह शान्ति का कार्य स्त्री जाति का सामान्यतः है। जहाँ लड़ाई है वहाँ शान्ति का साम्राज्य स्थापित करना, जहाँ आग है, वहाँ अमृत बरसाना है। जहाँ रगड़ है वहाँ तेल की तरह स्वयं पिस जाना किन्तु संघर्षण को नष्ट कर देना यह जगज्जननी के प्रेम रूपी गुण की प्रतिनिधि महिला जाति का सामान्य धर्म है ये चार धर्म हैं। जो स्त्री जाति को जीवन नौका के पार लगाने के लिए अत्यावश्यक है।

इन चारों स्त्री जाति के धर्मों पर दृष्टि रखते हुए हम कन्याओं की शिक्षाओं

के प्रश्न पर आते हैं। शिक्षा की किसलिए आवश्यकता है। जीवन के आगामी भाग में जो कुछ करना है, उसकी तैयारी के लिए ही शिक्षा की आवश्यकता होती है। स्त्री जाति के जो चार मुख्य धर्म हमने ऊपर कहे, उनके पालन के लिए तैयार करना स्त्री शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। जो भावी जीवन का उद्देश्य पूर्ति के लिए नहीं है। वहाँ शिक्षा नहीं भार है। असली शिक्षा वही है जो पुरुष या स्त्री की जीवन-यात्रा में पाथेय के समान हो। इसलिए कन्याओं की शिक्षा पर विचार करते हुए इन चारों धर्मों को सामने रखना चाहिए। इन्हीं चार साँचों में शिक्षा को ढालना चाहिए। शिक्षा के भवन में आदर्श इन्हीं सिद्धान्तों को बनाना चाहिए। यदि हम उद्देश्यों को दृष्टिगत रखते हुए कन्याओं की शिक्षा का निश्चय करेंगे तो हमें पछताना न पड़ेगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 21 जून, 1913]

भारत की शिक्षा पर वज्र

इस समय भारतवर्ष के सब दुखों का मूल भारतवासियों का शिक्षित न होना है। सैकड़ों काम प्रारम्भ होते हैं, बीसियों नई सभाएँ बनती हैं, किन्तु किसी प्रकार की उन्नति दृष्टिगोचर नहीं होती। कोई भी कार्य सफल नहीं होता। उसका कारण यह है कि भारतवर्ष में शिक्षा बहुत थोड़ी है। यदि और सब देशों की शिक्षा के साथ इसकी शिक्षा की तुलना की जाए तो भेद स्पष्ट हो जाता है। उनके सामने हमारी मातृभूमि की शिक्षा ऐसी हालत में है, जैसे हिमालय के सम्मुख शिवालिक।

ऐसी अवस्था में हमारे देश में किसी सुधार या उन्नति की आशा रखना व्यर्थ है। शिक्षा, उन्नति रूपी कल के लिए खेती तैयार करने का काम करती है। जैसे ऊसर भूमि पर डाला हुआ बीज अँकुर उत्पन्न नहीं करता, इसी प्रकार शिक्षा न पाए हुए मन के ऊपर समाज सुधार या नैतिक सुधार की बातें असर नहीं डालती। भारत के प्रान्तों पर दृष्टि डालने से ही यह सच्चाई प्रकट हो जाएगी। बंगाल प्रान्त शिक्षा में सबसे अधिक बढ़ा हुआ है। क्या राजनीति और समाज सुधार में कोई प्रांत उसका सामना कर सकता है ? पंजाब में आर्यसमाज का काम होते हुए भी इतनी कम उन्नति क्यों है ? कारण यही है कि उसकी शिक्षा सम्बन्धी अवस्था बहुत गिरी हुई है।

किन्तु प्रश्न यह है कि किस प्रकार की शिक्षा हमारे देश के लिए आवश्यक है। इस विषय में दो सिद्धान्त पाए जाते हैं। एक प्रकार के लोगों की सम्मति है कि भारत में चाहे थोड़े लोग शिक्षित हों, किन्तु जो शिक्षित हों उनकी शिक्षा बहुत ही गम्भीर और पूर्ण हो। दूसरे सिद्धान्त के माननेवालों का कथन है कि गम्भीर और पूर्ण शिक्षा होना अच्छा है, किन्तु साथ ही यह भी न भुलाया जाना चाहिए कि भारतवर्ष की प्रजा का शिक्षित होना इस समय अत्यन्त आवश्यक है। जितने अधिक भारतवासियों की शिक्षा हो उतना ही अच्छा है, गहरी शिक्षा का हमें उतना अधिक प्रयोजन नहीं। बीस एम.ए. और शास्त्रियों की अपेक्षा हमारे देश को इस समय सौ एण्ट्रेन्स पासों की आवश्यकता है। शिक्षा का फैलाव इस समय बहुत होना चाहिए, गहराई चाहे कुछ थोड़ी ही हो। इस समय हमारे देश में उचित शिक्षा का प्रवन्ध, लगभग सारा ही, सरकार के हाथ में है। सरकार ने ही, प्रजा के तथा

अपने शासन के हित के लिए यहाँ यूनिवर्सिटियाँ स्थापित कीं, और प्राइमरी आदि के स्कूल भी बहुतायत से स्थापित किए। शिक्षा के प्रचार के लिए सरकार जो कुछ कर चुकी है, उसके लिए हमें उसका कृतज्ञ होना चाहिए। हमें उसका धन्यवाद करना चाहिए। हम अभी तक यही समझते थे और अब भी समझते हैं कि भारत सरकार यहाँ शिक्षा, प्रजा के हित के लिए ही देती है, किन्तु इस गत दो वर्षों में जो कुछ हो चुका है उससे मन में कुछ सन्देह होने लगता है। कभी-कभी सरकार की गत वर्षों की कार्यवाही से यह सन्देह होने लगता है कि क्या सचमुच भारत सरकार भारत प्रजा के हित के लिए ही शिक्षा का प्रचार करती है या अपने शासन को सुलभ करने के लिए। वे घटनाएँ क्या हैं, यह भी सुन लीजिए।

कोई डेढ़ वर्ष की बात है कि मिस्टर गोखले ने वायसराय का कौंसिल में, भारत में प्रारम्भिक शिक्षा को आवश्यक करने का प्रस्ताव पेश किया था। उस प्रस्ताव द्वारा लगभग पाँच वर्ष में भारत की प्रजा का दो-तिहाई भाग नहीं तो आधा तो अवश्य शिक्षित हो जाता हो। यदि देश का हित करनेवाला वह प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता तो निःसन्देह हमारा सौभाग्य था। इसमें भारत सरकार का नाम ही था, उसकी प्रजा शिक्षित हो जाती, तो भारत सरकार भी और सभ्य देशों की सरकारों की हम पालना समझी जाती। कहा जाता है कि भारत सरकार शिक्षा का व्यय नहीं उठा सकती थी। जो सरकार पल-पल में कलकत्ते से भारत की राजधानी को दिल्ली उठा ला सकती है, नए मकानों पर करोड़ों रुपए व्यय करने का साहस कर सकती है, वही सरकार शिक्षा के लिए व्यय करने में अयोग्य है, यह कैसे माना जा सकता है। फिर शिक्षा तो प्रजा का अपना कार्य है। उसमें तो लोग बहुत सहायता करने को उद्यत होते। ऐसे उपकार और यश के देनेवाले कार्य के करने में सरकार को आगा-पीछा क्यों हो सकता था, किन्तु सरकार पीछे हट गई। मिस्टर गोखले का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं किया गया। लोगों की समझ में नहीं आता, इसका क्या कारण है ? हमें भी स्पष्टतया समझ नहीं आता कि इसका कारण क्या है ?

दूसरी घटना सर्वथा नई है। कलकत्ता में, प्रयाग में, लाहौर में कालेज बहुत-से हैं। उनमें विद्यार्थी खचाखच भरे हैं। किन्तु कालेजों के खचाखच भरने पर भी विद्यार्थियों के लिए स्थान नहीं है। बीसियों युवा, जो अपनी शिक्षा को बढ़ाना चाहते हैं, कालेजों में स्थान नहीं पा सकते। वे कालेज के प्रिन्सिपल के पास जाते हैं, किन्तु उन्हें कोरा उत्तर मिलता है। सरकार अधिक विद्यार्थियों के लिए जाने की आज्ञा नहीं देती। किसी श्रेणी में 150 से अधिक विद्यार्थियों का लेना नियत विरुद्ध समझा जाता है। कलकत्ता और प्रयाग के कालेजों के द्वारों पर शिक्षा के प्रार्थी युवक खड़े हैं, किन्तु उन्हें कोई अन्दर नहीं घुसने देता, लोग पूछते हैं एक श्रेणी में दो विभागों से अधिक विभाग रखने की आज्ञा सरकार ने क्यों नहीं दी। यदि कालिज वाले साधन कर सकें, तो उन्हें अधिक विद्यार्थी लेने की छूट क्यों नहीं

दी जाती। सरकार शिक्षा पानेवालों का मार्ग क्यों रोकना चाहती है ?

हमारी भी सम्मति है कि देश के शिक्षा चाहने वाले युवकों को निराश करना देश की उन्नति के लिए बड़ी भारी हानि करने वाला है। कहाँ तो किसी दिन यह शिकायत थी कि कालेजों में पर्याप्त पढ़ने वाले लोग नहीं आते और कहाँ आज हमारे पास स्थान नहीं रहा। यदि उसके पढ़ने के लिए स्थान नहीं, यदि जाति की बढ़ती हुई शिक्षा सम्बन्धी माँग को पूरा करने के साधन नहीं हैं, तो भी पहले से विद्यमान स्थानों और साधनों को तो न रोका जाए। सरकार की ओर से प्रायः यही कहा जाता है, कि वह हमारी शिक्षा को उन्नत करना चाहती है, और बड़ा करना चाहती है। किन्तु देश अपने व्यवहार से पुकार कर कह रहा है कि शिक्षा के फैलाव की आवश्यकता है। जितने अधिक लोग पढ़ सकें, उतना ही अच्छा है। वह दिन भारत के लिए आनन्द का दिन होगा जब इसके शिक्षित लोगों की संख्या, सभ्य देशों के बराबर पहुँच जाएगी।

[सद्धर्म प्रचारक, 9 अगस्त, 1913]

देहली में राजद्रोह का अभियोग

10 जून को मा. अमीरचन्द के गृह के निरीक्षण के पश्चात् साढ़े आठ बजे सेशन जज बहादुर ने अदालती कार्यवाही आरम्भ की। उक्त स्थान के निरीक्षण से जज साहब ने अपने किए हुए नोट सुनाए। आपने कहा कि जिस कमरे में बम की टोपियाँ निकली बताई जाती हैं उसमें जो एक आठ इंच का एक छेद है इस छेद में नया प्लास्तर हुआ है।

जिस समय जज साहब अमीरचन्द के घर पर थे बमवाले कमरे में घुसते ही पट्री साहब ने कहा कि यह छेद पहले न था परन्तु अमीरचन्द ने कहा कि बमवाला बक्स ठीक इस छेद के नीचे मिला था। लाला ब्रजलाल ने कहा मैंने इसको नीचे कोने में पाया था। अभियुक्त के वकील लाला रघुनाथ सहाय ने अदालत से कहा कि नोट कर लिया जाए कि जज साहब ने मकान का निरीक्षण सरकारी वकील के कहने पर किया है। इसके अनन्तर मि. पट्री पर अभियुक्तों के प्रश्न होते रहे।

11 जून की कार्यवाही

मि. पट्री ने अपना कल का दिया हुआ बयान पढ़ा और उसमें कुछ संशोधन किए। फिर कल की भाँति अभियुक्तों के वकीलों में मि. पट्री से प्रश्न करने आरम्भ किए जिनके उत्तर में उन्होंने कहा पहले मैं और ब्रजलाल इन्सपेक्टर बड़ी देखभाल से मकान में घुसे और हमारी तलाशी अमीरचन्द ने ली। कुछ स्त्रियाँ मकान में थीं जिन्हें एक कमरे में कर दिया। सुलतान चन्द को अमीर चन्द से कानाफूसी करते देख उसको स्त्रियों के पास जाने से रोक दिया। हमारे सारे साथियों की तलाशी ली गई थी।

मैं हनुमन्त सहाय को पहले से ढूँढ़ रहा था परन्तु उसे न पा सका था। मैंने उसकी तलाश छोड़ दी थी परन्तु मि. स्टेड के तार पर उसको फिर तलाश किया। हनुमन्त सहाय के पकड़ने का कोई वारन्ट नहीं था और न उसके गृह की तलाशी का।

मि. पट्री ने कहा—अमीरचन्द के घर में जब मुझे बम की टोपी मिली मैं उससे सर्वथा अपरिचित था। अदालत ने मि. पट्री से पूछा कि क्या उनको याद

है कि बमवाले कमरे में वह छेद था या नहीं। मि. पट्री ने कहा मुझे पूरा निश्चय है कि फरवरी मास में तलाशी के समय छेद नहीं था। अदालत के और पूछने पर कहा कि मुझे नए पलास्तर से छेद नया बनाया प्रतीत होता है।

सरकारी वकील मि. ब्राडवे ने पूछा कि 16 फरवरी से पहले भी किसी ने कहा था कि बम वाला बक्स वहाँ रखा है। इसके उत्तर में मि. पट्री ने कहा नहीं, ला. ब्रजलाल अमीरचन्द के घर की तलाशी और उसकी सूची बनाने के लिए उत्तरदाता थे।

वकील ने प्रश्न किया कि जब सुलतान चन्द ने अपने बयान में यह कहा था कि उस कमरे में आर पार एक छेद है तब मि0 पट्री ने शंका क्यों नहीं की मि. पट्री ने उत्तर दिया मुझे याद नहीं कि सुलतानचन्द ने यह कहा हो। और प्रश्नों के उत्तर में कहा कि सुलतानचन्द ने कहा है कि उसका पिता रत्नचन्द जेल में कई बार उससे मिला है। अदालत ने पूछा कि क्या और अभियुक्तों को यह बात पता थी कि सुलतानचन्द को क्षमा मिलनेवाली है। मि0 पट्री ने उत्तर दिया कि जिस दिन उसे क्षमा मिली उस दिन से उसे अभियुक्तों से पृथक कर लिया था।

इसके अनन्तर मि0 हेडू की गवाही हुई। और आप से प्रश्न हुए तो आपने कहा मुझे पूरा निश्चय है कि कमरे में कोई छेद न था। मि. हेडू ने कहा वह 16 फरवरी से पहले अमीरचन्द का घर न जानते थे परन्तु यह याद नहीं कि उनको कौन पुरुष उनके घर पर ले गया था। मि. हेडू ने कहा कि अमीरचन्द का नाम सी.आई.डी. के रजिस्ट्रों में कुछ दिन 10 नम्बरवालों में भी रहा। यह भी कहा कि कैम्ब्रेज मिशन के पादरी अमीरचन्द का बड़ा आदर करते थे। अवध बिहारी और अमीरचन्द पोलीटिकल सन्दिग्ध थे।

इसके पश्चात् मि. ब्रजलाल की गवाही हुई आपने कसम खाई कि छेद कमरे में न था और मुझे बम वाला बक्स दूरवाले कोने में पाया था। छेद अब बनाया गया है।

12 जून की कार्यवाही

मि. हेडू से प्रश्न हुए। ला. रघुनाथ सहाय ने वकील के प्रश्न पर कहा कि मैं जानता हूँ कि अमीरचन्द पोलीटिकल विचारों का आदमी था और वह अपने विचार वालों से प्रायः मिलता रहता था। मैं नहीं जानता कि वह आतिथ्यकारी है या नहीं। उसका नाम पुलिस में 10 नम्बरवालों में था।

अपने घर की तलाशी के समय अमीरचन्द 15 मिनट तक बाहर चले गए थे, उसके विषय में मि. देह ने कहा।

अमीरचन्द 15 मिनट तक बाहर चला गया मुझे याद नहीं कि इस समय मैं ऊपर रहा था या नहीं। सुलतानचन्द अपने पिता के स्थान पर उसकी अनुस्थिति

में चौकसी कर रहा था परन्तु यह पता नहीं वह कहाँ था। मैं 16 तथा 28 फरवरी के बीच में मकान में इस दृष्टि से कभी नहीं गया कि उस कमरे में छेद होने या न होने को देखूँ। मुझे कभी सुराख होने का स्वप्न भी नहीं आया। मकान के मध्य भाग में मैं घूमा हूँ उसमें मैंने किसी कमरे में कोई छेद नहीं देखा। मैंने अमीरचन्द पर राजद्रोह सम्बन्धी साहित्य के प्रचार का सन्देह किया था और अन्य पुरुष भी उसके साथ थे।

मि. शिवनारायण वकील के प्रश्न पर कहा कि जिस समय कमरों को मुहर लगाने का काम हो रहा था मैं अमीरचन्द से एक चारपाई पर बैठा हुआ बात कर रहा था।

बीच में अमीरचन्द ने नोट करने के लिए कागज पेन्सिल माँगी जो उसे मिल गई।

मि. हेडू ने कहा अमीरचन्द के घर में मेरी कभी तलाशी नहीं हुई। मुझे याद नहीं कि मैं उसके घर सदा अकेला जाता था या सिपाहियों के साथ। मैं नहीं जानता कि अमीरचन्द उदार विचारों का बनिया है। परन्तु हिन्दू सुधार में भाग लेता है।

इसके पश्चात् म. ब्रजलाल पर प्रश्न हुए आपने बम की टोपी वाली सारी बात कह सुनाई और कमरे में छेद होने की कसम खाई। मैंने इन सारी वस्तुओं के विषय में अमीरचन्द से पूछा उसने कहा मैं नहीं जानता कि कहाँ से यह यहाँ आ गई।

इसके पश्चात् ब्रजलाल इन्सपेक्टर ने तलाशी की और घटनाएँ वर्णन कीं।

13 जून

ब्रजलाल इन्सेपक्टर पर प्रश्न होते रहे। आपने कहा अमीरचन्द पोलीटिकल सन्दिग्ध था अर्थात् वह सरकार के सम्बन्ध में पोलिटिकल बातों में भाग लिया करता था। वकील ने पूछा तुम्हारा पोलीटिकल मामलों से क्या अभिप्राय है। ला. ब्रजलाल ने कहा वह पुरुष जो सरकार की ओर से अच्छा विचार नहीं रखते। अमीरचन्द के विषय में सूचना मिली थी कि गुप्त रीति से सरकार के विरुद्ध प्रचार करता है। इसके पश्चात् ला. ब्रजलाल ने नेशनलिस्ट लोगों का लक्षण किया, फिर आपने कहा दरबार में मैं दिल्ली में था। उसके पश्चात् चला गया था। परन्तु बम की घटना वाले दिन फिर दिल्ली में डयूटी पर था। मलका का बाग मेरे हाते में था।

[सद्धर्म प्रचारक, 20 जून, 1914]

देहली में राजद्रोह का अभियोग।

1 जुलाई

100 गवाह अभियुक्तों ने अपनी ओर के बनाए हैं। आज भी खेमसिंह पर प्रश्न होते रहे। इसके पश्चात् सन्तु नामी एक ब्राह्मण लड़के की साक्षी हुई। तदनन्तर पंजाब सरकार के मुद्रण निरीक्षक मि. टीटाइसन की गवाही हुई। आपने कहा, मैं कपूर्थले के प्रेस में गया हूँ मेरी सम्मति में लिबर्टी का परचा वहीं छपा है।

2 जुलाई

सरकारी वकील ने पुलिस के सुपरिन्टेन्डें मि. विसलर से प्रश्न किए। उन्होंने कहा–मैंने 80 मील चलकर 22 फरवरी को बालमुकन्द के घर की तलाशी ली वह घर पर नहीं था। एक दिन बाल मुकन्द की बहन ने (जो एक अध्यापिका थी) तलाशी में सहायता दी थी। मैं सारे पत्रों आदि को चकवाल के थाने में ले गया था यह छः मील की दूरी पर है। मैंने सुपरिन्टेन्डेन्ट की मौखिक आज्ञा पर यह काम किया था। मुझे किसी विशेष पुस्तक वा लेख आदि की प्रेरणा नहीं थी। मुझे यह कहा गया था कि बालमुकन्द को लाहौर के बमवाले विषय में लेना है। मुझे बम के विषय के कुछ पत्र या वस्तु पकड़ने की आज्ञा थी। इसके पश्चात् मूलराज का बयान हुआ। इसने कहा–मेरे पिता और बालमुकन्द के दादा का कुछ मारपीट का झगड़ा था पीछे से समझौता हो गया था। बालमुकन्द ने कुछ दिया था। इतने में बालमुकन्द ने खड़े होकर कहा "मैंने कुछ नहीं दिया" इस पर मूलराज ने कहा–मुझे ठीक याद नहीं कि कुछ दिया था या नहीं। रामभज की गवाही हुई। इसने अफीम के नशे में पहली बार कुछ अण्ड-बण्ड कह दिया था। फिर क्षमा माँगी थी। इस बार सरकारी वकील ने पूछा कि तुमने अफीम खाई है। उसने उत्तर दिया खाई है।

इस साक्षी के पश्चात् इकरामुलहक इन्स्पेक्टर की साक्षी हुई। उसने कहा--मुझे तलाशी की कोई हस्त लिखित आज्ञा नहीं मिली थी। हरीराम और गुरुदयाल सिंह के पकड़ने का कोई वारन्ट नहीं था।

3 या 4 जुलाई को भी कुछ साधारण कार्यवाही होती रही। 5 जुलाई का आदित्यवार था।

6 जुलाई

ला. रघुनाथ सहाय ने लाहौर से छपने वाले "Observer" पत्र के उपसम्पादक पर प्रश्न किए। जिनके उत्तर में कहा कि हनुमन्त सहाय ने मेरे सामने अपनी गुप्त सभाओं की रचना लिखी थी परन्तु पीछे से फाड़ दी थी। मेरी सम्मति कांग्रेस और मुसलिम लीग से नहीं मिलती। मैं ब्रिटिश सरकार को अत्युपयोगी समझता हूँ।

4 जुलाई को कार्यवाही की समाप्ति पर ला. हंसराज (भूतपूर्व प्रिन्सपल डी.ए.बी. कालेज) के तार पर जज साहब ने बलराज अभियुक्त को अपनी माता से मिलने के लिए लाहौर भेजना स्वीकार कर लिया था। उसकी माता मृत्यु शय्या पर पड़ी है। परन्तु पुलिस वालों ने उसको लाहौर ले जाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लिया। अतः बलराज अपनी माता से मिलने के लिए लाहौर न जा सका।

[सद्धर्म प्रचारक, 11 जुलाई, 1914]

गुलाम विश्वविद्यालय नहीं चाहिए

जब से हिन्दू विश्वविद्यालय का पुतला खड़ा करके उसके संचालकों ने उसके गले में सरकारी चार्टर की फाँसी लगाने का प्रस्ताव उठाया तभी से हम उसका विरोध करते चले आए हैं। शिक्षा का उद्देश्य बालकों और युवकों के सर्वांगीण विकास में सहायता देना है। हमारा विश्वास है कि सरकारी बंधनों से जकड़ी हुई शिक्षा पद्धति कभी भी अपने इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती। इस समय भारतवर्ष में जितनी यूनिवर्सिटियाँ हैं वे सरकार की गुलाम है। सरकारी नौकर तैयार करने के लिए इन यूनिवर्सिटियों की सृष्टि हुई थी और यही काम ये यूनिवर्सिटियाँ अब तक कर रही हैं। इनकी शिक्षा पद्धति, परीक्षा पद्धति और पाठ विधि बालकों के मानसिक विकास में सहायक होने के स्थान पर बाधक होती है। इन यूनिवर्सिटियों में विदेशी साहित्य की प्रधानता के कारण ये जातीय सभ्यता और जातीय साहित्य को पुष्ट करने में सर्वथा असमर्थ है। इसके अतिरिक्त इन यूनिवर्सिटियों की मालिक सरकार है और वह शिक्षा के साथ-साथ इन्हें राजनीतिक तुला पर भी तोलती है। इस प्रकार सदा इन यूनिवर्सिटियों को 'विशुद्ध शिक्षा के वायुमंडल' में पालने की घोषणा दिया करती है परन्तु पिछले कुछ वर्षों के अनुभव ने बतला दिया है कि सरकार का इस 'विशुद्ध वायुमंडल' का क्या अभिप्राय है ?

इसी प्रकार के कारणों से, सच्ची शिक्षा प्रेमियों का इन सरकारी यूनिवर्सिटियों पर विश्वास नहीं रहा और वे अपने बालकों की शिक्षा के लिए ऐसी संस्था चाहते हैं जिसमें उनके मानसिक, शारीरिक और आत्मिक विकास की पूरी स्वाधीनता हो। हिन्दू विश्वविद्यालय की स्कीम प्रकाशित होने पर लोगों ने समझा था कि हमारी चिरकाल की इच्छा इस विद्यालय से पूरी होगी। इसीलिए उन्होंने इसके लिए अत्यन्त उत्साह दिखाया। इसीलिए हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए जब चार्टर लेने का प्रस्ताव उठा तभी हमने उसका बलपूर्वक विरोध किया था। क्योंकि हम चार्टर लेने को अपने हाथों विश्वविद्यालय की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाना समझते थे। हम जानते थे कि सरकार हिन्दू विश्वविद्यालय के हाथ पैर बाँधे बिना उसे चार्टर न देगी, इसलिए तरह-तरह के आश्वासन दिए जाने पर भी हम कभी अपने आपको चार्टर के पक्ष में न कर सके। चार्टर का विरोध करते समय में हमें हठी, दुराग्रही और एक महान

जातीय काम में बाधा डालनेवाला कहा गया, पर हमने कभी इसकी पर्वा नहीं की, क्योंकि हमें निश्चय था कि एक दिन अवश्य ही जाति के नेताओं की आँखें खुलेगी। और आज आँख खुलने का दिन उपस्थित हो गया है। सरकार ने उन शर्तों को प्रकाशित कर दिया है जिनको मान लेने पर वह हिन्दू विश्वविद्यालय को चार्टर देगी। वे शर्तें उस पत्र में दी गई हैं जो पत्र भारत सरकार के शिक्षा सदस्य सरकार कोर्ट बटलर ने दर्भंगा महाराज को भेजा है। उस पत्र को हमने अन्यत्र प्रकाशित किया है।

सरकार कोर्ट बटलर के पत्र को साधारण दृष्टि से पढ़ जाने पर भी प्रत्येक पाठक इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि सरकार नए विश्वविद्यालय को एक ऐसे कालेज से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहती जिसका छोटे-से-छोटा पुर्जा सरकारी अफसरों के चलाए चलेगा। हिन्दू जनता अपनी संस्था को भारतीय संस्था बनाना चाहती थी पर काशी तक उसकी सीमा बाँधकर सरकार ने उसे सर्वथा प्रान्तिक बना दिया है। यदि पहले इस विषय में किसी को सन्देह था तो अब यू. पी. के लाट को विश्वविद्यालय का चान्सलर प्रस्तावित करके उस सन्देह को सर्वथा मिटा दिया है। कौन नहीं जानता कि जिस विश्वविद्यालय का चान्सलर एक प्रान्त का लाट होगा उसके लिए न सारी भारतीय जनता का उत्साह होगा और न ही दूसरे प्रांतों के माननीय नेता और विशेषतः राजे-महाराजे उसमें सम्मिलित होना पसन्द करेंगे।

प्रत्येक शिक्षापीठ की सफलता तीन बातों पर निर्भर है (1) पाठविधि बनाना (2) शिक्षकों का नियत करना (3) और परीक्षा लेना। इन तीन ही कार्यों में सरकार ने चान्सलर को पूरे अधिकार देकर विश्वविद्यालय को सर्वथा नपुंसक बनाने में कोई कसर उठा नहीं रखी। चान्सलर की सम्मति के बिना न पाठविधि में कोई पुस्तक रखी जाएगी, न कोई अध्यापक नियत किया जा सकेगा, परीक्षकों का नियत करना भी चान्सलर के हाथ में होगा। हमें आश्चर्य है कि ऐसे सर्वाधिकारी चान्सलर के रहते सीनेट, सिंडिकेट और गवर्नरों का काम 'जी हुजूर' कहने के अतिरिक्त और क्या होगा ?

एक बात और है। हिन्दू जाति लाखों रुपया लगाकर इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की प्रतिमूर्ति खड़ा करना नहीं चाहते। अवश्य ही वर्तमान सरकारी यूनिवर्सिटियों में वह कोई कमी पाते हैं और उसी कमी को पूरा करने के लिए वे नई संस्था बनाना चाहते हैं। क्या एक सरकारी यूनीवर्सिटी के चान्सलर के हाथ में इसी नई संस्था की सारी बागडोर देकर वह कमी पूरी हो सकती है ? समझ रखना चाहिए कि सरकार और सरकारी अफसर कभी अपनी शिक्षा प्रणाली को दूषित नहीं समझ सके। और अपनी शिक्षा प्रणाली को निर्दोष समझने वाले मनुष्य को, एक ऐसी संस्था का सर्वाधिकारी मुखिया बनाना, जो उस के दोषों को दूर करने के लिए

बनाई गई है। उसकी उन्नति में कहाँ तक सहायक हो सकता है।

आप चाहे इन शर्तों को क़िसी दृष्टि से भी देखें, इनका परिणाम हिन्दू विश्वविद्यालय को निर्जीव चीज बना देने के अतिरिक्त और कोई परिणाम नहीं हो सकता। इनमें कई शर्तें तो ऐसी हैं जो सरकारी यूनिवर्सिटियों से भी बढ़कर हिन्दू विश्वविद्यालय को गुलाम बना देंगी। हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दू जाति कभी भी अपने पैसे देकर अपने गले में गुलामी का पट्टा बाँधना पसन्द न करेगी। हम प्रसन्न हैं कि इन शर्तों के प्रकाशित होने पर चारों आरे से यही प्रति ध्वनि सुनाई दे रही है कि इन शर्तों को मानकर विश्वविद्यालय बनाने की हमें कोई आवश्यकता नहीं। किसी और स्थान पर हमने देश के नेताओं और प्रमुख पत्रों की सम्मतियाँ प्रकाशित की हैं। उनसे हिन्दू जाति की आन्तरिक इच्छा का प्रकाश होता है। डा. रासबिहारी घोष और पं. किशन नारायण घर जैसे शान्त प्रकृति नेता और 'लीडर' और 'अभ्युदय' जैसे नर्म पत्र भी इन शर्तों को मानकर विश्वविद्यालय को बनाने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं। हमें पूरी आशा है कि हिन्दू विश्वविद्यालय के संचालक ऐसी स्पष्ट सम्मति का निरादर कभी न करेंगे।

[सद्धर्म प्रचारक, 1 अगस्त, 1914]

क्या धर्म युग हो चुका ?

'धर्म का युग हो चुका' धर्म प्रचारकों के दिन हो चुके, वे शब्द हैं जो हम चारों ओर से सुनते हैं। जिसे धर्म के नाम से पुकारा जाता है, वह भूतकाल की वस्तु समझी जाती है। संसार को धार्मिक अवस्था से निकला हुआ माना जाता है। हमें नए लेखक बताते हैं कि अब व्यापार का युग है। आर्थिक लहर ही अब समाज रूपी किनारों को बनाती या बिगाड़ती है। जाति की आर्थिक दशा ही भूमंडल में उसकी स्थिति निश्चित करती है। अब धर्म का स्थान गौण हो गया है। धर्म का वह कल्पवृक्ष, जो सहस्रों राहियों को छाया देता था, अब रुन्ड-मुन्ड हो गया है। धर्म की कल्पधेनु अब बाँझ हो गई है, जिससे न संतान की आशा है न दूध की।

इस ऊँचे नाद के साथ एक और नाद भी मिला हुआ पाया जाता है। हमें बतलाया जाता है कि धर्म की आवश्यकता भी नहीं। अच्छे कामों के करने के लिए अब धर्म की अपेक्षा बढ़िया प्रेरक और भी हो गए हैं। अब जातियों और राष्ट्रों में उन्नति, मेल या झगड़े धर्म को सामने रखकर नहीं होते। शक्तियाँ भी अब धर्म को पथ दर्शक मानकर काम नहीं करती। लौकिक हित को दृष्टि में रखकर ही शक्तियाँ अपने जीवनों को बनाती हैं। इंग्लैंड के प्रसिद्ध इतिहास दर्शनज्ञ लैकी महाशय ने इसी अभिप्राय का प्रतिपादन करने के लिए एक बड़ी पोथी लिख मारी है। उस पुस्तक में यूरोप में हेतुवाद की उन्नति का इतिहास बतलाया जाता है। लैकी महाशय की राय है कि गत 19 शताब्दियों से भी अधिक समय का इतिहास संसार को निरंतर धर्मवाद से हेतुवाद की ओर ही ले जा रहा है। यह कार्य, राजनीति और व्यापार–इन सब विभागों में अब हेतुवाद ही जातियों, व्यक्तियों के भाग्यों पर निश्चय करता है। इस समय का धर्म 'लोकहित' या 'हेतुवाद' समझा जाता है। इस नए धर्म को अच्छा और पुराने धर्म की अपेक्षा अधिक सुदृश्य बनाने के लिए हमें बतलाया जाता है कि जहाँ पुराने धर्म में मनुष्य जाति टुकड़ों में बाँटने की प्रवृत्ति थी वहाँ नया धर्म-व्यापार और हेतुवाद का धर्म–मनुष्य जाति को मिलता है, उसे एक करता है। व्यापार और लौकिक का हित मेल की आकांक्षा करता है। ऐसे धर्म स्थानीय नए धर्म को पाकर फिर भला कौन पिछले धर्मों पर जाता है।

ये सब बात सुनते-सुनते हमारे कान थक गए हैं। और पुस्तकों में वह सब कुछ पढ़ते-पढ़ते हमारी आँखें शान्त हो गई हैं। जो लोग अपनी ज्ञान रूपी आँखों से तह के नीचे देख सकते थे, और जिनके कान फैली हुई कृत्रिम निःस्तब्धता के बीच में दूर से सुनाई देते हुए घोर नाद को सुन सकते थे, वे जानते थे, यह धर्मरहित सभ्यता, यह हेतुवाद का अभिप्राय रखनेवाली सभ्यता, यह रुपए और पैसे को जीवन का उद्देश्य समझनेवाली सभ्यता अनर्थों से भरी हुई है। इसकी पीठ के पीछे, वह तूफान उठ रहा है जो इसे वेग से उड़ाकर ले जाएगा। वे दूरदर्शी ऋषि और मुनि लोग, जिनका शरीर यद्यपि व्यापारी यूरोप में था, किन्तु आत्मा ऊँचे हिमालय की उच्चतम चोटियों का विहार कर रही थी, देख रहे थे कि इस पश्चिमीय सभ्यता का भावी परिणाम भयावना है। ऊपर से दिखती हुई शान्ति की तह के नीचे भयानक गर्मी वाली लहरें मार रही हैं। वे जानते थे कि यह रुपए-पैसे की सभ्यता स्थिर न रहेगी। संसार को फिर सोचना पड़ेगा कि क्या भूखे हेतुवाद की सभ्यता हमारे लिए शान्ति का हेतु हो सकती है ? यदि पुराने धर्म पर भी झगड़े हुए, यदि उससे मनुष्य जाति की शान्ति स्थिर नहीं रही, तो क्या उस धर्म के वास्तविक स्वरूप को लाने से उसके दोषों को दूर करने से उसकी हानियाँ हट सकती हैं या उसके छोड़ देने सें हम यहाँ किसी विशेष मत या सम्प्रदाय को धर्म के नाम से नहीं पुकारते, बल्कि साधारणतया धार्मिक भाव को उस नाम से कहते हैं। धार्मिक भाव को छोड़ देने से कभी स्थायी शान्ति नहीं हो सकती। व्यापार और हेतुवाद कभी अटूट कल्याण नहीं दे सकते।

आज सारे यूरोपीय जंगल में आग धधक रही है। जहाँ-जहाँ भी यूरोप की शक्तियों के पाँव गए हैं, वहाँ-वहाँ शस्त्रों का झंकार और अस्त्रों की घोर ध्वनि सुनाई देती है। हम नहीं कहते कि यह ही सभ्यता का अन्त है। हम नहीं कहते कि यूरोप में हेतुवाद या लोकहित के विचार से शान्ति की आशा रखनेवाले इस युद्ध से अपनी भूल देख लेंगे, किन्तु हम इतना अवश्य कहेंगे कि यह महा संग्राम उस प्रकार की सभ्यता को बड़ा भारी धक्का पहुँचा गया। भारतवर्ष का महाभारत किस बात का सूचक था ? जब कोई जाति धन और मान के अभिमान में मस्त होकर और लक्ष्मी की मदिरा का पान करके धर्म को तिलांजलि देने के लिए तैयार हो जाती है, तब दैवी कारण आकर उसके अन्दर एक ऐसी चिनगारी छोड़ देते हैं, जो धर्म जल से रहित हो जाने के कारण सूखे हुए जंगल को अग्निमय कर देती है। यूरोप का महाभारत भी सूखे हुए सभ्यताभिमानियों को चेतावनी देने के लिए ही आया है। आज व्यापार से अनन्त शांति की आशा रखनेवाले कहाँ हैं ? आज धर्म को ही युद्ध का कारण बताने वाले लेखक किधर भाग गए ? आज कान्फ्रेंस से सतयुग को लाने की पुकार मचानेवालों का वेग क्यों रुक गया ? वे हमें उत्तर दें कि क्या इस यूरोप के महाभारत से अधिक भयानक, अधिक व्यापी,

और परिणाम में घोर युद्ध धर्मों के कारण हुआ है। क्या बड़े-से-बड़े धार्मिक अत्याचारी ने कभी इस युद्ध में मारे जानेवाले व्यक्तियों की राशि से दशाँश क्या शतॉश भी राशि की हत्या की है ? इस समय दोनों पक्षों के लड़ाकुओं की संख्या लगभग एक करोड़ दस लाख है। क्या किसी धर्मार्थ युद्ध में इससे अधिक व्यक्ति लड़े हैं ?

फिर हम सबके अन्त में यह प्रश्न पूछते हैं कि क्या कोई भी बुद्धिमान पुरुष इस भयानक युद्ध का कारण सिवाय इसके बता सकता है, कि यूरोप के देश एक-दूसरे की बढ़ती से जलते हैं और एक-दूसरे से लड़ने को तैयार हैं। आस्ट्रेलिया सर्विया पर आक्रमण और जर्मनी का बैल्जियम में जाना क्या किसी भी सभ्य शास्त्र में अनुमोदित हो सकता है ?

ऐ, धर्म के प्रचारको ! ये सब प्रश्न आपसे भी पूछते हैं और यह भी जिज्ञासा करते हैं कि क्या इस अशान्त संसार में आपके लिए काम का क्षेत्र कम हो गया ? इन सब प्रश्नों का उत्तर आप लोग ही दे सकते हैं।

[सद्धर्म प्रचारक, 22 अगस्त, 1914]

भारत शिक्षा पर टिप्पणियाँ

शिक्षा उन्नति का मूल है। आज तक ऐसी किसी जाति ने उन्नति नहीं की, जिसमें शिक्षा का बहुत प्रचार न हो। जब हम पुराने भारतवर्ष की महिमा गाते हैं, तो हम से यही पूछा जाता है कि उस समय शिक्षा का प्रचार कैसा था ? क्या उस समय हर एक व्यक्ति पढ़-लिख सकता था ? यदि नहीं तो फिर उस समय की जातीय उन्नति पर हम कैसे विश्वास करें ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उस समय भारतवर्ष में शिक्षा मुफ्त थी, बिना किसी प्रकार के शुल्क के थी। विद्या के बेचनेवाले को अधम समझा जाता था। शिक्षा मुफ्त थी और लगभग आवश्यक थी। Constitutional theory of Hindu law नाम की नई पुस्तक के लेखक म. त्रिवेदी लिखते हैं–'उस समय हमारी जाति में हर एक वर्ण के लिए शिक्षा मुफ्त और निःशुल्क थी।' किन्तु आप कहेंगे कि इसमें प्रमाण क्या ? प्रमाण भी सुनिए।

आवश्यक और मुफ़्त शिक्षा

हमारे धर्म शास्त्रों में कहे हुए सामाजिक नियम बतलाते हैं कि शिक्षा हर एक द्विजाति के लिए आवश्यक थी। मनु ने ब्राह्मणों के पहले धर्म 'अध्यापन' और 'अध्ययन' कहे हैं (मनु ।1 ।88) क्षत्रिय के धर्मों में और वैश्य के धर्मों में भी अध्ययन आवश्यक है। (मनु ।1 ।89 ।90) याज्ञवल्क्यस्मृति के पाचवें अध्याय का 118वां श्लोक निम्नलिखित है।

'इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च
प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा'

वैश्य और क्षत्रिय के लिए यज्ञ करना, विद्या प्राप्ति करना और देना ये तीन धर्म हैं, और ब्राह्मण के लिए प्ररिण्ग्रह, याजन, और पढ़ाना ये भी धर्म हैं। इसी प्रकार सूत्रों से भी प्रतीत होता है कि 'अध्ययन' अर्थात् विद्या प्राप्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए आवश्यक धर्म था। यह वर्णधर्म था, जो टल नहीं सकता था। वर्ण धर्म का पालन कराने वाला राजा था, यह उसका कर्त्तव्य था कि वह सब वर्णो की सन्तानों को शिक्षा दिलवाए। शेष रहे शूद्र, जो किसी कारण से विद्या प्राप्ति

नहीं कर सकते थे, वे ही शूद्र कहाते थे। कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था का यही तात्पर्य है। प्रश्न एक ही रह जाता है। फिर पढ़ाने वालों का गुजारा किस प्रकार होता था ? वे अपनी वृत्ति कैसे करते थे ? जो विश्वविद्यालय प्रजा या राज्य की ओर से चलाए जाते थे, उनमें उपाध्याय लोग वेतन पाते थे। वेतन लेकर पढ़ाने वाले अध्यापक का नाम 'उपाध्याय' था। (मनु।2।141) किन्तु सारी प्रजा उन विद्यालयों में पढ़ने न जाती थी। प्रत्येक ब्राह्मण, जो अध्यापन का कार्य करता था स्वयं एक विद्यालय था। हर एक स्नातक ब्राह्मण विद्यार्थियों को एकत्र करके पढ़ाता था। ऐसे पढ़ानेवाले स्नातकों तथा श्रोतियों को गुजारा राज्य से मिलता था। उन्हें विद्यार्थियों से वेतन न माँगना पड़ता था। (मनु। 9।82, 83) इसीलिए वस्तुतः सारी जाति की शिक्षा मुफ्त थी। इस आवश्यक और मुफ्त शिक्षा के कारण ही पुराने भारतवर्ष का गौरव था। इस समय भारतवर्ष को जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह सर्वसाधारण की शिक्षा है।

भारत की वर्तमान दशा

भारतवासियों की वर्तमान अवस्था के जानने के लिए इतना परिज्ञान ही पर्याप्त है कि इस समय हमारे यहाँ 100 में 94.1 व्यक्ति अशिक्षित हैं केवल 6 ऐसे हैं जो लिख-पढ़ सकते हैं। इंग्लैंड और जर्मनी, जापान और फ्रांस का नाम लेते-लेते हम नहीं थकते, किन्तु इन सब स्थानों में एक विशेष अवधि के लिए शिक्षा आवश्यक और मुफ्त है। भारत में दोनों बातों से एक भी नहीं। न तो भारत को मूर्ख प्रजा को पढ़ने के लिए प्रेरणा ही है, और न साधन ही है।

शिक्षा का व्यय क्या होता है ?

प्रश्न होता है कि यदि भारतवर्ष की प्रजा शिक्षित नहीं होती है तो हर साल जो लाखों रुपया धन भारत के बजट में पास किया जाता है, वह क्या होता है और कहाँ जाता है ? पहले तो भारत की आजादी के लिहाज से वह व्यय कुछ भी नहीं। अमरीकन सरकार अपनी प्रजा में से प्रत्येक व्यक्ति की उच्च शिक्षा पर 10 आना व्यय करती है, और भारतवर्ष की सरकार केवल एक पैसा। अमरीकन सरकार प्रारम्भिक शिक्षा के लिए प्रति व्यक्ति 8 शिलिंग के लगभग व्यय करती है, तो भारतीय सरकार केवल साढ़े तीन (3 1/2) शिलिंग। इससे हम स्पष्टतया देख सकते हैं कि भारतीय सरकार भारतवासियों की शिक्षा पर कितना व्यय करती है ? किन्तु जो व्यय होता है वह भी तो शिक्षा में नहीं जाता। व्यय अध्यापकों पर, पुस्तकों पर या निर्धन विद्यार्थियों की मुफ्त शिक्षा देने पर नहीं होता, बल्कि मकानों पर होता है। जिस बड़े नगर में देखिए, स्कूल की इमारत खड़ी हो रही है जो लखपतियों के मकानों को भी मात करनेवाली है। 300 लड़के और डेढ़ लाख रुपए की लागत

का महल। यह बालकों की शिक्षा नहीं, राजा-महाराजों की शिक्षा है। यह शिक्षा का बजट नहीं, ईंट-पत्थर के लिए बजट है। बजट शिक्षा पर होना चाहिए। उससे निर्धनों को सहायता मिलनी चाहिए। महल और अटारियों में दी हुई शिक्षा उत्तम नहीं होती। शिक्षा वही फैलती है, जिसके ऊपर अनन्त आकाश हो। जिस शिक्षा को दीवारों से संकुचित किया गया हो, वे भला क्या फैल सकती हैं ?

अमेरिका का अनुभव

हमारा ऊपर का कथन नई रोशनी के सज्जन पसन्द न करेंगे। वे कहेंगे, वृक्षों के नीचे शिक्षा देनेवाले गुरु लोग गए और उनके साथ उनका जंगली समय भी गया। अब तो दीवारों से घिरकर ही शिक्षा अपना चमत्कार दिखाती है। उनके सामने हम अमेरिका के एक शिक्षाविज्ञ का अनुभव रखते हैं, जो बहुत कुछ सन्तोषदायक होगा। डाक्टर रोच वहाँ के एक अनुभवी शिक्षाविज्ञ हैं। उन्होंने एक खुली ताकियों का विद्यालय खोला। उसमें चाहे सर्दी हो, चाहे गर्मी उसकी ताकियाँ खुली रहती हैं। सर्दी में विद्यार्थियों को कपड़े अधिक पहिनाए जाते हैं, घरों को अंगीठियाँ देकर सेंका जाता है। किन्तु हवा नहीं रोकी जाती। परिणाम यह कि वहाँ के लड़के और विद्यालयों के लड़कों की अपेक्षा अधिक स्वरूप और हृष्ट-पुष्ट होते हैं। इसीलिए वे पढ़ाई अच्छी कर सकते हैं। यह अनुभव खुली वायु में शिक्षा देने के लाभ स्पष्ट कर देता है। पुराने ब्राह्मण और वानप्रस्थी नदी के किनारे पर महल न खड़े करते थे, वे वृक्षों के नीचे ही भारत सन्तान को शिक्षा देते थे। खुले आकाश मंडल के नीचे दी हुई शिक्षा उसके चित्त को अधिक विस्तृत कर देती थी, आत्मा को अधिक स्वाधीन बना देती थी। और शरीर को बेरोकटोक उन्नति का हेतु होती थी। इस समय सरकार यदि लौटकर रुपया व्यय करने की जगह शिक्षा को सस्ती कर दें, तो बहुत अच्छा है।

[सद्धर्म प्रचारक, 22 अगस्त, 1914]

हिन्दी के समाचार पत्र

यदि हम उर्दू और हिन्दी के समाचार पत्रों की तुलना करते हैं तो हमें बड़ा भेद प्रतीत होता है। दोनों भाषाओं के समाचार पत्र अपनी-अपनी उन्नति की भिन्न-भिन्न अवधियों पर हैं। दोनों की अवस्थाएँ पृथक हैं। दोनों भाषाओं के समाचार पत्रों में से किसी एक समूह को अन्यथा अधम कहना बहुत कठिन है, किन्तु उनमें भिन्नता अवश्य है। दोनों एक दशा में नहीं हैं। दोनों की उन्नति के मार्ग भी एक से नहीं हैं। इस लेख में हम उसी विषय पर कुछ विचार करना चाहते हैं। दोनों की अवस्थाओं में भेद बताते हुए हम चाहते हैं कि उनके कारणों पर भी कुछ विचार करें।

सबसे प्रथम हम उनकी संख्या को लेते हैं। इस समय यदि सारे भारतवर्ष में निकलनेवाले समाचार पत्रों में से दोनों भाषाओं के पत्रों को चुने तो हमें गिनती में उर्दू की ही अधिकता प्रतीत होगी। उर्दू के समाचार पत्रों की संख्या बहुत अधिक है। इसके दो कारण हैं। आर्यभाषा यद्यपि सारे भारतवर्ष में समझी जाती है, और उसकी लिपि भी बहुत अधिक स्थानों में पढ़ी जा सकती है तो भी इसमें निकलनेवाले पत्रों की संख्या कम है। इसका कारण यह है कि आर्यभाषा यद्यपि सब प्रांतों में फैली हुई है, तो भी वह उनकी अपनी भाषा नहीं बनी। बंगा में आर्यभाषा के समझनेवाले बहुत हैं। खास कलकत्ता में आर्यभाषा के कई बड़े-बड़े समाचार पत्र निकलते हैं, किन्तु वहाँ पर ऐसे आदमी बहुत थोड़े हैं जो आर्यभाषा को अपना कहें। मारवाड़ी या इधर से गए हुए सज्जनों में ही आर्यभाषा के पत्र प्रचार पाते हैं किन्तु उनकी संख्या है कितनी ? फिर उन मारवाड़ियों तथा देसियों में से बहुत अधिक संख्या ऐसी है, जो बंगा की भाषा को ही ले लेती है, वहीं की भाषा में बातचीत करना प्रारम्भ कर देती है। ऐसे लोगों का काम बंगाली भाषा से चल जाता है और क्योंकि बंगाली आर्यभाषा की अपेक्षा समृद्ध और धनिक भाषा है इसलिए उनका प्रयोजन और शौक भी उन्हें बंगाली की ओर ही से चल जाता है। आर्यभाषा में उनकी नम्रता कम हो जाती है। भिन्न प्रान्त में गए हुए हिन्दी भाषा-भाषी अपनी निज मातृभाषा से विदाई ले लेते हैं। स्थानी का स्थान आदेश ले लेता है।

इसी प्रकार बम्बई प्रान्त की अवस्था है। मद्रास प्रान्त में तो भाषा के लिए कोई क्षेत्र ही नहीं। अब शेष रहे, मध्य प्रदेश, बिहार, युक्त प्रान्त और पंजाब इनमें से मध्यप्रदेश, बिहार और युक्त प्रान्त को ही आर्यभाषा का घर कह सकते हैं। यहीं पर उसकी स्वाभाविक स्थिति है। यहीं पर आर्यभाषा को लोग अपनाते हैं। पंजाब में बेचारी हिन्दी की विचित्र दशा है। वह पंजाब को पराया नहीं समझना चाहती। बारम्बार उसे अपना समझकर प्रवेश करती है। किन्तु पंजाब भी तुला हुआ है, कि उस बेचारी को नहीं आने देना। आर्यभाषा ने पंजाब में कई बार स्थान पाया है। और निराश होकर, और बाहर निकाली जाकर उसे अपमानित होना पड़ा है। किन्तु आर्यभाषा की भी हिम्मत नहीं टूटती। बारम्बार धावा व्यर्थ जाता हैं, और वह फिर भी धनुष बाण कसकर तैयार रहती है। यह सब कुछ होते हुए यह कहना असम्भव है कि पंजाब में आर्यभाषा का स्वाभाविक निवास है। वहाँ वह परदेसिन की तरह रहती है।

केवल तीन प्रान्त हैं, जिनमें आर्यभाषा कुछ समृद्धि पा सकती है, किन्तु उनमें से मध्य प्रान्त में और संयुक्त प्रान्त में उसकी एक-एक प्रतिद्वन्दी भाषा विद्यमान है। मध्य प्रान्त में मराठी भाषा का आधा राज्य भुलाया नहीं जा सकता। महाराष्ट्र भाषा यहाँ आर्यभाषा को निवेश निबोध नहीं रहने देती। नागपुर आदि में आर्य भाषा को प्रधान भाषा कहना, केवल एक अलंकृत वाक्य का अत्युक्तियुक्त प्रयोग करना है। संयुक्त प्रान्त में उर्दू अपने अधिकारों की घोषणा देने में अग्रसर है। न केवल मुसलमान और न केवल कायस्थ अपितु अन्य हिन्दू लोग और आर्याभिमानी भी उर्दू की सेवा में निरत रहकर जन्म बिताने में कोई अनौचित्य नहीं समझते। कानपुर, लखनऊ आदि शहरों में यदि आर्यभाषा का कुछ प्रचार है तो हम कह सकते हैं कि उर्दू उनकी ईंट और चूने में मिली हुई है। हिन्दी वहाँ पर अतिथि के समान प्रतीत होती है। इन प्रान्तों से भी हिन्दी की स्थिति प्रतिपक्ष रहित नहीं है। जैसे बंगाल का सारा प्रान्त बंगाली को अपनी भाषा मानता है, जैसे महाराष्ट्र का सारा प्रान्त एक ही है, मराठी के सम्मुख सिर नवाता है, इस प्रकार कोई भी प्रान्त केवल आर्यभाषा को अपना नहीं मानता। बिहार भी बंगाल का निर्वासन नहीं कर सका। बंगला भाषा बिहार के अनेक स्थानों में खूब बोली और समझी जाती है।

ऐसी अवस्था में यदि आर्यभाषा के समाचार पत्रों की संख्या न्यून हो तो आश्चर्य ही क्या है ? जब उसे कोई प्रान्त सर्वथा अपना बनाता ही नहीं, तब उसमें संसार की अवस्थिति जानने की इच्छा रखनेवाले अन्य भाषाओं के कितने कैसे हो सकते हैं ? आर्यभाषा में समाचार पत्रों की संख्या कम होने का साधारण कारण यही है।

[सद्धर्म प्रचारक, 22 अगस्त, 1914]

क्या आर्यसमाज का धर्म युद्ध बंद होगा ?

ऐसे समय आ जाते हैं जब भी जवान से नौजवान के दिल में भी वैराग्य की लहर चलने लगती है। बड़े से बड़े हँसमुख भी उदासी के बादलों से घिर जाता है। आर्यसमाज अभी जवान संस्था है। अभी इसके जोश और प्रसन्नता के दिन हैं। किन्तु कभी शत्रुता की बातें सुनकर, कभी अपनी कमजोरियाँ देखकर और कभी केवल सहज भारतीय स्वभाव के अनुसार ही वैराग्य की लहर में डूबे हुए आर्यसमाजी कह उठते हैं कि आर्यसमाज एक मुर्दा संस्था होती जाती है अब इसमें कुछ नहीं रहा। दूसरे ढंग के लोग इस बात को दूसरे ढंग पर बतलाते हुए कहते हैं कि 'अजी, अब समाज का काम हो चुका।' आर्यसमाज के जो उद्देश्य थे, वे अब और सोसाइटियों ने ले लिए। इसलिए आर्यसमाज अब अन्यथा सिद्ध संस्था है।' माना कि आर्यसमाज की संस्था का केवल एक यही उद्देश्य था कि देश के हजार दो हजार शिक्षितों को जगाकर सो जाता।

इस प्रकार के शब्द हैं जो कभी-कभी बूढ़े आर्यसमाज की ओर से उठकर जवान आर्यसमाज को भी निराश करा देते हैं। आर्यसमाज में नए रुधिर की भर्ती क्यों कम है ? क्योंकि आर्यसमाज के पुराने सेवक की प्रायः आर्यसमाज के भविष्यत् पर उदासी प्रकट करने लगते हैं। जब बूढ़ों में निराशा है तो नई उपज कहाँ से हो। आर्यसमाज के पुराने योद्धाओं की उदासीनता नए रंगरूटों के दिल तोड़ देती है, तभी तो नौजवान आर्यसमाज भी कभी-कभी वैराग्य के प्रवाह में बहकर निराश हो उठता है।

आर्यसमाज को जो लोग मरी हुई या मरने वाली संस्था समझते हैं, वे भूल करते हैं। आर्यसमाज धर्म युद्ध करने के लिए पैदा हुआ है। जब तक संसार में वे शक्तियाँ विद्यमान हैं, जो धर्म का विरोध करती हैं, तब तक धर्म युद्ध की आवश्यकता है। आर्यसमाज का कार्य कभी समाप्त होनेवाला नहीं है। मनुष्य में जब तक एक भी बुरी प्रवृत्ति रहेगी तब तक उसके सुधार की आवश्यकता रहेगी और जब तक सुधार अपेक्षित है, तब तक आर्यसमाज के लिए काम है।

यह तो हुआ इस प्रश्न पर जरा दार्शनिक-सा विचार। जब हम क्रियान्तक संसार में आते हैं, तब हमें और भी दृढ़ निश्चय हो जाता है कि आर्यसमाज कभी

अन्यथा सिद्ध नहीं हो सकता।

आर्यसमाज की सामान्यतया सबको, और विशेषतया भारतवर्ष को बड़ी आवश्यकता है। इस देश में आर्यसमाज का वह काम है, जो और किसी सभा या सोसाइटी से नहीं चल सकता जो लोग कहते हैं कि आर्यसमाज के सब काम अब और संस्थाओं ने सँभाल लिए हैं उनकी प्रतिक्रिया कुल इस प्रकार की हैं। वे कहते हैं कि आर्यसमाज का कुछ काम नहीं रहा। आर्यसमाज संशोधन करता था, उसके लिए सोशल-कान्फरेंस पैदा हो गई है। आर्यसमाज शिक्षा प्रणाली में सुधार करने का झगड़ा खड़ा करता था, अब सारा देश ही इस बात को मानता है कि भारत की वर्तमान शिक्षा प्रणाली दूषित है, उसे सुधारना आवश्यक है। आर्यसमाज नीच जातियों को उठाना चाहता था, आज स्थान-स्थान पर उनके सुधार के लिए सभाएँ बनी हुए हैं।

इस प्रकार की युक्तियाँ देनेवालों के लिए हमारा पहला उत्तर यह है कि वे सब कार्य जुदा-जुदा स्थानों पर थोड़े बहुत हो रहे हैं, सही किन्तु एक है। आर्यसमाज इन सब कार्यों को करना चाहता है और करता है। उसके रहते हुए अन्य संस्थाएँ उत्पन्न हो गईं और उन्होंने उसके कार्य को बटाना शुरू हुआ। आर्यसमाज के होते हुए ये नई संस्थाएँ तो अन्यथा सिद्ध नहीं हुईं, और इनके कारण पहला आर्यसमाज अन्यथा सिद्ध हो गया यह कौन-सा न्याय है ? सच तो यह है कि कोई भी संस्था, जो सुधार करना चाहती हैं अन्यथा सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि केवल भारत में ही सुधार के लिए अतुल क्षेत्र है। यहाँ तो जितनी भी छोटी कर्म करनेवाली संस्थाएँ हो जाएँ, वे सब एक-दूसरे की सहायता ही कर सकती हैं, उनकी स्थानपूर्ती नहीं। समाज सुधार, शिक्षा और सब से बढ़कर आर्य साहित्य का पुनरुद्धार यह कार्य इतना बड़ा है कि सहस्रों सभाएँ, सहस्रों विद्यालय और सहस्रों ही प्रचारक यदि कार्य में लग जाएँ तब भी कार्य की कमी न होगी, कार्य साधनों की ही कमी रहेगी।

एक और बात है जिसके कारण आर्यसमाज के कार्य को अन्य कोई नहीं सँभाल सकता। और जो संस्थाएँ बनी हैं, वे एक-एक उद्देश्य को ले कर चली हैं। वे चलें और अपने कार्य को पूरा करें। वे सारे कार्य वृक्ष की शाखाओं को लेकर प्रवृत्त हुई हैं। आर्यसमाज उन सबका समूह है। समाज सुधार के लिए सोशल कान्फ्रेंस है, लोगों को सच्चे राजनीतिक अधिकार बताने के लिए कांग्रेस है, प्राचीन संस्कृत विद्या के पुनरुद्धार के लिए पाणिनि आफिस जैसी मंडलियाँ काम कर रही हैं, शिक्षा के काम को सम्प्रदायनुयायी संभाल रहे हैं, यह सब कुछ है किन्तु इन सबके कार्यों को सम्पादित करनेवाला, इन सब भिन्न-भिन्न यत्नों को एक श्रृंखला में बाँधकर देश की उन्नति को सर्वांगीण बनानेवाला आर्यसमाज ही है। जो लोग इसे केवल सम्प्रदाय समझे बैठे हैं, वे भूल कर रहे हैं। यह भूल केवल समाज से

बाहर के लोग ही नहीं करते, इसके अन्दर रहनेवाले लोग भी करते हैं। आचार सुधार, समाज सुधार, अच्छी राजनीति, अर्थ साहित्य, अच्छी शिक्षा–इसमें से कोई भी कार्य नहीं जो समाज के बीच से बाहर हो। तब फिर उपयुक्त सब दलों को मिलाने वाला आर्यसमाज अन्यथा सिद्ध कैसे हो सकता है। क्या कभी नाक, कान, हाथ और मुँह के होने के कारण उस हृदय का तिरस्कार किया जा सकता है जो सब अंगों की पालना के लिए ताजा लहू भेजता है। भारतवर्ष की सुधार सम्बन्धियों संख्याओं के लिए आर्यसमाज हृदय के समान है। वह उन सबकी पालना के लिए लहू देता है। उनके कारण वह कभी अन्यथा सिद्ध नहीं हो सकता। जो लोग आर्यसमाज का कार्यक्षेत्र संकुचित बनाकर उसे दूषित किया करते हैं, दोषी वे ही हैं, क्योंकि उसके संस्थापक ने उसका कार्य क्षेत्र बहुत विस्तृत रखा है। क्या ऐसे विस्तृत उद्देश्यों और कार्यों से संस्था कभी निष्फल हो सकती है ?

जो नवयुवक केवल यह समझकर आर्यसमाज से उदासीन रहते हैं कि वह अन्यथा सिद्ध है, उन्हें उपयुक्त बातों पर विचार करना चाहिए। जो लोग उसके कार्यक्षेत्र को संकुचित समझकर उससे पृथक रहते हैं, उन्हें भी समझना चाहिए कि ऐसा समझना उनकी भूल है। आर्यसमाज के स्थापक ने उसका कार्यक्षेत्र संकुचित नहीं बनाया था। क्या कोई भी मनुष्य जीवन सम्बन्धी विषय है, जिसका विवेचन सत्यार्थ प्रकाश में न किया गया हो। फिर हम तो वेद को धर्म पुस्तक मानते हैं। क्या कोई ऐसा विषय है जिसे वेद में खोजें और निष्फल प्रयत्न हों। यदि आर्यसमाज के कुछ सभासदों ने उनके कार्यक्षेत्र को भूल से संकुचित बना रखा है, तो उनकी भी भूल हमारे नौजवान भाइयों को न करनी चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे आर्यसमाज को छोड़कर ऋषि दयानन्द के समाज को ही अपना उद्देश्य और आदर्श रखें। तब हम लोगों को यह ज्ञान हो जाएगा कि जो कार्य आर्यसमाज को करना था वह समाप्त नहीं हुआ। जिन शत्रुओं से समाज को लड़ना था, उसके दल में अभी तो वह घुसा ही है। जिस ओइम् की ध्वजा को संसार में गाड़ना था, वह तो अभी समाज मन्दिरों के अन्दर ही गड़ा हुआ है। इसलिए निराश न होकर आर्यसमाज के नवयुवकों को समाज के कार्य में लग जाना चाहिए। परमात्मा उनके अवश्य सहायक होंगे।

[सद्धर्म प्रचारक, 31 अक्टूबर, 1911]

राजनीति और समाज-संशोधन

सहयोगी प्रताप और आर्यमित्र में आजकल एक बहुत उपयोगी विवाद चल रहा है। इस प्रकार के विवाद हमारे पत्रों में बहुत कम चलते हैं। किसी विषय पर विचार प्रारंभ होते ही व्यक्ति पर आक्रमण होने प्रारंभ हो जाते हैं। और उसकी बात पर धूल पड़ जाती है। विवाद इस विषय पर प्रारम्भ हुआ कि भारतवर्ष को राजनीतिक कार्यों की अधिक आवश्यकता है या सामाजिक और धार्मिक संशोधन की। सहयोगी प्रताप राजनीति को उच्च पद देता प्रतीत होता है और आर्यमित्र दूसरे दो प्रकार के कार्यों को। यदि यह विचार अच्छी रीति पर किया जाए तो बहुत लाभदायक हो सकता है। इस समय उत्तरी भारत में भी इसी प्रकार के दो पक्ष हो गए हैं। एक वह पक्ष जो राजनीतिक काम को ही देश का सर्वस्व मानता है और दूसरा उस कार्य में विश्वास नहीं करता। दोनों पक्षों वाले एक-दूसरे के कार्य को अश्रद्धा और अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। और हमारी राय है कि एक-दूसरे के गुणों को भी दोष की दृष्टि से परखते हैं। सहयोगी प्रताप को ही लीजिए। उसके लेखों से प्रतीत होता है कि जब उसे गंभीरतापूर्वक विचार करने का अवसर मिले तो वह सामाजिक और धार्मिक संशोधन के कार्य की आवश्यकता को मानता है। किन्तु साधारणतया अपनी स्वाभाविक उपहासप्रियता में आकर वह प्रत्येक वस्तु को तुच्छ बनाने का यत्न करता है। और अन्य सब प्रकार के कार्यों को हेय समझता है। दूसरी ओर हिन्दू सभा के इस वर्ष के सभापति जी हैं, जिनकी राय में राजनीतिक कार्य सर्वथा निर्मूल जँचता है। हम समझते हैं कि ये दोनों पक्ष अत्युक्ति और एक तरफा ज्ञान पर अवलंबित है, और उनमें भी सामाजिक सुधार सबसे आवश्यक है। सामाजिक सुधार राजनीतिक सुधार का मूल है। वह जाति, जिस पर भयानक जाति बंधन की जँजीरें कसी हुई हों, जिसके करोड़ों व्यक्ति पशुओं से बदतर हैसियत के समझे जाते हों, जिसमें जाति की माताओं को अशिक्षित और असूर्यम्पश्य, रखा जाए, जिसमें एक ईश्वर के स्थान में लोग जड़ोपासना से ही सन्तुष्ट हैं--हम पूछते हैं कि क्या ऐसा देश आत्मशासन का अधिकारी हो सकता है ? क्या वह मनुष्य, जो अपने साधारण से पुरोहित के सामने चूँ तक करने की हैसियत नहीं रखता, कभी शक्तिशाली गवर्नमेंट के सामने शब्द उठाने की ताकत रखता है ? सामाजिक

संशोधन राजनीतिक संशोधन की नींव है। साथ ही राजनीतिक संशोधन को क्षण-भर के लिए भुला देना भी आत्महत्या के समान है। भारतवर्ष में समाज का आधार धर्म है—इस बात को भुलाना नहीं चाहिए। धर्म का संशोधन असम्भव है, और समाज संशोधन पर राजनीतिक सुधार अवलंबित है। ये तीनों प्रकार के सुधार कार्य कारण भाव रखते हुए भी एक-दूसरे के साथ ही चलते हैं, और एक-दूसरे के सहायक हैं।

[सद्धर्म प्रचारक, 6 फरवरी, 1915]

आर्यजातीय महासभा

चिरकाल से–जब से कि 'आल इण्डिया मुस्लिम लीग' की बुनियाद पड़ी–हिन्दू राजनीतिक नेताओं का विचार एक 'आल इण्डिया हिन्दू सभा' स्थापित करने का हो रहा है। कुछ मुसलमानों ने 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' में सम्मिलित होकर पहले पहल काम किया, परन्तु उनके तत्कालीन सामयिक अग्रणी, श्री सर सैयद अहमद महाशय ने सारी जाति में अपनी जाति के पुरुषार्थ के लुप्त हो जाने के भय से तीन चार वर्षों के ही पीछे अपने मतावलंबियों को उस सार्वजनिक संस्था से अलग करने का प्रयत्न किया। यद्यपि फिर भी कुछ उदार मुसलमान जाति का साथ देते रहे किन्तु उसके पीछे चिरकाल तक मुसलमान समाज ने यह समझकर कि कांग्रेस से अलग रहने से वे राज के पत्तीदार बन गए, सामयिक-राजनीतिक आन्दोलन में कुछ भी भाग न लिया। किन्तु 'सब दिन जात एक समान'–समय में परिवर्तन हुआ और उसके साथ ही हमारे मुसलमान भाइयों को अपनी नीति बदलनी पड़ी। उन्होंने देखा कि राजनीतिक कार्यों से सर्वथा अलग रहते हुए उन्हें कई प्रकार की हानियाँ पहुँची हैं जिन्हें दूर करने के लिए वे पूर्व प्रतिज्ञानुसार अपने शासकों से निवेदन नहीं कर सकते। तब अलीगढ़ की, शिक्षा सम्बन्धी संस्था से अलग उन्हें एक राजनीतिक दल बनाना पड़ा। देश का भला तो इसमें था कि वे कांग्रेस में ही फिर से सम्मिलित होते, परन्तु पिछले किए की लज्जा तथा भविष्य में फिर कुछ अधिक टुकड़े प्राप्त करने की आशा ने उन्हें ऐसा करने न दिया। इस नई संस्था को स्थापन करके मुसलमान पढ़े-लिखों ने केवल अपनी ही जाति की स्वार्थ सिद्धि के विचार से, 'मुस्लिम यूनिवर्सिटी' स्थापन करने का प्रस्ताव हिलाया। उस प्रस्ताव ने मुसलमानों में नया जीवन डाल दिया और लाखों रुपया एक इशारे में जमा हो गया।

उस समय हिन्दुओं की भी आँखें खुलीं। उन्होंने देखा कि जहाँ मुसलमान अपनी लीग द्वारा हिन्दुओं के हिताहित की परवाह न करते हुए, अपनी बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र कर रहे हैं, वहाँ हिन्दू बेचारे 'नौ कनौजिया और तेरह चूल्हे' की लोकोक्ति को सिद्ध करने की धुन में ही लगे हुए हैं। फिर क्या था ? पंजाब हिन्दू सभा सथापित हो गई; परन्तु पाँच बरस के निरन्तर प्रयत्न से फल यह हुआ

कि स्वप्नावस्था में जो जाति थी। वह सुषुप्तावस्था को प्राप्त हुई। ऐसी अवस्था में भी आर्य (हिन्दू) जाति के टुकड़े बढ़ते ही गए।

तीन वर्षों से यहाँ भी 'आल इन्डिया हिन्दू लीग' स्थापन करने का विचार हो रहा है। गए वर्ष आर्य जाति के कुछ भूषणों का निज सम्मेलन मैंने भी दिल्ली नगर में देखा था, जिससे मुझे निश्चय हो गया कि मुसलमानों के अनुकरण में यदि आर्य जाति ने भी 'राजनीतिक लीग' ही बनाई तो कुछ भी लाभ न होगा। हिन्दू जैसे उदार पहले रहे हैं, राजनीतिक विषयों में उन्हें वैसे ही उदार रहकर अब भी 'इन्डियन कांग्रेस' द्वारा ही काम करना चाहिए। तब क्या 'ऑल इन्डिया हिन्दू सभा' की आवश्यकता नहीं ? और क्या आनरेवल बाबू सुखबीर सिंह बी.ए. के पुरुषार्थ की अग्नि को मैं मन्द करना चाहता हूँ ? कदापि नहीं परन्तु मैं इस प्रस्तावित संस्था का संगठन और उसके उद्देश्य ऐसे चाहता हूँ जिनसे जाति की वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी हों और साथ ही यह संस्था भी चिरस्थायिनी हो।

मेरी सम्मति में राजनीतिक कार्यों में सीधा कोई भाग इस सभा को नहीं लेना चाहिए और न मत सम्बन्धी झगड़ों में इसे पड़ना चाहिए। इसका उद्देश्य इन सब बातों से अलग रह्द कर आर्य सभ्यता के पुनरुद्धार का प्रयत्न होना चाहिए। यही कारण है कि सबसे पहले मैं इस सभा का नामकरण संस्कार फिर से कराना चाहता हूँ। जैन, बौद्धादि का साहित्य आर्य शब्द में भरा पड़ा है। हिन्दू नाम के अन्तर्गत, इस समय, इन सब बातों के अनुयायी नहीं समझे जाएँगे। और आर्य नाम का आर्यसमाज भी ठेका नहीं ले सकती। उस समाज के प्रवर्तक श्री स्वामी दयानन्द जी ने आर्य शब्द से उन लोगों का ग्रहण किया है जो सदा से आर्यावर्त में बसते रहे हैं और सभ्यता के सेवक हैं। तव यदि कुम्भ के समय 'आर्यजातीय महासभा' की स्थापना की जाय तो अत्युत्तम होगा।

इसका संगठन ऐसा होना चाहिए कि आर्य जाति के सर्व विभागों के प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित हो सकें। ग्रामों और नगरों के प्रतिनिधियों की प्रान्तीय सभाएँ और प्रान्तीय सभाओं के प्रतिनिधियों की महासभा बने और दोनों का परस्पर गाढ़ा सम्बन्ध हो।

प्रश्न बड़ा भारी यह है कि इस प्रस्तावित महासभा के उद्देश्य क्या हों ! आर्य सभ्यता का उद्धार किसे कहते हैं ? इसे जानने के लिए आर्य सभ्यता के चिन्हों को जानने की आवश्यकता है। संसार में इस समय तीन ही बड़ी सभ्यताएँ हैं–(1) लातीनोवा क्रिश्चियन सभ्यता, (2) सासानी या मुसलमानी सभ्यता तथां (3) प्राचीन आर्य सभ्यता। आर्य सभ्यता का पहला भेद अन्य सभ्यताओं से उसमें अहिंसा धर्म का प्रधानत्व है। गौ-रक्षा भी इसी के अन्तर्गत है। यदि आर्य लोग स्वयम् गौ माँस के अतिरिक्त अन्य सब माँसों के भक्षण से घृणा न करेंगे तो लातीनी तथा सासानी सभ्यता के माननेवालों को गौ हिंसा रूपी पाप से भी कैसे बचा सकेंगे ?

इसलिए सबसे पहला काम इस महासभा का यह होना चाहिए कि भोजन का सुधार और अहिंसा धर्म का प्रचार करे। आर्यजाति के दुःखों का चतुर्थ भाग भोजन विधि के बिगड़ने का परिणाम है, और भोजन विधि के बिगड़ने का कारण हिंसा का राज्य है। हिंसा प्रधान 'यूरोप' ने जो दृश्य वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध में दिखाया है उसका आर्य जाति के गिरे हुए (महाभारत के) समय से तुलना करके भी निश्चय हो जाएगा कि यदि आर्यजाति फिर से अपना गौरव स्थापन करेगी तो उसके साधनों में अच्छा भाग अहिंसा धर्म का होगा।

आर्य सभ्यता का दूसरा भेद, अन्य सभ्यताओं से, स्त्री सम्बन्धी है। आर्य सभ्यता में देवियों को बड़ा उच्चासन दिया गया है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का प्रेरक जहाँ आर्यजाति ने पितृऋण को ही समझा था और सन्तानोत्पत्ति से बढ़कर उनका कोई उद्देश्य न था वहाँ अन्य सभ्यताओं में स्त्री पुरुष का सम्बन्ध काम चेष्टा को पूरा करने के लिए ही समझा जाता है। और उन सभ्यताओं का आर्य जाति पर भी ऐसा प्रभाव पड़ा है कि अब स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा के विषय में पुराने उच्चभाव उड़ते जाते हैं। और स्त्रियाँ भी निस्सहाय होकर पशुभाव से प्रेरित हो अन्य जातिस्थ विषयी तथा व्यभिचारी पुरुषों के काबू चढ़कर खराब होती है। यदि शिमला, कांगड़ा और अल्मोड़ा, तीन पहाड़ी प्रान्तों की कुछ कहानियाँ सुनाने लगूँ तो लंदन और पेरिस की पुरानी 'मिस्टरीज' मात हो जाएँ। मैंने चार-पाँच वर्ष पीछे आन्दोलन किया था तो पता लगा कि प्रत्येक वर्ष शिमला तथा कांगड़े के इलाकों से कम-से-कम चार सौ सुन्दरी, युवती, भद्द आर्यों की स्त्रियाँ मुसलमान बहरो, ख़ानसामों और अन्य मुसलमान व्यभिचारियों के साथ निकल जाती हैं। आर्य (हिन्दू) जाति की संख्या कम होने के कारणों में से यह भी क्या एक कारण नहीं ? और फिर यह भी नहीं कि यह स्त्रियाँ उन मुसलमानों की गृहणियाँ बनकर रह सकें। जब दो-तीन वर्षों में दुष्टों की काम चेष्टा तृप्त हो गई तो इन बेचारियों को कोई रोटी देने वाला नहीं रहता। यह क्योंकर होता है एक उदाहरण देता हूँ। कसौली पर्वत की एक पर्वतिया नामिनी भजवा की विधवा थी। उसको एक मुसलमान ने काबू कर लिया। उसे कहा कि हमारा निकाह सरकार में लिखा जाएगा। पर्वतिया साथ कचहरी गई। मुसलमान अर्जी नवीस ने अर्जी लिखी और मुसलमान सरिश्तेदार ने साहब के हस्ताक्षर करा लिए और भोली पर्वतिया को कहा कि 'तेरा ब्याह हो गया।' सात महीनों के पीछे जब बेचारी पर्वतिया निकाली गई और जाइन्ट मजिस्ट्रेट साहब आश्चर्य में हुए—हैं, हमने कब ब्याह कराया ?' मिसल निकालीं गई तो जो ब्याहवाली अर्जी समझी गई थी वह निम्नलिखित थी, जिसकी नियमपूर्वक सरकारी नक़्ल मेरे पास है—'नकल सकल मश्मूला मिशल नं. 3, मुतफरूकात फौजदारी मरकुआ 4 वाकए कसौली। जनाब आली फिदवी चल नहीं सकती ताकि मेहनत मजदूरी करके अपना गुजारा करे और मेरी बिरादरी ने मुझसे मेरे खाबिन्द का सब

कुछ ले लिया। कोई सूरत गुजारे की नहीं है। अब फिदविया मुसलमान होना चाहती है; भीख माँगकर गुजारा करूँगी। इसलिए दर्ख़ास्त है कि फिदविया को मुसलमान होने की इजाजत दी जाए। बाजबन अर्ज है। फिदविया पर्वतिया......' इस पर आज्ञा लिखी थी "कोई रोक नहीं दाखिल दफ़्तर हो",

क्या आर्य जाति के अगुओं की आँखें कभी खुलेंगी ? ईसाइयों की मुक्ति फौज हमारे सहस्रों भाइयों और सहस्रों देवियों को अपने प्राचीन धर्म से विमुख कर रहे हैं। सरकार ने कह तो रखा है कि 'जरामय पेशा अकबाम' में जो पन्थ काम करना चाहे उसे अवसर देंगे परन्तु जुदे-जुदे पन्थाइयों के सामने इतनी कठिनाई पड़ती है कि वे हौसला नहीं कर सकते। परन्तु यदि सारी जाति एक संगठन करके, एक स्वर हो, गवर्नमेंट से बलपूर्वक निवेदन करे कि सर्व हिन्दू इस प्रकार के स्त्री पुरुष उनके सुपुर्द किए जाएँ तो कोई भी वाइसराय या मायमूबा इन्कार नहीं कर सकेगा। परन्तु इन गिरे हुए स्त्री पुरुषों को राष्ट्र के लाभदायक अंग बनाने का काम कौन करेगा ?

आज इससे आगे मैं कुछ नहीं लिखना चाहता, और न लिखने की आवश्यकता है। लिखने और शोर मचाने से ही तो सब काम बिगड़ते हैं। हम यदि शुद्धि करेंगे तो डंके की चोट; यदि जन्म के मुसलमान को मिलाने का विचार होगा तो दो सौ की शुद्धि का नोटिस देंगे जिससे वे दो भी पखेरा हो जाए—कहाँ तक लिखे हम दिखलावे के दास हो रहे हैं। आर्य जातीय सभा के लिए बीसियों ऐसे काम निकल सकते हैं जो और कोई सभा न कर रही और न कर सकती है। परन्तु जब जाति के अग्रणी गम्भीर भाव तथा सच्चे दिल से कभी विचार करने बैठेंगे उस समय ही अपने विचार उनके चरणों में अर्पण करूँगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 6 मार्च, 1915]

मातृभाषा का आह !!!

वायसराय की कौंसिल के 17 तारीख के अधिवेशन में भारत माता के सुपुत्रों ने मातृभाषा द्वारा शिक्षा दिए जाने के विषय में अपनी जो सम्मतियाँ प्रकाशित कीं, निःसन्देह उनसे मातृभाषा दुःख भरी आह भर-भरकर रोती होगी। यह अभागा भारतवर्ष ही है, जहाँ देशभाषा द्वारा शिक्षा दिए जाने को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। जिस भाषा को पुत्र ने माता के दूध के साथ पिया है, जिस भाषा में उसने तोतली जिह्वा से माता-पिता के कानों में अमृत की धारा बहाई है, और जिस भाषा द्वारा वह अपने स्वाभाविक भावों का प्रकाश करता रहा है, वह उसे शिक्षा देने के काम में नहीं लाई जा सकती—शिक्षा देने के लिए एक सप्तसागर पारवासिनी भाषा को लाना आवश्यक है—यह तर्क भी अभागे भारत के सिवा और कहीं न मिलेगा। फिर ऐसा तर्क करनेवाले भी कौन ? अन्य देशवासी नहीं, निज देशवासी ही। क्या फिर भी भारतवर्ष में मातृभाषा को दुःखभरी आह भरने का अवसर नहीं है।

मद्रास के म. राम रायनिंगर ने वायसराय की कौंसिल के 17 मार्च के अधिवेशन में प्रस्ताव पेश किया कि भारतवर्ष में स्कूल की उच्च शिक्षा देशी भाषाओं द्वारा ही दी जाया करे। प्रस्ताव जहाँ एक ओर देश के लिए अत्यन्त उपयोगी था, वहाँ दूसरी ओर प्रस्तावकर्ता की विवेक-शक्ति का सूचक था। प्रस्ताव में देशी भाषा को एकदम सारी शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रश्न नहीं उठाया गया, केवल स्कूल की उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने तक ही सन्तोष किया गया था। जो लोग मातृभाषाओं द्वारा शिक्षा के पक्षपाती हैं वे शायद इस प्रस्ताव को अपूर्ण कहने के लिए भी तैयार हो जाएँ क्योंकि उनकी राय में सम्पूर्ण शिक्षा का माध्यम देशी भाषा को ही समझना चाहिए। म. रायनिंगर ने अपने प्रस्ताव को इतना व्यापक नहीं बनाया। अंग्रेजी भाषा के पक्षपातियों के भावी विरोध का ही ध्यान करते हुए उन्होंने उसे संकुचित कर दिया। किन्तु हमारे देश की शोचनीय दशा का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि इस उपयोगी प्रस्ताव का विरोध भारतवासी देशभक्तों द्वारा ही किया गया। केवल दो भारतीय सदस्यों ने ही प्रस्ताव का समर्थन किया—एक पंडित मदनमोहन मालवीय और दूसरे राजा कुशलपाल सिंह। शेष सब भारतीय

सदस्यों ने प्रस्ताव का विरोध किया। विरोध करनेवालों में मि. दादाभाई, मि. सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि हिन्दू सदस्यों के अतिरिक्त मि. गजनबी, महमूदाबाद के राजा, सर करीमभाई और सर रहीमतुल्ला आदि मुसलमानों के नाम मुख्य हैं। मि. दादाभाई का नाम देखकर तो कोई आश्चर्य नहीं होता क्योंकि जो भारत के लिए आवश्यक प्रारम्भिक शिक्षा का विरोध कर सकता है, वह क्या नहीं कर सकता। हाँ, मि. सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का नाम प्रस्ताव के विरोधियों में देखकर अवश्य दुःख होता है।

जिन युक्तियों के आधार पर इस सर्वप्रिय प्रस्ताव का विरोध किया गया है, जरा उनका भी दिग्दर्शन कर लीजिए। मि. दादाभाई, जिन्होंने सबसे पहले देशोपकारक प्रस्ताव के विपक्ष में विद्रोह भाषण किया, लोकमत से पूरा परिचय देते हुए फर्माते हैं—"इस प्रस्ताव का पोषक लोकमत नहीं है, और जनता बड़ी दृढ़ता से चाहती है कि स्कूलों की उच्च शिक्षा की वर्तमान रीति में कोई परिवर्तन न किया जाए। यदि आज तक कोई स्थापना सत्य की जरा भी परवा न करके की गई है, तो यह है। न जाने दादाभाई महाशय को यह विचित्र लोकमत कहाँ से पता लगा। उनकी जनता शायद उनके ड्राइंगरूम के दोस्त हैं। न जाने वह कौन-सी जनता है जो देशी भाषा माध्यम नहीं बनाना चाहती। जो लोग अंग्रेजी द्वारा ही उच्च शिक्षा प्राप्त किए हैं, जिनका उसी से जीवन और उसी से मान है, वे यदि देशी भाषाओं को तुच्छ समझें तो कोई बात नहीं—देशी भाषाओं की योग्यता उनके दिमाग में घुस ही नहीं सकती। किन्तु दस-बीस की राय को लोकमत कहना कहाँ की सत्यता है।

मि. बनर्जी का कथन अधिक सारयुक्त था। आपकी दो युक्तियाँ थीं। एक तो यह कि इस विषय में प्रान्तों की राय लेनी चाहिए क्योंकि प्रान्त-प्रान्त की दशा में भेद हो सकता है और दूसरे यह कि सारी भाषाएँ भी एक ही स्थान पर नहीं समझी जा सकतीं। भारत की पूरी तीन सौ भाषाएँ ही शिक्षा का माध्यम होने के योग्य नहीं हो सकती। ये दोनों विचार प्रस्ताव के रूप में परिवर्तन ला सकते थे, उसके विरोधक नहीं हो सकते थे। मि. बनर्जी को चाहिए था कि इन दोनों बातों को दृष्टि में रखकर प्रस्ताव का संशोधन पेश करते, न कि उसका विरोध ही कर देते। मुसलमान सदस्यों को अपनी उर्दू की ही फिक्र तंग कर रही थी। महमूदाबाद के राजा ने तो यहाँ तक कह डाला कि अलीगढ़ में यह परीक्षण काम में लाया जाकर अकृत कार्य हो चुका है। हमें निःसन्देह अलीगढ़ कालिज पर दया आती है, जहाँ शिक्षा का एकमात्र सच सिद्धान्त काम में लाया जाने पर सफल न हो सका।

अन्य सभासदों ने वही सैकड़ों बार पिटी हुई युक्तियाँ दीं। एक ने कहा देशी भाषाओं में साहित्य नहीं है—मानों कभी सर्दी लगे बिना भी भारी कपड़े पहने और

बनाए जाते हैं। जिस चीज़ की माँग नहीं उत्पन्न की जाती, वह तैयार कैसे हो ? जब देशी भाषा द्वारा शिक्षा ही नहीं दी जाती तो उसमें पुस्तकें लिखकर कर्जदार कौन बनता फिरे ?

हमारे इन नाम के देशभक्तों की अपेक्षा, सरकारी शिक्षा सदस्य सर हार्कर्ट बटलर के भाषण में देशी भाषाओं के विषय में अधिक सच्ची बातें कही गई थीं। आपने कहा कि–'देशी भाषा द्वारा उच्च शिक्षा का प्रश्न शिक्षा की नीति का प्रश्न नहीं, शिक्षा की सस्ती उपलब्धि का प्रश्न है, और एक ऐसा प्रश्न है जिसके हल करने में कई चित्तों को लगना चाहिए। मैं अपने और कई अन्य शिक्षा के विशेषज्ञों के अनुभव से कह सकता हूँ कि जिन विद्यार्थियों की समझने की शक्ति, जिन्होंने स्कूल की सारी शिक्षा देशी भाषा द्वारा पाई है, उन विद्यार्थियों की अपेक्षा विशेषतया उत्तम होती है, जिनकी शिक्षा अंग्रेजी द्वारा होती है।

इससे बढ़कर सच्चाई शिक्षा के विषय में और कौन-सी होगी ? किन्तु हमारे भारतवासी देशभक्तों के दिमाग में इस सरल सिद्धान्त का घुसना भी कठिन है। उन्हें अंग्रेजी भाषा में ही भारतवर्ष का मोक्ष दिखता है। पंडित मालवीय जी का यह कथन भी उन पर कोई असर नहीं डाल सकता कि 'वे लोग जो इस प्रस्ताव का विरोध करते हैं क्या कभी यह भी सोचते हैं कि अंग्रेजी द्वारा भारत की जनता को शिक्षित करने में कितना समय लगेगा ?' क्या अंग्रेजी में व्याख्यान देनेवाले बीस वक्ता ही भारतवर्ष हैं ? क्या ग्रामवासी भारतवर्ष नहीं है ? क्या अंग्रेजी द्वारा ही भारतवर्ष को शिक्षित किया जा सकता है ? हम तो इसे सर्वथा असम्भव समझते हैं।

भारतवर्ष की शिक्षा सम्बन्धी समस्या का एक यही हल है कि शिक्षा का माध्यम क्या देसी भाषा को बनाया जाए ? इसके बिना न भारत की जनता शिक्षित हो सकती है और न शिक्षित लोगों के दिमाग मानसिक दासता से मुक्त हो सकते हैं। जो देशभक्त इस सत्य सिद्धान्त को नहीं मानते वे भूलते हैं और मातृभूमि के सच्चे रोगों को नहीं पहचानते। क्या उन देश सेवकों को देखकर मातृभाषा का दुखभरी आह निकालना उचित नहीं है।

[सद्धर्म प्रचारक, 27 मार्च, 1915]

आर्यसमाज और शिक्षित समुदाय

यह पौराणिक पण्डित, जिसकी दृष्टि आर्यसमाज के बढ़ते हुए आकार की ओर खिंची जाती है, कह उठता है अजी ! यह तो केवल अंग्रेजी पढ़े बाबुओं की सभा है। इसमें संस्कृत पढ़ों का काम नहीं। दूसरी ओर उच्च अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त से आर्यसमाज के सभासद् बनने को कहिए तो वह कहेगा कि आर्यसमाज में पाश्चात्य विद्या में प्रवीण ग्रेजुएट के लिए स्थान नहीं है क्योंकि आर्यसमाज तो संस्कृतवालो' की सभा है। दोनों ढाँचे के व्यक्तियों के कथन में सत्य और आधा सत्य है। आर्यसमाज बाबू लोगों के लिए भी है और 'संस्कृत वालों' के लिए भी है। दोनों ही ओर एक-एक भ्रम हो रहा है, जो हानिकारक है।

संस्कृत पढ़े हुए पण्डितों का भ्रम अब तक बहुत कुछ सत्य था। आर्यसमाज में ऋषि दयानंद के पीछे संस्कृत का कोई ऐसा प्रचण्ड विद्वान् नहीं हुआ जो देश के संस्कृतज्ञों पर छाया डाल दे। जब तक ऐसा एक व्यक्ति न हो तब तक संस्कृतज्ञों की ओर से आदर बुद्धि प्राप्त करना बहुत कठिन था। तो भी आर्यसमाज में पण्डितों की कमी नहीं थी। इसी न्यूनता को पूर्ण करने के लिए और अपने पण्डित को व्यापक बनाने के लिए आर्यसमाज ने गुरुकुलों की स्थापना की। पश्चिम की उच्च शिक्षा के साथ संस्कृत का गहरा पण्डित किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, यह गुरुकुल ने स्पष्टतया दिखा दिया है और साथ ही साथ आर्यसमाज में शास्त्रज्ञों की संख्या प्रतिदिन बढ़ रही है।

अब रहे, भारत के सरकारी विश्वविद्यालयों से उच्च शिक्षा प्राप्त सज्जन। वस्तुतः उन लोगों का कोई शंका का स्थान तो नहीं था। आर्यसमाज में पहले दिन से यूनिवर्सिटियों के रत्न आते रहे हैं। विशेषतया पंजाब में समाज ने अपने दिनों में अंग्रेजी पण्डित को बहुत खींचा था। तथापि अन्य प्रान्तों में प्रायः और आर्यसमाज में भी कहीं यह विचार घर किए हुए है कि आर्यसमाज के लिए अंग्रेजी शिक्षा सम्पन्न विशुद्ध हृदय मन्दिर में स्थान नहीं हो सकता। आर्यसमाज के सर्वोपयोगी परोपकार व्रत से तो अन्धा भी अज्ञ नहीं हो सकता, इसलिए अंग्रेजी विशारदों को इतना तो मानना ही पड़ा है कि आर्यसमाज एक उपयोगिनी संख्या है किन्तु उसमें किसी शिक्षित सज्जन को घुसना चाहिए। ये इस बात को यदि कोई शिक्षित सज्जन उसमें

न घुसे तो क्या अशिक्षित लोग उसे उपयोगिनी बना सकेंगे ?

इसके सिवा एक और प्रकार की भी आशंका है जो आर्यसमाज के विषय में उठाई जाती है। कहा जाता है कि आर्यसमाज ने भारतवर्ष की बहुत-सी भलाई की है सही—परन्तु अब आगे उसकी आवश्यकता नहीं। उसका जितना कार्य था सो हो चुका। हिन्दू समाज को जगाने के लिए ऋषि दयानन्द का उद्योग सफल हो गया। हिन्दू जाति जाग चुकी। अब आर्यसमाज वालों को चाहिए कि समाज मन्दिरों में ताले लगा दें, फिर जब आर्यसमाज की आवश्यकता होगी तब खुलवा दिए जाएँगे। ऐसे ही सज्जनों में से एक श्रीयुत त्रिवेदी (Mr. U.P. Tirvedi B.A.L.L.B) हैं, जिन्होंने श्रीमती एनी बेसेण्ट के 'कामनवील' नामक पत्र में हिन्दू सुधार पर लिखते हुए आर्यसमाज के विषय में निम्नलिखित विचार प्रकट किए हैं।

'आर्यसमाज जो स्वामी दयानंद का हिन्दू जाति को महोपयोगी दान है, कई भारी न्यूनताओं से पीड़ित है। यह एक योद्धा मत है। और इसलिए हिन्दू विचारों से प्रतिकूल है। यह ठीक है कि इसने हिन्दू जाति को सुधार की ओर से खींचने के लिए जितना कार्य किया है उतना और किसी ने नहीं किया, किन्तु अपने सिद्धान्तों के प्रकाश में यह बहुत हठवादी है और कई बातों में क्रियात्मकता से विरुद्ध है। पाश्चात्य शिक्षा का आर्यसमाज पर पर्याप्त असर नहीं पड़ा प्रत्युत आर्यसमाज जान-बूझकर उससे बचता है इसलिए आर्यसमाज की दृष्टि पर्याप्त है या विस्तृत और उदार नहीं हो सकी। इसका समाज संशोधन का कार्य ठीक रास्ते पर चल रहा है और ब्रह्मचर्य के लिए इसकी पुकार सारे देश द्वारा सम्मानित हुई है। किन्तु इसके लड़ाकू ढंग और वस्तुओं के विषय में विद्रोहात्मक विचारों ने इसे कई प्रान्तों के शास्त्रप्रिय हिन्दुओं में अप्रिय बना दिया है और यद्यपि इसकी अत्युत्तम अभिलाषाओं को माना और आदर की दृष्टि से देखा जाता है, तथापि नई आवश्यकताओं के पूरा करने की शक्ति इसमें नहीं है। साथ ही इसके आधार में एक अपने आप में पूर्ण राष्ट्रीय भाव है, जो जीवन में, आध्यात्मिक जीवन में बाधक होता है, और इसका पाश्चात्य सभ्यता के प्रति विरोध इसे भावी सन्तान के लिए अनुपयोगी बनाता है।'

जिसे हम आर्यसमाज के गुण समझते हैं उन्हीं को त्रिवेदी महाशय दोष बतलाते हैं। आर्यसमाज हठवादी हैं, यह त्रिवेदी जी की व्यक्तिगत सम्मति है। इसके विषय में हमें कुछ कहना नहीं है। हम उन्हें केवल यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि यह उनका भ्रम है। आर्यसमाज अपने हर एक कथन को प्रमाण और युक्ति से सिद्ध करने को तैयार है और अपने नियम के अनुसार सत्य के मानने और असत्य के छोड़ने के लिए सर्वदा तत्पर हैं। त्रिवेदी महाशय ने समाज के मूल तत्त्व को नहीं समझा नहीं तो वे ऐसा नहीं कहते। जो सम्प्रदाय या मतवादी होते हैं, वे युक्ति पर इतना बल नहीं देते जितना आर्यसमाज देता है, और न ही उनके

मौलिक नियमों में से एक नियम यह आदेश कर सकता है कि असत्य का त्याग करने और सत्य का ग्रहण करने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए।

आर्यसमाज के सिद्धान्त अक्रियात्मक है—यह बात पहली बार त्रिवेदी जी के लेख से ज्ञात हुई। आज तक समाज के समालोचकों में से किसी को यह बात न सूझी थी। जो समाज देश में एकमात्र स्वतन्त्र विश्वविद्यालय का संचालक है, जिसकी रक्षा में एक पहले दर्जे का कालेज और एक अत्युत्तम कन्या महाविद्यालय चल रहा है, जिसने हजारों नाममात्र के पतित और अछूत जातिवालों को अपने अन्दर मिलाकर क्रियात्मक समाज संशोधन का प्रमाण दिया है, जिसके यत्नों से बीसियों हाईस्कूल, दसों अनाथालय और कई विधवा भवन चल रहे हैं—उसके सिद्धान्त अक्रियात्मक हैं, यह बात बतलाने के लिए अवश्य ही त्रिवेदी जैसे प्रसिद्ध लेखक की आवश्यकता थी।

आप लिखते हैं कि आर्यसमाज एक योद्धा सम्प्रदाय है और हिन्दू हैं शान्तिप्रिय। फिर हिन्दू लोग आर्यसमाज को कैसे पसन्द करें। दस सोए हुओं में एक जागता हुआ व्यक्ति अश्वश्मेव कांटा प्रतीत होता है। हिन्दुओं को त्रिवेदी जी शान्तिप्रिय बतलाते हैं। हम पूछते हैं कि ये कब से शान्तिप्रिय बने ? जब उपनिषत्कारों ने भयानक प्रकृतिवाद का खण्डन किया था, तब हिन्दू लोग शान्तिप्रिय न थे ? जब बुद्धदेव ने देश में फैले हुए गहरे अधर्म के मूल पर कुठाराघात किया था तब तो हिन्दू शान्तिप्रिय न थे ? जब श्री शंकराचार्य ने भारत के नसों को खानेवाले नास्तिक सिद्धान्तों की शान्तिप्रियता कहाँ थी ? क्या उन आचार्यों को अन्धकार का भेदन करने के लिए योद्धा बनने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी ? क्या एक सोई हुई जाति की सुषुप्ति को शान्ति कहना बड़ी भारी भूल नहीं है ? हिन्दुओं को शान्तिप्रिय कह के लोरियाँ देना उसे मृत्यु की निद्रा में झोंकना है। इस समय हिन्दुओं को शान्ति धर्म नहीं, उन्नति धर्म सिखाने की आवश्कयता है। आर्यसमाज भी गला फाड़-फाड़कर यही कहता है कि 'भाइयो ! इस झूठी शान्ति के बहाने से मृत्यु तुम्हारा ग्रास कर जाएगी।' त्रिवेदी महाशय का यह बतलाना भी कि आर्यसमाज आध्यात्मिक जीवन का शत्रु है, इसी कल्पना पर अवलम्बित है न कि झूठी शान्ति में ही आध्यात्मिक जीवन है। आध्यात्मिक जीवन उन्नति मार्ग पर चलने से पुष्ट होता है, न कि शान्ति नामधारिणि, जीवन हारिणि गाढ़ी निद्रा में शयन करने से।

त्रिवेदी महोदय की अन्तिम सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि आर्यसमाज पाश्चात्य सभ्यता का प्रतिरोध-विरोध करता है, इसलिए वह सम्मान के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। जिसे हम अपना गुण कहते हैं। उस समालोचक हमारा दूषण बतलाते हैं। यह ऐसा विषय नहीं जिस पर यहीं अधिक विस्तार से लिखा जा सके फिर भी हम त्रिवेदी महाशय और उनके साथियों को दो बातें बतलाना चाहते हैं। एक

बात तो यह कि आर्यसमाज को पाश्चात्य सभ्यता का सर्वांश में विरोधी कहना भूल ही नहीं मिथ्या भी है। आर्यसमाज पश्चिम के विचार को और क्रियात्मक जीवन को धर्म और अनुकर्त्तव्य भी समझता है। उसी प्रकार व्यवहार भी करता है। दूसरी बात यह है कि वह साधारणतया पाश्चात्य सभ्यता के प्रवेश को भारतवर्ष के भावी भाग्यों के लिए घातक समझता है। यदि आर्यजाति सचेत होकर अपनी बहुमूल्य सभ्यता की रक्षा करेगी और सुधार द्वारा उसमें आए हुए दोषों को मानकर उसको करने में विलम्ब न लेगी तो हमारे जीवन के ये सर्वथा प्रतिकूल भूत पाश्चात्य समाज अवश्य ही हमारी नसों में प्रवेश कर जाएगी और तब प्रश्न होगा कि हम जिएँ या मरें ? आर्यसमाज आर्यजाति के सामने यही जीवन-मृत्यु की विकट समस्या रख रहा है। उसे चाहे आप अपना शत्रु कहें चाहें मित्र, वह अब कार्य किए ही जाएगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 7 मई, 1915]

आर्यजाति के भाग्य का अन्तिम निश्चय

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी बिल 10 अप्रैल 1915 के दिन मेरे पास आनरेबल डाक्टर सुन्दरलाल का भेजा एक घोषणा पत्र आया जिसका भाषा अनुवाद यहाँ देता हूँ—'प्रिय महाशय, प्रस्तावित हिन्दू यूनिवर्सिटी के नियम आदि का मसौदा आपके नाम आज भेजा गया है। मैं वांछित हूँगा यदि आप कृपा करके अपने विचार अंकित करके 13 में या उससे पहले प्रयोग और उसके पश्चात शिमले भेज दें। हमें गवर्नमेंट आफ इंडिया के शिक्षा विभाग से मिलकर 17 में उन पर खुला विचार करना है।'

इसी प्रकार के सैकड़ों घोषणा पत्र अन्य महाशयों के पास भी गए। यह तो प्रसिद्ध मन की बात है कि मुख्य विषयों में महाराजा दरभंगा आर्यजाति के भविष्य को पहले खरहार कोर्ट बटलर के समर्थक कर चुके हैं, क्योंकि इस आर्यजाति के भविष्य की निर्भरता सर्वथा उसकी भविष्य शिला पर है। शेष रहा गौण उपनियमों पर विचार—तो उन पर वही विचार कर सकता है जो मनुष्य वालों के हितकर समझकर उन्हें मान चुका हो। इसलिए डाक्टर सुन्दरलाल को संबोधन करके लिखने में इसका कुछ भी लाभ नहीं हो सकता।

मैं इस हिन्दू यूनिवर्सिटी के सर्वथा विरुद्ध पहले से ही रहा हूँ। इसका कारण यह है कि बिना हिन्दी की शिक्षा का माध्यम के हिन्दू यूनिवर्सिटी का नाम मेरी समझ में नहीं आता। जहाँ तक मातृभाषा की उन्नति पर विचार हुआ है, मैंने प्रस्तावित हिन्दू यूनिवर्सिटी की इस अनर्गलता पर कड़ी समालोचना की है। बहुत से भाइयों ने मुझे बतलाया कि इसी कारण से मेरे माननीय आनरेबल पंडित मदन मोहन मालवीय गुरुकुल देखने नहीं आते। मुझे तो इस समाचार की सत्यता में सन्देह है परन्तु यदि ऐसा हो भी तो मैं इस विषय में अपने आचरण को बदलने के लिए तैयार नहीं। बिना मातृभाषा के कोई भी शिक्षा बलदायिनी नहीं हो सकती। दूसरा मतभेद मेरा धर्म शिक्षा के विषय में था। मेरा विचार अब तक दृढ़ है कि धर्म शिक्षा का सम्बन्ध करने से हिन्दू यूनिवर्सिटी संकुचित होकर सारी आर्य जनता को लाभ पहुँचाने के स्थान में उल्टा परस्पर द्वेष अधिक बढ़ाएगी। वेद के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भी ग्रन्थों का प्रधानत्व न मानकर यदि मतों के झगड़ों को इस विश्वविद्यालय से जुदा रखा जा सकता तब और भी लाभ होता।

यह मतभेद तो मेरा पुराना है इनके अतिरिक्त मैं गवर्नमेंट से चार्टर लेने के भी बराबर विरुद्ध रहा हूँ। परन्तु जिन्हें ब्रिटिश गवर्नमेंट से विशेष अधिकार लेने हैं, उन्हें इस अंश में सरकारी शासन मानना ही पड़ता है और इसलिए उस विषय में अपनी सम्मति पर बल देना मैंने छोड़ दिया था। परन्तु इस समय तो सारा सच ही बदल गया है। मेरी सम्मति में हमारे मुसलमान भाइयों ने बड़ा जाति प्रेम, दूरदर्शिता और अत्यन्त सम्मान का भाव दिखलाया था। जब उन्होंने हिन्दुओं की मानी हुई शर्तो पर चार्टर लेने से इन्कार कर दिया। वर्तमान यूनिवर्सिटी बिल में जो मुख्य हानिकारक नियम हैं उनका उल्लेख मात्र बतला देगा कि हिन्दू लीडर आर्य जाति को किधर ले जा रहे हैं।

(1) जब गवर्नमेंट ने 'हिन्दू यूनिवर्सिटी' के स्थान पर 'बनारस यूनिवर्सिटी' नाम तजबीज किया तो हिन्दू लीडरों ने बहुत हाथ-पैर मारे कि इसका नाम कम से कम 'काशी यूनिवर्सिटी' तो हो जाए। गवर्नमेंट ने हिन्दू शब्द साथ जोड़ना तो मान लिया परन्तु संस्कृत 'काशी' शब्द का उर्दू 'बनारस' के स्थान में प्रयोग किया जाना न माना। यहाँ बड़ा भारी आत्मसम्मान का प्रश्न था। 50 लाख हिन्दुओं की जेबों में से निकला, परन्तु उनको यह आज्ञा नहीं थी कि संस्कृत विद्या के केन्द्र काशी को उसके असली नाम से पुकारे। जिन्होंने उर्दू का बनारस वृतान्त पढ़ा है वह समझ सकते हैं कि 'बनारस' शब्द के बोलने से ही उसके साथ किस प्रकार के भाव एक हिन्दू के हृदय में उत्पन्न हो सकते हैं।

(2) यदि वायसराय महोदय चांसलर होते तब तो यूनिवर्सिटी की आज्ञा का कहना ही क्या है, परन्तु यदि संयुक्त प्रान्त के लाट साहब भी चांसलर होते तो कम से कम उनका सम्बन्ध तो यूनिवर्सिटी से इतना गूढ़ होता कि उसकी हानि लाभ में उन्हें अपनी गौरव हानि या यश का ध्यान आ जाता। यहाँ संयुक्त प्रान्त के लाट केवल (दर्शक) रहेंगे। उनको अधिकार होगा कि यूनिवर्सिटी की कार्यवाही में जो प्रस्तावित नियम विरुद्ध समझें उनको काट दें औरर उसे रद्द कर दें। जहाँ तक मैंने देखा है उसकी इस आज्ञा की कोई अपील भी न हो सकेगी। यह तो ठीक है कि गवर्नमेंट की ओर से पड़ताल तो चाहिए, परन्तु कौन-सा प्रस्ताव नियम विरुद्ध है इसका फैसला यदि कानून जाने वाले जजों से कराया जाता तो व्यक्ति के पक्षपात के लिए विशेष स्थान रखता है। अब भी यदि लाट साहब की आज्ञा करोड़ों मील प्रयाग के हाईकोर्ट में हो सके तो कुछ न कुछ कार्य में स्थिरता की सम्भावना हो सके।

(3) यह तो छोटी-सी बात है कि जिन आर्यसमाजियों ने यथाशक्ति दिल खोलकर यूनिवर्सिटी को दान दिया उनका एक भी प्रतिनिधि यूनिवर्सिटी की नियन्त्रण सभा में लेने का नियम नहीं। जहाँ जैनों और सिक्खों में से दस प्रतिनिधि लेने का नियम रखा गया है। परन्तु धर्म शिक्षा का प्रबन्ध केवल हिन्दू वालों के लिए

करते हुए यह तो लिखा है कि यदि जैन व सिक्ख सम्प्रदाय धन देंगे तो उनके मतों की शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया जाएगा। किन्तु आर्यों के साथ इतनी भी प्रतिज्ञा नहीं है। उत्तर में शायद यह कहा जाए कि बनारस यूनिवर्सिटी के चालकों ने आर्यसमाजियों को भी हिन्दू शब्द के अवसरगत समझ लिया परन्तु जब हाल की पाठ विधि देखते हैं तो पता लगता है कि जिन धर्म विषयों की शिक्षा प्रत्येक हिन्दू बालक के लिए आवश्यक है उनमें भागवत आदि-पुराण तथा देश-कर्म पद्धति भी शामिल है और जात-पांत तथा सम्प्रदाय के भेद से वेदों की शाखाओं का भी भेद किया जाएगा। दूसरे शब्दों में जहाँ सिक्खों और जैनों के बालकों के धार्मिक मन्तव्यों पर इस यूनिवर्सिटी में हस्तक्षेप नहीं होगा और यदि उन सम्प्रदायों की ओर से पर्याप्त धन मिल जाए तो उनके लिए उनके मतानुसार धर्म शिक्षा का प्रबन्ध हो जाएगा। वहाँ यदि आर्यों के बालक इस यूनिवर्सिटी से लाभ उठाना चाहें तो उनको अपने पैतृक धर्म विचारों को तिलांजलि देनी होगी।

मैं लिख सकता था कि हिन्दू लीडर अब भी अपने कर्त्तव्यों को समझें और मुसलमानों से राजनैतिक शिक्षा लेते हुए अब भी धन देकर दासत्व की कड़ी जंजीर में पकड़े जाने से बचें, परन्तु इस समय हिन्दू लीडर उन जंजीरों में इतने जकड़े जा चुके हैं कि उन्हें तोड़कर स्वतन्त्र होना उनकी शक्ति से भी बाहर हो गया है इसलिए कुछ और न लिखकर मैं इतनी ही प्रार्थना कर सकता हूँ कि परमेश्वर हिन्दू यूनिवसिर्टी के भावी चालकों को ऐसी सुमति देवे कि वे अपनी संकुचित वीणा में भी उन्नति के लिए कुछ-न-कुछ हाथ-पैर मार सकें।

[सद्धर्म प्रचारक, 15 मई, 1915]

पंथाई विश्वविद्यालय किसे कहते हैं ?

बनारस यूनिवर्सिटी के एक भक्त ने मुझसे पूछा था—'क्या गुरुकुल पन्थाई विश्वविद्यालय नहीं ?' मैंने जो उत्तर उन महाशय को दिया था, वही यहाँ भी देता हूँ। गुरुकुल में प्रायः अध्यापक वही हो सकते हैं जो आर्यसमाज के सिद्धान्तों को मानने वाले सदाचारी वैदिक धर्मी हैं। परन्तु ब्रह्मचारियों को जो शिक्षा दी जाती है वह बहुत ही उदार है, उनकी विचार स्वतन्त्रता को कभी छीना नहीं जाता। यदि भावी काशी यूनिवर्सिटी के चालक भी विचार स्वतन्त्रता को आर्य जाति में स्थित कर सकें तो फिर मैं भी मान लूँगा कि वह पन्थाई या साम्प्रदायिक संस्था नहीं है।

[सद्धर्म प्रचारक, 15 मई, 1915]

परीक्षा भक्तों के लिए ही है

मेरे पास प्रायः सप्ताह में एक पत्र अवश्य ऐसा आता है कि जिसमें शिकायत होती है कि पुलिस का बर्ताव आर्यसमाजियों के साथ बहुत खराब है। जहाँ कहीं पुलिस में मुसलमानों का अधिक जोर होता है वहीं आर्यों पर मुसलमानों की ओर से लाठी-सोटे के आक्रमण के समाचार आ जाते हैं। कई साधारण ग्रामों से पत्र आते हैं कि पुलिस बिना कारण आर्य पुरुषों और आर्य मन्दिरों की तलाशी करती है। अभी आर्यसमाज महरौली प्रान्त दिल्ली के मन्त्री महाशय का पत्र आया है जिसमें लिखा है, '3 मई, 1915 को आर्यसमाज (मन्दिर) महरौली और लाला बिहारी लाल प्रधान तथा लाला घीसामल जी पूर्व मन्त्री के गृहों और दुकान की तलाशी ली गई, जिसमें लाला बिहारी लाल जी के यहाँ से निम्नलिखित वस्तुएँ मिलीं। (यह तलाशी दिल्ली पुलिस ने की थी)

(1) सावित्री-सत्यवान नामी पुस्तक

(2) विषाक्तता

(3) एक हिन्दी का लिखा कागज और एक रूलदार परचा

(4) दो आसाम के आए पत्र

(5) एक फोटो लाल बिहारी लाल और उनके पुत्र का

(6) दो मनीआर्डर की रसीद एक लाहौर की, दूसरी अनाथालय की।

(7) 'नगम-ए-कौल- वाली नज़्म को लाला बिहारी लाल के नवाजे के बस्ते से निकली।

(8) एक रिश्तेदार का खत

(9) पुस्तक उर्फनह व उर्दू जिस पर लाला अमीचन्द आर्य दर्ज है, आर्यसमाज मन्दिर और लाला पीयामल के यहाँ से कुछ नहीं हो गए।

यह एक पत्र है। इस प्रकार के कई पत्र आते हैं।

दूसरी ओर यह शिकायत आती है कि अंग्रेजी सेना में अब तक भी आर्यों के साथ अन्याय का बर्ताव होता है। हाल ही में नौशहरा छावनी में चौदहवें रिसाले से रणजीत सिंह सवार का नाम इसलिए काट दिया गया कि उसने आर्यसमाज के साहित्य की कुछ पुस्तकें मँगाई थीं। यह मामला सार्वदेशिक सभा ने मेरे सुपुर्द

कर छोड़ा है। रोहतक के जिले से खबरें आती हैं कि जब कभी कोई आर्य जाटों की पल्टन में भरती होने जाता है तो उसे कहा जाता है कि जब तक यज्ञोपवीत न तोड़ डालो तब तक तुम्हें भरती नहीं किया जाएगा और कई पल्टन में बने रहने व भरती होने के लिए यज्ञोपवीत तोड़कर पतित भी हो जाते हैं।

अब इन मामलों में गवर्नमेंट से क्या लिखा-पढ़ी की जाए। यदि रणजीत सिंह के विषय की छेड़ें तो वायसराय महोदय प्रधान सेनापति से पूछेंगे और महोदय प्रधान वह नाम काटने वाले कर्नल के लिए उत्तर यह आएगा कि इसका नाम काटना ही उचित था। मेरी सम्मति में पुलिस तथा सेना विभाग के अत्याचारों की औषधि वायसराय महादेय के पास भी नहीं है, इन सब अत्याचारों का एक ही उत्तर हो सकता है और वह इस प्रार्थना में आ जाता है–'सहोर्णस सही मयि देहि'।

पुलिस कुछ भी अत्याचार करे, सहन करो और फिर भी अपने धर्म पर दृढ़ रहो। जब नए रंगरूट को जवाब मिले कि जनेऊ उतारे बिना चाकरी न मिलेगी तो वह उत्तर दे कि यदि धर्म छोड़े बिना निकृष्ट चाकरी नहीं मिलती तो उत्तम खेती क्यों न करे। मेरा विचार तो यह है कि रोहतक के आर्यों को उनके पाप का फल मिल रहा है। मैंने हरियाणा के हरी-भरी खेती को देखा है मुझे अनचोन का दृश्य नहीं भूलता तब तीन मील तक सुनहरी खेती में से मुझे गुजरना पड़ा था। जब मैंने सोचा कि जो उत्तम वैश्य अपने उत्तम कृषि कर्म को छोड़कर एक प्रकार से भूमि के स्वामित्व को छोड़कर निकृष्ट चाकरी की धारण दासत्व की संकल में स्वयं गला फँसवाने जाते हैं उनके साथ इस प्रकार का राज कर्मचारियों की ओर से व्यवहार कुछ अनुचित नहीं।

आर्य पुरुषों, भगवान प्राणेश्वर तो तुम्हारी परीक्षा लेते हैं क्या कसौटी पर सोलह आने उतरते हो या नहीं ? और तुम अपने आपको गिरा हुआ समझ लेते हो। क्या मनुष्यों के अत्याचार से घबराकर उच्च आर्य पद की रक्षा कर सकते हो जहाँ तुम्हें नहीं बुलना चाहते। वहाँ न जाओ जहाँ धर्म से पतित होने पर कोई अधिकार मिल सकता हो उसे विष्टा समझकर त्याग दो, जहाँ धर्म के पालने में कष्ट आते हों वहाँ पतित न होकर प्रसन्नवदन सब कष्टों को सहन करो तब आश्चर्य से देखोगे कि तुम्हें किसी से कोई शिकायत ही नहीं है।

[सद्धर्म प्रचारक, 15 मई, 1915]

लन्दन में गुरुकुल सहभोज

हमारे हाकिमों की विलायत में सब काम विलायती ही होते हैं। जहाँ भारतवर्ष में इस समय बिना दाना-पानी के लालच के भी सभा-समाजों में सहस्रों नर-नारी एकत्र हो जाते हैं, वहाँ इंग्लिस्तान की विलायत में बिना चोगे के प्रलोभन दिए एक मानवी जानवर को भी कोई फाँस नहीं सकता। इसलिए गुरुकुल का जन्मोत्सव मनाने वालों को भी भोजन का लालच देना पड़े। पर इससे एक बड़ा लाभ हुआ; जिस लन्दन में कोई भी ऐसा सहभोज नहीं होता जिसमें माँस का अधिक मान न हो वहाँ इस सहभोज में माँस का सर्व अंशों में त्याग किया गया था। सबके लिए निरमिष भोजन था। यह सौभाग्य गुरुकुल को ही प्राप्त है कि जहाँ उसके संसर्ग में आते ही कई ईसाई और मुसलमान सदा के लिए निरामिष भोजी हो गए। वहाँ उसके नाम पर इकट्ठी हुई सभा के कारण भी कई व्यक्ति कम से कम एक समय दुष्ट माँस भोजन से बच गए। ट्रिब्यून, लाहौर के सम्वाददाता लिखते हैं कि लन्दन में कई हिन्दू स्वामियों के मिलाप होते हैं परन्तु यह पहला ही अवसर था कि वे सब युद्ध शाकलभोज के लिए एकत्र हुए।

गुरुकुल के पुराने मित्र महाशय रैमजे मैकडानल्ड सभापति थे। उन्होंने पहले सम्राट् और राज परिवार का प्रस्ताव उपस्थित किया और उसके पीछे गुरुकुल के सम्बन्ध में कहा—

I must first of all thank you for asking me to preside here. I have been to the Gurukula and have seen its work, and consequently I consented wiht pleasure to take the chair for several reasons. When I went to India I heard institutions against the Arya Samaj, which, as in the case of other great institutions, are for the purpose of explaining not what they are, but what thery are not,

I Would not have ventured to publish a book on India after the brief experience of my first visit, had it not been for the pressing commands of Lord Morley. One of the chapters dealt with the AryaSamaj but its purpose was not so much to explain but to defend for at the time the Arya Samaj was regarded as a seditious organization. The official attitude

is different today; the black books were close when Sir James Meston visited the Gurukula and the White books were opened for future use, my only fear is that the Gurukula would become to be understood, and when it is so, it will be appreciated, but we must assume for the future that the Arya Samaj, like every other institution, can only do its best if it is criticised sympathetically and is looked upon wiht a friendly eye. I feel pleasure in coming bere because I respect Gurukula. I am also here to night because I can never forget my arrival at hardwar on a beautiful summer morning." Here the speaker described the place as he saw it. I "remember' he continued, "so well the magnificent presence of the Principal, who is the spirit and the father of the institution. Mr. Macdonald further said. "One cannot be in the presence of Mahatma Ji wihthout feeling that one is in the presence of a man favoured with spiritual magnificence. I should be most ungrateful it I did not carry in my memory the most tender impressions of the Gurukula, its principal and students. it is pursuing the right line of education for India's advancement. I am a member of the Royal commission, hence I can say very little on the subjects referred to us, but start with a alight criticism on education with this fundamental proposition, that every system of education which is going to develop the minds of students is the system connected with the civilisation of the students themselves. Woe for the day when the education of the Scotch passed into the hands of the English On that day the death knell was rung of an ancient scotch civilisation. The same is the case with India, whose education must find its roots in India itself.

I am convinced that the Gurukula is pursuing the right line of Indian educational advance. The system of education that can develop the mind of the student best, is a system that is based upon the civilization and traditions of the people who are to be educated. Indian education must find its source, its roots, its inspiration in India itself. The West has a great deal to teach India, and India can not isolate herself from the West But I am using these words precisely in the same way when I say that the West could not isolate itself from the East only in so far as East and West learnt from each other; would they both develop, as they ought to do, under modern conditions.

Concluding, Mr. Macdonald said : "The origin and the parentage of the Gurukula and the welcome that it gave me, and finally the fact that I believe its system to the scientific and natural, give me pleasure to preside here and to propose the toast of that wonderful 'institution'.

इस वक्तृता का अक्षरशः अनुवाद न देकर इतना ही लिख देना पर्याप्त होगा

कि श्री महाशय मैकडानल्ड की सम्मति में भारतवर्ष में गुरुकुल ही एक स्वाभाविक और वैज्ञानिक शिक्षणालय है और इसीलिए वह उस अवसर पर प्रसन्नता से सभापति बने। उनकी वक्तृता से यह नई बात ज्ञात हुई कि उन्होंने अपनी पहली यात्रा के पश्चात् जो पुस्तक भारतवर्ष की क्रान्ति पर लिखी थी वह भी लॉर्ड मोरले की आज्ञा से लिखी थी। उस समय तो आर्यसमाज के विरोधियों का समाधान करने की आवश्यकता थी परन्तु इस समय सर जेम्स मेस्टन के गुरुकुल में जाने से सन्देह के बादल उड़ गए, काली पुस्तक बन्द हो गई और श्वेत पुस्तक के पत्र भविष्य के लिए खुल गए।

यहाँ श्री मैकडोनेल्ड ने सन्देह प्रकट किया है कि गवर्नमेंट की संरक्षा में आकर गुरुकुल कहीं अधिक नामी बन जाए। श्रीमान् मैकडोनेल्ड महाशय को निश्चय रखना चाहिए कि गुरुकुल के लिए (Too Respectable) बनने का अवसर समीप के भविष्य में आने की संभावना नहीं है। जिस प्रेम से महाशय मैकडोनेल्ड ने गुरुकुल, उसके आचार्य और ब्रह्मचारियों का स्मरण किया वह सिद्ध करता है कि यदि सारे यूरोप में कोई ऐसा स्थान है जहाँ से प्रेम और सहानुभूति की आशा हो सकती है तो वह स्काच जाति और उसकी सम्बन्धिनी उपजातियों से ही हो सकती है।

इस अधिवेशन में सर कृष्णगोपाल गुप्त इन्डियन सेक्रेटरी आव स्टेट की कौन्सल के माननीय सभासद भी उपस्थित थे। उन्होंने अतिथियों की ओर से उत्तर देते हुए कहा कि उनसे पहले कुछ वक्ताओं ने ऐसा भाव प्रकट किया है कि जिससे आर्यसमाज केवल पश्चिमी शिक्षा के विचारों का ही विरोधी सिद्ध हो परन्तु उन्होंने उपस्थित सभ्यों को बताया कि इसे नहीं भूलना चाहिए कि जो बुराइयाँ हिन्दू मत के गिर्द जमा हो गई हैं उनका भी गुरुकुल वैसा ही विरोधी है। मेरी सम्मति में सर गुप्त ने गुरुकुल की स्थिति को बहुत ही स्पष्ट कर दिया यदि यह विरोधी है तो सब बुराइयों तथा उल्आी शिक्षा प्रणालियों का चाहे वे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण कहीं की भी क्यों न हो।

इस सभा में प्रसिद्ध कन्सरवेटिव मेम्बर पार्लियामेन्ट सर एम. आव नगरी, मिस्टर आर्नल्ट C.I.S मिस्टर मीट और मुम्बई के प्रसिद्ध वकील महाशय पारख भी उपस्थित थे। ऐसे महानुभावों की सहानुभूति बहुत ही आशातीत है।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की श्रेष्ठता इस समय केवल बड़े विचारशील तथा धर्मात्मा पुरुष ही अनुभव करते हैं, परन्तु समय आनेवाला है जबकि यूरोप के सर्व साधारण नर-नारी वर्तमान भयानक सभ्यता से सताए हुए प्राचीन शान्तिदायक वैदिक सभ्यता की शरण आना चाहेंगे। उस समय लोग गुरुकुल के उपकार को समझेंगे और उस बाल ब्रह्मचारी ऋषि के घोषणा-पत्र का मान करेंगे जिसने गिरे हुए संसार को स्वर्गीय वैदिक काल का पता दिया था।

[सद्धर्म प्रचारक, 29 मई, 1915]

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की रक्षा

इस समय गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का इतना यश हो रहा है कि जब कभी किसी संस्था के खोलने का विचार होता है तो उसके नाम के साथ गुरुकुल पद लगाना आवश्यक समझा जाता है। कन्या गुरुकुल नाम से कुछ ऐसी पाठशालाएँ भी खुली हैं। जिनके चालक (स्त्री-पुरुष) अपनी आजीविका ही उनसे करते हैं। कइयों के आचारों पर समाचार पत्रों द्वारा सन्देह प्रकट हो चुके हैं और फिर भी गुरुकुल का नाम ऐसा प्यारा है कि आर्य जनता बिना विचारे इसके नाम पर धन देती जाती है। बालकों के लिए तो गुरुकुल नाम से अनगिनित पाठशालाएँ चल रही हैं, जिनकी आय का, चलाने वाले स्वयम् ही, हिस्साबख़रा कर लेते हैं। इस प्रकार की संगठन शून्य पाठशालाओं का तो कुछ इलाज ही नहीं हो सकता। इनका इलाज केवल दानियों के ही हाथ में हे। यदि उनको दान मिलना बन्द हो जाए तो इनमें बालकों के जीवन खराब न हों और इनके चलाने वाले भी किन्हीं लाभदायक कामों में लग सकें। जो गुरुकुल रजिस्टर्ड संस्थाओं की संरक्षा में चल रही हैं उन पर भी सर्वसाधारण का सन्देह केवल ऐसे गुरुकुलों को देखकर ही होता है और इसलिए दानियों को दान देते समय पात्र कुपात्र का अवश्य विचार कर लेना चाहिए।

[सद्धर्म प्रचारक, 9 अक्टूबर, 1915]

गुरुकुल विश्वविद्यालय की शाखाएँ

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी की दो शाखाएँ तो देर से चल रही हैं। पहली शाखा मुलतान में खुली थी जो यद्यपि इस समय शाखा नहीं कहला सकती, क्योंकि उसके चालकों ने उसे आ. प्र. सभा से स्वतन्त्र करा लिया है। तथापि यह सर्वथा स्वतन्त्र भी नहीं क्योंकि उसका कांगड़ी विश्वविद्यालय के साथ सम्बन्ध है और उसी में इस (मुलतान) गुरुकुल के छात्र अधिकारी परीक्षोत्तीर्ण होकर आएँगे। दूसरी शाखा कुरुक्षेत्र में खोली गई थी जो वास्तव में शाखा रूप से ही काम करती रही है। इन दोनों के सिवाय हरियाणा तथा झझ्झर में शाखाएँ खोलने की आज्ञा सभा दे चुकी है।

इन शाखाओं को यदि दृढ़ न किया गया तो मुख्य गुरुकुल को भी हानि पहुँचने की सम्भावना रहेगी। सभा में तो जब कोई प्राथना पत्र नई शाखा खोलने के लिए आएगा तब अपनी उचित सम्मति दूँगा। परन्तु यहाँ अपने अनुभव से पुरानी तथा नई शाखाओं के चलाने वालों से मेरा निवेदन है कि जब तक 20,000 रुपए की लागत के मकान कुरुक्षेत्र शाखा के नमूने के न खड़े कर लें और 50,000 रुपए का स्थिर कोष न बना लें तब तक शाखा के खोलने का ध्यान भी न किया करें। यदि स्थिर कोष पास हो तो प्रबन्धकर्ताओं का सारा बल ब्रह्मचारियों की शिक्षा तथा रक्षा में लग सकता है और उसे जो शेष आवश्यकता धन की होती है उसे चलता काम देखकर धर्मात्मा श्रीमान् स्वयं पूरी कर देते हैं। दृष्टान्त के लिए भावी शाखा गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ को ले लीजिए। श्री सेठ रग्घूमल जी ने एक लाख दान की प्रतिज्ञा की जिसमें से भूमि का तथा इमारत में अब तक 38,000 लग चुका है। 12 सहस्र और लगकर रहने, पढ़ने के स्थान तैयार हो जाएँगे। जिस दिन गुरुकुल कांगड़ी से 8 श्रेणियाँ उस शाखा में पहुँचकर स्थान-प्रतिष्ठा करेंगी उसी दिन श्री सेठ जी 50,000 रुपए स्थिर कोष में दे देंगे। इस दान को देखकर दो दिल्ली निवासियों ने मुख्याधिष्ठाता को 3000 रुपये कार्यालय के लिए दिया है। एक सज्जन ने 3000 रुपए यज्ञशाला के लिए दूसरे सज्जन ने 2000 रुपए भोजन भण्डार के लिए और तीसरी एक देवी ने 1500 रुपए कूप के लिए दे दिया है। अब इस नई शाखा के चलाने में कोई भी सन्देह नहीं रहता। यदि सब शाखाओं के चलानेवाले स्थिरता के विचार से काम करेंगे तो मुख्य गुरुकुल विश्वविद्यालय भी दृढ़ होता जाएगा। *[सद्धर्म प्रचारक, 9 अक्तूबर 1915]*

अविद्या ही दुःख की भूमि है।

शास्त्र में कहा है कि मिथ्या ज्ञान से दोष उत्पन्न होते हैं, दोष से प्रवृत्ति (जगत के विषयों में फंसावट), प्रवृत्ति से जन्म-मरण का बन्धन और उससे दुःख उत्पन्न होता है। इन सबका का उत्पत्ति स्थान अविद्या ही है। इसलिए दुःख को दूर करने की एक ही औषधि विद्या है। सूर्य के प्रकाश देने पर जैसे अँधेरा दूर होता है वैसे ही यथार्थ ज्ञान का प्रादुर्भाव होते ही मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है।

परन्तु मिथ्या ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता और ज्ञान ढूँढ़ने भी कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। कवि ने सच कहा है—'तेरा मन ही केवल तेरा शत्रु है' कहानी प्रसिद्ध है कि दानवों की कहानियाँ सुनते-सुनते एक विद्यार्थी को डर लगने लगा। पाठशाला से उजाले-उजाले छुट्टी चाहता था क्योंकि उसने अपने मकान की डेउढी में एक 'देऊ' की कल्पना कर ली थी, मियाँ जो उसके सयाने थे, बोले—बेटा आज अँधेरे हुए जा, इसमें आजम (परमेश्वर का नाम) पढ़कर हाथ को फूँक दूँगा। फिर देऊ को मार भगाना। शाम को मियाँ जी ने विद्यार्थी को भीत में लगी स्याही से हाथ खूब रंग लेने को कहा और साथ-साथ कुछ पढ़ते। अन्त में उसे कहा कि जब देऊ सामने हो तो अल्लाह का नाम ले जोर से देऊ के गाल पर थप्पड़ लगाना, वह भाग जाएगा। लड़के ने ऐसी ही किया, देव भाग गया और लड़का प्रातः प्रसन्नवदन पाठशाला में आया और मियाँ जी से अपनी विजय की कहानी कही। मियाँ जी ने दर्पण सामने कर दिया और लड़के ने आश्चर्य से देखा कि थप्पड़ की कालस्त उसी के मुँह पर लगी हुई है। इसीलिए कहते हैं—'माने का देऊ नहीं भित्ती में का लेऊ' सृष्टि के आदि से ही दुख की मीमांसा में दर्शनकार लगा रहे हैं। आत्मा मन और शरीर का गाढ़ा सम्बन्ध होने से शारीरिक दुख की निवृत्ति के उपाय सोचने में असंख्य चिकित्सक लगे रहे हैं। सब चिकित्सक दार्थनिक और योगी भी इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि मानने का ही दुख है। अमेरिका के प्रसिद्ध डाक्टर डेम्पृसर दुख की मीमांसा करते हुए लिखते हैं—दुख अधिक अनुभव होता है यदि उसकी ओर ध्यान खींचा जाए, बिना आशा के यदि अकस्मात् घाव लग जाए तो उसमें बहुत कम कष्ट होता है, परन्तु आशा की हुई अड़गुली को साधारण चोट भी बहुत दुखदाई होती है। स्पष्टतः कल्पना से ही दुःख बढ़ता है

और यही कारण है कि जहाँ बीमार दिन को कष्ट भूल जाता है वहाँ रात को उसे बहुत अनुभव करता है'

अभी थोड़े दिन हुए अम्बाला छावनी आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर कुछ कर्णाल के जाट ग्रामों के आर्य मुझे मिलें। वह बड़े दुःख से दबे हुए थे। उन्होंने शिकायत की कि कर्णाल की तहसीलों में सरकारी हुकूम आया है कि जब कोई जाट युद्ध की भरती के लिए आएँ तो उस से पूछ लो कि वह आर्य तो नहीं। उनकी शिकायत जब मेरी समझ में न आई तो उन्होंने मुझे समझाने के लिए कहा—'हम जमींदार हैं, चाकरी की तो हमें परवाह नहीं, परमेश्वर का दिया घर में सब कुछ है परन्तु हतक बड़ी है क्योंकि सरकार का हम पर विश्वास नहीं है। मैंने उत्तर में कहा 'यह तुम्हारी कल्पना मात्र ही है। यह क्यों न समझा जाए कि सरकार को तुम से अधिक स्नेह है और इसलिए तुम्हें कटवाना नहीं चाहती या तुम्हारी बहादुरी पर पूरा भरोसा है और तुम्हें किसी गाढ़े समय के लिए सुरक्षित रखना चाहती है। मेरे इस उत्तर पर मेरे भाइयों की तसल्ली-सी हो गई।'

उस समय तो मैंने कल्पना-सी ही की थी परन्तु दूसरे दिन मेरे विचार को और पुष्टि मिली। अम्बाले से मैं दिल्ली को चला मेरे साथ ही एक रेल विभाग के अंग्रेज कर्मचारी यात्रा करते थे। उन्होंने स्वयं मुझसे युद्ध की बात छेड़ी और फिर कहा कि छः महिनों तक जर्मनी आदि के आदमी और गोले घट जाएँगे और मित्र दल के बढ़ जाएँगे। मैंने उत्तर में कहा कि यदि अब भी ब्रिटिश सरकार भारत निवासियों पर विश्वास का परिचय दें और उन्हें हथियार बाँधने की खुली छुट्टी दे तो ब्रिटिश गवर्नमेंट सारे यूरोप का मुकाबला अकेली कर सकती है। यह भूमि करोड़ सेना एकदम से दे सकती है साहब ने प्रत्युत्तर में कहा कि रंगरुट (recruits) तो इस समय भी अनगिनत आते हैं। परन्तु ब्रिटिश सरकार भारतवर्ष की सारी जवान प्रजा को कटवाना नहीं चाहती। मैंने सोचा कि प्रत्येक प्रश्न के दो चित्र होते हैं। यदि उजले चित्र की ओर ही सदैव दृष्टि रखी जाए तो कभी कष्ट ही न हो।

यह अनुभव की ही बात है कि यदि अच्छा-भला स्वस्थ आदमी यह निश्चय कर ले कि बीमार हो चला है तो 3 घंटों में ही उसे बीमारी घेर लेती है। वही मनुष्य यदि बीमारी की अवस्था में यह कल्पना आरम्भ कर दें कि उसे कोई बीमारी नहीं तो फिर कुछ समय में वह वैसे ही निरोग हो जाता है। यदि ठीक प्रकार से सोचें तो दुख वस्तु ही क्या। सुख की अनुभव कराने के लिए यदि दुख की आवश्यकता समझें तो फिर दुखदाई नहीं रहता।

दो पुरुष 20 कोस की मंजिल मारते हैं। दोनों स्वस्थ हैं, परन्तु जहाँ उनमें से एक मंजिल के अन्त पर पहुँच औंधा पढ़कर काँपने लगता है, वहाँ दूसरा शरीर में उस मीठी-मीठी पीड़ा को आनन्ददायक समझता और गाढ़े निद्रा का साधन जानकर मग्न हो रहा है। दुख-सुख केवल समझाने मात्र से परिणाम है अन्यथा

इनका अस्तित्व कुछ भी नहीं। इसीलिए विचारशील मुनष्य दुःख और सुख के विचार को छोड़कर अपने कर्त्तव्य पालन में लगते हैं दुख-सुख, फल रूप है। जो फल की आकांक्षा रखाते हैं उन्हीं को दुख-सुख भी होते हैं, जो कृष्ण भगवान के वैदिक उपदेश पर चलते हुए फल की आकांक्षा नहीं रखते उनको दुख भयानक नहीं प्रतीत होता।

न कर्मलिप्यते नरे।

वेद ने दुख से छूटने का रहस्य बतला दिया। कर्म का फल अवश्य होता है परन्तु किनको ? जो कर्म से लिप्त हो। परन्तु जो कर्म द्वारा परमेश्वर की सच्ची स्तुति करते हुए अपेक्षया निर्लेप होने का प्रयत्न करते हैं उनके दुख-सुख समीप नहीं फटकने पाते।

भारत प्रजा के लिए यह बड़ी भारी परीक्षा का समय है। धर्म और मातृभूमि का यश एक ओर, स्वार्थ और इन्द्रियारामता दूसरी ओर। भारत प्रजा किसका ग्रहण करेगी। अभी तक स्वार्थ का जोर है इन्द्रियारामता की लहर चली हुई है थोड़ा हिलना भी दुख का साधन मालूम होता है।

परन्तु जाति का आत्मा हिला हुआ प्रतीत हो रहा है। कुछ जागृति उत्पन्न हो रही है और बहुत अन्तकरण अनुभव करने लग गए हैं कि

कर्मण्येवाधिकारोः
स्तुमाफलेषु कदाचन्।

[सद्धर्म प्रचारक, 11 दिसम्बर, 1915]

एक पन्थ दो काज

विश्वव्यापी युद्ध में हमारी सरकार फँसी हुई है। ब्रिटिश चक्रवर्ती राज के सर्व अंग सेना से सहायता दे रहे हैं। भारतवर्ष से भी नई सेनाएँ भरती हो रही हैं। ग्रामों तथा शहरों में ढिंढोरा पिट रहा है कि जिसे सेना में भरती होना हो वह भरती करने वाले साहब के पास जाए। और सहस्रों गृहस्थ भरती हो भी रहे हैं। परन्तु ऐसी भरती से उपजाऊ प्रजा का नाश होकर देश की हानि हो सकती है। भारतवर्ष में आधे करोड़ से अधिक साधु हैं इनमें 25 लाख के लगभग ऐसे होंगे जिनकी आयु 18 और 35 के बीच में हैं। ये लोग सारी प्रजा पर बोझ रूप हो रहे हैं। मैं नहीं कहता कि ये सब महात्मा जान-बूझकर प्रजा पर बोझ रूप हो रहे हैं। परन्तु इस समय हैं ये एक प्रकार का बोझ। परन्तु जब इन सज्जनों से शिकायत की जाए तो वे उत्तर देते हैं कि उनके भाव तो उत्तम हैं वे प्रजा के कल्याण के लिए भजन करते हैं। इस समय साधु मण्डल के लिए परोपकार करने का बड़ा उत्तम अवसर है। कवि ने कहा हैं परोपकाराय सतां विभूतयः। सत्यपुरुषों की सारी सम्पत्ति परोपकार के लिए ही होती है। सहस्रों रोती हुई माताओं के आँसू पोंछने से बढ़कर और क्या भजन हो सकता है। यदि 25 लाख साधु स्वयम् अपने आपको रण भूमि के लिए पेश करें तो एक ओर जहाँ सहस्रों कुल वंश-विच्छेद से बच जाएँगे वहाँ वर्तमान प्रजा के लिए अनाज भी सस्ता हो जाएगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 11 दिसम्बर, 1915]

संयुक्त प्रान्त में स्त्री शिक्षा

संयुक्त प्रान्त सभी संशोधनों में पीछे है। स्त्री शिक्षा के विषय में भी उसकी यही हालत है। अभी प्रयाग के 'सेनेट हाल' में स्त्रियों की उच्च शिक्षा सम्वन्धी एक अधिवेशन हुआ जिसमें शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर तथा लाट साहब दोनों ने कुछ स्पष्ट भाषण से काम लिया। सर जेम्स मेस्टर ने कहा कि जो पुरुष पब्लिक वेदी पर खड़ा होकर स्त्री शिक्षा की हिमायत करता है और फिर घर जाकर अपनी छोटी कन्या को पाठशाला भेजने से इन्कार करता है तथा जो समाचार पत्रों में स्त्री शिक्षा की प्रशंसा में लेख लिखता है किन्तु उसकी सहायता में एक अँगुली भी नहीं हिलाता। ऐसा पुरुष स्त्री शिक्षा का सबे बढ़कर विरोधी है। डॉ. इरेक्टर साहब की सबसे बढ़कर शिकायत यह थी कि जाँ उनको बताया गया है कि साधारण अवस्था के परिवारों की अधिक पुत्रियाँ पढ़ी-लिखी हैं, वहाँ अध्यापिका बनने के लिए बहुत थोड़ी देवियाँ मिल सकती है।

मेरी सम्मति में इन सव कमियों का मूल कारण संयुक्त प्रान्त का अनुचित पर्दा है। यद्यपि पहले की अपेक्षा इस अंश में भी कुछ परिवर्तन दिखाई देता है। तथापि संयुक्त प्रान्त का पुराना गुण अब तक उसके साथ है। जहाँ पहले यात्री घूँघटवाली धर्म पत्नी को गठरियों में गिन लेना था वहाँ अब भी संयुक्त प्रान्त के स्टेशनों पर जनानी सवारी को रेलगाड़ी में बैठाने के लिए डोली का मुँह तीसरे दर्जे के कमरे के अन्दर घुसेड़ दिया जाता है। संयुक्त प्रान्त में बहुत-से स्त्रियों को मेम साहिबा बना छोड़ा है परन्तु उन्हें परमेश्वर रचित सृष्टि के दर्शन करने की आज्ञा नहीं देते। जब तक अनुचित पर्दा दूर होकर शील और सतीत्व की स्त्रियों का पर्दा न समझा जाएगा तब तक स्त्री शिक्षा का कठिन प्रश्न संयुक्त प्रान्त में हल न होगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 11 दिसम्बर, 1915]

ग्रामीणों की शिक्षा

भारत में नगरों की अपेक्षा ग्रामों में अधिक लोग बसे हुए हैं। नगरों की दशा को उन्नत करना ग्रामों को उपेक्षा की नजर से देखते हुए असम्भव है। भारत के बहुत सारे महान पुरुषों का सम्बन्ध ग्रामों से है–ग्रामों की ही स्वच्छ परिस्थितियों ने कई एक महान पुरुषों को जन्म दिया है ? इस दशा में आर्यसमाज का ग्रामों में बड़ा भारी काम है। आर्यसमाज के बिना और कोई दूसरा कर्मण्य जीता-जागता समाज नहीं जिससे हमें ग्रामों के सुधार की आवश्यकताएँ हैं। अतः आज इसी विषय पर कुछ लिखा जाएगा–

(1) ग्रामों में आमतौर पर लोग अपठित हैं। अतः आर्यसमाज को ग्रामों के प्रति प्रथम काम शिक्षा का है। नगरों की तरह ग्रामों में भी तीन प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है और वे यह हैं–(1) धार्मिक, (2) राजनैतिक, (3) वैज्ञानिक। ग्रामों की दशा आज ऐसी विकट है कि इन तीनों में से किसी प्रकार की शिक्षा उनको कोई लाभ नहीं पहुँचा सकती। जब तक कि तीनों एक साथ न दी जाएँ। और इन तीनों प्रकार की शिक्षा को देने में आजकल के सरकारी स्कूल सर्वथा असमर्थ हैं। अतः आर्यसमाज का ग्रामों में ऐसे स्कूलों का खोलना जिनका सम्बन्ध सरकारी स्कूलों से हो सर्वथा व्यर्थ है। ग्रामों में इस प्रकार के स्कूलों के खुलने से हम किसी एक लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते हैं क्योंकि गुरुकुल रीति पर खुले स्कूल भी गाँवों को कोई लाभ नहीं पहुँचा सकते, कारण यह कि गुरुकुल प्रणाली में बालकों का माता-पिता से सर्वथा अलग रहना आवश्यक है परन्तु ग्रामीणों के लिए ऐसा करना कठिन है यदि ऐसा हो भी सके तो भी गुरुकुल प्रणाली को सारे देश में प्रचलित करने के लिए धन की अनन्त सीमा में जरूरत है जो कि मिल नहीं सकता। अतः जिस प्रकार के विद्यालय ग्रामों में खोलने चाहिए यह मैं इस लेख के अन्त में निर्दिष्ट करूँगा–

मनुष्य एक सामाजिक जीव है। समाज बिना मनुष्य नहीं रह सकता है। धर्म की भी इसीलिए आवश्यकता है–एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिए, यह बिना धर्म के नहीं बताया जा सकता। अतः प्रत्येक ग्रामीण को इस प्रकार की शिक्षा देना आवश्यक प्रतीत होता है। इसी शिक्षा का यह परिणाम

होना चाहिए कि ग्राम निवासी अपने को एक-दूसरे का भाई समझें। आपस में उनका व्यवहार प्रेममय हो उनका जीवन नियमपूर्वक हो—यथार्थ के त्याग, परोपकार की ओर उनकी रुचि हो। सारांश यह कि प्रत्येक अपना स्वार्थ सबके स्वार्थ में समझे। इसी प्रकार सब अपना स्वार्थ सबके स्वार्थ में समझें।

परन्तु इस प्रकार की शिक्षा देते हुए भी यह हो सकता है कि अन्य कारण ऐसे प्रबल हों कि इस शिक्षा का कोई प्रभाव न पड़े—और वह कारण भूख के साथ सम्बन्धित हैं—प्राचीनों ने लिखा है कि 'बभुक्षितः किन्न करोति पापं क्षीणानराः निष्करुणाः भवन्तिः' अर्थात् 'भूखे मनुष्य दुनिया में ऐसा कौन-सा पाप है जो नहीं कर सकते—भूख से संतप्त तथा दुर्बल जनों में करुणा का साधारणतया लोप हो जाता है'—यह प्राचीनों ने ही केवल नहीं देखा था किन्तु यह आजकल भी देखा जा रहा है—पापों की वृद्धि का कारण केवल मानुषिक प्रवृत्ति ही नहीं है किन्तु मनुष्यों का 'भूखा' होना भी है—यदि केवल प्रवृत्ति ही एकमात्र कारण होती तब तो धार्मिक शिक्षा एकमात्र पर्याप्त थी परन्तु यह बात नहीं। प्रवृत्ति उत्पन्न होती है—और उसकी उत्पत्ति में भी कारण हैं और उन कारणों में एक कारण 'भूख' भी है। इसी प्रकरण में यह मैं लिख देना चाहता हूँ कि जिस प्रकार प्लेग पहले चूहों पर पड़ती है उसी प्रकार दुर्भिक्ष धार्मिक मनुष्यों को सबसे पूर्व मारती है—दृष्टान्त के तौर पर एक ग्राम लो जिसमें तीन प्रकार के लोग रहते हैं। प्रथम प्रकार के लोग ऐसे हैं जो कि दुर्भिक्ष पड़ने पर भूख से मर जाएँगे परन्तु भीख न मानेंगे और न चोरी ही करेंगे और दूसरे प्रकार के लोग चोरी या भीख माँगना स्वीकार अत्यन्त तंग होकर कर लेंगे परन्तु मरना उन्हें स्वीकार न होगा और तीसरे प्रकार के लोग भूखे रहना ही पसन्द न करेंगे। वह शीघ्र ही चोरी तथा डाके मारने पर उतारू हो जाएँगे—इस दशा में स्पष्ट है कि दुर्भिक्ष पड़ने पर ग्राम में सबसे पहले धर्मात्मा लोग मरेंगे दूसरे तथा तीसरे प्रकार के लोग तो जीवित ही रहेंगे चाहे वह डाके या चोरी की रोटी पर जीते रहें चाहे वह कैदखाने की रोटी पर—जातीय आधार ह्रास में दुर्भिक्ष का बड़ा भारी हाथ है इसे जहाँ तक हो सके शीघ्र ही रोकना चाहिए। यह तो हुई दुर्भिक्ष की बात—इसी प्रकार शराब की दुकान का लीजिए—शराब पीना राज्य की ओर से यदि बन्द हो बहुत-से मनुष्यों का आचार बच जाए परन्तु यदि ऐसा न हो तो सीधी-सी बात है कि शराब का प्रचार देश में बढ़ेगा—अतः ग्रामीणों को ऐसी शिक्षा का देना जरूरी है कि वह दुर्भिक्ष के कारणों को ठीक तौर पर समझ सकें तथा उन कारणों को दूर करने में यत्न करें।

भारत में दुर्भिक्ष के कारण लगान के नियम के लाभ सम्बन्ध हैं—या तो लगान प्राचीन-रीति से लिया जाना चाहिए या राज्य को स्थिर कर विधि का अवलम्बन करना चाहिए—किन्तु इन दोनों रीति को अवलम्बन न करने के कारण कृषकों की दशा दिन-पर-दिन बिगड़ रही है। बटाई की रीति में राज्य कृषकों के साथ हानि

तथा लाभ दोनों में हिस्सेदार रहता है—परन्तु नवीन रीति में यह बात नहीं है—सभ्य संसार की लगान की रीति स्थिर कर विधि है—वही भारत में भी होनी चाहिए और यह कभी भी राज्य न करेगी जब तक कृषक लोग स्वयं इस आवाज को न उठाएँगे—और यह है भी उचित इस दशा में कृषकों को ऐसी शिक्षा का देना जरूरी है जिससे वह बिचारे कम से कम अपनी दुरावस्था के समझने के लायक तो हो सकें—इसी प्रकार यहाँ पर मैं यह भी लिख देना चाहता हूँ कि भारतीय जमींदारों का कृषकों के साथ व्यवहार बड़ा कठोर है। यद्यपि राज्य ने कृषकों की रक्षा के लिए बहुत सारे नियम बनाए परन्तु बिना शिक्षा के इन नियमों से लाभ उठाना सर्वथा असम्भव है—यह सब कारण हैं कि जिससे प्रत्येक कृषक को राजनैतिक शिक्षा का देना जरूरी है।

2. लगान की रीति भी ठीक हो—ग्राम में शराबखाने भी न हों—इस पर भी यह हो सकता है कि ग्रामीणों की दरिद्रता दूर न होवे—क्या ग्राम की दशा सुधरे इसके लिए वैज्ञानिक शिक्षा की आवश्यकता है—कृषक को कृषि विज्ञान की और बढ़ई आदियों को शिल्प की—और ग्राम के चौधरी को ग्राम के प्रबन्ध की तथा स्वच्छता आदि रखने की शिक्षा देना नितान्त आवश्यक है—इन सबकी शिक्षाओं के बिना ग्राम की दशा का सुधारना कठिन है।

सारांश यह है कि मनुष्य जब समाज में उत्पन्न होता है उसकी अवन्नति तथा उन्नति में एकमात्र वही कारण नहीं होता—यदि वह अवन्नत होता है उसकी अवन्नति में किसी एक पर दूषण मढ़ देना कठिन है—जहाँ धार्मिक बातों का पता न होना गिराता है वहाँ धार्मिक बातों की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोकनेवालों ऐसे कारण भी होते हैं जिनका सम्बन्ध राज्य या उसकी परिरिस्थिति से होता है—जब हम किसी एक व्यक्ति को उठाना चाहते हैं तब उसे अवनति के सब प्रकार के कारणों का बताना आवश्यक प्रतीत होता है—यदि हम केवल एक ही कारण पर जोर देते हैं तो इसका केवल यही भाव है कि हम किसी की वास्तविक उन्नति को नहीं चाहते—इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए यह कहना पड़ता है कि ग्रामीणों को भी नागरिकों की तरह धार्मिक राजनैतिक तथा वैज्ञानिक शिक्षा का देना आवश्यक है।

[सद्धर्म प्रचाकर, 18 दिसम्बर, 1915]

हिन्दी यूनिवर्सिटी में आर्य भाषा

इसी अंक में अन्यत्र हिन्दी साहित्य सम्मेलन में दी गई कुछ वक्तृाओं का संक्षेप दिया गया है। उसे पढ़कर पाठक स्वयंमेव विचार करेंगे कि हिन्दी भाषा-भाषी जगत का इस विषय में कितना प्रबल मत है। आर्य भाषा के प्रेमी इस बात पर तुले हुए हैं कि हिन्दू यूनिवर्सिटी में उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी को भी बनाया जाए। आर्य जनसमूह चाहता था कि उनका एक स्वाधीन विश्वविद्यालय हो, वह नहीं बना और चार्टर ले लिया गया। इस पर यह सन्तोष दिलाया गया कि विश्वविद्यालय सर्वथा स्वाधीन नहीं हुआ तो न सही उसके चलानेवाले तो भारतवासी होंगे। किन्तु नियमों ने इस दिलासे पर भी पानी फेर दिया। प्रबन्ध पर सरकार का बड़ा निरीक्षण रहेगा और अध्यापक वर्ग में भी अंग्रेज सज्जनों की पर्याप्त संख्या होगी। तब आर्य जनता ने सोचा कि चलो यह भी न सही हिन्दू विश्वविद्यालय में शिक्षा तो हिन्दी-भाषा द्वारा होगी। इतना ही सही किन्तु अभागी आर्य जाति के इतने भाग्य कहाँ ? हिन्दू विश्वविद्यालय में भी शिक्षा का माध्यम वही अंग्रेजी भाषा होगी। इससे बढ़कर अनर्थ कौन-सा हो सकता है ?

किन्तु अब किया क्या जाए। दिल्ली के लाल किलें की मोटी दीवार पर चोट लग सकती है किन्तु हिन्दू विश्वविद्यालय के संचालकों के कानों पर चोट नहीं लग सकतीं। सारा शोर मचाना और चिल्लाना व्यर्थ हो रहा है। शिक्षा का माध्यम तो एक ओर रहा, यहाँ साधारण सूचनाएँ तक अंग्रेजी भाषा द्वारा ही निकलती हैं। जो भारतवासी अंग्रेजी देवी से अनभिज्ञ हैं उन्हें इस योग्य भी नहीं समझा जाता कि हिन्दू विश्वविद्यालय सम्बन्धी सूचनाएँ भी दी जाएँ। मातृभाषा का इतना अपमान भारतवासियों द्वारा ही हो, तो अन्य लोगों से क्या आशा हो सकती है ?

[सद्धर्म प्रचारक, 25 दिसम्बर, 1915]

कांग्रेस में मेल

कांग्रेस के कार्यकर्ताओं में मेल सम्बन्धी हलचल पैदा हुए लगभग दो साल हो चले हैं। जब सूरत में कांग्रेस दो भागों में विभक्त हुई—उससे कुछ काल पीछे ही मि. तिलक का राजद्रोह का मुकदमा चला—और वे पाँच साल तक कार्यक्षेत्र से जुदा रहें। तब तक मेल का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। उठता भी तो उसका कोई अभिप्राय नहीं था। दो भाग मि. तिलक ने ही कराए थे—उनका सूरत की दुर्घटना में विशेष भाग था। जब तक वे अपनी सम्मति प्रकाशित न करते—तब तक मेल का विषय केवल सपना था। उनके छूट आने पर प्रश्न पूरे बल के साथ उठा। स्वभावतः मि. गोखले को मेल के लिए उत्तरदाता करार दिया गया और अनथक मिसेज एनी बेसेंट ने तिलक गोखले को शुभ सम्मेलन कराना चाहा।

उस समय कोई भी फल न निकला यो तो दो साल से निरन्तर मि. गोखले यत्न कर रहे थे कि वे किसी प्रकार कांग्रेस के द्वार को कुछ अधिक विस्तृत करवा दें—किन्तु प्रश्न केवल सिद्धान्तों का नहीं था, व्यक्तियों का भी था। मि. तिलक और मि. गोखले को एक-दूसरे पर विश्वास नहीं था। विश्वास के बिना कुछ नहीं हो सकता। मेल न हुआ। इस वर्ष फिर से मेल के लिए प्रयत्न आरम्भ हुआ। यह दोनों ही ओर से हो रहा है। मराठा के सम्पादक मि. केलकर धूमधाम कर सुलह कराने का यत्न कर रहे हैं।

क्या मेल असम्भव है ?

प्रश्न यह है कि क्या मेल असम्भव है ? इस विषय में प्रयाग के लीडर ने ठीक लिखा है कि यह असम्भव तो कहाँ—कठिन भी नहीं है, केवल हृदयों को साफ करने की बात है। एक बार मेल के लिए उत्कट अभिलाषा कर लेनी चाहिए शेष कार्य स्वयं हो जाएगा, दोनों पक्षों वाले यह चाहने लगे कि मेल आवश्यक है साथ ही यह भी भूल जाएँ कि उनसे दूसरे दल के लोग भी वस्तु भारत के ही भले के लिए परिश्रम कर रहे हैं और दोनों के उद्देश्य भी लगभग एक-से ही हैं। ये बातें हृदय में रख लेने पर मेल असम्भव नहीं प्रतीत होता। नरम दल अपने आपको

इतना निर्बल न समझें कि उस गरम दल के चार आदमियों से कांग्रेस छीन लेने का खतरा हो, गर्म दल वाले नर्म दलवालों पर अविश्वास न करें भारत माता के अंग-प्रत्यंग के जोड़ आगे ही इतने शिथिल हैं कि उन्हें मिलाने की ही कोशिश करनी चाहिए–तोड़ने की नहीं।

[सद्धर्म प्रचारक, 25 दिसम्बर, 1915]

होमरूल लीग

एक बार फिर भारतवर्ष के प्रतिष्ठित राजनीति क्षेत्र में एक विदेशी व्यक्ति ही नेतृत्व कार्य करने लगा। कांग्रेस को ह्यूम ने बनाया, मिसेज एनी बेसेंट अब होम रूल लीग स्थापित करना चाहती है। हजारों भारतवासी उस लीग के अनुयायी होंगे—प्रश्न यह है यदि कांग्रेस वर्तमान अवस्थाओं को पूर्ण नहीं करती और पीछे रह गई है तो उसका ही उद्देश्य क्यों न होम रूल मान लिया जाए। नई से नई सभाएँ ये बनाने से क्या लाभ है। दूसरा प्रश्न यह है कि क्या सचमुच उनमें नेतृत्व शक्ति का नाश हो गया है यदि नहीं तो क्या कारण है कि हम एक कदम तभी बढ़ते हैं जब एक विदेशी आकर हमारे आगे चलता है। जो पग स्वयं रखते हुए हम घबराते हैं—एक विदेशी के पीछे उसी पग पर हम निश्चिन्त होकर रख देते हैं। क्या देश की राजनीति नइया के कर्णधार इस समस्या पर विचार करेंगे। क्या हम लोगों की स्वराज्य योग्यता का यही सबसे बड़ा सबूत है।

[सद्धर्म प्रचारक, 25 दिसम्बर, 1915]

कांगड़ी समाज के शिक्षाकार्य

आर्यसमाज कांगड़ी ने आस-पास के गाँवों में शिक्षा का काम प्रारम्भ किया है। कांगड़ी ग्राम में एक पाठशाला डेढ़ साल से चल रही है जिसका प्रबन्ध कांगड़ी समाज के हाथ में है। सज्जनपुर गाँव में भी एक पाठशाला है जिसे खुले एक साल से अधिक समय हो चुका है। इन पाठशालाओं की एक भारी विशेषता यह है कि इसमें ब्राह्मण, राजपूत और गडरियों के पुत्र, चमारों के बालकों के साथ शिक्षा पाते हैं। एक ही स्थान में सबकी शिक्षा होती है। कांगड़ी समाज इस कार्य को बहुत विस्तृत करना चाहता है परन्तु साधन नहीं है। अभी तक सज्जनपुर की पाठशाला के अध्यापक को हर महीने यहीं से चन्दा करके वेतन देना पड़ता है और कोई आमदनी नहीं है। क्या आर्य पुरुष कांगड़ी समाज के इस कार्य में सहायता देंगे और इस समाज संशोधन और शिक्षा के मिले हुए कार्य में हाथ बटाएँगे। जो सज्जन समाज के इस कार्य से आर्थिक सहायता देना चाहे वे मन्त्री आर्य सभा कांगड़ी के नाम पर भेज सकते हैं।

[सद्धर्म प्रचारक, 25 दिसम्बर, 1915]

आर्यसमाज में नई लहरें

धर्म या मत

प्रश्न यह है कि आर्यसमाज किस वस्तु को मुख्यता सन्मुख रखता है। धर्म को या मत को ? इस समय में उसकी प्रवृत्ति किधर को है ? और उस प्रवृत्ति के परिणाम क्या होंगे।

आर्यसमाज का उद्देश्य : सर्वथा निष्पक्षपात दृष्टि से देखा जाए तो जो आर्यसमाज वैदिक धर्म के प्रचार के लिए स्थापित की गई एक सभा है उसका मुख्य उद्देश्य वेदोक्त धर्म का प्रचार करना है। ऋषि दयानन्द का यही उद्देश्य था। उसने जहाँ कहीं अपने कार्यक्रम के विषय में लिखा है—धर्म शब्द का ही प्रयोग किया है। समूह के रूप से आर्यसमाज का उद्देश्य धर्म का प्रचार करना ही है। आर्यसमाज के 10 नियम इस बात के साक्षीभूत हैं। इस दस नियमों में से वे सच्चाइयाँ रखीं हुई हैं जो वैदिक धर्म की मूल सच्चाइयाँ हैं। हर एक आर्यसमाजी के लिए उन सच्चाइयों का मानना आवश्यक है।

विशेष अवस्थाएँ : आर्यसमाज का मुख्याद्देश्य वैदिक धर्म का प्रचार करना है। किन्तु एक बात को भुलाना नहीं चाहिए। ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज स्थापित किया था और ऋषि दयानन्द एक आर्य थे। ऋषि दयानन्द को अपने जीवन में कई कार्य करने पड़े और उनमें से एक कार्य कई प्रचलित हानिकारक नीतियों का हटाना था। उन्हें जाति के नाशकारक रीति-रिवाजों के नाश करने की भारी आवश्यकता प्रतीत हुई और उन्होंने वैसा ही किया। सड़े-गले रीति-रिवाजों को नष्ट करके उनके स्थान में कुछ न कुछ नए रिवाजों को चलाना भी आवश्यक हुआ करता है। जनता रिवाजों के बिना नहीं रह सकती। यदि बुरे रिवाज छुड़ाने हो तो उनकी स्थानपूर्ति के लिए ऐसे रीति-रिवाज देने की आवश्यकता है जो हानिकारक न हो। नए रिवाज भी आखिर चलाने आचार्यों को ही होते हैं। जो धर्म के साथ सम्वन्ध रखनेवाली गौण बातें होती हैं। उनकी भी स्थापना ऋषि ने ही की। मुख्य सिद्धान्तों के साथ मिलकर गौण बातों ने वैदिक धर्म को मत बनाया। इसमें से जितना धर्म का, मूल सिद्धान्तों का भाग है वह स्थाई अपरिवर्तनशील है। किन्तु

जो ऊपर के गौण सिद्धान्तों का भाग है या इति कर्त्तव्य का भाग है—वह समयिक, अस्थिर और परिवर्तनशील है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह अवश्य बदलना चाहिए। इसका केवल इतना ही तात्पर्य है कि वह समय देश और अवस्थाओं के बदलने पर बदल सकता है। केवल इतना ही आवश्यक है कि उसमें किसी मूल सिद्धान्त का विरोध न हो जाए।

[सद्धर्म प्रचारक, 25 दिसम्बर, 1915]

ग्रामीणों की शिक्षा

1. पहले लेख में दिखाया जा चुका है कि ग्रामीणों को भी सच्चे नागरिकों की तरह धार्मिक, राजनैतिक तथा वैज्ञानिक शिक्षा की आवश्यकता है। आज के लेख में यह दिखाया जाएगा कि ग्रामों में स्कूल राज्य के बिना सहायता के भी किस प्रकार चलाए जा सकते हैं ? प्रबन्ध तथा शिक्षा के कार्य राज्य के हाथ में जितना कम रहे उतना ही अच्छा है। एक तो इससे जाति के लोग स्वतन्त्र काम करना सीख जाते हैं दूसरा राज्य का भी भार कम हो जाता है। राज्य के अधिकारियों की जाति जितना कम तकलीफ देगी उतना ही अच्छा है—सारांश यह है कि ग्राम की पाठशालाओं का संचालन यदि जाति अपने ही हाथ में लेवे तो इससे न केवल जाति को ही लाभ है अपितु राज्य को भी भार के कम होने से लाभ ही लाभ है

2. ग्राम में पाठशालाओं को चलाना आसान भी है कठिन भी है—यदि ग्राम वाले स्वतः पाठशाला चलाना चाहे तो कोई कठिनाइयाँ नहीं है और यदि न चाहें या उदासीन हों तो यही काम कुछ-कुछ कठिन-सा हो जाता है—प्रथम मैं उन ग्रामों के पाठशालाओं के खोलने पर विचार करूँगा जो कि इस कार्य के विरुद्ध हैं या उदासीन हैं—तदनन्तर उनका विचार करूँगा जो ग्राम विद्याप्रेमी है तथा अपने ग्रामों में पाठशालाओं को चाहते हैं।

3. धर्म के बदलने से विचारों में परिवर्तन हो जाता है—जो ग्राम विद्या से किसी प्रकार का प्रेम नहीं रखते उन ग्रामों में आर्यसमाज के धर्मप्रचार प्रथम हो जाना अत्यन्त आवश्यक है, बिना इसके काम नहीं चल सकता—प्रत्येक प्रान्त की प्रतिनिधि सभाओं का यह कर्त्तव्य है कि ऐसे ग्रामों में उपदेशक भेजे। इससे इनके पुराने संकुचित विचार दूर हो जाएँगे तथा उनमें नए विचारों का उदय होगा। इस प्रकार धर्म के बदलने से स्वभावतः ग्रामीणों में विद्या के प्रति प्रेम बढ़ेगा—आर्य सामाजिक धर्म तो स्वयं एक ऐसी तिलस्मी खँजर है जिसके छूते ही सब प्रकार की अज्ञानता कट जाती है और प्रकाश ही प्रकाश सर्वत्र हो जाता है—विद्या के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। आशा का उदय होता है—नए जीवन का संचार हो जाता है।

4. यदि कहीं गलती से इस प्रकार के ग्रामों में धर्म के प्रचार के पूर्व कोई

भी आर्यसमाजी विद्या का प्रचार करना चाहेगा वह बड़ी ही हानि पहुँचा देगा—ग्रामीण अज्ञानता से पाठशालाओं को हानिकारक समझते हुए उनको चलाने के स्थान में तोड़ने का यत्न करेंगे और यदि वह चलती भी रहीं तो ग्रामीण किसी प्रकार की सहायता न देंगे। ग्रामोंवालों की बिना सहायता के पाठशाला का चलाना कठिन है—क्योंकि खर्चा इतना अधिक हो जाएगा जिसका पूरा करना एक साधारण नागरिक के लिए असम्भव है—इस कठिन मार्ग पर चलना राज्य या बड़े-बड़े जमीदारों या परोपकारी श्रीमानों का काम है—विचारे निर्धन आर्यसामाजियों को इस मार्ग पर पैर रखना उचित है—

5. इसमें इन ग्रामों का विचार करूँगा जो कि विद्या के प्रेमी हैं—जोकि पाठशालाओं का खुलवाना अपने ग्राम के लिए आवश्यक समझते हैं। प्रति 5 गाँव एक पाठशाला यदि खोलनी हो तो 5 ग्रामों से पाठशाला के अध्यापकों को भोजन की सहायता बड़ी आसानी से मिल सकती है। ग्राम के अध्यापक का 20 रुपए से अधिक वेतन न होना चाहिए—एक पाठशाला को चलाने के लिए दो अध्यापक पर्याप्त हैं। अतः कुल मासिक व्यय 40 रुपए हुआ और इसमें 10 रुपए और जोड़ देवे तो कुल 50 रुपए हुए—अधिक से अधिक एक पाठशाला का मासिक व्यय 50 रुपए हुआ—50 रुपए के व्यय को पूरा करने के लिए 20 रुपए तो नगर की आर्यसमाज से सहायता के तौर पर मिलना चाहिए शेष 30 रुपए ग्रामों पर ही फेंकना चाहिए—5 ग्रामों पर यदि इस 30 रुपए के व्यय को बाँटा जावे तो 6 रुपए प्रत्येक ग्राम पर पड़ा—और यह 6 रुपए प्रत्येक ग्राम बड़ी आसानी से दे सकता है।

6. पाठशालाएँ दिन में दो बारी खुलनी जरूरी हैं। एक रात को, दूसरा दोपहर या प्रातः किसी एक समय, प्रत्येक श्रेणी की 4 या 5 से अधिक घन्टे पढ़ाई न हो क्योंकि ग्राम के बालकों का खेत में माता-पिताओं की सहायता के लिए जाना जरूरी है—यदि कहीं मजदूरी मिलती हो तो वहाँ मजदूरी कर 2 या 3 आना कमाकर ले आना भी उनके लिए आवश्यक है। नहीं तो परिवार का खर्चा चलना कठिन है—गरीब आदमियों का गुजारा घर के सब सभ्यों के कमाने से चल सकता है।

7. इस स्थान पर यह लिख देना आवश्यक है कि यदि ग्राम के लोग इतने गरीब हों कि वह 6 रुपए मासिक सहायता भी न दे सके और नगर के लोग ऐसे हों कि उनके लिए 20 सहायता के तौर पर देना भी दूभर हो तो ग्राम की पाठशालाएँ कैसे और किस की सहायता से चले। इसका उत्तर यह है कि इस दशा में सभ्य देशों के अन्दर दो ही तरीके सफलता से काम में लाए जा चुके हैं एक तो सहोद्योग समितियों का और द्वितीय श्रम समितियों का। वही तरीके ग्राम में भी काम में लाने चाहिए।

[सद्धर्म प्रचारक, 1 जनवरी, 1916]

होमरूल का सौदा कहीं मँहगा न पड़े

देवी एनी बेसेन्ट की सिर तोड़ कोशिश है कि हिन्दोस्तानियों को होमरूल (स्वराज्य) मिल जाए। इसके लिए जो जलसा 25 दिसम्बर, को होकर 29 दिसम्बर के लिए मुलतवी किया गया था, इसका परिणाम भी पब्लिक हो गया। नेशनल कांग्रेस की बैठक में देवी एनी बेसेंट की वक्तृता बड़ी ओजस्वनी और गरम भी, परन्तु समाप्ति पर श्री पण्डित मालवीय जी के शान्त और परम ब्रह्म-वाक्यों की जलधारा ने उसे निस्तेज कर दिया और कांग्रेस के संशयात्मक प्रस्ताव को बड़े जोश से पास कराया। फिर 29 दिसम्बर को होमरूल कान्फ्रेंस बैठी, जिसके सभापति फिर श्री बाबू सुरेन्द्र नाथ बनर्जी थे। इसके विषय में प्रयाग का लीडर लिखता है–'मिसेज बेसेन्ट ने आरम्भ में कहा कि वह कांग्रेस कमेटियों और लीग के शुद्ध सभासदों के अनुशासन पर फलेगी। मिस्टर मजहस्त हक्क ने कहा कि वह और उनके मुसलमान मित्र 'होमरूल लीग' के निर्माण के सर्वथा पक्ष में हैं। मिस्टर सी.पी रामस्वामी अय्यर ने यह शोधन पेश किया कि लीग का निर्माण कांग्रेस और मुस्लिम लीग की रिपोर्ट आने तक मुलतवी किया जाए। उनका बहुतों ने विरोध किया जिनमें मुख्य मि. जहाँगीर पतीत, डॉ. गौड़ और मि. रसूल थे। बहुत-से मुसलमान भी इस संशोधन के विरुद्ध थे। विवाद बड़ा गरम और तीक्ष्ण हुआ। अन्त में मिसेज बेसेण्ट ने संशोधन को स्वीकार किया जो सम्मतियाँ लेने पर पास हुआ। परन्तु हिन्दू और मुसलमान जन सम्मति के 30 के लगभग प्रतिनिधियों ने इसके विरुद्ध सम्मति दी।

इस समय यह अवस्था है कि जिनके हाथों में इस समय मुस्लिम लीग की बागडोर है वे प्रायः ही मुस्लिम लीग के स्थापन के पक्ष में है। हिन्दुओं में से भी कुछ जोश वाले राजनैतिक तथा गरम दल के सब के सब समर्थक अभी होमरूल लीग की स्थापना करना चाहते हैं। दूसरी ओर मुसलमान और हिन्दू शुद्ध राजनैतिक देशभक्तों का समूह है जिनके हाथों में अपनी-अपनी जाति के जनसमूह की जान है। देवी एनी बेसेंट ने अंतिमों के साथ संधि करने में बुद्धिमत्ता से काम लिया है क्योंकि उनकी स्कीम तभी पूर्णतया सफल हो सकती है जबकि देश का सारा विचारशील भाग दिल से उनके साथ हो। इस पर भी यदि मार्ग सीधा होता है तो मैं भी यही सीख देता कि परमेश्वर और सत्य पर विश्वास रखते हुए यत्न करते

रहना चाहिए।

परन्तु यहाँ तो मामला ही संशयात्मक है। संशोधित काउन्सलों के लिए कितने हाथ-पैर मारे गए थे और गरम दलवालों को लताड़ बतलाकर भारत के नरम राजनैतिकों ने कैसी आनन्द की कर्तालिका ध्वनि की थी परन्तु परिणाम क्या निकला ? जनता का मुँह बन्द हो गया। अब अगर कोई शिकायत नहीं रही, परन्तु स्वर्गवासी गोखले से उस प्रस्ताव के प्राणदाता भी अपनी आवश्यक आरम्भिक शिक्षा का बिल न पास करा सके। इस समय प्रेस एक्ट संशोधित काउन्सिलों के ही पास किए हुए हैं फिर शिकायत क्या हो सकती है ? हिन्दोस्तानियों को समझ लेना चाहिए कि ऐसी जाति से, जिसका राजनीति में मुकाबला करनेवाला गत 1000 वर्षों के अन्दर संसार-भर में कोई उत्पन्न न हुआ, उनसे बलात् कोई भी अधिकार नहीं लिया जा सकता।

इस समय ब्रिटिश जाति एक जीवन और मृत्यु के घोर संग्राम में फँसी हुई है। इस समय हिन्दोस्तानियों का मुँह बन्द करने के लिए जो भी किया जाएगा वह चिरस्थाई नहीं हो सकेगा। कोई भी यही व्यक्ति यह सुनना नहीं चाहता कि उसके विवश होकर दूसरे को अधिकार दिए। यही अवस्था जातियों और राष्ट्रों की है। इस समय भारतनिवासी चुप रहे तो सम्भव है कि युद्ध की समाप्ति पर हमारे शासकों को स्वयं यह समझे कि उन्हें अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। उस समय जो कुछ देंगे उसमें टेढ़ी नीति का अंश स्वाभावतः बहुत कम होगा। लोकोक्ति तो कुछ असम्भव-सी है परन्तु उसका प्रयोग शुद्ध हृदय से करता हूँ। कहते हैं कि 'कहे से धोबी गधे पर नहीं चढ़ता' परन्तु स्वयं स्वतन्त्रता से कपड़े लादकर इस पर चढ़ ही जाता है। इस समय यदि अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए रख दिया गया तो गवर्नमेंट का उत्तर स्पष्ट हे कि जैसा एंग्लो इंडियन अखबार अनुदारतापूर्ण लेखों में प्रसिद्ध कर रहे हैं। गवर्नमेंट कहेगी कि यह समय ऐसे विशाल तथा गूढ़ प्रश्नों के ऊपर विचार करने का नहीं है और यदि युक्तियों से उसका मुँह बन्द कर दिया गया तो ब्रिटिश पोलिटिशियन ऐसी 'साम्राज्य के अन्दर स्वराज्य' हिन्दोस्तानियों के हवाले कर देंगे कि वह उन्हें चमगादड़ की तरह चिमटी रहेगी। ऐसी अवस्था में कहीं चौबे जी वाली लोकोक्ति सिद्ध न हो जाए कि 'चले थे छब्बे बनने परन्तु दो घर को भी गँवाकर लौटे और दूबे ही रह गए।'

मेरी सम्मति यद्यपि ऐंग्लो-इंडियन पत्रों की सम्मति से मिलती है परन्तु उसके हेतु कुछ-कुछ उनसे विलक्षण हैं। इस समय इस विषय पर पब्लिक एजीटेशन सर्वथा अनुचित है। मेरी सम्मति में सर्वसाधारण में इस प्रश्न पर आन्दोलन बन्द करके एक ऐसी समिति स्थापित की जाए जिसमें हिन्दू (जिसमें पारसी तक शामिल समझने चाहिए) मुसलमान और ईसाईयों के वृद्ध प्रतिनिधि सम्मिलित हों। वे स्वराज्य की पूरी स्कीम तैयार करते रहें। ऐसी स्कीम नहीं जिसमें संरक्षा का काम दूसरों को

सौंपा जाए। और स्वयम् आनन्ददायक अधिकार ही माँगे जाएँ। प्रत्युत पूरी स्कीम जब परमेश्वर की कृपा से युद्ध समाप्त हो और यूरोप में शान्ति हो चुके उसके एक वर्ष पश्चात् प्रतीक्षा करें। तब यदि गवर्नमेंट उनकी सम्मति में कर्त्तव्य पालन न करे तो अपनी स्कीम जनता के सामने रखकर उसकी पूर्ति कराने के लिए अपना सारा बल लगा दे। तब सारी भारत प्रजा उनके साथ होगी। और ब्रिटिश गवर्नमेंट भी उनकी न्यायानुकूल उचित प्रार्थना का तिरस्कार न कर सकेगी। यदि उपरोक्त प्रकार की संस्था स्थापन करने का कभी विचार होगा तो सभी विचारों के प्रतिनिधि उसमें शामिल हो जाएँ।

लाहौर आर्यसमाज में द्वेषाग्नि ने जो दृश्य उक्त समाज के गत वार्षिकोत्सव पर सर्वसाधारण को दिखाया, उस पर अपने ही क्यूँ, बेगाने भी शोक ही प्रकट करते हैं। इस समय जो दो पर्चे राय ठाकुरदत्त और पार्टी के विरुद्ध निकले थे उनको भी मैंने कुछ सम्मान की पुष्टि से नहीं देखा था। अब फिर जहाँ एक ओर प्रोफेसर बालकृष्ण का तार आया कि मैं सन्धि समिति की 30 दिसम्बर की बैठक में सम्मिलित होऊँ। वहाँ एक पैम्फलेट में भीखाकाश पार्टी की करतूत को प्रकाशित करनेवाला भी मिला। इस पैम्फलेट में भी भीखमराय और रूपलाल ने जिस फक्कड़बाजी से काम लिया है उसे देखकर हौसला न पड़ा कि संधि का नाम भी ले सकूँ। जिस वृक्ष पर फल लगे हों तो वह झुक जाया करता है। राय ठाकुरदत्त जी यदि एकान्त में विचार करेंगे तो उन्हें निश्चय हो जाएगा कि झुकना उन्हें ही चाहिए। और रूठों को मनाकर सब भाइयों को एक करने का कर्त्तव्य उन्हीं का है।

सन्धि उपसभा कुछ भी नहीं कर सकती। उसे मौन हो जाना चाहिए। कोई भी व्यक्ति जो आधा सेर आटा खाता है यह सहन नहीं कर सकता कि उसे बलात् कुछ मनवाया जाए। दूसरे जितनी कठिनाई से दोनों दलों ने मनवा सकेंगे उससे पंच गुना शायद वे स्वयं ही मानकर वर्तमान बुरी दशा को सुधार दें।

[सद्धर्म प्रचारक, 8 जनवरी, 1916]

स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य

[1]

स्वाध्याय का क्या अर्थ है ?

योग दर्शन में महामुनि पतंजलि क्रियायोग का लक्षण इस प्रकार करते हैं 'तपः स्वाध्येयेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः।। योग. पा. 3 सू. 1।।' इस सूत्र का भाष्य करते हुए व्यास मुनि ने स्वाध्याय शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है

'स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वाः।'

शब्दरत्नावली कोष में स्वाध्याय का निम्नलिखित लक्षण किया है–

'स्वाध्यायः जप इत्युक्तो वेदाध्ययन कर्मणि।'

प्रणव पुरुष सूक्त रुद्रमण्डल ब्राह्मण ब्रह्मपारायण्ण इत्यादि का जप स्वाध्याय शब्द से लिया है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान ये क्रियाएँ योग का साधन होने से क्रिया योग करके कही गई है। इन क्रियाओं के करने से समाधि लगने लगती है और क्लेश सूक्ष्म हो जाते हैं। इसमें जरा सोचने की बात है कि केवल जप मात्र करने से अर्थात् मुख से शब्द का उच्चारण मात्र करने से मन की शुद्धि नहीं हो सकती। और मन के ऊपर प्रभाव न पड़ेगा तो समाधि का लगना और क्लेशों का सूक्ष्म होना नहीं हो सकता। इसलिए जप शब्द से शब्द का उच्चारणपूर्वक अर्थ का चिन्तन भी समझना चहिए। ऐसा ही 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्'।। यो. पा. 1 मू. 18।। में कहा है मुख्यतः अर्थानु चिन्तन ही स्वाध्याय शब्द से लेना चाहिए, क्योंकि यदि कोई मुख से उच्चारण न भी करे, परन्तु अर्थों पर विचार करे तो उसको भी समाधि लगने लगेगी और क्लेश क्षीण होने लगेंगे। इसलिए स्वाध्याय शब्द का अर्थ किसी गूढ़ तत्त्व पर विचार करना हुआ, क्योंकि वेद शब्द से ज्ञान मात्र का ग्रहण होता है, क्योंकि वेद को ब्रह्म कहते हैं।

स्वाध्याय और ब्रह्मचारी किस तरह सम्बद्ध हैं ?

ब्रह्म का लक्षण 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' किया है। ब्रह्म नाम आत्मा का है अतः आत्मा को ज्ञान स्वरूप माना है। इस प्रकार स्वाध्याय शब्द का अधिक व्यापक अर्थ करें तो 'अपने अध्ययन' का नाम स्वाध्याय होता है। 'अपना अध्ययन' पूरी तरह से हो जाए इसलिए तो सारा प्रयत्न किया जाता है। योगदर्शन 'अपना अध्ययन' कराने के लिए प्रवृत्त हुआ। जितने अन्य वेदादि शास्त्र हैं वे भी 'अपना अध्ययन' कराने के उद्देश्य से ही प्रवृत्त हैं। यूरोप और अमेरिका के बड़े-बड़े फिलॉसफरों (तत्त्वान्वेषकों) ने 'अपना अध्ययन' करने को अर्थात् Reality of life के पता लगाने में अपने जीवन लगा दिए। अर्थात् स्वाध्याय शब्द का अर्थ 'अपना अध्ययन' करना या 'आत्मा को पढ़ना' अथवा नित्य नियम रूप से रहनेवाला; 'ज्ञान प्राप्त' करना स्वाध्याय शब्द का अर्थ हुआ।

ब्रह्मचर्य का क्या अर्थ है ?

श्री वाचस्पति मिश्र ने भामति के ब्रह्मजिज्ञासाधिकरण में ब्रह्मचारी शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है–

'ब्रह्म वेदार्थ व्रतं तच्चरतीति ब्रह्मचारी।'

यूँ भी ब्रह्मचारी शब्द की व्युत्पत्ति कर सकते हैं–

'ब्रह्मणि वेदे चरति यःस ब्रह्मचारी।'

अर्थात् ज्ञान में अव्याहत गति से जो विचारता है वह ब्रह्मचारी कहाता है। अर्थात् जिसका सारा समय तत्त्वों के विचार में ही बीत जाता है उसको ब्रह्मचारी कहते हैं। ब्रह्मचारी का जो कर्म हो उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं। अर्थात् गूढ़ विचारों में मग्न रहने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

स्वाध्याय शब्द की विवेचना करते हुए अन्त में परिणाम निकला था कि नित्य रूप से विद्यमान जो सत्य ज्ञान है उसका प्राप्त करना स्वाध्याय है और अब ब्रह्मचर्य शब्द की विवेचना से पता लगा कि उसी ज्ञान में विचारने का नाम ब्रह्मचर्य है। बात क्या हैं कि ब्रह्मचारी और स्वाध्याय का इतना गहरा सम्बन्ध है कि ब्रह्मचारी और स्वाध्याय एकार्थ वाचक शब्द कहे जा सकते हैं। जो ब्रह्मचारी स्वाध्याय नहीं करता वह वस्तुतः ब्रह्मचारी नहीं है। स्वाध्याय करना ही ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य है। स्वाध्याय अंगी है और ब्रह्मचर्य उसका अंग है। ऐसा भी कई कहते हैं। स्वाध्याय का सबसे प्रथम काल ब्रह्मचर्याश्रम है। इसी समय पूर्ण स्वाध्याय को प्राप्त करने के लिए नींव रखी जाती है जिन्होंने इस समय को व्यर्थ खोकर स्वाध्याय नहीं किया वे पूर्ण स्वाध्याय को तो प्राप्त हो ही नहीं सकते, परन्तु जीवन-भर पछताते हैं और यथेष्ट सुख को न प्राप्त होकर दुख भोगते हैं। जो

इस समय को स्वाध्याय में लगाते हैं वे ही भविष्यतः जीवन में शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। पूर्ण स्वाध्याय करना और परमात्मा दर्शन करना एक ही बात है। परमात्मा का दर्शन उस अवस्था में होता है जब स्वाध्याय और योग की सम्मति हो जाती है। जैसा कि योग दर्शन के प्रथम या बाद के 28वें सूत्र के भाष्य में व्यास मुनि कहते हैं कि–

'स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते।'

अर्थात् चित्त की एकाग्रतापूर्वक सात्विक विचारों की सम्मति जब होती है तो ज्ञानस्वरूप परमात्मा का प्रकाश होने लगता है, अर्थात् आपसे आप हृदय में ज्ञान का स्फुरण होने लगता है। इसलिए ब्रह्मचर्याश्रम के काल को स्वाध्याय में ही निरन्तर व्यतीत करना चाहिए।

पण्डित रामचन्द्र वैद्य शास्त्री अलीगढ़ निवासी के ब्रह्मचर्य और उसकी उपकारिता पर एक निबन्ध षष्ठ वैद्य सम्मेलन में पढ़ा। जिसमें ब्रह्मचर्य का अर्थ–'वीर्य रक्षापूर्वक विद्यमाध्ययन्' कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि विद्याध्ययन वीर्य रक्षा के बिना नहीं हो सकता तथा यह भी जानना चाहिए कि स्वाध्याय के बिना वीर्य रक्षा भी नहीं हो सकती। महाभारत (3/24/15) में भिक्षु का विशेषण स्वाध्यायी आया है। भिक्षु अर्थात् संन्यासी होना ब्राह्मण ही का अधिकार है अन्य का नहीं–ऐसा स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में निर्णय किया है। ब्राह्मण और संन्यासी का ही काम विद्या और प्रचार करना लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि स्वाध्याय करना ब्राह्मण का मुख्य कर्त्तव्य है। बिना स्वाध्याय करते रहने के कोई ब्राह्मण–ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। लिखा है कि–

'ब्राह्मणः साग्निहोत्राश्चेतथैव चनिरग्नयः।
स्वाध्यायिनो भिक्षवश्च तथैव वनवासिनः।'

ऊर्ध्वरिता होने के लिए स्वाध्याय की बहुत भारी आवश्यकता है जो लोग उर्ध्वरिता हुए हैं उनका सारा समय स्वाध्याय में ही बीतता था। स्वाध्याय न करने से ही विषय वासनाओं में मन फँसकर ब्रह्मचर्य से पतित होने को ले जाता है। जो स्वाध्याय में निरत रहते हैं उन्हें किसी प्रकार के प्राकृत सौंदर्य की आवश्यकता नहीं है व दिव्य श्री को देनेवाले वीर्य की रक्षा करने से और स्वाध्याय में उसका उपयोग करने से उस श्री को प्राप्त होते हैं जिसे स्वाध्याय न करनेवाले नहीं प्राप्त होते हैं। उन पुरुषों का वीर्य दिमाग में संचित होकर और विचार में उपयुक्त होकर उनको ऊर्ध्वरिता बनाता है तथा बल, ओज श्री आदि पदार्थ उनको देता है। नित्य निरन्तर स्वाध्याय में लगे हुए पुरुष उर्ध्वरता हैं और मरणपर्यन्त सम्पूर्ण जीवन ब्रह्मचर्य में

वास करते हैं। उनकी दारपरिग्रह की इच्छा भी नहीं होती है। ऐसा ही महाभारत (1/40/10) में कहा है–

'सतूर्ध्वरितास्तपसि प्रसक्तः स्वाध्यायवान् वीतभयः कृतात्मा
चचार सर्वां पृथ्वी महात्मा न चापि दारान्मनसाप्यकाङ्क्षत।'

स्वाध्याय से ब्राह्मण तनु मिलती है, ऐसा मनु महाराज ने माना है–

'स्वाध्यायेन व्रतैर्होमेस्त्रै विद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियतेतनुः।'

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में ब्रह्मचारी को यम, नियम का सेवन करना लिखा है। इन यम, नियमों को देखने से प्रतीत होता है कि यम-नियमों का क्रम से आपस में सम्बन्ध है अर्थात् परस्पर एक-दूसरे के उपकार्य और उपकारक हैं।

शौच सन्तोष तप स्वाध्याय ईश्वर प्राणिधानानि नियमाः। अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्या। परिग्रहाः यमाः। इससे तो बिल्कुल स्पष्ट सिद्ध है कि स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य (वीर्यरक्षा) में किस कदर सम्बन्ध है। मनु महाराज अ. 2 के 105, 106, 107 श्लोकों में कहते हैं कि स्वाध्याय ब्रह्म यज्ञ उसमें अनध्याय नहीं हो सकते। अन्य कामों में जो ब्रह्म यज्ञ से बाहर हैं उनमें अनध्याय हो जाए तो हो जाए। जो पुरुष वर्ष-भर नित्य नियत रूप से स्वाध्याय को करता हैं वह उन शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है कि उसके पास दूध-दही-घी-मधु की वर्षा होने लगती है, यह स्वाध्याय ही का फल है।

'वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैवन नित्य के
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैवहि।।
'नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हितत्समृतम्।
ब्रह्माहुति हुत पुण्यमनध्यायवषट् कृतम्।।
'यः स्वाध्यायमधीतेब्दं विधिनानि यतः चिः।
तस्य नित्यं ज्ञरत्येय ययोदधि धृतं मधु।।

मनु ने अ. 2 के 165-168 तक श्लोकों में बताया है कि जो द्विज स्वाध्याय अर्थात् तप नहीं करता वहा द्विज नहीं पर शूद्र है।

तपोविशेषेविर्धैतैश्च विधिचौदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना।।
'वेदमेवसदा भ्यस्येत् तपस्तप्स्यद्वि जोत्तमः।
वेदाभ्यासोहि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।

'आहैवसनखाग्रेभ्यः परमं तप्यतेतपः।
यः स्रठायपि द्विजोऽधिते स्वाध्यायंशक्तितोऽनूवहम्।।
'यो ऽनधीत्यद्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।।
सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छतिसान्वयः

मनु जी ने अ. 3 श्लोक 75, 81 में कहा है कि स्वाध्याय और देव कर्म अर्थात् ब्रह्म यज्ञ और देव यज्ञ दोनों को जो नित्य प्रति करता है वह चराचर का पोषण करता है। ये दोनों यज्ञ ही ब्रह्मचारी के लिए मुख्यतया विहित हैं। यदि ब्रह्मचारी संसार के प्रति कुछ उपकार करना चाहता है, यदि संसार के प्रति कुछ कृतज्ञता का भाव रखता है तो इन दोनों यज्ञों का परित्याग कभी न करे और स्वाध्याय में ही निरन्तर मग्न रहे। प्रत्येक मनुष्य पर तीन ऋण कहे जाते हैं उनमें से ऋषि ऋण का उतारना स्वाध्याय से ही माना है। ऋषियों की पूजा, अर्चन या तर्पण वही कर सकता है, जो स्वाध्याय में लगा रहता है। दूसरा नहीं।

'स्वाध्यायेनित्ययुक्तः स्याददैवेचैवेह कर्मणि
दैवे कर्मणियुक्तो हिविभर्तीदं चराचरम्।।

'स्वाध्यायेनर्चयेतर्षीन्होतोमौर्दवान् यथा विधि।
पितृन्श्राद्वैश्च न नन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा।।'
मनु महाराज अ. श्लोक 17

'सर्वान् परित्यजेदर्थान्स्वोध्यायस्यविरोधिना। यथा तथा ध्याययंस्तु साहहास्य कृतकृत्यता।' बताते हैं कि स्वाध्याय के विरोधी जितने कम हैं उन सबको छोड़ दे, अर्थात् जिन व्यवहारों के करने से स्वाध्याय में विघ्न पड़ता हो वे व्यवहार त्याज्य हैं। जिन व्यवहारों से जीविका प्राप्त होती हो, दिन-भर चैन रहती हो वे व्यवहार यदि स्वाध्याय में बाधक हैं तो त्याज्य ही है। जीविका जाए पर स्वाध्याय न जाए। मनु महाराज समझते थे कि जिस पदार्थ को तुम प्राप्त करना चाहते हो वह स्वाध्याय से ही प्राप्त होगा अन्यथा भटकते और मारे फिरना पड़ेगा और कुछ प्राप्त न होगा। जो मनुष्य संसार में स्वाध्याय न करके अपने कर्त्तव्य को न विचार कर, अपने जीवन के उन्नति और अवनति के अंशों पर ध्यान देकर, जीवन के उत्तम बनानेवाले पथ को ध्यान में न रखकर, ये अच्छा, वह खराब, फलाना ऐसा, उसे यूँ करना चाहिए यूँ नहीं, दूसरे व्यक्तियों की आकृतियाँ, चेष्टाएँ देखते रहते हैं वे स्वाध्याय नहीं कर सकते। वे मनुष्य आलसी, तमोगुणी, स्वार्थ परायण अर्थात् प्रत्येक काम को तब करना या हाथ में लेना जवकि उनका अपना उससे कुछ सिद्ध होता हो नहीं तो नहीं, वे लोग कपड़े लत्ते, खाने-पीने की रहने-सहने की बातें करते रहेंगे और कभी

उन्हें सन्तोष नहीं होगा, उनकी बातों के सुनने से सर्वदा उनका असन्तोष ही प्रकट होगा। ये लोग संयमी न होंगे, पुरुषार्थी न होंगे सर्वदा दूसरों से किसी-न-किसी प्रकार से बदला लेने को सघते रहेंगे। दूसरों की उन्नति को देखकर इनके दिलों में ईर्ष्या जलन होगी और अभिमान में भरकर आगे-पीछे निन्दा करने में तत्पर रहेंगे। असहनशील हों, दूसरों के कथन को सहन न कर सकेंगे।

[सद्धर्म प्रचारक, 8 जनवरी, 1916]

स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य

[2]

ये अविचारशीलता के कारण शीघ्र ही क्रोधान्ध हो जाएँगे। ऐसे-ऐसे कार्य करते-करते इनमें निर्लज्जता आ गई होगी। अपना स्वार्थ साधने के लिए जो युद्ध भी करना पड़े करने को तैयार होंगे। इनके अन्दर प्रेम का भाव बहुत ही न्यून होगा, दूसरों के प्रति घृणा बहुत होगी ऐसे लोग शूद्रों में भी गिरे हुए होते हैं। क्योंकि स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश में उत्तम शूद्र वह लिखा है जिसे पढ़ना-लिखना कुछ-न-कुछ आता हो और निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान को छोड़कर द्विजों की सेवा करता हो। इन लोगों में यह गुण भी नहीं होते जो किसी अच्छे शूद्र में होने चाहिए। इन दोषों के होते हुए ये लोग कभी भी ब्रह्मचारी नहीं रह सकते और ब्रह्मचर्यपूर्वक स्वाध्याय करना तो इनके लिए असम्भव-सी बात है। धर्मपूर्वक चलनेवाले लोग की प्रतिष्ठा देखकर यदि उनके मन में भी कभी उसी प्रकार कार्य करने का आए और कोई रास्ता ढूढ़ना चाहे तो उन्हें यही करना चाहिए कि पहले इन दोषों को छोड़े फिर स्वयं ही सफलता होगी।

ब्रह्मचर्याश्रम को धारणा किए मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह उत्तम शूद्रवत् बनने की कोशिश करे, अर्थात् निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान को सर्वथा त्याग करके अपने बड़ों की आचार्य, अध्यापक, अधिष्ठाता तथा अन्य पूज्य मनुष्यों की भक्तिपूर्वक सेवा करे जिससे उसकी आयु, विद्या, यश और बल बढ़ें।

जो मनुष्य ब्रह्मचर्यपूर्वक स्वाध्याय करता हुआ अपनी प्रथम आयु (ब्रह्मचर्य काल) को समाप्त करता है, वह उत्तम शूद्रवत् होने के पश्चात् अन्य वर्ण और अन्य आश्रमों को भी ग्रहण करने में समर्थ होता है। अन्यथा ग्रहण करने से तो कष्ट में ही पड़ा रहता है। जैसे भार लदे गधे को कष्ट मालूम होता है ऐसे उसे भी कष्ट भोगना पड़ता है, और वह मनुष्य संसार में पाप बढ़ाता है। मनु ने जैसे स्वाध्याय को तप कहा था। ऐसे ही अ. 11 श्लोक 244

'ब्रह्मचर्यजपो होमः कालेश्चाल्प भोजनम्।
अरागद्वेष्लोभाश्चं तप उक्तं स्वयं भुवा।।'

इसमें ब्रह्मचर्य को तप बताया है।

वेदाभ्यास अर्थात् स्वाध्याय करने से ज्ञानाग्नि प्रदीप्त होती है और सब पाप उस ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं। ऐसा मनु ने अ. 11 श्लोक 245, 246 में कहा है।

'वेदाभ्यासोन्वहं शक्त्या महायज्ञ क्रियाक्षमा।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि।।'

'यथैधस्तेजसा वन्हिः प्राप्तनिदेहतिक्षणात्।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित्।।'

प्रतिदिन अग्नि से प्रार्थना की जाती है—

'ब्रह्मवर्चस्व्यन्नादो भूयासम्' कि मैं ब्रह्मवर्चस्वाला होऊँ अर्थात् जिस प्रकार वेद या ज्ञानमय परमात्मा के नियम इस संसार में दीप्त हैं इसी प्रकार मैं भी ज्ञानमय होकर दीप्त होऊँ। वे ज्ञानमय परमात्मा के नियम आप ही आप नहीं आते परन्तु प्राकृतिक वस्तुओं को निरीक्षण परीक्षण करके उन पर विचार करने से अथवा सारे को मिलाकर कहा जाए तो स्वाध्याय से आते हैं।

जो ईश्वर पर प्रेम रखता है अर्थात् उसे ज्ञानमयपूर्ण सबका नियन्ता समझता है और ज्ञान प्राप्त करते-करते वैसा बनने का स्वयं प्रयत्न करता है वह ज्ञान को प्राप्त कर सकता है अर्थात् स्वाध्याय कर सकता है, इसीलिए प्रथम-प्रथम बच्चे की जीभ पर ओम् लिखकर उसके कान में वेदाऽसि कहा जाता है। ईश्वर में प्रेम ही ज्ञान का मूल है, इस प्रकार भक्ति भाव से ही मनुष्य विचारशील बनता है, विचारशील होने से ही धर्मिष्ठ होता है, धर्मिष्ठ होने से ही अरोग होता है। ब्रह्मवर्ग का पालन ही मनुष्य का धर्मिष्ठ होना है। क्योंकि ब्रह्मचर्य को आरोग्य का मूल बतलाया है—

'धर्मार्थ काम मोक्षणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।

ऋषिवेप महर्षि ने लिखा है—

'शुक्रं तस्माद्विशेषेण रक्ष्यमारोग्यमिच्छता।'

जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते वे बलहीन बुद्धिहीन हो जाते हैं स्वध्याय करने में समर्थ नहीं रहते। और निराश हो जाते हैं उनको निराश न होना चाहिए। निराशता से अधिक-अधिक गिरावट होती है, लाभ नहीं होता। वेदारम्भ के समय आचार्य ने शिष्य को उपदेश दिया करता है—

ऋतं च स्वध्याय प्रवचने च तै. (प्रपा. 7

सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च तै.
तपश्च च स्वाध्याय प्रवचने च तै.
दमश्च च स्वाध्याय प्रवचने च तै.
शमश्च च स्वाध्याय प्रवचने च तै.
अग्नश्च च स्वाध्याय प्रवचने च तै.
अग्निहोत्रं च स्वाध्याय प्रवचने च तै.
इसमें स्वाध्याय पर कितना बल दिया है। स्वाध्याय ही ब्रह्मचर्य का मूल है।

स्वाध्याय का प्रत्येक आश्रम से सम्बन्ध

ब्रह्मचर्याश्रम से स्वाध्याय का कितना सम्बन्ध है यह तो दिखाया ही है। क्योंकि वेदारम्भ के समय आचार्य जो उपदेश देता है उसी से सिद्ध है, क्योंकि उस में स्वाध्याय कभी न छोड़ना यह सीधा ही उपदेश दिया है। परन्तु गृहस्थाश्रम में भी स्वाध्यायी रहने की आवश्यकता है। क्योंकि वहाँ भी ब्रह्मचर्य से रहना होता है। स्वाध्याय से अर्थात् दिन-भर किसी-न-किसी विचार में अपना मन रखने से वीर्य की खपत विचार में ही होती रहती है और विषय वासना न उपजने से वीर्य की रक्षा से वह वीर्य पुनः शरीर की अन्य धातुओं में परिणत होने से शरीर को पुष्ट करता है। जो लोग गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके एक प्रकार के बन्धन से मुक्त होना समझते हैं वे वहाँ पहुँचकर पतित हो जाते हैं और निर्बल होकर निर्बल ही सन्तान को उत्पन्न करके संसार को उपकार करते हैं। वहाँ भी ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करना बुद्धिमानों ने कहा है—

> 'द्विविधं ब्रह्मचर्यं मुख्यं गौणं चेति तत्र प्रथममकृतदारसंग्रहः द्वितीय मेकदारश्चेति प्रमाणमत्रमनुः—
>
> 'निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
> ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्।।'

जिस समय आचार्य शिष्य के प्रति वेद का व्याख्यान कर चुकता है तो ब्रह्मचर्याश्रम के बाद उसको इस प्रकार अनुशासन करता है—

> 'वेदमनूच्य आचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति।
> सत्यं वद। धर्मंचर। स्वाध्यायान्माप्रमदः। इत्यादि।।'
>
> तै. प्रपा. अनु0 11, क. 1, 2, 3, 4।।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वाध्याय गृहस्थाश्रम में भी नहीं छूटता।

वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करके भी मनुष्य को मनु महाराज इस प्रकार उपदेश देते हैं—

'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः।।'

अर्थात् वानप्रस्थी स्वाध्याय में नित्ययुक्त रहे।

संन्यासी के लिए तो उसका कर्त्तव्य ही यह बताया गया है कि विद्यादान और धर्म प्रचार करना उसका कर्त्तव्य है। संन्यासी का तो प्रत्येक समय ध्यान ब्रह्म में ही रहता है। वह तो स्वाध्याय करता ही रहता है।

इससे दिखाया गया कि मनुष्य को सारा जीवन ही स्वाध्याय में लगा देना चाहिए। ब्रह्मचर्याश्रम में विशेष बल इसलिए दिया कि वह अगले आश्रमों का आधार है। यदि वहाँ स्वाध्याय में रहने का अभ्यास हो जाएगा तो अगले आश्रमों में भी स्वाध्यायी रह सकेगा। जिसको पहले से आदत नहीं डाली यह अन्त में चाहे कि मुझे एकदम ऐसा अभ्यास पड़ जाए सो होना कठिन है। जिसने स्वाध्याय में रम करके ब्रह्मचर्याश्रम को पक्का कर लिया है वह अगले आश्रमों में भी यथायोग्य रीति से गुजर जाएगा, जिन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम को पक्का नहीं किया उनका अगला सारा जीवन कच्चा दुःखमय रहेगा यह निश्चय जानना चाहिए।

ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय शारीरिक मानसिक और आत्मिक उन्नति में किस प्रकार सहायक हैं।

ब्रह्म में चरण करने में अथवा स्वाध्याय करने से क्या मिलता है इसको पतञ्जलि मुनि बतलाते हैं 'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्य लाभः'।। यो. पा. 2 मू. 38।।

ब्रह्मचर्य व्रत को यदि पालन करे अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय को यदि संयम करे तो उसको सब प्रकार के सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। वह मुनष्य अपनी विविध शक्तियों का सम्पादन करके वह काम संसार को करके दिखा सकता है जिनका होना साधारण लोग मनुष्य की शक्ति से बाहर समझते हैं। जिसका सब इन्द्रियों पर संयम हो जाता है यह समझ लेना चाहिए कि उसका मन भी उसके वश में ही रहता है इधर-उधर उसको डोलाए नहीं फिरता। इधर-उधर डोलने फिरने से मनुष्य का सामर्थ्य क्षीण होता है। मन के वशीभूत होने से ही सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। अतएवं ब्रह्मचारी में मानसिक शक्ति की उन्नति भी समझनी चाहिए, अर्थात् ब्रह्मचारी में जबरदस्त Will power हो जाती है। वीर्य के वेग को संयम करने से जो वीर्य संचय होता है वह स्वाध्यायी पुरुष का उस पुरुष का जो विचार करता रहता है—विचार में लग जाता है तथा उलटे क्रम से पुनः अन्य धातुओं में परिणत हो जाता है। और इस प्रकार शरीर की सब धातुओं को पुष्ट करता हुआ शारीरिक उन्नति करता है। साधारण अवस्था में वीर्य लोहित धातु में घुला रहता है। जब कोई कामोत्तेजक भाव देख के सुन के विकृति उत्पन्न करता है तो लोहित धातु

से वीर्य फट जाता है और बहकर अण्डकोष में जा पड़ता है, फिर जब उपस्थेन्द्रिय में किसी प्रकार Irritation होती है तो मूत्र के साथ शरीर के बाहर निकल जाता है। वीर्य के वेग को रोकने का यह अर्थ है कि अपने मन में ऐसा भाव ही न उत्पन्न होने देना जिससे लोहित धातु वीर्य फट जाए। यदि वीर्य फट जाए तब तो उसका निकल जाना ही अच्छा है। परन्तु प्रयत्न ऐसा करना था जिससे फटने न पाए। इसीलिए शिक्षित लोग विशेष उपन्यास, विशेष काव्य तथा विशेष-विशेष प्रकार की कथा कहानियाँ पढ़ना, या कहना, जो ऐसे भावों को उत्पन्न करती हैं, जिससे मन में विकृति हो, निषेध करते हैं। यदि कोई आदमी इतना अधिक संयमी हो, जैसे स्वामी जी थे, जो गृहस्थ विषयक, पति-पत्नी के प्रेम विषय सब प्रकार की बातों को जानते थे, लिख भी गए, परन्तु पूर्ण ब्रह्मचारी रहे, यदि किसी की ऐसी अवस्था हो जाए तो वह यदि पढ़े तो उसे हानि होने की सम्भावना नहीं परन्तु वे लोग जो अभी अभ्यास मार्ग में पड़े ही हैं जिन्हें अभी पूरा संयम नहीं वे इस प्रकार के निषिद्ध कार्यों में यदि पड़ेंगे तो उन्हें अवश्य ही हानि उठानी पड़ेगी और भविष्यत् जीवन में पश्चाताप करना पड़ेगा। शिक्षक वर्ग अथवा कोई भी जो किसी को कुछ बात कहता है वह अच्छे भाव से ही उसे ग्रहण करनी चाहिए, चाहे कहने वाला किसी भाव से ही कहे। किसी बात में दूसरे का भाव बुरा लेने से अपनी आत्मा तो बिगड़ती ही है। परन्तु बहुत-सी बातों से जो लाभदायक भी होती है इसी कारण वंचित रहता है। दूसरे ने यदि कोई बात बुरे भाव से कही है तो कहने वाले की अपनी आत्मा कलुषित होगी। सोचना यह चाहिए कि जो बात बताई गई है उससे क्या लाभ विशेष हो सकता है। यदि लाभ विशेष कोई न दिखे और हानि उसमें कोई नहीं हो तो उसको ग्रहण करने में क्या डर है। यही समझ लेना चाहिए कि बताने वाले ने कोई लाभ सोचा होगा जो हमारी दृष्टि में नहीं आया। बहुत बार मनुष्य अज्ञान के कारण कई बातों को, जो साक्षात अथवा परस्पर हानिकारक प्रभाव उत्पन्न करनेवाली हैं, उन्हें बहुत गहरी विचार की कसौटी पर न परखकर बुरी बातों को अच्छा समझा बैठता है और समझाने पर अपने कार्य को ठीक समझता हुआ नहीं छोड़ता। प्रत्युत समझानेवाले का ही दोष गिनता है। अभिमान को सर्वथा त्याग करके मनुष्य को अपना हानि-लाभ विचारते हुए दूसरों की बात सुननी चाहिए। अभिमान ऐसी वस्तु है जो मनुष्य को अन्धा बना देती है। और उसमें अच्छे-बुरे में विभेद करने की शक्ति मार देती है। ब्रह्मचर्य काल में अभिमान का सर्वथा त्याग करना ही मनुष्य को अपना बड़ा भारी कर्त्तव्य समझना चाहिए। इसी से उसकी विवेक शक्ति का प्रसार होगा और वह अपने भविष्यत जीवन के कार्यों में सफल हुआ करेगा। उस पुरुष में दूरदर्शिता की शक्ति बढ़ेगी और सत्पथ पर बड़ी आसानी से चलता चला जाएगा। जिस पुरुष में ये ऊपर के गुण होंगे उसमें साहस उत्पन्न होगा। दृढ़ता आती जाएगी। जिस कार्य को हाथ में लेगा उससे घबराएगा नहीं,

पूर्ण कर ही देने का प्रयत्न करेगा। ऐसे पुरुषों में निर्भीकता उत्पन्न हो जाएगी। दूसरों से वह प्रेम करेगा, उनकी सहायता करेगा तथा अन्यों को अपने साथ मिलाकर बड़े-बड़े कार्यों को सहज ही सिद्ध कर सकेगा। संगठन शक्ति लोगों में उत्पन्न करने में वह ही समर्थ होगा और देश में जातीयता को उत्पन्न कर सकेगा। ये सब गुण मनुष्य की आत्मिक उन्नति को सूचित करते हैं इनका आधार वही ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय है।

जो मनुष्य अभिमानी होगा वह क्रोधी होगा, अस्थिर स्वभाव का होगा। अविवेकी होगा, अधीन होगा शीघ्रकारी होने से बार-बार कुपथ में पड़ेगा। अधिक खर्चीला होगा, स्वार्थी होगा, उसमें सब उनसे उल्टे गुण होंगे जो ऊपर आत्मिक उन्नतिवाले में होते हैं।

चरक में जिस उत्तमता से ब्रह्मचर्य की प्रसन्नता की है। यथा—'पुण्यतमायुः प्रकर्षकरं जरांव्याधि प्रशमनम्। ऊर्जस्करममृतं। ऊर्जस्करममृतं शिवं शरणयमुदात्मयतः श्रोतुमर्हथोपक्षरमितं प्रकाशयितुन्च प्रज्ञानुग्रहार्थमार्य ब्रह्मचर्य।।' अर्थात् ब्रह्मचर्य पुण्यतमायु को बढ़ानेवाला जरा और व्याधियों का प्रशमन करनेवाला, सहनशक्ति को देनेवाला ऊँचे विचारों को उत्पन्न करनेवाला, स्वयं कल्याणरूप और शरणागत का रक्षक है।

मनुष्य यदि संयम के साधन स्वाध्याय को करता हुआ ब्रह्मचर्य को धारण करे तो वह निरोग रहेगा, और वंश परम्परा से प्राप्त जो रोग हैं शनैः-शनैः उन्हें भी प्रयत्न से शमन करने में समर्थ होगा।

लोग सैकड़ों औषधियाँ खाते-पीते हैं पर वे अपना उत्तम प्रभाव नहीं कर सकतीं यदि ब्रह्मचर्य की उनके साथ सहायता न हो। अधिक क्या केवल ब्रह्मचर्य ही परम रसायन है और आयुष्य के देनेवाला है। जैसा कि वाग्भटाचार्य ने अष्टांग हृदय में वर्णन किया है।

धर्म यशस्य मायुष्यं लोक द्वयरसायनम्।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्य मेकान्तनिर्मलम्।।
आहार शयना ब्रह्मचर्यैर्युत्तया प्रयोजितैः।
शरीरं धार्यते नित्यमागारमिव धारणैः।।

ठीक इसी प्रकार भगवान् आत्रेय ने चरक सूत्र स्थान में जीवन के कारणों का वर्णन करते हुए शरीर के तीन उपस्तम्भ प्रथम आहार, द्वितीय निद्रा, तृतीय ब्रह्मचर्य बताए हैं और कहा है कि इन्हीं के युक्तिपूर्वक व्यवहार करने से शरीर के बल वर्णादि की वृद्धि होती है। आरोग्य सबल मनुष्य को दीर्घायु होना निर्विवाद है।

सुप्रसिद्ध डा. 'एकटन' साहब ने कहा है कि मैथुन का असर पट्ठों द्वारा

मस्तिष्क तक अवश्य पहुँचता है और दुर्बल जन प्रायः इस अघात से मर भी जाते हैं, देखिए शशक स्खलित होने के पश्चात् एक तरफ को गिर पड़ता है। इससे आप स्वयं विचार कर सकते हैं कि ब्रह्मचर्य खण्डन की पूर्णायुका कट्टर शत्रु है। अन्यथा जो ब्रह्मचर्य धारण करेंगे वह अवश्य दीर्घायु होंगे, फलतः यह कहना पड़ेगा कि दीर्घायु प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य से अधिक उपकारक दूसरा साधन नहीं है।

डॉ. कैमसन अपनी पुस्तक The Man, Physical Education के पृ. 4 और पृ. 11 में लिखते हैं कि उत्तम स्वास्थ्य बनाने के लिए जिन-जिन बातों की आवश्यकता है उनमें एक Right Thinking है। अर्थात् जो मनुष्य प्रत्येक बात का अच्छा ही अर्थ ग्रहण करेगा उसका मन चंचल, उद्विग्न न होगा शान्त चित्त होने से उस के अंग-प्रत्यंग ठीक-ठीक कार्य करेंगे और स्वास्थ्य प्राप्त होगा अतएव शारीरिक उन्नति होगी।

Thinking right will help you to secure help. Will keep your blood flowing through your veins in right lively feshion;

वे ही डॉ. साहब लिखते हैं– Memory का आधार शारीरिक स्वास्थ्य है। परन्तु शारीरिक स्वास्थ्य का आधार Study अर्थात् स्वाध्याय या ब्रह्मचर्य से है इसलिए Study स्वाध्याय करने से Memory बढ़ती है यह समझना चाहिए।

डॉ. कैसमैन ही कहते हैं कि Personal Megnatism अर्थात् आत्म ज्योतिः प्राप्त करनी हो तो उसके लिए भी Study (स्वाध्याय) की आवश्यकता है।

डॉ. कैसमैन अपनी English नाम की पुस्तक के पृ. 7 में लिखते हैं कि–

Variety in reading contains truth, and that which contains truth contains strength"

(स्वाध्याय) से मानसिक वाचनिक और कार्मिक तीनों प्रकार का सत्य मिलता है और सत्य से बल प्राप्त होता है।

शारीरिक मानसिक और आत्मिक तीनों प्रकार की उन्नति का आधार स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य ही हैं यह दिखाया जा चुका। विद्या मनुष्य में मानसिक उन्नति को सूचित करती है। उस विद्या की स्थिति ब्रह्मचर्य के बग़ैर ऐसी ही है जैसे छेद हुए घड़े में जल की स्थिति है। कवि ने ठीक कहा है :

दत्तापि विद्या गुरुणायथेष्ठ न ब्रह्मचर्येण विनाहितिष्ठेत्।
यथा घटे छिद्रयुते प्रपूर्ण पयोनतिष्ठेत् खलु बिन्दुमात्रम्।।

[सद्धर्म प्रचारक, 15 जनवरी, 1916]

स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य

[3]

कला विज्ञान के लिए स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य किस प्रकार उपयोगी हैं ?

कला दो प्रकार की हैं एक वे जिनमें शारीरिक उन्नति मानसिक उन्नति के साथ अपेक्षित है, दूसरी वे जिनमें मानसिक उन्नति आत्मिक उन्नति के साथ अपेक्षित है।

शूद्र को अपना कर्त्तव्य निबाहने के लिए शारीरिक उन्नति की विशेष आवश्यकता है। वैश्य को शरीरिक और मानसिक उन्नति के विशेष बढ़ाने की आवश्यकता है। क्षत्रिय को मानसिक और आत्मिक उन्नति की विशेष आवश्यकता है। इस प्रकार से यदि वर्ण उन्नत रहें तो वे अवश्य अपने-अपने कार्यो को सफलता से सिद्ध कर सकेंगे। ब्राह्मण संसार में बहुत थोड़े होते हैं, क्षत्रिय उनसे अधिक होते हैं। वैश्य शेष तीनों वर्णों से अधिक होते हैं। इससे पता लगता है कि संसार में शरीरिक शक्तिवाले अधिक होते हैं, मानसिक शक्तिवाले उनसे भी कम होते हैं। जो ब्राह्मण देश होंगे वहाँ आत्मिक शक्ति विशेष होगी जैसे भारतवर्ष में। यह देश ही ऐसा देश है जिसकी जाति इतने काल तक अपनी सम्पत्ति को साथ लिए अब तक विद्यमान है, यह केवल यहाँ के मनुष्यों की आत्मिक शक्ति का ही परिणाम है। जर्मन देश क्षत्रिय देश है वहाँ कुछ आत्मिक उन्नति के साथ मानसिक उन्नति की प्रधानता है जिसके आधार पर वह वैश्य देशों को जीतता चला जा रहा है। और इसी के सहारे जहाँ विज्ञान की इतनी अधिक उन्नति दिखती है, इंग्लैंड, रूस वैश्य देश हैं वहाँ मानसिक उन्नति के साथ शारीरिक उन्नति मिली हुई है। अन्य छोटे-छोटे देश केवल शारीरिक उन्नति ही विशेष रखने के कारण शूद्र देश हैं।

ब्राह्मणों का कर्त्तव्य स्वामी दयानन्द ने विद्यादान और धर्म प्रकार बताया है। इन दोनों बातों के लिए मनुष्य में वक्तृत्वकला तत्त्व (Imagination) कल्पना शक्ति की बड़ी भारी आवश्यकता है।

डॉ. कैसमैन लिखते हैं कि (Imagination) कल्पना शक्ति को बढ़ाने के लिए मानसिक तन्तुओं को दृढ़ करना चाहिए। और इनके दृढ़ करने के लिए ब्रह्मचर्य तथा स्वाध्याय की आवश्यकता बताई है। जिसमें कल्पना शक्ति अच्छी होगी उसमें दूरदर्शिता भी बसेगी, यदि वह विद्वान् भी होगा तो उसको वक्तृव्य कला भी प्राप्त होगी। इसी प्रकार अन्य वर्ण सम्बन्धी जो-जो (Arts) कलाएँ हैं वे भी स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य पर ही आश्रित हैं यह भी स्वयं ही जान लेना चाहिए।

स्वध्याय और आचार अर्थात् Study and practice से अन्य गुणों की प्राप्ति होती है

वेद रूपी ज्ञान तो सदा से नित्य है परन्तु उसकी सत्यता और सुन्दरता तथा अपूर्वता का परिचय तभी होता है जब उन नियमों को उसी प्रकार प्रकृति के अन्दर आध्यात्मिक, आधि दैविक और आधिभौतिक रूप में एक ही प्रकार से काम करता हुआ पाते हैं। नहीं तो उन नियमों की या उस ज्ञान की अपूर्वता कभी भी पता नहीं लग सकती। इसी सृष्टि की विचित्र रचना को देखकर वैज्ञानिक और तत्त्व वेत्ता लोग आश्चर्य में मग्न होते हैं और अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं। तथा एक शक्तिशाली नियन्ता को मानकर उसकी पूजा करते और उससे शक्तिशाली होने को बल माँगते हैं।

इससे यह सीखना चाहिए कि मनुष्य जो कुछ भी स्वाध्याय या Study से प्राप्त करे उसे क्रिया में परिणत करके दिखाए। मनुष्य जैसा भी है अर्थात् जैसे उसके विचार हैं जो कुछ उसने प्राप्त किया है वह उसकी बातों से चेष्टाओं से उसके प्रत्येक कृत्य से पता लगता है। मनुष्यों ने पहले अभ्यास नहीं किया होता वे पीछे जाकर बनावट करके अनेक रीतियों से अपनी सत्पुरुषों में गिनती कराने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु Withen is wihtout के अनुसार उसी रूप में वे प्रकट होते हैं जिस रूप में उनका अनन्तमार्ग में चलनेवाला अन्तःकरण होता है। वे पुरुष बदनाम होंगे तो क्या नाम न होगा' के अनुसार नाम तो अवश्य पाते हैं पर बदनामी ही से पाते हैं। Man is not only to live well. मनुष्य संसार में केवल जीने के लिए ही स्थित नहीं परन्तु अच्छी प्रकार जीना उसका कर्त्तव्य है। यदि मनुष्य ने अच्छी प्रकार जीना है, यदि वह चाहता है कि लोग मुझे अच्छी नज़रों से देखें, मेरे से घृणा न करें, यदि वह चाहता है कि मुझे सभ्यों की गिनती में रखें तो उसे चाहिए कि वह वैसे कार्य कर दिखाए। Child is the father of the man के अनुसार बचपन की आदतें ही बड़ी अवस्था में परिपक्व होकर सामने आती हैं। इसलिए आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य काल को सुधारकर रखने का मनुष्य अपना सबसे मुख्य कर्त्तव्य समझें। जिन-जिन गुणों को वह प्राप्त करना चाहता है उनकी खोज करके उनको प्राप्त करने के मार्ग का स्वाध्याय करके इसी प्रकार अपने में जमा ले और

उनकी विरोधी जितनी भी अपने में आदतें देखे उन सबको यथाशक्ति सर्वतोभावेन अपने में से दूर करने का यत्न करे इसके लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि 'प्रत्यंह प्रत्यवेक्षेत परश्चरितमात्मनः। किन्नुमे पशुभिस्तुल्यं किन्नुमे सत्यपुरुषैरिति।।' के अनुसार प्रातः-सायं अपने जीवन पर दृष्टि डाल लिया करे कि किन-किन बातों को मैं अपने में धारण करना चाहता हूँ और उनकी विरोधी किन-किन बातों को मुझे छोड़ना चाहिए। जिन-जिन बातों को वह धारण करना चाहे उनका निर्णय वह उस उद्देश्य से करे जो उद्देश्य उसने अपने जीवन का बनाया है जिसके लिए वे उपयोगी हैं। जब तक मनुष्य अपना उद्देश्य न बना सके तब तक श्रद्धा करके उसे उन बातों को मानते ही मानना चाहिए जिनको उसके गृह पूज्य लोग बतलाएँ या जिनको विचारशील पुरुष लिख गए हों। इस प्रकार करने से मनुष्य अवश्य ही अपने जीवन में सफलता प्राप्त करेगा।

स्वाध्याय न करने से हानियाँ

जो मनुष्य स्वाध्याय नहीं करते वे उस योग्य अपने को नहीं बना सकते जिस योग्यता वाला वे अपने को दिखलाना चाहते हैं। इसलिए वे बनावट करने लगते हैं अर्थात् असत्यता पर उतर आते हैं। उनके कारण विद्वेषादि का प्रसार हो सकता है अशान्ति उपस्थित हो सकती है। असत्पथ पर चलनेवालों को उनको अन्त में अवश्य ही असफलता प्राप्त होती है और उनका समूल नाश हो जाता है जैसा कि मनु महाराज ने कहा है–

'अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तुविनश्यति।'

अ. 4। 174।।

क्योंकि–

'नाधर्मश्चरितोलोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति।।

मनु. अ. 4। 172।।

किया हुआ अधर्म कभी निष्फल नहीं होता परन्तु जिस समय अधर्म करता है उसी समय फल भी नहीं होता इसलिए अज्ञानी लोग अधर्म से नहीं डरते तथापि निश्चय जानो कि वह अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है।

स्वाध्याय न करनेवाले लोग असफ़लता को प्राप्त होते-होते निराश हो जाते हैं और कहा करते हैं कि अब क्या करें 'प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं

धनम्। तृतीये नार्जितो धर्मेश्चतुर्थे किं करिष्यति।।' पहले तो विद्याभ्यास नहीं किया। जब विद्याभ्यास की अवस्था अर्थात् ब्रह्मचर्यकाल गुज़र गया तब गृहस्थाश्रम धारण करने पर धन कमाने की सूझी। जिन्होंने विद्याभ्यास करके कष्ट सहन करना और परिश्रम से वस्तु के संचय करने की आदत नहीं डाली वे गृहस्थाश्रम में जाकर परिश्रम से धन कमाने में लगे और धर्मपूर्वक कुछ धन कमा सकें सो उनके लिए तो असम्भव है। वे अपने पिता के कमाए धन को मजे में उड़ाते हैं। अगर चूँकि उन्होंने अपने परिश्रम से उसे नहीं कमाया होता इसलिए चाहे कितना भी धन हो उसे उड़ाने में कुछ देर नहीं लगती। और पीछे वे पछताते हैं। तीसरी अवस्था जब प्राप्त हुई तब धर्म क्या कमाएँ, धर्म कमाने की कोई नींव तो रखी ही नहीं, तब तो अपने पेट की ही सोचते हैं, और यथा-तथा ऋण से अन्याय से किसी-न-किसी प्रकार से भी धन प्राप्त करके अपना जीवन निर्वाह करते हैं। ये लोग निराश होकर पीछे पछताते हैं कि हाय हमने पहले जीवन में क्यों उन बातें की ओर ध्यान नहीं दिया जिनसे इस समय आराम मिलता और दुःख भोगना न पड़ता।

स्वाध्याय करने की विधि

निराश होने पर यदि मनुष्य अपने में सामर्थ्य देखे और फिर से प्रयत्न करने को जी उठे। जैसा कि कई तो 50-50 वर्ष बाद भी बिल्कुल नए-नए विषयों को हाथ में लेकर उनमें पारंगत होकर दिखाते हैं। ऐसे उदाहरणों को सामने रखकर जिस विषय की ओर मन जाए उस विषय की ही धीरे-धीरे आलोचना करनी आरम्भ करे। Study (स्टडी) अर्थात् स्वाध्याय करने की दो विधियाँ हैं—एक तो स्वाध्याय पुस्तकों से किया जाता है, जिस विषय की आलोचना करना हो उस विषय की पुस्तकें पढ़ के मनन करे, दूसरी विधि यह है कि निरीक्षण-परीक्षण करे अर्थात् (Obsetvation & Application) आब्जर्वेशन एंड एप्लीकेशन से भी स्वाध्याय किया जाता है। दूसरों के कार्यों को देखकर उनकी बातें सुनकर नियमों का ज्ञान और विचार करने के बाद उनको भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रयुक्त करे या प्रयुक्त होते देखे। आधार शास्त्र के नियमों का स्वाध्याय पुस्तकों की अपेक्षा इसकी तरह अच्छा होता है।

डॉ. कैसमेल अपनी पुस्तक (Caracter Reading) 'कैरेक्टर रीडिंग' के पृ. 4 में लिखते हैं कि आचार का स्वाध्याय मनुष्य का रूप-रंग चेष्टा आदि को देखकर होता है जो कुछ मनुष्य दिन भर में स्वाध्याय (Study) करे, लोगों के साथ बातचीत में उसी का कथन करे, इस बातचीत से अर्थात् परस्पर विचार-परिवर्तन करते रहने से मनुष्य की विचार शक्ति बढ़ती है और दिन प्रतिदिन अपनी तथा अन्यों की उन्नति करता चला जाता है।

विचार और क्रिया दोनों के मिलने से मनुष्य की आदत (habit) बनती है। यदि सद्विचार को और उनको क्रिया में लाएँ तो सत्पथ पर रहने की आदत हो जाती है। सत्मार्ग पर चलकर फल सिद्धि अवश्य होने से 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफल रश्रयत्वम्।' चरितार्थ होता है।

यह प्रकार स्वाध्याय करने से मनुष्य खाने-पीने, पहने, कपड़े-लत्ते मनुष्यों की चेष्टाओं, आकृतियों बोलने आदि के प्रकारों आदि तुच्छ विषयों पर वाद-विवाद करना, अन्य व्यक्तियों के सांसारिक मामलों को छोड़कर जिनसे विवाद करनेवाले जिस अवस्था में है, उस अवस्था में रहते हुए उनका उन मामलों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। उन्हीं पर बातचीत, पक्ष-विपक्ष खड़े कर दिलकटी करना, ईर्ष्या, द्वेष का फैलना आदि दोष नहीं होने पाते। जैसा कि सांसारिक लोगों में प्रायः इस प्रकार के व्यवहारों के करने से दोष पाए जाते हैं।

इन दोनों से पृथक रहने के लिए अपने-अपने आश्रम में मनुष्य को उपेक्षा वृत्ति से रहना चाहिए। उसको चाहिए कि जो कुछ नियम बताए गए हैं जिस मार्ग पर चलने का बताया गया है केवल उसी को ध्यान में रखकर चलता चला जाए। दूसरों से कुछ मतलब न रखे, चाहे वे कुछ भी करते रहें। दूसरों के सुधार का काम ब्राह्मण व संन्यासी का काम है। प्रत्येक आदमी का नहीं। तीन आश्रमों में मनुष्य को स्वयं बनने की आवश्यकता होती है, बनाने की नहीं। बनाने का काम चतुर्थाश्रम का ही है। इस प्रकार से लोगों में पारस्परिक विवाद झगड़े जो संसार में देखने में आते हैं वे एकदम मिट सकते हैं। अन्यथा तो जैसे चलता है, भगवान वैसे ही चला रहा है।

विद्या पढ़ना व स्वाध्याय निष्काम भाव से होना चाहिए। विद्या आत्मा के लिए पढ़नी चाहिए जिससे कि असन्तोष का जीवन व्यतीत न हो। विद्यार्थी को समझना चाहिए कि मैं अपने माता-पिता से बिल्कुल अलग हो गया हूँ और स्वाध्याय करके इस योग्य स्वयं बनना चाहिए। जिससे मैं अपना निर्वाह आप ही कर सकूँ। माता-पिता को भी चाहिए कि 7 या 9 वर्ष तक बच्चे पर अपना स्वत्व समझें। इसके पश्चात आचार्य को सौंपकर बच्चे के मन से यह आशा दूर कर दें कि ब्रह्मचर्याश्रम के बाद भी मेरे से तुझे कोई सहारा मिलेगा। 25 वर्ष के बाद विद्यार्थी गृहस्थ में आकर स्वयं कमाए या पर्याप्त कमाकर गृहस्थ करे। यदि अधिक ब्रह्मचर्याश्रम में रहना चाहे तो 25 वर्ष की योग्यता से स्वयं कमाकर अपना पालन करे और स्वाध्याय में भी मगन रहे। पिता 50 वर्ष के बाद वानप्रस्थ लेकर रहेगा और अपनी एकत्रित सम्पत्ति से अपना पालन करेगा अथवा यदि असमर्थ होगा तो उसको पालने का भार उस देश की धनाढ्य गृहस्थ समाज पर या उस देश के राजा पर होगी। पुत्र भी यदि ले सके तो उसके पालन का भार अपने ऊपर ले सकता है, नहीं तो नहीं।

इस प्रकार कठोरता का जो जीवन व्यतीत कर सकें उन्हीं को आजकल की संसार की अवस्था के अनुसार गुरुकुल पाल सकते हैं और उनका कुल आजकल भी बना सकते हैं। अन्य प्रकार के जो विद्यार्थी होंगे उनसे आजकल के संसार की अवस्था के अनुसार कुल का कुलत्व नहीं रह सकता। क्योंकि ऐसे लोग हो सकता है अन्यों के मनों में भी असन्तोष आदि के भाव उत्पन्न करके कुल का कुलत्व बनाने से उनको वंचित रखें।

[सद्धर्म प्रचारक, 22 जनवरी, 1916]

आर्यसमाज और प्रारम्भिक शिक्षा

आर्यसमाज का शिक्षा सम्बन्धी कार्य तीन भागों में बाँटा जा सकता है। 1. गुरुकुल शिक्षा, 2. स्त्री शिक्षा, 3. सरकारी ढंग की शिक्षा। तीनों प्रकार की शिक्षा में से गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को जमाने का काम उसका खास अपना है। अब उसका गुरुकूल से अटूट सम्बन्ध हो जाता है। जो शिक्षा का वेदोक्त आदर्श ऋषि दयानन्द के द्वारा बतलाया गया था, उसे कार्य में परिणित करने के लिए गुरुकुल की नींव डाली गई है। इस कार्य का जो महत्त्व था वह जनता की समझ में आ गया और उन्होंने गुरुकुल को अपनी और उन संस्थाओं में मुख्य स्थान दे दिया। इस समय हर कोई जानता है कि आर्यसमाज की आशा और भविष्यत जीवनी का केन्द्र उसकी पौध का लाड़ला बेटा गुरुकुल ही है। आर्यसमाज के गुरुकुल के बिना सोचना ही असम्भव है।

दूसरा शिक्षा सम्बन्धी कार्य स्त्री शिक्षा का है। जाति के भावी पिता आज के बच्चे हैं। बच्चों को जो कुछ बनाता है, वह माता का दूध बनाता है। जिस शक्ति ने माताओं को वश में कर लिया। उसने सारी जाति को काबू कर लिया। यदि आर्यसमाज, आर्य जाति के भविष्य को अपने हाथ में रखना चाहता है तो उसे स्त्री शिक्षा के काम में कभी शिथिलता न करनी चाहिए। साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जो धर्म केवल बाबूजी तक रहता है और अन्तःपुर में प्रवेश नहीं करता केवल बैठक में रहता है, ड्योढ़ी के भीतर नहीं घुसता, वह रेतीले मैदान पर खड़ा है। उसकी नींव बहुत कच्ची है। वही धर्म स्थित रह सकता है जो घर के अन्दर तक पहुँच गया हो। जिसके विचार माता के दूध द्वारा सन्तान के अन्दर घुसे रहते हों। माताओं को काबू करने का उन्हें उदार और श्रेष्ठ बनाने का एकमात्र साधन उन्हें ठीक प्रकार की शिक्षा देना है। आर्यसमाज ने स्त्री शिक्षा को अपने हाथों में लिया है। यह एक शुभ लक्षण है। उसे चाहिए कि सरकारी शिक्षा के पीछे न भागकर धार्मिक शिक्षा द्वारा स्त्रियों को सुशिक्षित करा जाए। इस कार्य में जरा-सी भी शिथिलता न हो।

तीसरे प्रकार का काम सरकारी ढंग की शिक्षा देना है। आर्यसमाज की शक्ति का व्यय दो ही प्रकार के कार्यों में होना चाहिए। वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार में

या वैदिक आदर्शों को कार्यरूप में परिणति करने में। तीसरे प्रकार के कार्य में सामाजिक शक्ति का खर्च व्यर्थ है जो कोई इन दो उद्देश्यों को छोड़कर अन्यत्र खर्ची जाती है। क्या स्कूलों और कालेजों द्वारा भी शिक्षा देने का उपक्रम किया जाता है। वह इन दो में से किसी भी उद्देश्य को सिद्ध कर सकता है। हमारी सम्मति में सरकारी शिक्षा प्रणाली पर आर्यसमाज का धन व्यय वृथाव्यय ही है। सम्भव है, इस प्रयास पर हमारे सम्मुख आर्यसमाज के एकमात्र शानदार कालेज के उत्तम फल रखे जाएँ और हमसे अपनी सम्मति पर पुनर्विचार के लिए कहा जाए। इसलिए हम पहले ही से निवेदन कर देना चाहते हैं कि डी.ए.वी कालेज के परिणााम हमारे सम्मुख हैं। उसने आर्यसमाज को अनेक सेवक दिए हैं। यह हमसे तिरोहित नहीं है, किन्तु जब हम भविष्य पर दृष्टि डालते हैं तो हमें इस शिक्षा प्रणाली के भाग्यों के अँधेरे दिखाई देते हैं। जिस प्रकार की शिक्षा प्रणाली इस समय भारत में सरकारी तौर पर प्रचलित है वह अन्य देशों में परीक्षित की गई है और लम्बी दौड़ में निष्फल सिद्ध हुई है। यदि उसने कोई क्षणिक उत्तम फल अत्यन्त किए हैं तो भावी में एक अस्वाभाविक शिक्षा प्रणाली की स्थिति असम्भव है। देश के सभी विचारशील लोग सरकारी शिक्षा प्रणाली की अस्वाभाविकता और अयथार्थता को स्वीकार करते हैं फिर ऐसी हीन शिक्षा प्रणाली के हाथों में किसी भी सोसाइटी का भाग्य सुरक्षित कैसे रह सकता है ?

जिस समय डी.ए.वी कालेज खुला था उस समय उसकी उपयोगिता थी। जिस प्रकार के पुरुष डी.ए.वी कालेजने उत्पन्न किए हैं शायद वे अभीष्ट ही थे। किन्तु एक बात हमें सर्वथा समझ नहीं आई। आर्यसमाज ने इतने हाईस्कूल क्यों रखे हैं ? आप एक बालक को इन्ट्र तक पढ़ाकर छोड़ देते हैं फिर वह गवर्नमेंट कालेज में पढ़कर नास्तिक बन जाता है या मिशन कालेज में पढ़कर वेदों की हँसी उड़ाता है—हमारा हाईस्कूल से विशेष लाभ क्या हुआ ? अच्छा यह भी जाने दीजिए, क्या सरकारी ढंग की शिक्षा वैदिक आदर्श के अनुसार है। हमारी सम्मति में वह शिक्षा के वैदिक आदेश के सर्वथा प्रतिकूल है। ऐसी अस्वाभाविक और अयथार्थ शिक्षा प्रणाली वेदोक्त कैसे हो सकती है ? तब हम पूछते हैं कि ऐसी शिक्षा प्रणाली पर समाज की कौड़ी क्यों खर्च हो ? क्या सरकार की ओर से और अन्य मत वालों की ओर से यह काम नहीं हो रहा है ?

यदि गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को पुनरुद्धार और स्त्री शिक्षा के कार्य से आरम्भ आर्यसमाज के पास कोई भी पैसा बचता है तो हम उनसे वेद और धर्म के नाम पर अपील करते हैं कि वे उसे सर्वसाधारण को शिक्षित करने में—निर्धन लोगों के बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा देने में व्यय करें। आवश्यकता इस समय यह है कि उन लोगों को जो सर्वथा अशिक्षित है, शिक्षित किया जाए। भारतवर्ष का 9/1 भाग अज्ञान की निद्रा में सो रहा है। उसे ज्ञान का अमृत पिलाना आवश्यक है। जितने

धन में एक हाईस्कूल चल सकता है और लगभग एक हजार व्यक्ति शिक्षा पा सकते हैं, उतने में पाँच प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाले स्कूल खुल सकते हैं और कम से कम पाँच बालक शिक्षित हो सकते हैं। हाई स्कूल और कालेजों का काम हो रहा है, प्रारंभिक शिक्षा का काम नहीं हो रहा। देश में प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाले विद्यालयों का गहरा दुर्भिक्ष है।

[सद्धर्म प्रचारक, 26 जनवरी, 1916]

अंग्रेजी शिक्षा की पैसे में कीमत

जो लोग धर्म-कर्म सबकी कीमत पैसे में पूछते हैं उन्हें गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली पर बड़ी-बड़ी शंकाएँ हुआ करती हैं। वे कहते हैं कि गुरुकुल की कीमत बहुत कम है। क्या गुरुकुल की कीमत पर निकले हुए स्नातक 500 रुपए तक महीना कमा सकेंगे ? क्या वे 5000 रुपए मासिक आय के स्थान पर पहुँच सकेंगे ? इन प्रश्नों का उत्तर हमारे पास नहीं है। हम इनके उत्तर में एक प्रश्न पूछते हैं। सूचना निकली है कि महाराज दरभंगा ने एक प्राइवेट सेक्रेटरी के लिए विज्ञापन दिया। जिसका वेतन 120 रुपए से 150 रुपए तक होने की सूचना दी गई है। इस पर उनके पास लगभग 3000 पत्र आए। जिनमें से 225 वकीलों के थे। वकील यूनिवर्सिटियों के केवल ग्रेजुएट ही नहीं होते। साथ ही वे एक और परीक्षा भी पास किए होते हैं। इतना परिश्रम करने पर भी उन्हें 120 रुपए मासिक की नौकरी की लालसा है। इससे अंग्रेजी शिक्षा की कीमत का पता चलता है। कृपया शिक्षा की रुपए से कीमत करनेवाले सज्जन इस प्रश्न का उत्तर दें।

[सद्धर्म प्रचारक, 29 जनवरी, 1916]

हिन्दू यूनिवर्सिटी का समारोह

एक कारीगर शिशु कृष्ण की सुन्दर मूर्ति बनाने बैठा। जब बना चुका तो देखा कि बनी हुई मूर्ति कृष्ण की नहीं गणेश महाराज की है। हिन्दू यूनिवर्सिटी के संचालकों की भी हमारी सम्मति में ऐसी ही दशा है। श्री माननीय पंडित मदन मोहन मालवीय के हृदय में आज से 8 वर्ष पहले जो आदर्श हिन्दू यूनिवर्सिटी विद्यमान थी, आज इसका उपहास मात्र हमारी आँखों के सामने किया जा रहा है। प्रजा इस बात को अनुभव कर रही है कि हिन्दू यूनिवर्सिटी सरकारी यूनिवर्सिटियों की अपेक्षा अधिक सरकारी होगी। हमें विश्वास है कि यूनिवर्सिटी के संचालक भी इस बात को समझते होंगे किन्तु वे इस विचार को वाणी से लेख में लाने की इच्छा या शक्ति नहीं रखते। हिन्दू यूनिवर्सिटी की स्थापना का जो समारोह होगा उसमें भी वह निराशा छुप नहीं सकती, जो प्रजा के हृदयों में विद्यमान है। बड़ा समारोह होगा, बहुत धन व्यय किया जाएगा, बड़े लाट बड़ी शान से यूनिवर्सिटी की नींव रखेंगे। किन्तु क्या प्रजा का पूरा सन्तोष होगा ? हमारा दिल कहता है कि नहीं होगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 29 जनवरी, 1916]

भारत की पत्र परिषद्

बम्बई में कई सभाएँ हुई उनमें से एक पत्र सम्पादकों का भी था। बम्बई के बाम्बे क्रानिकल के प्रयत्न से वहाँ सम्पादक लोग एकत्र हुए। उन्होंने प्रेस एसोसिएशन की स्थापना की, जिसका उद्देश्य थोड़े शब्दों में भारतीय समाचार पत्र की स्वाधीनता का रहा है। राजनियम, या अन्य किसी प्रकार से समाचार पत्रों पर जो सख्तियाँ होती हैं, उनका निर्धारण ही इस सभा का उद्देश्य है। उद्देश्य बहुत उत्तम है परन्तु संसार-भर की क्रियाहीनता के लिए लताड़ने वाले समाचार पत्रों की सभाएँ न जाने क्यों, भारतवर्ष में से चलती हुई बहुत कम देखी गई हैं। पंजाब में पत्र परिषद्, बनाने का चलन कई बार हुआ है पर सफल नहीं हुआ। 'तू-तू, मैं-मैं' के मारे उद्योग पर्व ही उसका समाप्ति वर्ष हो जाता है। इधर सम्मेलन और कांग्रेस मात्र को झाड़ बाजी बतानेवाले हमारे आर्यभाषा के समाचार पत्रों की भी एक परिषद् बनी थी जिसके नियमोपनियम पुष्प रद्दी की टोकरी में रहते हैं। और यदि कभी किसी सम्पादक की मेज पर जाते भी हैं तो दो दिन के लिए परिषद के अधिकारी ऐसे पत्रों के सम्पादक ही बनाए करते हैं जिन्हें लोग अधिक न जानते हों ताकि कहीं परिषद को प्रसिद्धि पाने का सौभाग्य प्राप्त न हो जाए। एक बार प्रचारक में आर्य पत्रों के सम्पादकों की परिषद् का प्रस्ताव उठाया गया था—परन्तु हमें निराशा के दृश्य दिखलाए गए और परिषद् का विचार कार्य में परिणत न हुआ। देखें—भारत की ऊसर भूमि में भी पत्र परिषद् चल जाती है या नहीं।

[सद्धर्म प्रचारक, 29 जनवरी, 1916]

क्या भारतवासी स्वतन्त्र हैं ?

हम शासन विद्या भुला बैठे। जीवन विद्या से भी शून्य हैं, परन्तु मरना कुछ-कुछ जानते थे। लोग मार काट के लिए मरने में वीरता समझते हैं परन्तु सच्चा वीर वह है जो सच्चाई के लिए जान तक पर खेल जाए। यह एक गुण आर्य जाति में था जो अब दूर होता जाता है। ऐंग्लो इंडियन समाचार पत्र लिखते हैं कि जर्मनी के साथ भारत निवासियों को इसलिए लड़ना चाहिए कि उनकी स्वतन्त्रता कहीं छिन न जाए। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या भारतनिवासी इस समय स्वतन्त्र हैं ? भारतीय फौजें मैदाने जंग में बड़े कर्त्तव्य दिखा रही हैं, जान पर खेल रही हैं। यह उनका कर्त्तव्य ही था। जिस सरकार का नमक खाते रहे हैं, उसके नमक का हक अदा करना फर्ज ही था। परन्तु अब भी जो नई भरती जा रही हैं वह भी पेट की ख़ातिर ही कटने जा रही हैं। 50 रुपए जिस घर में पहुँच गए उस गृह का पति अपने बालक को मिश्र वा फ्रान्स में कटने के लिए भेज देता है। हिन्दोस्तानी थोड़े समाचार पत्रों ने अब तक गवर्नमेन्ट को यह बताया है कि जो भारतीय रुपयों के लिए इस प्रकार की वीरता का परिचय दे रहे हैं उन्हें यदि स्वतन्त्रता मिल जाएं, यदि उनमें से सुशिक्षित उच्च कोटि के आदमियों का पद सेना में अंग्रेजों के बराबर हो जाए; तब भारतवर्ष से हजारों नहीं, लाखों सर्वसाधारण कटने-मरने को तैयार हो जाएँगे और जब सचमुच वे अपनी सभ्यता और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए लड़ेंगे तब उनके सामने कौन ठहर सकेगा। जो ब्रिटिश गवर्नमेन्ट इस समय दास भारत से दो-तीन लाख सैनिक भेज सकती उसी अपनी मित्र जाति की सहायता के लिए स्वतन्त्र भारत दो करोड़ योद्धा खड़े करके कृतज्ञता से कह सकेगा—'हमें गिरी हुई अवस्था से उठाकर स्वतन्त्रता प्रदान करने वाले भाई। सारे यूरोप को चैलेन्ज दे दो कि सच्ची सभ्यता और धर्म की रक्षा के लिए तुम्हें किसी कुटिल पालिसी के अनुसरण की आवश्यकता नहीं है' यह एक स्वप्न ही है, परन्तु अच्छे स्वप्न देखना भी धर्म का एक अंग ही है।

[सद्धर्म प्रचारक, 12 फरवरी, 1916]

हमारे भावी वाइसराय

अभी समाचार पत्रों में पढ़ा गया है कि शिक्षा सम्बन्धी मामलों में लार्ड चेम्सफोर्ड प्रमाणिक समझे जाते रहे हैं। लंदन काउन्टी कौन्सल के सभासद होते हुए उनकी सम्मति बड़े मूल्य की समझी जाती रही है। मेरे एक मित्र जिनके अनुभव से बताया कि लार्ड चेम्सफोर्ड हमारे वर्तमान वाइसराय से भी बढ़कर विद्या तथा साहित्य प्रेमी हैं। यहाँ के गोरेशाही अखबार तो समझते हैं कि उन को काबू करके भारत पूजा को उनसे दबवाएँगे, परन्तु जानने वाले बताते हैं कि उक्त लॉर्ड महोदय हिन्दोस्तानियों के दिलों में स्थान लेना चाहते हैं। एक और विचित्र घटना है जिसका असर लॉर्ड चेम्सफोर्ड पर हुए बिना नहीं रहेगा। अभी वह वाइसराय पद के लिए चुने ही गए थे कि कोई सम्बन्धिनी मरते हुए उनके नाम बहुत-सा धन छोड़ गई। परमेश्वर ऐसी कृपा करे कि जिस प्रकार भारत की वाइसरायल्टी श्रीमान् लार्ड चेम्सफोर्ड को फलने लगी है वैसे ही वह भारत पूजा को भी मंगलकारी से सिद्ध हो।

वे फल मुरझा गए

गोखले चल बसे, उनके काम को देखकर प्रफुल्लित होनेवाले फीरोज शाह मेहता ने भी सदा के लिए आँखें बन्द कर लीं। वाइसराय की काउन्सिल में जो शेर की तरह ग़रजते थे वे चुप हो गए। उसी दिन से काउन्सिल की वक्तताओं में कुछ आनन्द नहीं रहा। जहाँ गवर्नमेन्ट के सेक्रेटरियों को बजट से महीनों पहले धुकधुकी लगी रहती थी वहाँ अब बेपरवाह भी नहीं करते कि किन शब्दों में बजट को पेश करना चाहिए। गोखले का स्थान किसने लिया है ? बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने। वहाँ गोखले की आवश्यक शिक्षा और दक्षिण अफ्रीका विषयक बिल और रेजोल्लूशन गवर्नमेन्ट में हलचल डाल देते थे, वहाँ सुरेन्द्र बाबू यह रेजोल्लूशन पेश करेंगे कि मलेरिया को रोकने का यत्न होना चाहिए और कि लोकल गवर्नमेन्टों से इस विषय में वार्षिक रिपोर्टें मँगानी चाहिए। कवि ने शायद इसी अवसर के लिए कहा था—वो गुल मुरझा गए, हम ख्वार हैं बाकी। क्या यह भूमि राजनीतिकों से शून्य ही दिखाई देगी या कोई युवक गोखले और मेहता का स्थान लेने की तैयारी कर रहे हैं।

[सद्धर्म प्रचारक, 12 फरवरी, 1916]

धर्म एवहतो हन्ति

महात्मा गांधी जी का अपमान

सत्याग्रही ब्राह्मण का जिस सभा में अपमान हो उसे सभा नहीं कह सकते, क्योंकि जहाँ सभासद सच न हो वह सभा कैसी ? हिन्दू युनिवर्सिटी की आधारशिला रखकर श्रीमान् लॉर्ड हार्डिंग महोदय तो उसी शाम को चले गए। पीछे से जो विविध व्याख्यान हुए उनमें एक व्याख्यान लोकमान्य श्री महात्मा मोहनदास गांधी का भी था। जब श्रीमान् गांधी जी मद्रास गए थे तो श्रीमती एनी बेसेंट ने उन्हें भी वशीभूत करने के बहुत यत्न किए। परन्तु जहाँ श्रीमती जी ने सर सुब्रह्मण्यादि के साथ लीडर के सम्पादक चिन्तामणि जी को फाँस लिया था और वृद्ध नीतिज्ञों के पितामह श्री दादाभाई नौरोजी से भी अपने होमरूल लीग के लिए आशीर्वाद ले लिया था वहाँ गांधी पर उनका जादू न चला। होमरूल लीग तो क्या अहिंसाशील सत्य परायण गांधी ने यहाँ तक कह दिया कि इस समय कांग्रेस का अधिवेशन भी नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे समय में जब अपनी गवर्नमेन्ट मृत्यु के साथ युद्ध कर रही है उससे कुछ माँगना उच्चभावयुक्त आर्यों का काम नहीं। बड़ा अपराध गांधी का उस समय यह था कि उसने लोगों के पूछने पर एनीबेसेन्ट के विषय में स्पष्ट कह दिया कि वह 'धोके की टट्टी' है। (she is humbug) है। मि. हमबग के पीछे कर्मवीर गांधी का व्याख्यान रखा गया। सभापति का आसन। सर हाकोर्ट बटलर के परम मित्र, महाराजा बहादुर दरभंगा ने ग्रहण किया। एनी बेसेन्ट ने अपने व्याख्यान में कहा कि यह यूनिवर्सिटी यदि धन सम्पत्ति का साधन बनाने को खोली गई है तो इसे हिन्दू यूनिवर्सिटी नहीं कह सकते। उन्होंने कहा कि फिलासोफी के द्वारा परमेश्वर तक पहुँचाना इसका उद्देश्य होना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि धर्म और देशहित सिखलाना इस यूनिवर्सिटी का मुख्य पुरुषार्थ होगा।

इनके पश्चात् श्री गांधी जी उठे। उन्होंने क्या कहा इसे पायोनियर से लेकर दैनिक लीडर तक ने कुछ नहीं बतलाया। अब तक जो लोग उनके व्याख्यान से अप्रसन्नता प्रकट करते हैं वे यह नहीं बतलाते कि उन्होंने कौन-सी बात ऐसी कही जिस पर अब तक अप्रसन्नता प्रकट की जाती है। समाचार पत्रों के लेखों का सारांश,

इस घटना के विषय में यह है कि जब गांधी जी ने यह कहा, कि हमारी गिरावट यहाँ तक है कि लार्ड हार्डिंग से धर्मात्मा वाइसराय की रक्षा के लिए गुप्तचरों का प्रबन्ध करना पड़ता है जिससे सब भले मनुष्यों को कष्ट होता है, उस समय एनी बेसेन्ट ने प्रधान को अपील की। प्रधान ने श्री गांधी जी को आज्ञा दी कि संक्षेपतः अपना आशय समझाकर आगे चलें। वह कुछ थोड़ा और बोले थे कि एनी बेसेन्ट ने फिर कानाफूसी आरम्भ कर दी और राजा महाराजे सब भर्र हो गए। राजों-रईसों को समझाने प्रधान दरभंगा नरेश गए और वह भी मैदान छोड़ गए तब श्री गांधी जी बैठ गए और अधिवेशन समाप्त हुआ है। इस विषय में 10 फरवरी के दैनिक पंजाबी (लाहौर) का लेख बहुत ही द्योतक है। महात्मा गांधी के संक्षिप्त राजनैतिक जीवन का वर्णन करके और गोरेशाही समाचार पत्रों का उनके साथ द्वेष और उस द्वेष के कारण उतलाते हुए पंजाबी के योग्य सम्पादक ने लिखा था—

'इस घटना के सम्बन्ध में कुछ शब्दों से अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। महात्मा गांधी विद्यार्थियों को सम्बोधन कर रहे थे और उन्होंने राज कर्मचारियों की, वाइसराय की बनारस में रक्षा से सम्बन्धित, असाधारण पेश बन्दियों की ओर निर्देश किया। उन्होंने ठीक क्या कहा हम नहीं जानते। परन्तु यह मालूम होता है कि केवल निर्देशमात्र पर बाधा पड़ी और महात्मा गांधी को कहा गया कि जो कुछ वह कहना चाहते थे उसे संक्षेपतः स्पष्ट कर दें। रिपोर्ट से यह नहीं पता लगता कि इस रुकावट के लिए कोई आधार भी था या नहीं, परन्तु हमें बताया जाता है कि 'यतः महात्मा गांधी ने मतलब पर आने के लिए बहुत काल लिया, इसलिए सर्व राजे इकट्ठे उठ गए, और यह इस बात के होते हुए कि पंडित मदनमोहन मालवीय ने मध्यस्थ बनकर महात्मा गांधी का तात्पर्य समझा दिया।' यह जतलाकर कि राजों के लिए कोई भी उज्र सभा से उठ जाने का न था और कि महात्मा गांधी ने कोई ऐसी न कही थी कि वे उठकर जाते, पंजाबी के सम्पादक उस चिट्ठी का हवाला देते हैं जो महात्मा गांधी ने महाराजा दरंभगा को लिखी—'वाइसराय के अभ्यागम के सम्बन्ध में निर्देश करने का मेरा तात्पर्य इतना ही था कि सब प्रकार के अत्याचार और जिसे अराजकता कहा जाता है, उनके विरुद्ध अपने प्रबल विचारों को प्रकट करूँ। अपनों में बहुतों के साथ मैं भी बहुत ही लज्जित था कि ऐसे उच्च उदार वाइसराय की शारीरिक रक्षा के लिए असाधारण पेश बन्दियों की आवश्यकता हुई जो कि हमारे पवित्र नगर में ही हमारा माननीय अतिथि था। मेरे जीवन का मिशन यह है कि अपने देश के लिए बड़ी से बड़ी स्वतन्त्रता के उपलब्ध करने के लिए प्रचार और सहायता करूँ, परन्तु कभी बड़े से बड़े उद्दीपन पर भी किसी व्यक्ति के शरीर को कभी कष्ट न पहुँचाकर। इसलिए मेरी वक्तृता का उद्देश्य लोगों के मनों के अन्दर इस शिक्षा को प्रवेश कराने का था।'

आर्य जाति बड़े कष्ट से देखती है कि इस स्पष्ट सरल लेख के पश्चात् भी

महाराजा दरंभगा और उनके कुछ अन्य राजा भाइयों ने फिर गांधी जी के विरुद्ध बोलना आवश्यक समझा। अभी गत वर्ष ही जब कलकत्ता के आनरेबल मिस्टर लीआन के सभापतित्व में महात्मा गांधी जी ने यह व्याख्यान दिया था। तब सभापति ने उनकी मिस्टर ग्लेडस्टज और मिस्टर गोखले से तुलना की थी। महाराजा दरंभगा और उनके साथियों के इस अमल को सारी भारत की प्रजा घृणा की दृष्टि से देखेगी। जब इस तरह का अपवाद गोराशाही पत्र फैलाते ही रहे तो एसोसिएटिड प्रैस के प्रतिनिधि ने गांधी जी के बम्बई पहुँचने पर उनसे भेंट की, जिसकी रिपोर्ट समाचार पत्रों में इस प्रकार छपी है—

'यह पूछने पर कि आपके किस कथन पर मिसेज बेसेन्ट ने विरोध किया था ? उन्होंने कहा कि हमें पता नहीं है और न मिसेज बेसेन्ट ने उस समय यह बताया था। उन्होंने (बेसेन्ट ने) सभापति से केवल यह अपील की थी कि मुझे बोलने से रोक दिया जाए।

बीबी बेसेन्ट के आपत्ति करने पर भी श्रोता लोग चाहते थे, कि मैं भाषण जारी रखता किन्तु मैंने सभापति की आज्ञा लिए बिना ऐसा करना उचित न समझा। सभापति दरंभगे के महाराज ने कुछ सोच विचार कर मुझे आज्ञा दी, कि मैं भाषण करूँ, किन्तु संक्षेप में सब बातें समझा दूँ। मैंने ऐसा ही करना आरम्भ किया। फिर भी सभा के प्लेटफार्म पर कुछ कानाफूसी सुनाई दी। देखा, बीबी बेसेन्ट अपने पास बैठे हुए राजों-महाराजों से कह रही थीं, कि मैं अब भी न तो चुप ही होता हूँ और न अपनी बातों का स्पष्टीकरण ही करता हूँ इसलिए राजों-महाराजों को वहाँ ठहरना नहीं चाहिए। इसके उपरान्त मैंने देखा, कि राजे-महाराजे एक-एक करके उठने लगे। सभापति भी उठकर चले गए। फलतः मैं अपने भाषण को पूरा कर न सका।

श्रीयुक्त गांधी से पूछा गया है, कि सभास्थल में आपने जो बातें कही हैं क्या उन्हें वापस लेने के लिए आप तैयार हैं। इसके उत्तर में उन्होंने कहा है—'मैंने जो कुछ भी कहा है वह खूब सोच-विचार कर कहा है। मैं कभी भी अराजक अत्याचारों का पक्षपाती नहीं। मैं इस अवसर पर व्याख्यान देने के लिए उत्सुक न था। मुझसे अनुरोध किया गया, कि विद्यार्थी समाज पर आपका बड़ा प्रभाव है। आप वर्तमान अराजक दल के उपद्रवों के सम्बन्ध में भाषण दें। मैंने ऐसा ही किया। मैंने उपद्रवों का समर्थन नहीं किया। वास्तव में यदि बीबी बेसेन्ट इस प्रकार बाधा उपस्थित न करतीं तो मेरा भाषण पूरा होता और फिर उसके सम्बन्ध में किसी की कुछ आशंका न रहती।'

महात्मा गांधी के इस स्पष्ट कथन के कारण जो घृणा सर्वसाधारण को एनी बेसेन्ट से हुई, उसके वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस घृणा से बचने के लिए मिसेज बेसेन्ट ने अपना समाधान दिया है जो पायोनियर में इस प्रकार

छपा है--'यतः मिस्टर गांधी ने अपना कथन दिया है इसलिए मैं यह कहना उचित समझती हूँ कि मेरी ओर से रुकावट डालना इसलिए हुआ कि मेरे पीछे (बैठा) एक अंग्रेज जिसे मैं गुप्तचरों का एक अफसर समझी--कह रहा था--'जो कुछ यह कह रहा है लिखा जा रहा है और वह (सारी वक्तृता का लेख) कमिश्नर को भेजा जाएगा।' अतः बहुत-सी ऐसी बातें कही गई थीं जिनके अर्थ वह हो सकते थे जो मैं निश्चयपूर्वक जानती थी कि मिस्टर गांधी का मतलब नहीं हो सकता। मैंने सभापति को यह निर्देश करना उचित समझा कि उस अधिवेशन में राजनैतिक बातें उचित नहीं। मैंने राजों को सभा छोड़ने को नहीं कहा, न मैं जानती हूँ कि किसने ऐसा किया। मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि मिस्टर गांधी किसी को मारेंगे नहीं, स्वयं मारे जाना स्वीकार करेंगे परन्तु मैं समझती हूँ कि उनके कथन से विपरीत बोध हो सकता था और मैं बनारस की उस समय की दशाओं में उनके शारीरिक क्षेम के विषय में भयभीत थी। उनकी इच्छा से राष्ट्रीय शान्ति में विप्लव कितनी दूर है इसी से स्पष्ट है कि उनकी सम्मति में कांग्रेस का अधिवेशन करके भी गवर्नमेन्ट को हैरान करना ठीक नहीं।'

एनी बेसेन्ट का यह लेख कैसा असरल है, बतलाने की आवश्यकता नहीं। जो वीर अपने सच्चे विचारों के लिए हर समय जेल में जाने को तैयार रहता है, उसकी रक्षा एनी बेसेन्ट करेंगी। यदि आपके मन में महात्मा गांधी का कुछ भी मान था तो उन्हें उनकी वक्तृता समाप्त करने देतीं। आपने अपनी इस हरकत से राजाओं के अतिरिक्त सारी भारत प्रजा को सिद्ध कर दिखाया कि आप हिन्दुओं को केवल कठपुतली बना रही हैं, आपको उनसे वास्तविक रत्तीभर भी सहानुभूति नहीं है, और गवर्नमेन्ट के जिन अदूरदर्शी कर्मचारियों को आपने प्रसन्न करना चाहा वह भी लज्जित होकर आपका समर्थन नहीं करते। 'गए दोनों जहानों काम से हम, न इधर के न उधर के रहे।'

राजे क्यों उठ गए और महात्मा गांधी का महाराजा दरंभगा के नाम पत्र प्रकाशित होने पर उस नवाब-बे-मुल्क ने फिर क्यों गांधी जी का विरोध किया ? यह पहेली, बिना महात्मा गांधी की वक्तृता का सारांश पढ़े, नहीं बूझी जा सकती।

[सद्धर्म प्रचारक, 19 फरवरी, 1916]

महात्मा गाँधी के विरुद्ध तूफान

सत्य का कितना नाम भारतवर्ष के महाराजाओं और कुछ धनाढ्य पुरुषों में है इसका पता हिन्दू यूनिवर्सिटी की आधारशिला रखने के पश्चात् ही मालूम हो गया। जबकि महात्मा मोहनदास गाँधी के राजाओं-महाराजाओं और हिन्दू यूनिवर्सिटी के बालकों को कुछ खरी-खरी सुनाई। देवी बसन्ती के व्याख्यान में कुछ न्यूनता न थी। वह सदा इसी प्रकार बोला करती हैं। कभी तोला तक चढ़ना तो कभी रत्ती के नीचे गिर जाना, उनका स्वभाव बन गया है। उस दिन के व्याख्यान में जब गाँधी के सत्यरूपी वाणों से पीड़ित महाराज मैदान छोड़कर भाग निकले, देवी बसन्ती हिन्दू युवकों को आकाश की सैर करा रही थीं। उनकी वक्तृत्व शक्ति में कुछ जादू अवश्य है इसलिए उन्हें खूब 'chears' (चीयर्स) मिले। उनके पीछे गाँधी उठे। गाँधी एक रस रहनेवाले हैं, वाक्जाल का वहाँ नाम नहीं। उनके मुख से जो शब्द निकलता है वह निश्चित है और असंदिग्ध होता है। वहाँ लागलपेट नहीं होती और न श्रोतागणों के बदलने पर गिरगिट की तरह उनके भाव और शब्द बदलते हैं। गाँधी का इस समय देश के सर्वसाधारण तथा अशिक्षित दल की दृष्टि में वही मान है जो वृद्ध दादा नौरोजीभाई जी और गोखले के अतिरिक्त किसी को नसीब नहीं हुआ। कर्मवीर गाँधी के उठते ही करतल ध्वनि से मंडप गूँज उठा। देवी बसन्ती का तारा वहाँ मन्द पड़ गया। यह एक बात थी फिर गाँधी जी ने महाराजाओं को उनके निज स्वरूप का दर्शन कराने के लिए दर्पण आगे रख दिया और उंगली से निर्देश करके कहा कि देखो तुम्हारी गहनों से भरी सूरत कैसी भद्दी दीख रही है। जो मनुष्य ऊँची मनोवृत्तियाँ नहीं रखता वह सच्ची और खरी बात को नहीं सुन सकता। राजा-महाराजे भी महाराज महात्मा गाँधी के लिए दिए हुए जीवनौषध को न पी सके। श्रीमती देवी बसन्ती को अपनी ईर्ष्या से अत्यन्त हुआ रोष निकालने का समय मिला। दोनों घायल वीर के विरुद्ध मिल गए। राजाओं-महाराजाओं में से किसी की इतनी हिम्मत न हुई कि वह महात्मा गाँधी को बोलने से रोकें। क्योंकि उन्हें जनता से धिक्कार पाने का भय था। यह साहस का कार्य बीवी बसन्ती के जिम्मे ही पड़ा। बीवी बसन्ती स्वयं संसार के बड़े वक्ताओं में से एक हैं। क्या उसे ज्ञात नहीं कि किसी व्याख्यान में ऐसे कई स्थान आते हैं कि यदि वक्ता को

वहीं रोक दिया जाए और आगे न चलने दिया जाए तो वक्ता का अभिप्राय सर्वथा उल्टा प्रतीत होने लगता है। महात्मा गाँधी को रोकना और बात पूरी कहें बिना ही उनसे कहना कि अपने कहे का तात्पर्य समझो, सर्वथा अनुचित था और जानबूझकर किया गया था। भारतवर्ष के शिक्षितों में से बहुत अधिक संख्या का यह भी विश्वास है कि बीबी बसन्ती ने यह कार्य बुरे भावों से किया था।

जो कुछ उस समय हुआ वही बीबी बसन्ती के रूप को लोगों के सामने प्रकट करने के लिए काफी था, यह कहना भूल है कि उससे महात्मा गाँधी का कुछ बिगड़ा। महात्मा गाँधी का भारत के आकाश मंडल का वह स्थान है, जहाँ बीबी बसन्ती जैसों का थूका नहीं पहुँच सकता—इसमें यदि किसी को हानि हुई है तो बीबी बसन्ती और राजों-महाराजों की। इन लोगों ने अपना असली रूप प्रकट कर दिया ऐसा प्रतीत होता हैं हिन्दू यूनिवर्सिटी के लिए दान देकर राजे-महाराजे अपने दिलों में कुछ शर्मिन्दा थे कि अहो ? हमसे ऐसा बुरा काम क्यों हो गया ? एक अच्छे काम में रुपया क्यों दे दिया ? उसका प्रायश्चित उन्होंने यहाँ आकर किया। बीबी बसन्ती भी शायद अपना होमरूल लीग के सुकार्य का पुण्य धोया चाहती थी। सभा के समय जो कुछ बीबी बसन्ती ने किया उसे काफी नहीं समझा, और पीछे से पत्र में भागी गईं जिनमें उसने महात्मा गाँधी को 'अभी अबोध बालक' के समान करार दिया। इस कार्य ने बीबी बसन्ती के अपराध प्याले और भी भर दिया और भारतीय जनता को बतला दिया कि यह फिर भी एक विदेशी व्यक्ति है। उसमें भारतीयत्व नहीं है। अन्यथा क्या कोई समझदार भारतीय (हम बहुत से राजों-महाराजों की समझदारों में या भारतीयों में गिनती नहीं करते) महात्मा गाँधी का वैसा अपमान करने का साहस कर सकता है, जैसे किया गया।

देश के बहुत से समाचार-पत्रों ने इस विषय में बिल्कुल ठीक विचार पद्धति का अनुसरण किया है। उन्होंने जान लिया है इस सारे गोलमाल में बीबी बसन्ती का कहाँ तक हाथ हे ? और उसके हृदय के भाव कैसे अशुद्ध थे। किन्तु देश के दुर्भाग्य से हमारे यहाँ आत्मिक बल की बहुत कमी है। देर तक दूसरों के हाथ से काम करते और दूसरों के मुँह से बोलते हमारी इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हैं। हम हर एक बात में दूसरों का ही मुँह देखते हैं। ऐसे ही लोग इस समय साल भर से समझ रहे हैं कि बीबी बसन्ती को भगवान ने भारत के उद्धार के लिए भेजा है। उन्हें अपने ऊपर अणुमात्र भी विश्वास नहीं—वे समझते हैं कि एक बीबी बसन्ती गाँधियों से अच्छी है। हमारे कई राजनैतिकों को ऐसी ही भावना प्रतीत होती है। वे समझते हैं कि मि. गोखले के पीछे भारत की नैया की कर्णधार बीबी बसन्ती ही है—उसे नाराज न करना चाहिए। नाराज करने से कहीं भारत की नौका मँझधार में ही न पड़ी रह जाए। ऐसे लोग श्रीमती एनी बेसेन्ट के विरुद्ध एक भी शब्द नहीं कहा चाहते हैं। हमें शोक है कि प्रयाग के अंग्रेजी 'लीडर' के सम्पादक

का नाम इसी प्रकार के देशभक्तों में आ गया है। उनके लिए बीबी बसन्ती भारत की भाग्यदेवता हैं--साक्षात् पूज्य देवता हैं। चाहें वे कुछ करें उनके विरुद्ध शब्द निकालना अनर्थ है, मूर्खता है, नासमझी है। इस विषय में लीडर ने एक भी शब्द नहीं लिखा, बिल्कुल मौन साध लिया है। जिस पत्र के नाम पूज्य मालवीय जी का नाम लगा हुआ है, वह ऐसे आवश्यक विषय पर चुप रहे यह आश्चर्य की बात है।

दूसरी ओर हमारे ऐंग्लो इंडियन मित्रों को एक मौका मिला। उन्होंने इस घटना को लेकर महात्मा गाँधी पर जहर उगला है। दृष्टान्त के लिए प्रयाग के पायनियर का 18 फरवरी का नोट ले लीजिए। नोट विलक्षण भाव से लिखा गया है, और अपने जहर को स्पष्ट रीति से दिखला रहा है। पत्र लिखता है–"पहले प्रश्न यह है मि. गाँधी ने वस्तुतः कहा गया था ? यदि हम उस (मि. गाँधी) का विश्वास करें तो उनका एकमात्र उद्देश्य सब हत्याकारी कार्यों के विरुद्ध प्रबल विचार प्रकट करना था।" यदि विश्वास करें ये शब्द संसार की उस दशा को दिखला रहे हैं, जिसमें उत्पन्न होकर गाँधी जैसे सत्यवादी अपने आपको जगत में अकेला पाते हैं। वर्तमान सभ्यता की समझ में ही नहीं आ सकता कि संसार में किसी के वाक्य का विश्वास भी 'यदि' लगाए बिना किया जा सकता है। राजाओं राजमन्त्रियों और सरकारी संवाददाताओं के व्याख्यान या लेख देखते ही आजकल की जनता सोचती है–"इस झूठ की मिट्टी में सत्य का सोना कितना है।" ऐसी जनता कैसे विश्वास करे कि महात्मा गाँधी जो कुछ कह रहे हैं। सत्य ही कह रहें हैं। परन्तु हमें महात्मा गाँधी पर पूरा विश्वास है। यदि एक ओर सारी राजनीतिक दुनिया खड़ी हो जाए तो हम यही कहेंगे कि महात्मा गाँधी ही सत्य कह रहे हैं। परन्तु पायनियर को यह कैसे सूझे।

आगे यह लिखकर कि जनता अब जानना चाहती है कि क्या सरकार ने इसी विषय से पूरी खोज कर ली है कि मि. गाँधी ने क्या कहा था ? पायनियर सम्मति देता है–"यदि यह ठीक है कि श्रोताओं के एक विशेष भाग ने गाँधी के भाव को ठीक नहीं समझा तो वे जनता की सहानुभूति के पूरी तरह पात्र हैं किन्तु यदि दूसरी ओर यह दिखाया जा सके कि उसने जिस भाषा का प्रयोग किया वह न केवल विवेकरहिता थी बल्कि श्रोताओं के एक बड़े भाग पर बुरा प्रभाव उत्पन्न करनेवाली थी, तो यह आवश्यक है कि ऐसे साधन किए जाएँ जिनसे वह फिर कभी ऐसे अविवेक से काम न ले सके। गुजरे हुए समय में मि. गाँधी ने भारत के लिए अच्छी सेवा की होगी, जितनी ही उसकी अपने देशवासियों में अधिक प्रतिष्ठा है, उतनी ही अधिक आवश्यकता है कि वे अपने ऊपर उत्तरदायित्व का भार समझे और दिखलावें" अन्तिम वाक्य पायनियर के हृदय के भाव को सूचित करता है। सारे पैर में उसने यत्न किया है कि वह अपने आपको एक उदासीन

वकील सिद्ध करे किन्तु अन्तिम वाक्य में उसका मानसिक भाव उछल ही पड़ा है। इस प्रकार के नोटों या लेखों के अन्दर जो विष है उसका न महात्मा गाँधी पर कोई प्रभाव हो सकता है और न भारतीय जनता पर। यदि भारतीय जनता महात्मा और श्रीमती बसन्ती देवी की देशभक्ति में कोई भेद नहीं कर सकती तो वह खरे सोने और घटिया गिल्ट में भेद नहीं कर सकती यदि उसे महात्मा गाँधी और बीबी बसन्ती में से सच्चे और झूठे की परवा करने में समय लगता है तो समझना चाहिए भारत में मिट्टी की मूर्तियाँ ही निवास करती हैं। भारतीय जनता को विश्वास है कि इस समय महात्मा गाँधी के विरुद्ध जो तूफान उठाया गया है–उस में पहला कारण बीबी बसन्ती है, जिसने कुछ ईर्ष्या के वशीभूत होकर, कुछ अपने होमरूल लीग के अपराध को सरकार की बही से मिटाने के लिए गोलमोल किया। इसका कुछ उत्तरदायित्व उन मूर्तियों पर भी है, जो इस समय भारत में राजों-महाराजों शब्द से पुकारी जाती हैं। महाराजा गाँधी के खरे-खरे शब्द उन्हें ऐसे लगे जैसे एक अपराधी को न्यायाधीश के शब्द लगते हैं। वे सरम के तेज की ताब न ला सके और शाकार पीठ भी न दिखा सके–भद्दे तौर पर पीठ दिखा गए। बीबी वसन्ती ने समाचार पत्रों में इस विषय पर जो कुछ लिखा है–इसमें उसके दोष को कई गुण बड़ा दिया है।

भारतीय जनता को महात्मा गाँधी पर विश्वास है–ऐसी सौ घटनाएँ उसे कम नहीं कर सकतीं–कम करना तो एक ओर रहा, ऐसी घटनाओं से वह विश्वास बढ़ता ही जाएगा।

शीघ्र ही अवसर आने वाला है जब भारत की जनता महात्मा गाँधी को अपने विश्वास परिचय दे सकेगी। होलियों पर गुरुकुल विश्वविद्यालय का उत्सव है–महात्मा गाँधी उस पर पधारेंगे। और एक सम्मेलन में सभापति आसन को सुशोभित करेंगे। उस समय आर्य जनता अपने हृदय को एक सच्चे महात्मा के दर्शन से शान्त करेंगे।

[सद्धर्म प्रचारक, 26 फरवरी, 1916]

बलात्कार से चुनाव

आज के 'देश' में पत्र के छपते-छपते निम्नलिखित समाचार पढ़ा :

आर्यसमाज लाहौर में पुलिस

"इससे पहले आर्यसमाज बच्छोवाली लाहौर में तीन बार पुलिस आ चुकी है। सनीचरवार की शाम को, जबकि आर्यसमाज मजकूरह के ओहदेदारों का सालाना इन्तिख़ाव होनेवाला था, चौथी मरतबा भी पुलिस के मुबारिक कदम पहुँचे। इन्तिख़ाव की कारवाई छह बजे शाम को होनेवाली थी। लेकिन करीबन दो दरजन पुलिस के आदमी एक घंटे पहले से ही मौजूद थे। समाज मन्दिर के अन्दर पुलिस सिर्फ उन आदमियों को जाने की इजाजत देती थी, जिनके पास ऐसे टिकट थे जिनके नीचे रायठाकुर दत्त प्रधान आर्यसमाज के दस्तखत थे। करीबन 80 मेम्बरान आर्यसमाज मन्दिर के अन्दर गए—और इन्तिख़ाब की कार्रवाई शुरू हुई। मालूम हुआ कि टिकट सिर्फ 80 के नाम के थे, जो इन्तिख़ाब में हिस्सा लेना चाहते थे, लेकिन इसरार करते थे कि इन्तिख़ाब कार्रवाई खुल्लमखुल्ला और कसरतमय से हो और किसी शख़्स को जो आर्यसमाज की सभासदी का मुस्तहिक हो, फर्जी या मनसूई उजर पर सभासद् बनने से रोका न जाए। यह अजीम तादाद थी, जिसको राय ठाकुर दत्त का प्रधान बनाना मंजूर न था और टिकटों की पाबन्दी देखकर इस तादाद में जलस-ए-इन्तिख़ाब से गैरहाजिर रहने का फैसला हुआ। नतीजा यह हुआ कि सिर्फ अस्सी मेम्बरान की मौजूदगी में इन्तिख़ाब अमल में आया। और कसरत मय से रायठाकुर दत्त और ला. तोलाराम बदस्तूर साबिक प्रधान और सेक्रेटरी आर्यसमाज करार पाए। यह एतराज करना हमारा फर्ज है कि अगर इस मौके पर फसाद नहीं हुआ तो इसका क्रेडिट इस पार्टी को मिलना चाहिए जिसकी तादाद बहुत ज्यादा थी, और जिसने इस मौके पर मैदान-ए-जद्दोजहद से दूर रहना ही मुनासिब समझा।"

इस समाचार पर मैं अधिक टिप्पणी क्या लिखूँ। समाचार स्वयं अपनी व्याख्या कर रहा है। न जाने पहले तीन बार समाज मन्दिर में पुलिस के आने के समाचार को आर्यपुरुषों ने किस प्रकार सहा था—अब इस चौथी बार पुलिस प्रवेश ने तो उनका धैर्य छुड़ा दिया है। इस समाचार को सुनकर प्रत्येक स्वात्माभिमानी

आर्यसमाजी के चित्त पर भारी चोट लगेगी। अभी तक मुझे स्वतन्त्र रीति से अधिक समाचार नहीं मिला—इसलिए मैं नहीं कह सकता कि इस बलात्कार से आर्यसमाज को छुड़ाने के लिए हम लोगों को क्या करना पड़ेगा—किन्तु एक बात निश्चित है। पुलिस का कोई अधिकार नहीं था कि वह समाज के चुनाव में इस प्रकार दस्तदाजी करती और सभासदों को अन्दर जाने से रोकती। इस समय पंजाब भर के आर्यसमाजों को कर्तव्य है कि इस विषय में अपनी प्रबल आवाज़ उठावें और हर एक समाज की ओर से ऐसे प्रस्ताव पास होने चाहिए, जिसमें रायठाकुर दत्त और पुलिस की इस कार्यवाही पर शोक और असन्तोष प्रकाशित किया हो। मैं आज डेरा इस्माइलखां के उत्सव पर जानेवाला हूँ—जाता हुआ लाहौर से पूरे समाचार लूँगा और तब सारे प्रश्न पर विचार करने का अवसर मिलेगा। किन्तु इतना तो अभी हो जाना चाहिए। आलस्य त्यागकर सब समाजों को अपने असन्तोष-सूचक प्रस्ताव लाहौर के डिपुटी कमिश्नर और पंजाब के छोटे लाट की सेवा में भेजने चाहिए, जिनमें इस मामले में पुलिस की कार्यवाही की पूरी-पूरी खोज करने के लिए भी निवेदन हो।

इधर से यह समाचार आया है कि दूसरी ओर पता लगा है कि कोंच आर्यसमाज के प्रधान महाशय, जिन्हें पुलिस ने पकड़ लिया था, मजिस्ट्रेट के सामने जाकर छूट गए हैं। संयुक्त प्रान्त और पंजाब की पुलिस में चाहे कोई भेद न हो, परन्तु शासन में भेद अवश्य दीखता है। जितनी बार लाहौर के समाज मन्दिर में पुलिस गई है, उतनी बार ही आर्य सामाजिक संसार ने असन्तोष प्रकट किया है। फिर भी पुलिस अपने बलात्कार से बाज नहीं आती। एक समय सारे आर्यसमाजों को एक स्वर होकर इस विषय में असन्तोष प्रकट करना चाहिए। अभी इतना ही पर्याप्त है। सारी अव्यवस्था का जो इलाज हो सकता है, वह पूरे वृत्तान्त जान चुकने पर ही निश्चय कर सकूँगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 22 अप्रैल, 1916]

स्त्री शिक्षा का नया प्रकार

स्त्री शिक्षा का प्रश्न बड़ा विकट है। जिसमें ज़रा भी स्त्री शिक्षा के लिए प्रेम है वह नया परीक्षण प्रारम्भ कर देता है। यह विषय भी ऐसा ही है। भारत में तो भला स्त्री शिक्षा में रुचि पैदा होने की तिथि अभी दूर नहीं, जिन देशों में सदियों पूर्व स्त्री शिक्षा के द्वार खुल चुके हैं उनमें भी अभी फैसला नहीं होता कोई बालकों और बालिकाओं की इकट्ठी शिक्षा को पसन्द करता है और कोई-कोई कन्याओं के लिए भी उस शिक्षा को उपयोगी समझता है जो बालकों को दी जाती है और कोई इससे सर्वथा विरुद्ध मत रखते हैं। भारतवर्ष में भी इस सम्बन्ध में नए-नए परीक्षण हो रहे हैं। कई पाठशालाएँ ऐसी हैं, जो यूनिवर्सिटी की एन्ट्रेंस परीक्षा की तैयारी कराती हैं। कई विद्यालय कन्या महाविद्यालय जालन्धर के समान शास्त्रीय रीति से शिक्षा देते हैं। महात्मा गाँधी अपने विद्यालय में बालक और बालिकाओं को इकट्ठी शिक्षा देने का परीक्षण कर रहे हैं। मद्रास की ओर से एक नए परीक्षण की खबर आई है। वहाँ एक ऐसी संस्था बनी है जो स्त्रियों की घरों में परीक्षा लेगी। घूमनेवाली स्त्रियाँ घरों में जाकर ही विविध विषयों की परीक्षा ले आया करेंगी। जो स्त्रियाँ उत्तीर्ण हों, उन्हें पदक दिए जाते हैं। परीक्षण तो अच्छा है, परन्तु देखें इसमें पूरी सफलता प्राप्त होती या नहीं।

[सद्धर्म प्रचारक, 29 अप्रैल, 1916]

कन्या गुरुकुल के लिए पुनः पुकार

वर्तमान शिक्षा प्रणाली से असन्तोष जब सीमा का उल्लंघन कर चुका था, उस समय ऋषि दयानन्द की प्रस्तावित प्राचीन शिक्षा प्रणाली की ओर आर्य जनता का ध्यान खिंचा। प्रचारक ने अपने जन्म के वर्ष से ही शिक्षा विधि के संशोधन पर बल दिया। प्रान्तिक, साम्प्रदायिक तथा जातीय आदि—सर्व प्रकार के पक्षपात का इतिश्री करना सद्धर्म प्रचारक की नीति का मूल सिद्धान्त रहा है, इसलिए आरम्भ से ही पुरुषों की शिक्षा के सुधार के साथ-साथ स्त्री शिक्षा सुधार तथा उसकी उन्नति पर बलपूर्वक लिखा जाता रहा है। ऋषि दयानन्द के नाम का आश्रय लेकर जो ऐंग्लो वैदिक कालेज खोला गया था, जब उसमें भी आर्य-ग्रन्थों की पढ़ाई का प्रबन्ध न देखा तथा उससे ब्रह्मचर्य के साधारण अंग, अर्थात बाल विवाह का रोकना, भी सिद्ध होता दृष्टिगोचर न हुआ तब पंजाब के आर्य-समाजों की प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल की स्कीम तैयार करने की आज्ञा मुझे दी।

उस पहली स्वीकार की हुई गुरुकुल नियमावली में प्रथम नियम के नीचे यह नोट है—"कन्याओं के लिए, जब सम्भव होगा, पृथक् गुरुकुल स्थापित किया जाएगा।" इस नोट के आधार पर मेरे पास सैकड़ों पत्र आते रहे, बीसियों महानुभावों ने बड़े-बड़े दान देने की इच्छाएँ प्रकट कीं, चार-पाँच विदुषी देवियाँ भी काम करने को तैयार हुईं, परन्तु मुझसे एक बोझ ही कठिनाई से उठ सकता था, इसलिए मैं ऐसे सब सज्जनों को कोई सन्तोषजनक उत्तर न दे सका। कन्या गुरुकुल के लिए कई बार पुकार उठी और उससे लाभ उठाकर कई स्वार्थी पुरुषों तथा स्त्रियों ने अपना स्वार्थ सिद्ध किया। ऐसी अवस्था देखकर फिर भी धर्मात्मा स्त्री-पुरुष मुझे प्रेरणा करते रहे। एक बार स्वर्गवासी चौधरी रणजीतसिंह, रईस धामपुर, ने दो ग्राम, जिनकी वार्षिक आय 40,000 रु. से कम न थी, कन्या गुरुकुल के अर्पण करने का विचार प्रकट किया; परन्तु शर्त यह थी कि प्रबन्ध मेरे अधीन हो। कई महाशयों ने अपने बैंकों के हिसाबों में दिखाया कि उन्होंने सहस्रों रुपए भावी कन्या गुरुकुल के लिए रखे हुए हैं। डॉक्टर सुखदेव ने 1500 रु. अमृतकला छात्रवृत्ति स्थापन करने के लिए देते हुए सभा से शर्त स्वीकार कराई थी कि जब कन्या गुरुकुल स्थापित हो जाए तो यह छात्रवृत्ति उस संस्था में बदल दी जावे।

चिरकाल तक आ.प्र. सभा पंजाब तथा विश्वविद्यालय आर्य पुरुषों की उपेक्षा को देखकर स्त्री शिक्षा के भक्त फिर चुप कर गए थे, परन्तु अब कुछ महीनों से फिर मेरे पास विविध प्रकार के पत्र इस विषय में आ रहे हैं। मई महाशय गुरुकुल का वृत्तान्त तथा नियमावली मँगाने के पश्चात् अपनी पुत्रियों को गुरुकुल में भरती कराने के लिए पत्र व्यवहार आरम्भ कर देते हैं, और जब मैं उत्तर में लिखता हूँ कि कन्या गुरुकुल अब तक सभा ने नहीं खोला है तो वे सज्जन सभा को, उसकी सुस्ती पर, खूब आड़े हाथों लेते हैं। गत सप्ताह में ही एक महाशय ने यहाँ तक लिखा है कि यदि एक वर्ष के अन्दर कन्या गुरुकुल खुलने की आशा हो तो वह किसी अन्य पाठशाला में अपनी पुत्री को शिक्षार्थ प्रविष्ट न करावेंगे।

कारण इस सारी हलचल का यह है कि लोग स्त्री शिक्षा की प्रचलित विधि से असन्तुष्ट हैं। आश्चर्य यह है कि पुत्री पाठशालाओं के प्रबन्धकर्ता न इस असन्तोष की मीमाँसा करते हैं और न उसके कारणों को हटाने की ओर उनका ध्यान खिंचता है। आर्य-समाजों की अवस्था पर अधिक आश्चर्य होता है जिन्होंने बड़ी कठिनाइयों के सामने होते हुए भी गुरुकुल विश्वविद्यालय को एक कृतकार्य परीक्षण सिद्ध कर दिखाया। बालकों के लिए गुरुकुल खोलते हुए सब से कठिन प्रश्न यह था कि बिना गवर्नमेंट का प्रमाण-पत्र प्राप्त किए यहाँ के स्नातक अपना निर्वाह कैसे करेंगे, किन्तु पुत्रियों के विषय में यह प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को पुत्रियों में पूरी कृतकार्यता हो सकती है। उन्हें न सरकारी नौकरी करनी है और न ही उन सबको अपनी आजीविका कमाने की चिन्ता होगी; फिर मिडिल और एन्ट्रेंस की चक्की में पीसकर उनके स्वास्थ्य और उनके कोमल स्त्री भाव का नाश करना बुद्धिमानों का काम नहीं।

कन्या महाविद्यालय जालन्धर के अतिरिक्त पंजाब की सब पुत्री पाठशालाएँ सरकारी शिक्षा विभाग की पाठविधि पर चल रही हैं, जिसने हमारे बालकों का पहले से ही नाश कर छोड़ा है। शेष रहा कन्या महाविद्यालय, सो उसके चालक थोड़े से परिवर्तन के साथ यह बड़ी सुगमता से स्त्री शिक्षा की अवस्था को बहुत ऊँचा ले जा सकते हैं। परन्तु उनकी मनोवृत्ति ही ऐसी बन गई है कि वहाँ किसी शेष उन्नति की आशा नहीं पड़ती। आर्यों की एक बड़ी पुत्री पाठशाला देहरादून में श्री पं. ज्योतिःस्वरूप जी की सहायता से चल रही है, परन्तु उसमें अधिकतः ईसाई अध्यापिकाएँ हैं और आश्रम में पुत्रियों के रहन-सहन में भी भेद है। श्रीमानों की पुत्रियाँ सैकड़ों की पोशाकें पहन सकती है, निर्धनों की लड़कियाँ कभी-कभी साधारण वस्तुओं को भी प्राप्त नहीं कर सकतीं। सिक्ख कन्या महाविद्यालय फीरोजपुर को देखकर भी मुझे निराश ही होना पड़ा था। उस संस्था की सम्मति पुस्तक में मैंने लिखा था—"मुझे कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी (5 नवम्बर) के दिन सिक्ख कन्या महाविद्यालय देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्री भाई तख़्तसिंह जी के पुरुषार्थ

का यह परिणाम प्रत्येक भारतवासी की प्रीति का पात्र है। स्थान स्वास्थ्य के लिए उत्तम है, आश्रम मन्दिर बड़ा विशाल युक्ति से अनुकूल बन रहा है और वर्तमान आश्रम का प्रबन्ध भी सर्वतया उत्तम है। भंडार गृह के प्रबन्ध में मैंने कुछ विशेष शिक्षा ली। आश्रम में 225 के लगभग कन्याएँ हैं जो स्वयम् अपने सर्वकार्य कर लेती हैं। परमेश्वर इन पुत्रियों को भारत का प्राचीन नारी धर्म पालन के योग्य बनावे—यह मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।

शिक्षक पुरुष अधिक हैं, किन्तु यह त्रुटि हमारे देश के सब कन्या विद्यालयों में देखी जाती है। मैं अन्यन्त प्रसन्न होता यदि अन्य उत्तम प्रबन्धों के साथ शिक्षा का माध्यम (Medium of instruction) मातृ-भाषा को बना देखता, जिससे हमारी पुत्रियाँ उस कष्ट से बच जातीं जो हमारे बालकों को सरकारी पाठशालाओं में होता है। मैं समझता हूँ कि यदि इस कन्या महाविद्यालय के प्रबन्धकर्ता शिक्षा विधि को बदलकर अपनी मातृभाषा (गुरुमुखी) को ही माध्यम बना लेंगे तो गवर्नमेंट भी उनको पूर्ण सहायता देगी, क्योंकि इस विचार के साथ इस समय की गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया, सहमत प्रतीत होती है। श्री भाई तख्तसिंह निरोग होकर चिरकाल तक अपने लगाए पौधे को फलता-फूलता देखें यह मेरी हार्दिक प्रार्थना है।"

आर्य कन्या महाविद्यालय जालन्धर और सिक्ख कन्या महाविद्यालय फीरोजपुर—ये दो ही संस्थाएँ हैं जिनसे स्त्री शिक्षा के उत्तम परिणाम निकलने की आशा है। परन्तु दोनों में ही त्रुटियाँ हैं। सिक्ख विद्यालय में तो मिडिल और एन्ट्रेंस की चक्की चल रही है, और जब तक यह चक्की चलेगी तब तक किसी विशेष लाभ की आशा नहीं। दोनों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अध्यापक अधिक हैं, परन्तु फिर भी जालन्धर विद्यालय की आचार्या और उपाचार्या विदुषी देवियाँ होने के कारण संस्कृत तथा मातृभाषा की पढ़ाई तथा पुत्रियों की रक्षा का प्रबन्ध अधिक उत्तम है। दूसरी ओर सिक्ख विद्यालय के आश्रम का प्रबन्ध बहुत ही उत्तम है। पुत्रियाँ ही भोजन बनाने, खिलाने और चौके का सारा काम करती हैं। पुत्रियों में विनय भाव अधिक है और आर्य गृहों के काम काज में भी वे निपुण होंगी। इस प्रकार दोनों संस्थाओं में कुछ न कुछ कमी है। जिसे पूरा करना उनके संचालकों का कर्तव्य है।

परन्तु फिर भी प्रश्न वही बना रहता है कि क्या हमारे देश की वर्तमान दशा का सुधार इन संस्थाओं से हो सकेगा ?

एक भाई आजकल की पाठशालाओं का चित्र अपने अनुभवानुसार इस प्रकार खींचते हैं—"प्रत्येक नगर में आर्यसमाज की ओर से वा अन्य कन्या पाठशाला हिन्दू बालिकाओं के लिए खुली हुई हैं और खुल रही हैं, परन्तु शोक है कि अब तक न शिक्षा प्रणाली का प्रकार और न शिक्षा की पुस्तकें आर्यसमाज ने वा किसी दूसरी हिन्दू संस्था ने तैयार कराई हैं। इधर-उधर यों ही भटक रहे हैं। शिक्षा रिवाजी दी जाती है, ऐसी नहीं जो हिन्दुओं की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली और

गृहस्थ में धनाढ्य और निर्धन सब परिवारों को लाभदायक होनेवाली हो। मैं आप से अपील करता हूँ कि आप अपनी बलवती वाणी और लेखनी के द्वारा इन लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित करें। बड़ा शोक है कि हम लोग स्त्री शिक्षा को अपने हाथ में लेने और अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने की चिन्ता नहीं करते। इसमें न सरकार की पालिसी का विरोध है और न पुत्रियों के सरकारी नौकरी पाने या वकीलादि बनने का प्रश्न कठिनाई उत्पन्न करता है।

यदि हम स्त्री शिक्षा का प्रबन्ध तथा पाठविधि सन्तोषजनक बना सकें तो हमारा यह दावा भी सुना जा सकेगा कि मर्दों की तालीम हम अपने हाथ में ले सकें। इस समय शिक्षा पानेवाली पुत्रियों के सामने आदर्श ठीक नहीं रखा जाता। मैंने स्वयम् अपने कानों से सुना है कि आपस में बातचीत करते हुए दुकानदारों, ठेकेदारों इत्यादि को घृणित बतलाती हैं और विवाह वकीलों, सरकारी नौकरों और डाक्टरों आदि से कराना उत्तम समझती हैं। दस्तकारी काम जो सिखाया जाता है वह निरर्थक और व्यय का बढ़ानेवाला है। गरीब घरों को लाभ पहुँचानेवाला नहीं होता।''

यह दोष प्रायः सभी पाठशालाओं में है कि साधारण घर के कपड़े सीने के स्थान में पुत्रियों को बहुमूल्य कशीदे के काम में अधिक लगाया जाता है। घर की सादी रोटी बनाने की जगह मुरब्बे, आचार, मिठाई बनाना अधिक सिखाया जाता है। और कन्या विद्यालयों के उत्सवों पर ये मुरब्बे, आचार, मिठाई और कशीदे के काम बिक भी बड़े महँगे मूल्य पर जाते हैं। परन्तु इससे पुत्रियां का अपना और आर्य गृहस्थ का सुधार कुछ नहीं होता।

आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब ने कुछ आर्य भाइयों की प्रेरणा पर एक उपसभा स्त्री शिक्षा सम्बन्धी पाठविधि तैयार करने के लिए बनाई थी परन्तु जब बड़ी संस्थाओं के संचालकों ने उसको सहायता न दी तो वह उपसभा क्या कर सकती थी। मेरी सम्मति में लिखने वा बोलने से इस समय कुछ नहीं हो सकेगा। सैकड़ों कन्या पाठशालाओं का एक्यमत होना कठिन है। कन्या महाविद्यालय यह कार्य बड़ी सुगमता से कर सकता था, परन्तु उसके संचालकों की एक विशेष नीति बन चुकी है जिससे हिलना उनके लिए कठिन है। तब यह कर्तव्य आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का है कि एक आदर्श कन्या शिक्षणालय खोलकर लोगों को पीछे लगा लेवें। जब 17 वर्ष पहले गुरुकुल की पाठविधि सर्वसाधारण के सामने रखी गई थी तो इसके सर्वप्रिय होने का किसे स्वप्न भी था, परन्तु आज सनातनी और असनातनी—यहाँ तक ईसाई भी सभी गुरुकुल खोल रहे हैं। यदि अब कन्या गुरुकुल का यज्ञ आर्यप्रतिनिधि सभा आरम्भ कर देवे तो कुछ काल के पश्चात् सारे भारतवर्ष में उसी की पाठविधि प्रचलित हो जावेगी।

[सद्धर्म प्रचारक, 6 मई, 1916]

उच्च शिक्षा का आश्रय गुरुकुल ही है

पंजाब यूनिवर्सिटी ने प्रस्तावित सनातन धर्म कालिज लाहौर का अपने साथ सम्बन्ध करना अस्वीकार किया। सनातन धर्म के साथ ईसाई लार्ड चेम्सफोर्ड का नाम जोड़ना भी इसको न बचा सका। दीवान मंगलसेन गुजरांवाले में कृष्ण कालेज खोलना चाहते थे, उसकी भी यह गति हुई। खालिसा हाईस्कूल गुजरांवाला छलाँग मारकर कालिज बनना चाहता था उसको भी सफलता न हुई। उधर वर्तमान कालिजों में प्रवेश बन्द और इधर नए कालिजों के खुलने में ऐसी रुकावट। क्या सचमुच ऐंग्लों इंडियन राजकर्मचारी समझते हैं कि इस प्रकार उच्च शिक्षा का द्वार भारत निवासियों के लिए बन्द हो जाएगा।

अभी मध्यप्रदेश की गवर्नमेन्ट में 5 रुपए के स्थान पर कालिज की फीस 7 रुपए कर दी है। चिन्ह ऐसे ही है जिनमें ज्ञात होता है कि ब्रिटिश इंडियन गवर्नमेंट के सारथी हिन्दोस्तानियों को उच्च शिक्षा से वंचित रखने में ही अपना भला समझते है। यह उनकी भूल है परन्तु हम उन पर आक्षेप नहीं कर सकते। उन्होंने अंग्रेजी के स्कूल और कालेज अपनी अर्थ-सिद्धि के लिए खोले थे, उनका मतलब निकल चुका और इसलिए वे शिक्षा का विस्तृत प्रचार करने के स्थान में अपने लिए ही योग्य कर्मचारी उत्पन्न करने का काम अधिक लाभदायक समझते हैं। परन्तु क्या हमको इस पर चुप रहना चाहिए। ऐंग्लों इंडियन महाशयों का भला इसमें है कि भारत निवासी उच्च शिक्षा से वंचित रहे और भारतनिवासियों का भला इसमें है कि भारत का प्रत्येक पुत्र और उसकी प्रत्येक पुत्री सुशिक्षिता हो। तब दोनों मिलकर काम नहीं कर सकते। यूनिवर्सिटी के संचालकों ने कितनी भूल की है, यह उन्हें आगे चलकर ज्ञात होगा। यदि ईश्वरीय चार्टर पर सन्तुष्ट रहकर भी आनरेबल प. मदनमोहन मावलीय जी मनुष्यों के चार्टर के पीछे न दौड़ते तो आज अपनी जमा किए रुपए से 20 नए हाईस्कूलों को (Residential System) आश्रम-निवास-विधि पर चला सकते और साथ ही अपना जुदा विश्वविद्यालय स्थापन करने के योग्य भी हो जाते। जो आर्य भाई गुरुकुल विश्वविद्यालय की अधिक शाखाएँ खुलने पर चिन्तित होते हैं उन्हें विचारना चाहिए कि यदि स्कूलों से वंचित रहे लाखों में से सैकड़ों को भी वे साक्षर बनाकर उन्हें साधारण ज्ञान प्रदान कर सकेंगे तो स्वदेश

तथा मनुष्य जाति की कितनी भलाई हो सकेगी। मेरी सम्मति में जहाँ आर्यसमाज को गुरुकुल की नई शाखाएँ खोलने वालों का उत्साह भंग नहीं करना चाहिए वहाँ हिन्दू विश्वविद्यालय के संचालकों को भी जाति की आवश्यकताओं को भुलाना नहीं चाहिए।

मुसलमान भी यूनिवर्सिटी के पीछे भाग रहे हैं। परन्तु क्या यूनिवर्सिटी इस समय मृगतृष्णा से बढ़कर कुछ अस्तित्व रखती है। एक भी हाई स्कूल का अपने साथ हिन्दू यूनिवर्सिटी सम्बन्ध नहीं जोड़ सकती। गवर्नमेंट की आज्ञा बिना एक भी अधिक विद्यार्थी को पढ़ा न सकेगी। प्रथम कालिज का प्रिंसिपल अंग्रेज नियत करने की अभी से बातचीत चल रही है। तब कहाँ तक यह यूनिवर्सिटी हिन्दू बनेगी। जैसी प्रतिज्ञा श्री मालवीय जी ने मुम्बई में की थी। इस पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

आर्य पुरुषो ! आर्यसमाज के बिना आर्यजाति की संस्थाएँ सोई हुई हैं। आर्य जाति की उच्च शिक्षा का भविष्य तुम्हारे हाथ में है। तब आलस्य छोड़कर तुम्हें अपने कर्तव्यपालन में लग जाना चाहिए। गुरुकुल की स्वामिनी सभा का वृहदाधिवेशन समीप आ रहा है। 15 ज्येष्ठ (27 मई) को गुरुकुल का बजट पेश होगा। हिसाब करने पर पता लगा है कि जो 47000 रुपए रोकधन गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर मिला उसमें से केवल 35000 रुपए ही व्यय हो सकता है। बाकी धन विशेष कार्यों वा स्थिर कोष का है। इस हिसाब से 42 सहस्र और हों तो वर्ष का काम चले। क्या इसमें से आधा घाटा सभा के सभासद् पूरा नहीं कर सकते। जैसे मैंने पहले लिखा था मैं यह दृश्य देखना चाहता हूँ कि सभा के सभ्य उसी समय मेज पर 29 नहीं तो 15 सहस्र की ढेरी अवश्य लगा दें।

[सद्धर्म प्रचारक, 6 मई, 1916]

कन्याओं की शिक्षा कैसी होनी चाहिए ?

मनुष्य जाति के सुधार का प्रश्न आज सारे संसार में गूँज रहा है। भारतवर्ष में इस प्रश्न का अधिक गौरव, इस समय, इसलिए है कि सारे संसार की विविध मनुष्य समाजों में से यही है जो सर्व ओर से दासता की साँकल से जकड़ा हुआ है, नहीं तो कौन-सा सभ्य देश है जहाँ यह पुकार नहीं उठती रही कि मनुष्य जाति की दशा गिरी हुई है और कि उसके सुधार की आवश्यकता है। परन्तु आज यह सच्चाई निर्विवाद हो गई है। वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध अभी पूरे छह महीनों नहीं चल चुका था कि यूरोप की प्रत्येक नेशन (Nation) के विचारकों ने मुक्त कंठ से कहना शुरू कर दिया था कि मनुष्य जाति को वर्तमान सभ्यता ने पतित कर दिया है और उसके पुनरुद्धार की आवश्यकता है। परन्तु जाति का पुनरुद्धार तभी हो सकता है जब कि उत्पत्ति का स्रोत शुद्ध हो और उसकी शुद्धि के लिए स्त्री जाति की शिक्षा ठीक होनी चाहिए।

स्त्री शिक्षा की अवस्था इस समय हमारे देश में बहुत ही शोचनीय है। जब आर्य जाति की माताएँ सर्वथा लिखने पढ़ने से वंचित थीं उस समय उन्हें गृह प्रबन्ध की क्रियात्मक शिक्षा तो दी जाती थी। चक्की पीसने और चौका बर्तन का व्यायाम कर और स्नानादि के लिए बाहर भ्रमण करने से स्वस्थ सन्तान तो उत्पन्न कर सकती थीं। इस समय स्वास्थ्य का नाश फैशन की वेदी पर हो जाता है। रसोइया और कहार मौजूद हैं, सैर होता है तो बग्घी में, वा यदि यह समर्थ न हुआ तो पैदल अशरफी-कदम चल लिए, पढ़ाई होती है तो लड़कों की तरह दिमाग चाट जाने वाली—तब स्वस्थ, श्रेष्ठ सन्तान कैसे उत्पन्न हो। एक ओर चंगड़नी चलते चलते बच्चा जन कर उसको गोद में उठा चल देती है और एक क्षण के लिए भी खटिया पर लेटने का नाम नहीं लेती और दूसरी ओर आजकल की नवशिक्षित सभ्य स्त्रियाँ जिनका चतुर से चतुर डाक्टर भी प्रसूत के रोगों से नहीं बचा सका और जिनमें प्रति सैकड़ा 40 केवल भग प्रसूत रोग से ही मर जाती हैं।

जिस शिक्षा का यह परिणाम हो उसमें कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य होगी। मुझे जो त्रुटियाँ मालूम हुई है उन्हें मैं समय-समय पर प्रचारक के कालमों में बतलाता रहा हूँ, परन्तु उसको यह कहकर टाला जाता रहा कि जो अंग्रेज शिक्षा विद्या के

गुरु हैं उनका बतलाया मार्ग अशुद्ध नहीं हो सकता। यदि यही बात मान लें तब भी हमारे स्त्री शिक्षा के मार्गदर्शक भूल में ही सिद्ध होंगे। भारत के ऊँचे से ऊँचे कन्या महाविद्यालय इंग्लैंड की उस शिक्षा विधि का अनुसरण कर रहे हैं जो वहाँ आज से 50 वर्ष पहले प्रचलित थी। इस समय वहाँ का वायुमंडल सारा बदला हुआ है और यहाँ वही लकीर पीटे जाते हैं। आज मैं इंग्लैंड के प्रसिद्ध राजनैतिक राइट आनरेबल सरजान एल्डनगोर्स्ट (जो प्रिवीकौन्सल की शिक्षा समिति के उपप्रधान थे) की सम्मति, स्त्री शिक्षा के विषय में देता हूँ जो उन्होंने अपनी लघु पुस्तक 'शिक्षा और जाति का पुनरुद्धार' में दी है। वह लिखते हैं–''लड़कों और लड़कियों की शिक्षा में कुछ भेद होने के लाभ को प्रायः सब मानते हैं धर्म का राज्य आत्मा का राज्य शरीर पर स्थापित करने से लाया जा सकता है जिससे सर्व विषय-वासनाएँ अपने ठीक मार्ग में लग जाती हैं और कर्तव्य परायणता और परोपकार के अधीन कर दी जाती हैं। यह स्वराज्य ज्ञान और अभ्यास से प्राप्त होता है; और तरुण अवस्था से पहले ही लड़कों और लड़कियों को यह विद्या प्राप्त करने लग जाना चाहिए और धार्मिक आत्माव लम्बन को जीवन का अभ्यास बना लेना चाहिए।'' इसके पश्चात् यह बतलाकर कि शिक्षा विभाग के नेता प्रतिवर्ष लड़कों और लड़कियों के लिए जुदी-जुदी पाठ विधियाँ बनाते हैं, सरजान गोर्स्ट प्रश्न करते हैं–''परन्तु यह स्त्री शिक्षा का कार्यक्रम कौन बनाता है ? केवल पुरुष मात्र। जातीय शिक्षा के शासन में स्त्रियों की स्थिति केवल सलाहकार की है। उनकी सलाह प्रायः उपेक्षा वा अनभिज्ञता की दृष्टि से देखी जाती है! वे आज्ञा वा प्रेरणा नहीं कर सकतीं। शक्ति, सावधानी से, मर्दों के हाथ में रखी जाती है।'' इसके पश्चात् सरजान इस बात पर विचार करते हैं कि लड़कियों को किन-किन बातों की शिक्षा दी जानी चाहिए। वह कहते हैं कि क्या-क्या लड़कियों को सीखना चाहिए ? क्योंकि लड़कियाँ पाठशाला में बहुत कुछ सीख आती हैं जो उन्हें नहीं सिखाया जाना चाहिए। और इसके लिए उत्तर महाशय लिखते हैं कि प्रथम लड़कियों की माताएँ सुशिक्षिता होनी चाहिए। दृष्टान्त के लिए वह भोजन बनाने के विषय को लेते हैं। फ्रांसीसी लड़कियाँ संसार में उत्तम भोजन बनाने के लिए प्रसिद्ध है। क्या इंग्लैंड की पुत्रियाँ किसी स्कूल वा कालिज में वैसा भोजन बनाना सीख सकती हैं। सरजान इसका नकार में उत्तर देकर लिखते हैं कि यतः फ्रेंच माताएँ स्वयम् उत्तम भोजन बनाना जानती है, इसलिए वे अपनी पुत्रियों को इसकी क्रियात्मक शिक्षा दे सकती हैं। फिर लड़कियों को जननीत्व की शिक्षा की आवश्यकता बतला और उनके ज्ञान और क्रियात्मक दोनों भेदों पर विचार करते हुए सम्मति देते हैं–''ये दोनों विधिएँ, मर्दों के नहीं प्रत्युत, स्त्रियों के अधीन प्रयोग में लाई जानी चाहिए। मर्दों का सहयोग और सम्मति लड़कियों की पूर्ण शिक्षाविधि के बनाने में वैसा ही आवश्यक है जैसा कि लड़कों की विधि के विषय में स्त्रियों का सहयोग और सम्मति; परन्तु जननीत्व

की शिक्षा में प्रधान तथा अन्तिम सम्मति स्त्री की ही चाहिए केवल पुरुष होने के कारण मुझे यह बतलाने में संकोच है कि जननीत्व की शिक्षा लेने के लिए लड़कियों को पाठशाला में क्या सीखना चाहिए और किसकी क्रियात्मक शिक्षा लेनी चाहिए परन्तु मैं विषय निर्देश कर सकता हूँ परन्तु अन्तिम सम्मति स्त्रियों के हाथ में ही होनी चाहिए--उनकी आज्ञा के विना न कुछ सिखाना और न कुछ हटाना चाहिए।''

इसके पश्चात् विषयों की सूची दी है जिनमें से प्रथम स्थान सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी क्रियात्मक शिक्षा को है। गर्भ धारण करने से प्रसूता होने तक क्या-क्या करना चाहिए, किस प्रकार प्रसूता होने पर डेढ़ वर्ष तक गर्भाशय को विश्राम देना चाहिए, किस प्रकार का खिलाना-पिलाना, वस्त्र पहनना और उसकी बीमारियों का प्राकृति इलाज करना चाहिए, इत्यादि। दूसरी शिक्षा साधारण यह प्रबन्ध थी--अर्थात मकान हवादार कैसे रखना चाहिए, बिस्तरे आदि कैसे निरोग रहे, घर की मरम्मत सजावट वस्त्रादि की रक्षा और साधारण नियमों का गृह में प्रचार। तीसरा स्थान भोजन बनाने तथा क्रियात्मक शिक्षा के लिए दिया है। सरजान की सम्मति में यह क्रियात्मक शिक्षा साथ-साथ घरों में माता की दृष्टि के नीचे होनी चाहिए।

क्या इस अनुभवी अंग्रेज की सम्मति पर हमारी पुत्री पाठशालाओं के संचालक ध्यान से विचार करेंगे ? इस समय आर्य जाति के गृहों की जो दुर्दशा है उसका विचार करते हुए यह मानना पड़ता है कि आर्य पुत्रियों को वैज्ञानिक और क्रियात्मक दोनों प्रकार की शिक्षा पाठशालाओं में ही दी जा सकती है। तब कन्या आश्रम खोलने में कोई हर्ज नहीं बल्कि उनका खोलना आवश्यक हो जाता है ? परन्तु फल तब होगा जब पुत्रियों की सारी शिक्षा देवियों के ही हाथों में हो। मैंने जान-बूझकर यहाँ देवी शब्द का प्रयोग किया है। जिस में दिव्य गुण हों, जो विद्या को प्राप्त करके उसको स्वजीवन में ढाल चुकी हो; वही आश्रम की अधिष्ठात्री हो तो कन्याएँ जननीत्व की उत्तम शिक्षा को प्राप्त कर सकेंगी। बीस वर्ष हुए मैंने कुछ भद्र पुरुषों से प्रस्ताव किया था कि ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत कराते हुए अपनी धर्म पत्नियों को इस उच्च काम के लिए तैयार करें। आज तक उस प्रेरणा का कोई भी फल दिखाई नहीं दिया। अब यदि कुछ उच्च शिक्षा प्राप्त दृढ़ संकल्प और आत्म शक्ति से शक्तिवती देवियाँ मिलकर इस कार्य के लिए तैयार हों तो जाति के सुधार की आधारशिला रखी जा सकेगी।

[सद्धर्म प्रचारक, 13 मई, 1916]

कोई भी अशिक्षित न रहे

यदि वर्तमान सांसारिक दौड़-धूप में भारतवर्ष को भी कुछ भाग लेना है तो भी उसके एक-एक पुत्र वा पुत्री को साधारण ज्ञान होना आवश्यक है। परन्तु यदि इस देश ने अपनी पुरानी स्थिति को पुनः प्राप्त करना है तो ठीक शिक्षा का प्रत्येक भारत सन्तान पहुँचाना इस समय का मुख्य उद्देश्य हो जाता है। जर्मनी ने युद्ध से पहले सर्वसाधारण तक उच्च शिक्षा पहुँचाने का बड़ा उत्तम साधन सोचा था। उनके Continuation School system के अनुसार जिस पेशे में भी कोई प्रविष्ट होना चाहता, उसी पेशे की शिक्षा के साथ-साथ उसे साधारण ज्ञान की भी शिक्षा दी जाती थी। इस समय इसका उदाहरण वृन्दावन का प्रेम महाविद्यालय है। यह स्पष्ट है कि इंडियन गवर्नमेंट की ओर से न तो इस समय उच्च शिक्षा को ही कुछ सहायता मिलेगी और न ही प्रारम्भिक शिक्षा को आवश्यक करने का प्रस्ताव स्वीकार किया जाएगा। जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्वर्गवासी राजनीतिक-संन्यासी गोखले ने अपना अमूल्य समय प्रेस एक्ट के पास होने में लगाया, वह उद्देश्य जैसा का तैसा ही धरा रह गया। तब भारत के कुछ नेताओं को अनावश्यक राजनैतिक आन्दोलन का पीछा छोड़कर देश के व्यवसाय की वृद्धि की ओर लगकर उसके साथ-साथ साधारण ज्ञान देने का भी प्रयत्न करना चाहिए।

यदि कुँवर महेन्द्र प्रताप का सा विशाल हृदय रखनेवाले एक धनाढ्य सज्जन प्रत्येक जिले में निकल आवें तो इस प्रकार के कारखाने स्थान-स्थान पर खुल सकते हैं। प्रत्येक लोहारा, तरखाना, दर्जी आदि का कारखाना साधारण ज्ञान जनता तक पहुँचाने का साधन बन सकता है। यदि थोड़ा भी अवकाश होता तो मैं इस प्रकार की पाठशालाओं का स्कीम बनाकर प्रकाशित करता। यदि कोई अवकाश-प्राप्त सज्जन स्कीम बनाकर देंगे तो मैं उस पर विचार के लिए प्रचारक के कालम खोल दूँगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 13 मई, 1916]

मनुष्य जाति का सुधार कैसे हो ?

भारतवर्ष-विशेषतः नव शिक्षित भारत की दृष्टि अपने सुधार तथा पुनरुद्धार के लिए यूरोप की ओर लगी हुई थी। युवा भारत ने समझ लिया था कि अपने शिक्षकों, अपनी आदर्श देवजाति के संचालकों का अनुकरण करना ही अपनी जाति के उद्धार का साधन सिद्ध होगा। यद्यपि यूरोप से ही इसके विरुद्ध प्रतिनाद उठता रहा और प्राचीन आर्यों के विचारों को संसार का भावी उद्धारक बतलाया जाता रहा, फिर भी भारत निवासियों को होश न आया। अब वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध में यूरोपियन सभ्य जातियों के आचरणों ने सिद्ध कर दिया है कि यूरोपियन जातियाँ स्वयं गुमराह हैं, वे दूसरों की राहबरी क्यों करेंगी ? अन्धा अन्धे को मार्ग कैसे दिखला सकता है ?

यूरोप और अमेरिका के विचारक इस समय मान रहे हैं कि वर्तमान पश्चिमीय सभ्यता को सर्वथा बदल देने से ही मनुष्य जाति का सुधार होगा, और इस सभ्यता को बदलने के लिए आवश्यकता है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के आदर्श को ही बदल दिया जाए। जहाँ पशुभाव से स्त्री-पुरुष का संग होगा, वहाँ व्यभिचारी, डाकू और घातक सन्तान उत्पन्न होगी; विरुद्ध इसके जहाँ परमात्मा की पवित्र जन शक्ति को लक्ष्य में रखते हुए पितृऋण से उऋण होने के लिए गर्भाधान संस्कार होगा वहाँ धार्मिक, न्याय परायण, परोपकारी सन्तान उत्पन्न होगी। परन्तु अभी तक भी यूरोपियन सुधारकों की दृष्टि उच्च शिखर पर नहीं पहुँची जहाँ पर पहुँचकर कि प्राचीन आर्य ऋषियों ने मर्त लोक के निवासियों को उपदेश दिए थे। वृहदारण्यक उपनिषद के आठवें अध्याय के चौथे ब्राह्मण में जो उत्तम दैवी सन्तान उत्पन्न करने की विधि बतलाई गई है उसे अमेरिका के सन्तान विद्या के जाननेवाले डाक्टरों ने कहीं अब समझने की कोशिश की है।

अब हमारे नव शिक्षित इन नई Eugenics की पुस्तकों पर मोहित हो रहे हैं। इन पुस्तकों के पढ़ने से लाभ अवश्य है, परन्तु इनको पढ़ते समय सावधान रहना चाहिए। यद्यपि परिणाम दोनों प्राचीन आर्य तथा अर्वाचीन यूरोपीय पद्धतियों का एक ही है तथापि लक्ष्य दोनों के जुदे हैं और इसलिए साधनों में गिरने की सम्भावना है। प्राचीन आर्य पद्धति के अनुसार ब्रह्मचर्य का पालन धर्म है इसलिए

सब अवस्थाओं में उसका पालन ही करना चाहिए। गृहस्थ को 25 वर्षों में केवल दस बार ही सन्तानोत्पत्ति क्रिया करनी चाहिए। परन्तु यूरोपियन Engenics में इसलिए अधिक स्त्री संग नहीं चाहिए कि स्त्री पुरुष दोनों के शरीर निर्बल हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होना चाहिए कि अधिक संग से जिन स्त्री-पुरुषों में शारीरिक निर्बलता न आवे उन्हें इस नियम के पालन की आवश्यकता नहीं। Problems of Sex नामी एक पुस्तक प्रोफेसर टामसन और गीडीज ने लिखी है। उसके ग्रन्थकर्ता लिखते हैं कि सब स्त्री-पुरुषों के लिए संग के एक नियम नहीं हो सकते क्योंकि किसी समय अभ्यासी खिलाड़ी से भी बढ़कर एक शारीरिक बल रखनेवाला अशिक्षित मनुष्य व्यायाम दिखा सकता है। उन प्रोफेसर ने परिणाम की ओर ध्यान नहीं दिया। यदि उनका कथन माना जाए तो जो जितना सहन कर सके उतना स्त्री संग करे परन्तु इस का सन्तान पर क्या प्रभाव पड़ेगा और दोनों के आत्माओं की क्या दशा होगी इसे नहीं सोचा।

सन्तान-शुद्धि और उसके द्वारा मनुष्य जाति के पुनरुद्धार के काम में धर्म बड़ी सहायता दे सकता है, परन्तु संसार में इस समय सम्प्रदायों और मतों का जोर है। पादरी मेयर साहब ने जातीय पुनरुद्धार पर मजहब का प्रभाव जतलाते हुए और ईसा मसीह की श्रेष्ठता बतलाते हुए भी यह मान लिया है कि मजहब को कुछ आगे चलने की आवश्यकता है। वह लिखते हैं कि जैसे मजहब ने यह आज्ञा दी है कि अमुक-अमुक सम्बन्धियों के साथ विवाह नहीं होना चाहिए वहाँ क्यों न वह (मजहब) आगे चले और कहे कि—"किसी ऐसे व्यक्ति को विवाह न करना चाहिए जो किसी मानसिक वा शारीरिक रोग से अभिज्ञ है, या जो जानता है कि उसमें पागलपन वा मिर्गी का पैत्रिक विष मौजूद है" जिससे कि किसी निर्दोष स्त्री-पुरुष को ये रोग न लग जाएँ और न ऐसे बच्चे उत्पन्न हों जो जीते ही मरे के समान रहें। पादरी साहब को निराश-ध्वनि से ऐसा न लिखना पड़ता यदि वे ईसाई मजहब की संकुचित परिधि से बाहर निकलकर वैदिक धर्म की शिक्षा को पढ़ते। मनु भगवान ने कैसी पवित्र और उच्च शिक्षा दी है :

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजा वि धन धान्यतः।
स्त्री सम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिर्वजयेत्।।
हीन क्रिय निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशशि सम्।
शय्यामय्याव्यप स्मारिश्वितृकुष्ठि कुलानि च।।

—अ. 3 / 6 / 7

"चाहें कितनी ही धनधान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े राज्य श्री आदि से समृद्ध ये कुल हों तो भी विवाह सम्बन्ध में निम्नलिखित दसकुलों का त्याग कर दे—जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े लोभ,

अथवा बवासीर, क्षय, दमा, खाँसी, आमाशय, मिरगी, श्वेत कुष्ठ और गलित कुष्ठ युक्त हों उन कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह न होना चाहिए।'' हेतु इसका ऋषि दयानन्द देते हैं—''क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करनेवाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं।''

अयोग्यों के परस्पर विवाह का कारण सच्ची शिक्षा का अभाव है। जब तक प्रथम यह विश्वास न हो कि मनुष्य जाति का उद्धार हो सकता है तब इस काम में सुधारकों की प्रवृति ही कठिन है। लोग प्रायः यह कहकर सन्तोष कर लेते हैं कि बने हुए भाग्य कोई बदल नहीं सकता। जब बना हुआ भाग्य संचित कर्मों का ही समूह है, तब जहाँ कुकर्मों के आधिक्य से बुरा भाग्य वा प्रारब्ध बन गया वहाँ उत्तम कर्मों के प्राबल्य से अच्छा प्रारब्ध भी बन सकता है। ऐसा दृढ़ विश्वास लेकर जब विद्या के प्रकाश में काम करना आरम्भ किया जाएगा तो बिना अधिक प्रयास के ही परिवर्तन आरम्भ हो जाएगा।

अपनी जाति में इस समय कमी यही है कि इस प्रकार के अपूर्व विश्वास का अभाव है। विश्वास, सच्चा विश्वास-पर्वतों को चीरता और लोहे के तवों में छेद कर देता है—परन्तु सत्य पर दृढ़ श्रद्धा जब हो तब न। ब्रह्मचर्य के बल और उसके महत्त्व पर श्रद्धा न हो तो मनुष्य जाति का सुधार कठिन है। किसी कवि ने कहा है :

श्रुतिमात्र रसा सर्वे प्रधान पुरुषेश्वरः।
श्रद्धामात्रेण गृह्यन्ते न करेण न चक्षुषा।।

जब ब्रह्म और उसका ज्ञान वेद भी श्रद्धा के लिए अग्राह्य नहीं तो उसका आश्रय लेकर कौन-सा कठिन दुर्ग है जिस पर सदाचारी मनुष्य विजय नहीं प्राप्त कर सकता। परन्तु श्रद्धा का आवेश बिना सचाई के नहीं होता।

श्रद्धा-सम्पन्न मनुष्य सर्वसाधारण की दृष्टि से पागल दिखाई देते हैं, परन्तु संसार में पाप और अविद्या के दुर्ग गिराने वाले पागल ही हुए हैं। संसार में ब्रह्मचर्य और विवाह की पवित्रता के स्थापन करने में ऐसे मनुष्य कृतकार्य हो सकते हैं जिन्हें इनकी श्रेष्ठता पर पूर्ण विश्वास है। जो मन, वचन और कर्म से स्वयं उपस्थेन्द्रियों की पवित्रता पर विश्वास रखते हों वही दूसरों को भी इस पवित्र मार्ग पर चला सकते हैं।

जहाँ राजनैतिक कृतकार्यता के सामने सतीत्व तथा शुद्धता का कुछ भी ध्यान न रखा जाए, जहाँ सामयिक सफलता के लिए धर्म का बलिदान कर दिया जाए वहाँ राज्य और सामाजिक वा जातीय सफलता भी चिरस्थायी नहीं होते। अपनी जाति पर भी विदेशियों की कुनीति का ऐसा ही प्रभाव पड़ रहा है। कुछ काल हुआ यवनों में इस विचार का खुला प्रचार था कि काफिर की स्पिरिट को दवाने

के लिए द्विजों की स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करना चाहिए। वह भाव इस समय भारत में फैलता जाता है। चोरी से चोरी और झूठ से झूठ को जीतने का प्रचार हो चला है। इस भयानक समय में फिर से यह प्रचार करने की आवश्यकता है कि पवित्रता धर्म है और इसलिए उसको बड़े-से-बड़े व्यक्तिक, सामूहिक वा राष्ट्रीय लाभ पर बलिदान करना, अपने सर्वस्व का नाश करना है। परमेश्वर करे ऐसे पागल उठें जो मनुष्यों की ब्रह्मचर्य और सदाचार की पवित्र वेदी पर मानापमान तथा सर्व आसुरी भावों को स्वाहा करना सिखावें।

[सद्धर्म प्रचारक, 20 मई, 1916]

मातृभाषा के प्रचार में रुकावट

आर्यभाषा (हिन्दी) ही भारतवर्ष मात्र की राष्ट्रभाषा हो सकती है। संयुक्त प्रान्त, मध्यप्रदेश, राजपूताना और बिहार की तो यह मानी हुई मातृभाषा है। पंजाब में आर्यसमाज की बदौलत इसका प्रचार पहले हुआ और अब सनातन सभाओं में भी इस पर बल दिया जाने लग गया है। बंगाल में सर गुरुदास बंद्योपाध्याय से शिक्षा-शिरोमणि तक ने इसे अपनाया है। अभी बहुत समय नहीं हुआ कि महाराष्ट्र के प्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर विमण जी भाटे एम.ए. कन्या महाविद्यालय जालन्धर देखने गए थे। वहाँ बालिकाओं में कुछ बोलने के लिए ज़ब उन्हें कहा गया तो उनको अंग्रेजी में बोलना पड़ा। इस पर बड़ा ही शोक प्रकट करते हुए वह अपने एक मराठी लेख में लिखते हैं—"सारांश यह कि प्राचीन संस्कार एक होने पर भी मुझे अपने हृद्गत विचारों को प्रकट करने के लिए विदेशी अंग्रेजी भाषा का आश्रय लेना पड़ा। इससे मुझे बड़ी लज्जा हुई। मैं सोचने लगा—यदि अपने देश में एक जातीयता को बद्धमूल करना है, यदि अपनी सन्तान के हृदय में बचपन से ही राष्ट्रीयभाव उत्पन्न करना है, तो भारतवासियों के लिए एक देश-व्यापक भाषा का होना आवश्यक है। पर इसके लिए अंग्रेजी भाषा उपयुक्त नहीं। तैंतीस कोटि प्रजा को अंग्रेजी का यथेष्ट ज्ञान-सम्पादन करना दुष्कर है। मेरी समझ में हिन्दी-भाषा ही हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय भाषा हो सकती है..."

बम्बई प्रान्त ही क्या जिस टामिल और कनड़ी का संस्कृत के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं समझा जाता, वहाँ के दीर्घदर्शी देशभक्त भी आर्यभाषा को राष्ट्रीय भाषा बनाने की पक्ष में हैं। ऐसे समय में आर्यभाषा की उन्नति बड़े वेग से होनी चाहिए थी। परन्तु शोक से देखा जाता है कि जहाँ बंगाली, गुजराती, मराठी, तेलुगु, टामिलादि के साहित्य की उन्नति तथा पूर्ति में जब प्रान्तों के बड़े-से-बड़े मस्तिष्क लगे हुए हैं और उन भाषाओं के समाचारपत्रों में लेख देना बड़े-से-बड़े शिक्षित पुरुष अपना गौरव समझते हैं वहाँ आर्यभाषा में समाचार पत्रों को उच्च कोटि के लेखक नहीं मिलते।

[सद्धर्म प्रचारक, 20 मई, 1916]

इस अधूरे यत्न से क्या होगा ?

भारतवर्ष में इस समय 3 प्रतिशतक भी पढ़े-लिखे नहीं हैं। यूरोपियन देशों में वह देश अभागा समझा जाता है जिसमें अनपढ़ों की संख्या एक प्रति शतक से अधिक हो। भारतवर्ष में शिक्षा प्रसार की आवश्यकता को सब, चिरकाल से, स्वीकार कर रहे हैं। परन्तु क्या मानसिक शिक्षा मात्र से इस देश का कल्याण हो सकेगा ? माना कि कुछ काल से शारीरिक शिक्षा का भी प्रबन्ध हो चला है और उसकी आवश्यकता को तो सभी समझने लगे हैं। परन्तु क्या प्रजा के शरीर और मन को बलिष्ट करने से ही किसी राष्ट्र का कल्याण हो सकता है ? जिन यूरोपियन देशों को 99 प्रतिशतक शिक्षित प्रजा का अभिमान है, जिनके यहाँ शारीरिक बल बढ़ाने के बढ़िया से बढ़िया साधनों का विकास हो चुका है, उनकी इस समय क्या दशा है जो सारी सभ्यता के ठेकेदार थे और काली जातियों को पशु और असभ्य समझते थे, उनका झूठ, उनका अत्याचार, उनका पिशाचत्व संसार में हाहाकर मचवा रहा है। ऐसी सभ्यता से उन्हीं देशों के विचारक आज लज्जित हो रहे हैं। तब वे देश जो जुलाई सं. 1914 ई. के अन्त तक हमारे पथ-दर्शक थे अब शिक्षा की उन्नति में भी हमारे लिए आदर्श नहीं समझे जा सकते।

इन सभ्य देशों की गिरावट का कारण क्या हुआ ? मनुष्य शरीर, अन्तःकरण चतुष्टय और आत्मा के संयोग का नाम है। इन जातियों ने आत्मा को बीच में से उड़ा ही दिया। जब आत्मा न रहा तो सदाचार का क्या काम ? जनेन्द्रिय की पवित्रता को इन लोगों ने भुला दिया। राजनैतिक विजय की प्राप्ति के लिए स्त्रियों ने सतीत्व की कुछ परवा न की, पुरुषों ने ब्रह्मचर्य के पालन और वीर्य रक्षा को कुछ न समझा; आज इसीलिए हम 'सभ्य हिंसक पशुओं' का दंगल हम देख रहे हैं।

परन्तु हम अब तक उन्हीं का अनुकरण करते चले जाते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन यही समझा गया है कि कुछ दिनों विवाह को रोक दिया जावे। गुरुकुल के खुलने के तीन वर्ष पीछे देवी ऐनी बेसेन्ट ने नियम बनाया कि बनारस हिन्दू कालिज के स्कूल में मिडिल तक कोई ऐसा विद्यार्थी प्रविष्ट न हो सके जिसका विवाह हो चुका हो। त्यौरस साल से दयानन्द स्कूल लाहौर में भी इस नियम को

मिडिल तक प्रचलित किया गया है। यह तो कुछ सुधार ही नहीं, परन्तु यदि बी. ए. क्लास तक भी विवाहित की भरती बंद कर दें तब भी क्या होगा ? क्या पशुजीवन बन्द हो जाएगा ? क्या विवाहित जोड़े अपने कुकर्मों से कभी-कभी श्वान परिवार को भी मात नहीं कर देते ? क्या बोर्डिंग स्कूल खोलकर इस रोग का इलाज हो जाएगा ? जब तक सुकुमार बालकों को जनेन्द्रिय की रक्षा और उनकी पवित्रता को स्थिर रखने की विधि न सिखाई जाएगी, तब तक विवाह न करना वा विद्यार्थियों को वर्ष का कुछ भाग एक साथ रखने से कुछ भी लाभ न होगा।

आजकल के कालिजों की शिक्षा प्रणाली कैसे विद्यार्थी उत्पन्न करती है ? आज से 42 वर्ष पहले जिस प्रकार काशीपुरी में कालिजों के विद्यार्थी व्यभिचार दोषों से पीड़ित लट्ठ और छुरी की लड़ाई लड़ते थे आज भी कालिजों के केन्द्र स्थानों में वही छुरी चल रही है। इसमें विद्यार्थियों का कितना अपराध है, उस पर विचार करना चाहिए। जिन्हें माता-पिता ने पशु जीवन व्यतीत करते हुए उत्पन्न किया, जिन्हें व्यभिचारी लम्पट विषयी पुरुषों ने शिक्षा दी, कालिज में पहुँचकर जिनके सामने बड़े नगरों के नेताओं का दुराचारपूर्ण जीवन रखा गया है , उनसे और क्या आशा हो सकती है। कालिज रावी वा यमुना के इस पार हो या उस पार, इससे कुछ भी लाभ नहीं जब तक कि माता-पिता के उत्तम संस्कारों से प्रभावित होकर बालक आचार्य कुल में निवास नहीं करता। तभी तो वह उत्तम आचार्य चुनने के योग्य होगा। वेद भगवान की आज्ञा है :

स्वयं वार्जिस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व। महिमातेऽन्येन न सन्नशे–"हे ज्ञान के जिज्ञासु विद्यार्थी ! स्वयम् अपने शरीर को समर्थ कर, स्वयम् अच्छे आचार्य को मिल, स्वयम् उसकी सेवा कर, जिससे तेरा यश औरों (कुसंग) के साथ नष्ट न हो।" कैसा पवित्र उत्साहजनक उपदेश है। परन्तु क्या कालिजों की वर्तमान स्थिति में कोई विद्यार्थी अपने लिए स्वयम् आचार्य को स्वीकार कर सकता है ? सैकड़ों में कोई एक आत्मज्ञ प्रिन्सिपल दिखाई देता है, दौड़ता हुआ जिज्ञासु ब्रह्मचारी उसके पास पहुँचता है। प्रिन्सिपल भी युवक के शुद्ध भाव को पहचानता है। परन्तु शोक ! भरती की संख्या पूरी हो गई। जब एक भी और प्रविष्ट नहीं हो सकता। फिर आचार्य को कैसे चुने ?

परन्तु आचार्य भी कहाँ मिलते हैं ? और बेचारे करें भी क्या ? उन्हें प्रविष्ट करते हुए विद्यार्थी की परीक्षा लेने का कहाँ अधिकार है। प्रार्थी की आँखें भयानक हैं, उनका मुख पिशाचत्व का नमूना है, उस पर विषय ही विषय भोग अंकित है, परन्तु परीक्षा की परची जिसके पास है, उसे इनकार नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में गुरु और चेला दोनों ही असन्तुष्ट हैं। परन्तु वेद भगवान का उपदेश है कि–**कस्त्वाछ्यति कस्त्वा विशारित कस्ते मात्राणि शम्यति। कउते शमिता कविः**–"कौन (तेरे अंग प्रत्यंग की परीक्षा करे) तुझे छेदन करता (अर्थात तेरा सार

जान लेता है) कौन तुझे उत्तम शिक्षा देता, कौन तेरे (भौतिक तथा आत्मिक) अंगों को शान्ति पहुँचाता और कौन तेरा यज्ञ कर्ता तत्त्वज्ञानी कवि है ?''

कहाँ यह गुरु-शिष्य का आदर्श और कहाँ आज कल के बेमेल जोड़ ! जब तक जाति की शिक्षा जाति के हाथ में नहीं आती, जब तक शिक्षणालयों को राज के प्रबन्ध से अलग करके उनकी स्थिति का निर्भर उनके आचार्यों के सदाचार और उच्च जीवन पर ही नहीं रखा जाता और जब तक माता-पिता शुद्ध भाव से सन्तान उत्पन्न करके उनमें आचार्य चुनने की योग्यता का संचार नहीं करते तब तक वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमें दिनों-दिन रसातल की ओर ही लिए जाएगी।

[सद्धर्म प्रचारक, 27 मई, 1916]

राज की ओर से एक उत्तम सुधार

संयुक्त प्रान्त के लाट साहब बड़े सज्जन पुरुष हैं। राजनैतिक मामलों में तो किसी हाकिम से भी सारी प्रजा एक-सी प्रसन्न नहीं रह सकती और इसलिए सर जेम्स मेस्टन महोदय से भी उस अंश में सब प्रसन्न नहीं रहे सकत। वहाँ उनके व्यक्तित्व का कुछ वश नहीं; वहाँ उन्हें दूसरों की नीति का समर्थन करना पड़ता है, चाहे उनकी आत्मा उसके कितना भी विरुद्ध हो। परन्तु जहाँ उनकी स्वतन्त्रता को कोई रोकने वाला नहीं, वहाँ उनके सब कार्य उनको एक धर्मात्मा, सत्यप्रिय, परोपकारी सज्जन सिद्ध करते हैं। बच्चों का आभूषणों के कारण दुष्ट प्राणघात कर देते हैं, यह देखकर सर जेम्स ने एक वड़ा ही मर्मभेदक घोषणा-पत्र निकाला था। समाचार पत्रों में उस पर लिखा अवश्य गया परन्तु यह जानना कठिन था कि उसका फल क्या हुआ। अब संयुक्त प्रान्त की गवर्नमेंट ने यह नियम बनाया है कि जो लड़का आभूषण पहनकर किसी भी सरकारी स्कूल में प्रविष्ट होने को आवे उसे दाख़िल करने से इनकार कर दिया जाए। यदि दूसरे प्रान्तों के गवर्नर भी इस उत्तम सुधार का अनुकरण करें तो बहुत से बच्चों की जानें बिना प्रयास ही बच सकती हैं।

[सद्धर्म प्रचारक, 27 मई, 1916]

विद्यार्थियों की दशा

[2]

परन्तु उसके सर्वथा विपरीत आजकल शिक्षक और शिष्यों में जैसा घृणित व्यवहार हो रहा है उसको दर्शाते हुए लेखनी भी अपनी असमर्थता प्रकाशित करती है। सदाचार और आरोग्यता तो विद्यार्थी से पाठशाला में पदार्पण करते ही गमन कर जाते हैं। विद्यार्थियों के लिए स्वस्थ रहना प्रायः दुर्लभ हो गया है। बहुतेरे शिक्षक तो स्वधर्म विरुद्ध विद्यार्थियों पर पाशविक अत्याचार तक करते हैं और विद्यार्थी उसके प्रतिरोध में जिह्वा तक हिलाने में असमर्थ है और उनकी सुनता भी कौन है। पदाधिकारियों का निरीक्षण भाव और प्रधानाध्यापक को सर्वाधिकार ही इसका मुख्य कारण है। बहुत सी जगह की (प्रधानतया देशी रियासतों की) पाठशालाओं में तो उच्चपदाधिकारी महाशय पधारते हुए भय खाते हैं। वर्ष में यदि एक दिन भी वह पधार आवें तो बड़ा शुभ दिवस मानना चाहिए। करें क्या खुद इस योग्य नहीं कि पाठ प्रणाली का निरीक्षण और पाठशाला की पड़ताल कर सकें। रियासतों को इस ओर विशेषतया ध्यान देना योग्य है। परमेश्वर की दया और सरकार की असीम कृपा से अब वह समय आया है कि प्रत्येक प्राणी अपने कष्टों को पत्रों द्वारा प्रकाशित कर सकता है अब वह समय नहीं है कि मनुष्य एक दूसरे पर अत्याचार सहन कर सके। हमें पूर्ण आशा है कि हमारी न्यायप्रिय ब्रिटिश गवर्नमेंट की छत्रछाया में अब यह कुप्रथाएँ ज्यादा दिन न ठहर कर शीघ्र ही मृतावस्था को प्राप्त होंगी। देशी रियासतों को अब अच्छी-अच्छी School शालाएँ व छात्रालय खोलने तथा सदाचारी प्रबन्धकर्ता नियत करके सुप्रबन्ध करना चाहिए। उचित छात्रालयों का अभाव भी विद्योन्नति में एक रोक है। बड़ोदा राज्य को छोड़कर कहीं भी कारीगरी सिखाने का समुचित प्रबन्ध दृष्टिगत नहीं होता। केवल भाषाओं का शुकवत् पाठ कर लेने से भारतोन्नति नहीं कर सकता। इस समय देश में धार्मिक तथा व्यापार सम्बन्धी शिक्षा की महती आवश्यकता है यदि इस देश में इस समय व्यापार उन्नति पर होता तो क्या दैनिक प्रयोग की वस्तुओं को प्राप्त करने के हेतु जापानादि देशों के सम्मुख कर प्रसारित करने पड़ते। शोक है कि यह वही

भारतवर्ष है जिसमें विद्या प्राप्ति के हेतु विदेशी विद्यार्थी आते थे। और अब सूई और दियासलाई के लिए मुखावलोकन करना पड़ता है। यही समय है कि जब देशी नृप अपने प्रगाढ़ देशप्रेम तथा भक्ति का परिचय दे सकते हैं। यदि इस समय भी भारत का व्यापार उन्नति न कर सका तो और कोई समय मिलना इसके लिए कठिन ही नहीं बल्कि सर्वथा असम्भव है। गवर्नमेंट और रजवाड़ों को इस ओर ध्यान देना उचित है।

कालिंगडा-लहौ सुख सब विधि भारतवासी।
विद्या कला जगत की सीखो तजि आलस की फाँसी।
अपने देस धरम कुल समुझहु छोडि वृत्ति निज दासी।
उद्यम करिकै होहु एक मति निज बल बुद्धि प्रकासी।।
प्रकृती की भगति छोडिकै व्है हरी चरन उपासी।
जग के और नरन सम येउ होउ सबै गुन रासी।।

[सद्धर्म प्रचारक, 10 जून, 1916]

हमारी शिक्षा हमारे हाथों में

संसार भर का परीक्षण-सिद्ध सिद्धान्त है कि जाति की शिक्षा जाति के हाथों में होनी चाहिए। भारतवासी इस सिद्धान्त को भूल रहे हैं और भूल का फल पा रहे हैं। और उदाहरणों की कमी नहीं है। जो भारतवासी होने का अभिमान रखते हैं—और जो भारत के लिए स्वाधीनता का दिन देखना चाहते हैं—वे अपनी सन्तान के शरीर और बुद्धि को उनके हाथों बेचने के लिए उन्नति रहते हैं जिन्हें वे धर्म तथा जाति के लिए कारक नहीं समझते। जाति की सन्तान ही भाविनी जाति है जिस भाविनी जाति की बेरोग उन्नति के लिए भारतवासी यत्न करते हैं—उसी को अपने हाथों परकीय बेड़ियों में जकड़ देते हैं। जिस वृक्ष की शाखाओं का भयानक रूप देखकर हम रोते-चिल्लाते हैं उसी के मूल में निरन्तर अपनी प्यारी सन्तान को पानी की भाँति सींच रहे हैं। क्या ये हमारी बुद्धिमत्ता के सबूत हैं।

हमारे बड़े-बड़े नेताओं से लेकर साधारण समझदार सज्जनों के जीवन में एक परस्पर विरोध मिलता है। एक पत्र के सम्पादक या कांग्रेस के नेता महाशय से पूछिए कि "महाराज ! भारतवर्ष की शिक्षा के विषय में आपकी क्या राय है" आपके सामने शंकाओं के ढेर लग जाएँगे। आपको बताया जाएगा कि भारतवर्ष की शिक्षा की नौका भँवर में है। शिक्षा का शासन सरकार के हाथ में है जिसका शिक्षा से एकमात्र उद्देश्य शिक्षा देना ही नहीं। हमारे यहाँ स्कूलों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। विदेशी भाषा की शिक्षा का माध्यम बनाना सर्वथा अस्वाभाविक और हानिकारक है, हमारे सरकारी स्कूलों में शिक्षालयों के मकानों की विद्यार्थियों की अपेक्षा अधिक खबर रखी जाती है जो विद्यार्थी एन्ट्रेंस में वा कालेज में परीक्षा के लिए बैठते हैं उनमें से बहुत कम पास होते हैं। इस प्रकार की बीसियों आशंकाओं का दफ्तर आपके सामने खुल जाएगा। सुननेवाला समझेगा कि हमारे सम्पादक सज्जन तथा नेता महाशय शिक्षा के बड़े भारी आलोचक हैं। इन्होंने शिक्षा पर बड़ा विचार किया है—अवश्य ही अपनी सन्तान को किसी प्रकार स्वाधीन जातीय शिक्षा दिलाने का यत्न कर रहे होंगे। यह सोचकर पूछिए कि महोदय आपके बालक किस जातीय शिक्षणालय में शिक्षा पाते हैं तो हमारा दावा है कि सौ में से नब्बे स्थान पर आपको पता लगेगा कि सम्पादक या नेता महाशय ने देशी शिक्षणालयों का

प्रबन्ध ठीक न देखकर किसी यूरोपियन स्कूल में बालक को दाखिल करा दिया है ताकि यूरोपियन जलवायु में रहकर वह पक्का 'भारतवासी' बन जाए और जो कसर रह जाए तो ठीक-ठाक कर 'यूरोपियन' अध्यापक उसे गोलमाल अंग्रेज बना दें। पूछने पर कहा जाएगा कि ''साहब, क्या करें, नेटिव स्कूलों में पढ़ाई नहीं होती और न ही बड़ी नौकरी के मिलने की आशा रहती है। क्या किया जाए हम यूरोपियन नहीं बनें तो बच्चा यूरोपियन स्कूल में पढ़कर आधा यूरोपियन तो बन ही जाएगा।'' जिन लोगों की इतनी हैसियत नहीं कि बच्चों को यूरोपियन स्कूल में दाखिल करा सकें वे बेचारे स्वांग का भोजन न पाकर बचे-खुचे बर्तन चुनने पर ही सन्तोष करते है। यूरोपियन स्कूल न सही तो मिशनरी स्कूल में सुशिक्षित हो जाएगा और कन्या को भी शिक्षित करना है। देशी पाठशालाओं में लड़कियों को ठीक शिक्षा नहीं मिलती उन्हें किसी कान्वेंट में भेज देना ही ठीक है। बेटी कान्वेंट में पढ़कर बेटी रहेगी या मिस बन जाएगी, यह चिन्ता कभी पिता के दिमाग को नहीं खुजलाती।

इस प्रकार की सब बातें हमारी जाति की पतित दशा को सिंचित करती है। जिस बात को हम कल्पना में मानते हैं उसी को कार्य में परिणत नहीं करना चाहते। जब विश्वासों को कार्य में परिणत करने का समय आता है तो कई लोग कार्य की कठिनता से हार जाते हैं और अन्य लोग् आत्मविश्वास के अभाव में घबरा जाते हैं। शिक्षा का प्रश्न सारे देश के विचारकों को विचलित कर रहा है। नित्य नये उदाहरण इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए दृष्टिगोचर होते है कि जाति की शिक्षा जातीय हाथों में ही होनी चाहिए। हमारी आँखें खोलने की बड़ी आवश्यकता है।

प्रतिदिन ऐसी घटनाएँ प्रत्यक्ष में आती है जो भारतवासियों को जगाने के लिए पर्याप्त हों, यदि भारतवासी आँख-कान मूँदकर न बैठे हों। अभी हमें पंजाब का वह उदाहरण भूला नहीं है जिसमें कई हिन्दू कन्याओं ने ईसाई धर्म ग्रहण करने के निमित्त घर-बार छोड़ना भी कबूल् कर लिया था। आज हम यहाँ एक नई घटना सहयोगी कलकत्ता समाचार के शब्दों में उद्धृत करते हैं :

''मद्रास प्रान्त की एक ब्राह्मण कुमारी ने पादरी स्कूल में शिक्षा पाई थी। आज वह पन्द्रह वर्ष की है। कहती है कि मैं ईसाइन बन जाऊँगी। अब तञजीर के हिन्दुओं के कान खड़े हुए हैं। सार्वजनिक सभा करनेवाले हैं। हम पूछते हैं इस अग्निपरीक्षा की जरूरत भी क्या है। पन्द्रह वर्ष तक अविवाहित रहकर ईसाइयों के साथ शिक्षा प्राप्त हुई। अब युवती कहे, मैं तो ईसाइन बनूँगी। मुझे हिन्दू धर्म का कुछ ज्ञान नहीं तो इसका दोष युवती पर भी नहीं और सुअवसर से लाभ उठानेवाले पादरियों पर भी नहीं। दोषी वह है जो विना समझे ही पुड़िया के चमकते हुए रंग को देखकर उसका मसाला फाँकते है। हिन्दुओं बहुत हो चुका, अब सचेत हो।

[सद्धर्म प्रचारक, 1 जुलाई, 1916]

होमरूल लीग बन गई

कांग्रेस सोचती ही रह गई और मिसेज बेसेंट ने अपनी लीग स्थापित भी कर ली। मद्रास में होमरूल लीग की स्थापना हो गई और मि. अरंडेज उसके मन्त्री बन गए। इस पर मिसेज बेसेंट का परमभक्त प्रयाग का लीडर भी घबराकर पूछ रहा है कि "यह लीग कब और कहाँ से आ गई ? इसके बनानेवाले कौन हैं ?" मिसेज बेसेंट ने बड़े शौक से यह प्रस्ताव बम्बई में एकत्र हुए नेताओं के सामने रखा और टालमटोला होते देखा। मिसेज बेसेंट उन व्यक्तियों में से नहीं है, जो टाली जा सके। उसने बिना इधर-उधर से पूछे अपनी लीग बना डाली। अब उससे पूछना व्यर्थ है। जो काम चिरकाल पूर्व होना चाहिए था, उसका श्रीमती ने प्रस्ताव किया। कई कारणों से, जिन्हें प्रत्येक भारतवासी समझ सकता है, कांग्रेस के लीडरों ने उसे उत्साहित नहीं किया। अब लीग बन गई। वे सब कारण जो पहले थे, अब भी विद्यमान हैं। देखें, कांग्रेस के नेता अब क्या रुख रखते हैं।

[सद्धर्म प्रचारक, 8 जुलाई, 1916]

भारत में शिक्षा क्यों नहीं है ?

एक अमरीकन महाशय ने सरहाकोर्ट बटलर से दिल्ली में पूछा कि भारतवासी शिक्षा के विषय में जो शिकायत करते हैं, उनका क्या समाधान है। उस महाशय को जो उत्तर मिला वह विचित्र है। आपने शिक्षा प्रचार के रुकावट के तीन कारण बतलाए—(1) भारत की साधारण प्रजा के संकुचित विचार हैं। (2) योग्य अध्यापक नहीं मिलते। (3) धन नहीं है। सेना तथा अन्य विभागों के लिए व्यय करने के अनन्तर गुंजाइश ही नहीं रहती। इन तीनों कारणों को पढ़कर हमें हँसी आई। ये युक्तियाँ ऐसी ही है जैसे कोई कहे कि अमुक पुरुष को भोजन नहीं देना चाहिए क्योंकि उसे जोर से भूख लगी है। भारतनिवासियों को शिक्षित नहीं करना चाहिए—क्योंकि भारत की प्रजा के संकुचित विचार हैं अर्थात् भारतीय प्रजा अशिक्षित है। शिक्षा का न होना ही संकुचित विचारों का कारण है—और वही शिक्षा न देने का प्रथम हेतु बतलाया गया है। योग्य अध्यापक नहीं मिलते। क्यों ? इसीलिए तो कि भारत में शिक्षा का प्रचार कम है—और अध्यापकों की माँग कम है—ये दो ही तो कारण हैं कि भारतवर्ष में अध्यापक नहीं मिलते—और अध्यापकों का न होना शिक्षा न देने का हेतु बतलाया जाता है। तीसरा कारण और भी मजेदार है। रुपया नहीं बचता—ठीक है। कारण क्या है ? सेना पुलिस आदि विभागों में खर्च बहुत ही जाता है। यों तो लॉर्ड हार्डिंग अभी कुछ दिन हुए कह चुके हैं कि ऐसा समय भी था जब भारत में केवल 15000 सिपाही थे—और फिर भी देश में कोई गड़बड़ नहीं हुई। तब फिर सेना पर अधिक व्यय की आवश्यकता ही क्या है ? भारतवर्ष तो शायद बिना सेना के भी अंग्रेजों के हाथ में रह सकता है। किन्तु यदि सेना की आवश्यकता मान भी लें तो शिक्षा और सेना में से सेना को अधिक आवश्यक क्यों माना जाए ? क्या कभी समझ में आ सकता है कि सरहाकोर्ट बटलर जैसे योग्य पुरुष भी ऐसी निर्बल युक्तियाँ दे सकते हैं।

[सद्धर्म प्रचारक, 8 जुलाई, 1916]

कहाँ वे—कहाँ हम

इंग्लैंड के प्रसिद्ध सम्पादक मि. सिडनेवेब ने अपने साप्ताहिक 'न्यूस्टेट्समैन' में एक बढ़िया बात लिखी है। इंग्लैंड में प्रारम्भिक शिक्षा आवश्यक और मुफ्त है। किन्तु मध्यम शिक्षा इस प्रकार मुफ्त नहीं है। अमेरिका में मध्यम शिक्षा भी बहुत सस्ती, कहीं-कहीं मुफ्त के बराबर है। मि. सिडनेवेब का प्रस्ताव है कि अमेरिका की तरह इंग्लैंड में भी मध्यम शिक्षा सस्ती हो जानी चाहिए। गरीब लोग भी उससे लाभ उठा सकें--इसलिए आवश्यक है कि छात्रवृत्तियाँ बहुत अधिक राशि में दी जाएँ। वे तो प्रारम्भिक शिक्षा के सर्वसाधारण प्रचार से भी असन्तुष्ट हैं और हम अभी उसका नाम लेने से भी गुनहगार होते हैं और यों भारत और इंग्लैंड दोनों ही देश एक भूतल पर बसे हुए हैं।

[सद्धर्म प्रचारक, 15 जुलाई 1916]

शिक्षाद्वार बन्द है

विद्यार्थी दरवाजा खटखटाते हैं और कोई उत्तर नहीं मिलता। यदि मिलता भी है तो निषेधात्मक ही मिलता है। संयुक्त प्रान्त में विशेषतया अन्य प्रान्तों में सामान्यतया यही दशा देखने में आती है। कालिजों के प्रिन्सिपल कह देते हैं कि उनके यहाँ गुंजाइश नहीं है। कहते हैं कि कई वर्षों से ऐसी ही दशा हो रही है। विद्यार्थी इलाहाबाद, कानपुर और लखनऊ में प्रवेशार्थ जाते हैं और सूखा उत्तर पाकर लौट आते हैं। उत्तर सब स्थानों में एक ही है कि गुंजाइश नहीं है। शिक्षा के लिए माँग है, पर स्थान नहीं है। इसका कारण क्या है ? कारण यही है कि अपनी सारी शिक्षा को जाति सरकार के हाथों में देकर सन्तोष कर बैठी है। अपनी शिक्षा की स्वयं सुध लेने की चिन्ता ही उसे नहीं रही। यदि जाति को स्वयं अपनी शिक्षा की चिन्ता होती तो क्या कभी सम्भव था कि अपने पुत्रों की शिक्षा विषयक पर इतनी कठिनाइयों का प्रतिकार अभी तक न होता। हमारे यहाँ तो यह दशा है कि यदि कोई इलाज करे तो सरकार ही करे, हम लोगों के हाथ में इलाज नहीं है। कोई कारण समझ में नहीं आता कि सरकार क्यों अधिक विद्यार्थियों को शिक्षा देने की फिक्र करे। आगे ही सरकार की आवश्यकता से बहुत अधिक विद्यार्थी कालिजों में शिक्षा पा रहे हैं। उस संख्या को और भी बढ़ा देने में सरकार का विशेष लाभ क्या हो सकता है। अपनी सन्तान में शिक्षा का प्रचार करने की इच्छा प्रजा को होनी चाहिए। उसी को इस न्यूनता के पूरा करने में सदा अग्रसर होना चाहिए। जब वह सन्तोष से बैठी है—तो सरकारी दफ्तर भी चुपचाप तमाशा देख सकते हैं। जाति को अपनी शिक्षा अपने हाथों में लेनी चाहिए।

[सद्धर्म प्रचारक, 22 जुलाई, 1916]

विद्यार्थियों को दण्ड चाहिए या नहीं

बम्बई से एक अद्‌भुत मुकदमें का समाचार आया है। एक अंग्रेज महिला का बालक योरोपियन स्कूल में पढ़ता था। उसे किसी अपराध पर दण्ड मिला। मुख्याध्यापक भी अंग्रेज था। उसने लड़के को बेंत लगाई, जिससे उसका हाथ सूज गया। लड़के की माता ने मुख्याध्यापक से दो-तीन चिट्ठियों में इसे अनुचित कार्य समझकर जवाब-तलबी की, किन्तु मुख्याध्यापक ने उत्तर देना जरूरी नहीं समझा। इस पर कचहरी में मुख्याध्यापक पर मुकदमा चलाया गया। मजिस्ट्रेट का फैसला यह हुआ कि मुख्याध्यापक ने जो दण्ड दिया, वह अधिक नहीं था और लड़के का हाथ सूजने का कारण उसकी निर्बलता थी। यह घटना पढ़कर दो प्रश्न उठते हैं—क्या विद्यार्थियों को शारीरिक दण्ड मिलना चाहिए ? कया उस दण्ड के लिए मुख्याध्यापक से जवाब पूछा जा सकता है ? हमारी सम्मति में विद्यार्थियों को दण्ड देना ही बुरा है—जहाँ तक हो सके वैसे ही उनका सुधार करने का यत्न करना उचित और उपयोगी है। उन्हें दण्ड देने के दो उद्देश्य ही हुआ करते हैं—एक सुधार, दूसरा औरों के लिए दृष्टान्त। सुधार बिना दण्ड के भी हो जाता है—कोई-कोई ही विद्यार्थी ऐसे होते हैं जिनका सुधार दण्ड के बिना असम्भव हो। किन्तु बुरी आदत ही न पड़ने देना सबसे अच्छा है और उसका एक साधन दृष्टान्त स्थापित करना है। जो विद्यार्थी कोई बहुत बड़ा अपराध करें, उसे और विद्यार्थियों के लिए दृष्टान्त रूप बनाना चाहिए। दण्ड बहुत कम हो, परन्तु जब हो तब दृष्टान्त रूप से होना चाहिए, और जब तक वह दण्ड मर्यादा को पार न कर जाए तब तक मुख्याध्यापक से जवाब-तलबी न होना चहिए। हाँ—निर्बल बालकों को मार-मारकर मूर्छित कर देनेवाले मुख्याध्यापक से अवश्य ही उत्तर माँगना चाहिए।

[सद्‌धर्म प्रचारक, 22 जुलाई, 1916]

स्कूलों में स्ट्राइक

स्कूलों में स्ट्राइक धड़ाधड़ होते हैं। अध्यापक और विद्यार्थियों के सम्बन्ध ठीक नहीं रहते। सब स्थानों से यही शिकायतें सुनने में आ रही हैं। विद्यार्थी और अध्यापक का सम्बन्ध बहुत कुछ वैसा ही हो गया है—जैसा स्वामी और सेवक में होता है। मजदूर लोग मालिक की किसी बात से नाराज हुए, मालिक ने उन्हें कम वेतन या मजदूरी दी, और हड़ताल हो गई। इधर भी अध्यापक ने किसी विद्यार्थी को धमका दिया, या जरा कठोरता से बर्ताव किया—और हड़ताल हो गई। जैसे मजदूरों की हड़ताल में मुख्य दोष मालिक का ही होता है, जो अपने पैसे के लोभ से मजदूरों के अधिकार छीनता है, वैसे ही विद्यार्थियों की हड़ताल में अध्यापक की मुख्य उत्तरदायिता है—जो विद्यार्थियों को वश में नहीं रख सकता या प्रेम के बन्धन में नहीं बाँध सकता। जो मजदूर किसी शिकायत के बिना काम छोड़ दे और जो विद्यार्थी कारण बिना ही हड़ताल कर दे, उनका तो कहना ही क्या है ? उनका तो स्वभाव ही अपराधी है—परन्तु सामान्यतया स्वामी और अध्यापक का ही दोष समझा जाता है। कारण क्या है ? कारण यही है कि हम लोग शिक्षा के उच्च आदर्शों को भूल गए हैं। आर्य जाति अपने पुराने वैदिक आदर्शों को भूल गई है और शिक्षा का मूल्य भी टके से जाँचा जाने लगा है। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली इसी भाव के विरुद्ध प्रतिवाद है।

[सद्धर्म प्रचारक, 5 अगस्त, 1916]

हिन्दू विश्वविद्यालय

हिन्दू विश्वविद्यालय का यथार्थ कार्य हिन्दुओं में प्राच्य ज्ञान के साथ ही पाश्चात्य विज्ञान और कला कौशल का प्रचार करना है। यह काम वर्तमान विद्यालयों या विश्वविद्यालयों से नहीं होता इसीलिए हिन्दू विश्वविद्यालय की आवश्यकता थी। पर हिन्दू विश्वविद्यालय क्या कर रहा है ? इसका उत्तर देना है कठिन है, क्योंकि विश्वविद्यालय के विधाता इस ढंग से कार्य करते हैं कि किसी को कानोंकान खबर नहीं होती कि उन्होंने क्या करना विचारा है। वे अपने विचारों और संकल्पों को यंत्रवत् गुप्त रखते हैं और सर्वसाधारण हिन्दुओं को किसी प्रकार की सूचना तक नहीं देते। क्या यह उचित है ? यदि हमारा विश्वविद्यालय सरकारी विश्वविद्यालयों का अनुकरण सब विषयों में करने लगेगा तो फिर उससे हिन्दुओं की आशा दुराशा मात्र है।

काशी निवासी बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने पिछले जुलाई महीने में दैनिक भारतमित्र में हिन्दू विश्वविद्यालय के विषय में कई लेख छपाए थे। इनमें उक्त विश्वविद्यालय के संचालकों से कुछ प्रश्न किए गए थे। मालूम नहीं कि उन्हें संतोषजनक उत्तर मिले या नहीं, पर इसमें सन्देह नहीं कि समाचार पत्रों में अधिकारियों की ओर का कोई वक्तव्य नहीं प्रकाशित हुआ।

हम चाहते थे कि इस हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी द्वारा शिक्षा दी जाए पर सरकार के आग्रह से वैसा न हो सका और अन्य विश्वविद्यालयों की तरह इसकी शिक्षा का द्वार भी अंग्रेजी ही है। परन्तु डॉ. शिव प्रसाद गुप्त ने ओरियण्टल डिपार्टमेंट की बात छेड़ी है जिसमें हिन्दी द्वारा वैज्ञानिक विषयों को शिक्षा देना निश्चित हुआ है। बाबू शिव प्रसाद गुप्त का यह कथन बहुत ही उचित है कि वैज्ञानिक विषयों की पुस्तकों का उल्लेख करने के लिए हिन्दू विश्वविद्यालय ने कोई विद्वत्मण्डल लाया है या नहीं ? यदि नहीं, तो क्यों नहीं ? विश्वविद्यालय की ओर से इस प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिला। बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने मिश्र के एक नवजात विश्वविद्यालय का उदाहरण दिया है, जिसने विषयों को अरबी भाषा द्वारा शिक्षा देना अपना उद्देश्य स्थिर किया है। इस विश्वविद्यालय ने भावान्तरकारों का एक मण्डल बनाया है जो अरबी भाषा में वैज्ञानिक शब्द बनाता और वैज्ञानिक

पुस्तकों का अनुवाद करता है। इसके साथ ही विज्ञान के विदेशी अध्यापकों के साथ एक-एक ऐसा विद्वान् रखा है जो क्लासों में अध्यापकों के भाषणों का भाषान्तर कर विद्यार्थियों को समझाता है और विद्यार्थी और उक्त स्वदेशी विद्वान् उस भाषान्तर को लिख लेते हैं। इस प्रकार वहाँ वैज्ञानिक साहित्य तैयार होता है। बाबू शिवप्रसाद चाहते हैं और हम भी उनसे सहमत हैं कि हिन्दू विश्वविद्यालय इस पद्धति का अनुकरण करे। पर उसके कर्ता-धर्ता तो सांस तक नहीं लेते। मालूम नहीं, उनके मन में क्या है।

बाबू शिवप्रसाद ने अपने एक लेख में कहा है कि मकानों में बहुत द्रव्य न व्यय करना चाहिए और इस बात की चेष्टा करनी चाहिए कि हिन्दुओं को सस्ती शिक्षा मिले। बात ठीक है, पर हमें आशंका है कि सरकार की सहायता के नियम इसमें बाधक होंगे। तो भी इतना अवश्य कहेंगे कि अस्थायी और स्थायी दिल्ली का अनुकरण न करना चाहिए। सरकारी कर्मचारी यदि प्रजा के भाव नहीं समझ सकते तो वे परदेशी हैं इसलिए हम उन्हें दोष भी नहीं दे सकते। पर हिन्दू विश्वविद्यालय के अधिकारियों को अवश्य इस बात का ध्यान होना चाहिए कि यह धन हिन्दुओं में शिक्षा प्रचार के लिए हमें मिला है, ईंट-गारे में लगाने के लिए नहीं।

संस्कृत शिक्षा के प्रति यदि हिन्दू विश्वविद्यालय के अधिकारियों का वही भाव है, जो बाबू शिवप्रसाद के लेख से झलकता है तो बड़े ही खेद का विषय है। एक तो विश्वविद्यालय के अधीन रणवीर पाठशाला के अध्यापकों का वेतन कम हैं और दूसरे यदि वे उसे बढ़ाने के लिए कहते हैं तो कोई सुनवाई नहीं होती। क्या यह उचित है ? पर यही नहीं, इस प्रार्थना के उत्तर रूप में उनमें अब 9।। या 10 बजे से 4 बजे तक पढ़ाने को कहा गया है और यही पाठशाला का समय कर दिया गया है ? हिन्दू विश्वविद्यालय के अधिकारियों या उनके कर्मचारियों का संस्कृत के प्रति यही भाव यदि रहा तो हिन्दू विश्वविद्यालय को उद्देश्य कभी सफल न होगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 30 सितम्बर, 1916]

दक्षिण अफ्रीका में शिक्षा-पद्धति

भारतवर्ष में हिन्दी लोगों ने इस देश में आकर और इस देश को अपना निवास-स्थान बनाने पर भी अपनी सन्तानों को धार्मिक शिक्षा देने का कोई प्रबन्ध नहीं किया था और गवर्नमेन्ट ने अपनी शर्तों के अनुकूल स्कूल बनाकर उनको थोड़ी-बहुत अंग्रेजी की शिक्षा दी। परन्तु वह अपनी मातृभाषा से बिल्कुल शून्य रह गए और हमारे नेताओं ने उनके बच्चों की मातृभाषा अथवा धार्मिक शिक्षा के बारे में आजकल कुछ प्रबन्ध नहीं किया लेकिन वह अपनी ही स्वार्थ सिद्धि में लगे रहे। इसलिए इस कारण में भी उनको उनके राजनीतिक काम में ऐसी सफलता प्राप्त नहीं हुई जैसी होनी चाहिए थी। इससे हमारी मन्शा नहीं है कि वह राजनीतिक काम न करते परन्तु जितना जोर वे राजनीतिक काम में लगाते रहे यदि उतना उनकी शिक्षा के बारे में भी जोर देते तो अवश्य उनको पूरी सफलता हुई होती। यदि वह अपने राजनीतिक काम के साथ-साथ उनके सन्तानों की शिक्षा के बारे में कभी कुछ गवर्नमेन्ट से तजबीज करते तो उसमें कुछ सन्देह नहीं गवर्नमेंट अवश्य ध्यान देती। और दक्षिण अफ्रीका में हिन्दी के लिए जैसी शिक्षा-पद्धति प्रचलित है। उससे जाति को क्या लाभ हुआ है अथवा क्या हानि हुई है इसका उत्तर देना जरा कठिन है। पर इतना हम अवश्य ही कह सकते हैं कि प्रत्येक जाति की उन्नति उसके अपने हाथों में है। जो जाति दूसरे पर भरोसा करके अपनी उन्नति की अभिलाषा रखती है उसकी उन्नति होना तो एक तरफ रहा बल्कि वह यथार्थ वाणी को भी बदल देती है और रही-सही को भी खो बैठती है मनुष्यों की जीवन पद्धति का ढाँचा उसकी बालावस्था में ही तैयार होता है अथवा बालकाल में उसकी प्रवृत्ति जिस ओर को झुका दी जाती है आजन्म उसी ओर झुकी रहती है। इसलिए बाल अवस्था की शिक्षा एक कठिन और असाधारण कार्य जिसकी ओर पाठकों को ध्यान देना परमावश्यक है। इति शम्।।

[सद्धर्म प्रचारक, 30 सितम्बर, 1916]

समाज-सुधार और राजनीति

राजनीतिक स्वराज्य से पूर्व सामाजिक स्वराज्य और सामाजिक स्वराज्य से पूर्व आत्मिक स्वराज्य आवश्यक है। अभी झाँसी में सोशल कान्फ्रेंस का जो अधिवेशन हुआ था, उसके सभापति रायबहादुर आनन्दस्वरूप ने अपने भाषण में इस सिद्धान्त पर अच्छा बल दिया था। आपने स्वराज्य पाने वालों को एक बात सुनाई थी। आपने कहा था कि 'स्वराज्य चाहने से पूर्व स्वराज्य के योग्य बनो' यह एक बड़ी पुरानी सच्चाई है जो सभी देशों में समय-समय पर याद दिलानी पड़ी है। जो योग्य नहीं, उसे कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती और योग्य को सात समुद्र लाँघकर भी मिल जाती है। एक वृद्ध से हमने सुना है—एक अंग्रेज ने उनसे कहा था 'जब भारतवासी स्वराज्य के योग्य हो जाएँगे तो हमें स्वयं ही अपना बोरिया-बँधना उठाकर जाना पड़ेगा। चाहे सारे अंग्रेज इस कथन का समर्थन न करें और यह सम्भव न हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उक्ति कई अंशों में सत्य है।

हमारी राजनीति उल्टे रास्ते पर होकर चली है। हमने शाखा को भूमि में गाड़कर आम उपजाना चाहा है। भारतवासी निचली सीढ़ी पर न चढ़कर उपरली सीढ़ी पर चढ़ना चाहते हैं, बिना नींव दिए अटारी खड़ा करने के अभिलाषी हैं। इसीलिए कार्यसिद्धि नहीं होती। यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस जाति में अभी सामाजिक बन्धन नहीं टूटे, उसके राजनीतिक बन्धन कभी नहीं टूट सकते; जो जाति आँखें बन्द किए पुरोहितों तथा मुल्लाओं के अत्याचारों को सहने का अभ्यास रखती है, उसके विरुद्ध शब्द उठाने का साहस नहीं करती, वह कभी राजनीतिक स्वाधीनता के योग्य नहीं। यह भी असन्दिग्ध है कि जिस जाति में सोलह पुराण, रामायण, महाभारत और यहाँ तक कि प्रत्येक संस्कृत श्लोक को 'प्रमाण' करके मानने का और इतने प्रमाणों के उठाने का धैर्य है, उसमें सैकड़ों-हजारों सरकारी कर्मचारियों के आगे झुकने का भी धैर्य होना सम्भव है। एक अभ्यास से दूसरा अभ्यास होता है। संसार की ऐसी ही गति है। जिनके समाज की अवस्था इतनी गिरी हुई हो कि स्त्रियों को दासियों का स्थान दिया जाए, छः करोड़ जीते जागते मनुष्य देहधारियों को कुत्ते-विल्ली से भी वदतर समझा जाए, उन लोगों को स्वराज्य के सपने नही लेने चाहिए। जो मनुष्य अपने से निर्बल पर अत्याचार करता है,

वह प्रायः अपने से प्रबल के अत्याचार सह लेता है। जो चपड़ासी आने-जाने वालों को सदा तंग किया करता है, वह अपने अफसर के सामने नाक से सात लकीरें खींचने को हर समय उद्यत रहता है। भारतवासी स्त्रियों और अन्त्यजों को निर्बल देखकर उन पर अत्याचार करते हैं, अतः स्वाभाविक है कि वे अत्याचारों या सख्तियों को सहने के योग्य हो सकें।

सामाजिक दशा का आधार व्यक्तिगत सुधार है, क्योंकि समाज व्यक्तियों के समूह का नाम है। यदि एक-एक फूल में सुगन्ध नहीं तो माला में भी सुगन्ध नहीं हो सकती। जिस घर की एक-एक ईंट कच्ची है, वह सारा पक्का नहीं बन सकता। अवयव से अवयवी बनता है, व्यक्तियों से समाज की रचना होती है, यह युक्तयाभ्यास है कि जो गुण एक में नहीं वह अनेक में हो सकता है। जिस समाज के व्यक्ति आत्मिक शक्ति से हीन हैं, वह समाज कभी सामाजिक उन्नति या राजनीतिक स्वाधीनता के ऊँचे शिखरों के समीप भी नहीं भटक सकता। जिस समाज के राजनीतिक नेताओं के आचार आदर्शरूप नहीं है और अन्तरात्मा दृढ़ और अदम्य नहीं है, उस जाति का जीवन युद्ध में भाग लेना नहीं बन सकता कई सालों की गुप्त मन्त्रणाओं के पीछे निराश होकर मेजिनी ने कहा था कि 'शोक कि मैं यह भूल गया था कि अशिक्षित होने से इटालियन जाति अभी स्वाधीनता के योग्य नहीं है' जिस जाति में शिक्षा नहीं है—है भी तो उल्टी, जातीयता खोनेवाली, मानसिक दासता सिखानेवाली और धार्मिक गौरव को तिरोहित करनेवाली—ऐसी जाति स्वाधीनता के सपने देखे—यह संसार में आठवाँ आश्चर्य है। भला ऐसा भी कहीं देखा है। इतिहास यदि सच है तो ऐसा होना असम्भव है।

भारतवर्ष के राजनीतिक नेता इस सिद्धान्त को भुलाए बैठे हैं। इसीलिए उनके यत्न सफल नहीं होते, भारत के हित-चिन्तकों की प्रथम चिन्ता यह होनी चाहिए कि देश के बालकों तथा युवकों की शिक्षा का ऐसा प्रबन्ध करें कि वे आगे से अच्छे मनुष्य, अच्छे देशवासी और अच्छे कार्यकर्ता बन सकें। उनकी दूसरी चिन्ता यह होनी चाहिए कि हमारे अन्दर जितनी सामाजिक कुरीतियाँ हैं, उनका नाश करें। बाल विवाह, वृथा जात-पाँत, स्त्री-पराधीनता आदि जो सामाजिक दोष घुन की तरह हमारी जाति को खा रहे हैं उन्हें दूर किए बिना एक कदम भी आगे चलना कठिन है। यहाँ तक परिश्रम की पूरी मात्रा लगाकर फिर राजनीतिक स्वाधीनता के लिए आँख उठानी चाहिए। जब तक ऐसी दशाएँ उपस्थित नहीं होती, तब तक माँगने से व्याख्यान झाड़ने से या सभाएँ जमाने से कुछ नहीं होगा। सारे यत्न अरण्य में रोने के समान व्यर्थ होंगे। और ऐसी अवस्था हो जाने पर थोड़े यत्न से बहुत कार्य हो जाएगा। फिर माँगना न होगा—केवल दृढ़ता से कहना होगा और देखते-ही-देखते राजनीतिक महत्व का मीठा फल हाथ में आ जाएगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 28 अक्टूबर 1916]

श्रीमान वाइसराय : एक शिक्षक की दृष्टि से

श्रीमान वाइसराय के साथ मैं पूरे डेढ़ घन्टों तक बातचीत करते हुए घूमा और इतने काल में जो मुझे भी दिखा सका, उन्हें दिखाया। मुझ पर यह प्रभाव पड़ा कि शिक्षा के विषय में उनको बड़ा अनुराग ही नहीं प्रत्युत इस अंश में उनके विचार भी बड़े उच्च तथा उदार हैं।

हाथी से उतरते ही अभिवादन करके हार पहनाए और प्रधानों तथा दो प्रोफेसरों से परिचय कराके आगे बढ़ना चाहता था क्योंकि मुझे श्रीमान सरजेम्स मेस्टन की ताकीद थी कि सवा घन्टे से अधिक वाइसराय को न रोका जाए। परन्तु श्रीमानों ने बड़ी प्रसन्नता से जहाँ तक हो सका, उपाध्यायों और स्नातकों से हाथ मिलाए और कइयों का हाल पूछते हुए आगे बढ़े। जिस समय ब्राह्मचारियों की घेरुआ पंक्तियों के मध्य पुष्पों की वर्षा में से गुजर रहे थे तो क्रमानुसार बड़ों से बच्चों तक पहुँचकर कहा "आपके यहाँ आयु का क्रमानुसार भेद है। मैंने निवेदन किया कि हम प्रत्येक वर्ष के आरम्भ में एक बार ही भरती करते हैं और वह भी आरिम्भक श्रेणी में" वह बोले–"यह बड़ा सारगर्भित नियम है" (That is a very sound principle)

जब वाटिका के द्वार पर शामियाने के पास पहुँचे तो श्रीमान सरजेम्स मेस्टन ने मेरे पौत्र 'रोहिताश्व' को याद किया। स्वागत के श्लोक गाए जाने पर रोहित आ गया। श्रीमती लेडी चेम्सफोर्ड ने उसे प्यार किया और इर्द-गिर्द खड़े बच्चों की ओर देखकर कहा–"इनमें से कुछ तो बहुत ही बच्चे हैं,–क्या यह माताओं से जुदाई की अनुभव नहीं करते।" वाइसराय ने कहा "इनके चेहरों की ओर देखो। क्या यह जुदाई का अनुभव कर रहे हैं।" श्रीमती जी ने कहा–

"ओह वे इतने खिले हुए और प्रसन्न दिखते हैं कि वे घर की याद नहीं कर सकते।" वाटिका में पग रखते ही वाइसराय का प्रश्न था– Do the students work in garden (क्या विद्यार्थी बाग में काम करते हैं।) मैंने निवेदन किया कि गत वर्ष इसी वाटिका में सब काम करते थे परन्तु अब के नौ तोड़ भूमि पर के स्वयं खेती तथा वाटिका का काम करते हैं। श्रीमान खड़े हो गए और वहीं से कृषि के विद्यार्थियों की नई वाटिका की ओर दृष्टि डाली। मैंने सबसे ऊँची छत

से फिर वाटिका दिखाई, जिसे देखकर प्रसन्न हुए। "क्या आपकी अपनी गोशाला है ?" मैंने उसकी ओर भी निर्देश किया, तब बोले 'अपने ताजे दूध से बढ़कर विद्यार्थियों के लिए अन्य भोजन नहीं है। वाटिका में क्या भाजी तथा फल उत्पन्न होते हैं।' इस पर बहुत जानने का प्रयत्न किया।

आश्रम में जो भारतवर्ष का जमीन पर चित्र बना है उस पर कुछ समय लगा और कार्यालय को देखकर तब दशम श्रेणी का कमरा देखकर बिस्तरा खुलवाकर एक नमूना देखा। सारा प्रबन्ध व दस तथा नवम श्रेणी के कमरे को देखकर यज्ञशाला की ओर बढ़े। सन्ध्या, अग्नि होत्र के विषय में सब कुछ पूछकर जब भोजनशाला को बाहर से देखते गए (क्योंकि जूते उतारने में देर होने की सम्भावना थी) तो सादे और नियमपूर्व प्रबन्ध की प्रशंसा की और परसने के काम में ब्रह्मचारियों के व्रत का हाल सुनकर प्रसन्न हुए।

वस्तु भंडार में दर्जियों को मशीन से काम करते देखकर मशीन पर (Singer co) 'सिंगर' का नाम पढ़ा और कहा– "You appear to be up to date in everything here" 'आप हर बात में नवीनतम साधनों से युक्त हैं।'

औषधालय में पहले आयुर्वेदिक विभाग के कमरों में प्रवेश हुआ। औषधियों के विषय में न केवल स्वयं प्रश्न किए प्रत्युत अपने डाक्टर से भी कराते रहे। जब वहाँ से अंग्रेजी दवाइयों के स्टोर में डाक्टर सुखदेव ले गए तो कहा कि आप हमारे सिस्टम की सर्वथा उपेक्षा नहीं करते। डाक्टर जी ने Allopathic चिकित्सालय का सब सामान दिखाया। उस समय फिर श्रीमानों ने कहा– "You are up to date here too."

वनस्पति के कमरे में जब प्रोफेसर महेशचरण सिंह जी ने निज रचित पुस्तकें भेंट देकर कुछ हस्तलिखित नई पुस्तकों का मसाला दिखाया तो श्रीमानों ने कहा– "But Science is not literature."

महाविद्यालय के 'रस क्रिया भवन' तथा विद्यालय के 'पदार्थ विज्ञान भवन' और 'आलेख्य भवन' को देखकर कहा–"शिक्षा सम्बन्धी सब नए से नए साधन आप लोग काम में ला रहे हैं।" साइन्स रूप में प्रवेश करते ही पूछा कि सूक्ष्म तराजू (Chemical balances) कहाँ है, तब Balance room में ले जाकर तराजू दिखाया गया और उपाध्याय विश्वनाथ को आर्यभाषा द्वारा पढ़ाते देखकर बोले–"मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने से विद्यार्थियों के लिए पढ़ाई सुगम हो जाती है। उसी समय पूछा–"परन्तु साइन्सादि की पुस्तकें हिन्दी में कहाँ हैं ?" मैंने उत्तर दिया कि हम वह भी तैयार कर रहे हैं, परन्तु व्याख्यान और प्रश्न तथा उत्तर पत्र आर्य भाषा में होते हुए भी अंग्रेजी की असल पुस्तकें भी विद्यार्थियों के हाथों में दी जाती हैं। पुस्तकालय में पहुँचकर गुरुकुल के उपाध्यायों की निर्माण की हुई पुस्तकें, दो रेशमी रुमालों में बाँधकर, पेश की गई और साथ ही अंग्रेजी

सत्यार्थप्रकाश, पण्डित गुरुदत्त की रचनाएँ आदि में भेंट की गईं।

पुस्तकालय को बड़े ध्यान से देखा। प्रत्येक विषय को देखते हुए जब कानून की पुस्तकों तक पहुँचे तो कहा–" Law की पुस्तकें भी आपने रखी हैं। कानून जानना भी प्रत्येक citizen का कर्तव्य है।" नीचे की सब अलमारी में अंग्रेजी ही प्रधान देखकर बोले– "But where are the Sanskrit books !" मैंने ऊपर की मंजिल की ओर निर्देश किया जहाँ अल्मारियाँ संस्कृत और वैदिक पुस्तकों से भरी हुई थीं। उन्हें देखकर श्रीमानों ने कहा–आपको शीघ्र ही पुस्तकालय का स्थान बढ़ाना पड़ेगा। मैंने उत्तर में कहा कि साइन्स के लिए अलग नया भवन बनवाकर हम वर्तमान साइन्स के दोनों कमरों को पुस्तकालय में ही मिला देंगे; परन्तु धनाभाव से बहुत काम अधूरे पड़े हैं।'

आलेख्य के कमरे में अष्टम श्रेणी के ब्रह्मचारी वीरेश्वर का खींचा अपना चित्र देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उस समय श्रीमती लेडी चेम्सफोर्ड थककर वृक्षराज के नीचे बैठी थीं और साथ न थीं। जब फलभोज के समय मैंने उन्हें वाइसराय के इस चित्र का हाल सुनाया तो वह भी अकेली फिर से चित्र को देखने गईं, और बहुत प्रसन्न हुईं।

आलेख्य के कमरे को दिखाकर मैं श्रीमान् वाइसराय को सीधा ऊपर ले चला था परन्तु मुख्याध्यापक श्री मुखराम जी ने कहा–"छोटे ब्रह्मचारी तो बहुत उत्सुक बैठे हैं, वे वंचित रह जाएँगे।" मैंने कहा कि समय थोड़ा है, परन्तु लॉर्ड चेम्सफोर्ड बोले–"यदि छुटपन के विद्यार्थी जीवन में मेरे साथ ऐसा व्यवहार होता मुझे भी बहुत निराशा होती। कुछ बड़ा कष्ट नहीं है; चलो उधर से भी घूम चलें।' श्रीमान न केवल घूम ही निकले प्रत्युत प्रत्येक श्रेणी में प्रवेश करके बालकों को प्रसन्न किया। अद्‌भुतालय में प्रवेश करते ही उपाध्याय म.च. सिंह जी से बहुत कुछ पूछते रहे। आस्ट्रेलिया के जानवरों की कुछ हड्डियों को देखकर बोले–"मैंने उन जानवरों को देखा है जिनकी ये हड्डियाँ हैं। ब्रह्मचारियों के बनाए लकड़ी के काम को देखकर सन्तोष प्रकट किया, ब्रह्मचारियों के बनाए हल तथा खेती के अन्य सामान को देखकर भी प्रसन्नता प्रकट की। अद्‌भुतालय में सबसे अधिक समय लगाया फिर अन्तिम छत पर भी चढ़ गए। वहाँ से गुरुकुल भूमि के अतिरिक्त पहाड़ नदी आदि के सर्व दृश्य देख, सब स्थानों का हाल पूछा। खुले हरे मैदान को देखकर बड़ा हर्ष प्रकट किया। जब चारों ओर देख चुके तो पूछा–"परन्तु आपके रहने का स्थान कहाँ है। मैंने वृक्षराज की ओट से हटाकर कोने से अपने रहने का स्थान दिखाया तो करुणामय स्वर में बोले–"यह तो नदी के किनारे शान्ताश्रम है।--

ऊपर की छत पर चलते हुए लोहे की नलके की ठोकर लगी। मैंने क्षमा माँगी; श्रीमानों ने कहा–"मैं इस सुन्दर दृश्य में ऐसा मुग्ध था कि देखकर चलना ही भूल गया।"

भोजन के समय श्रीमान् ने गुरुकुल परीक्षा विधि पर बहुत कुछ पूछा और शाखाओं का हाल सुनकर कहा– "Then you are Building a University of your own." (तब आप अपना स्वतन्त्र विश्वविद्यालय बना रहे हो)। मैंने उत्तर दिया कि संस्कृत को प्रधान रख तथा समाचार संगठन और ब्रह्मचर्य को मुख्य सामान देकर और कोई चारा भी नहीं। क्रीड़ा क्षेत्र में पहुँचते ही श्रीमानों ने कहा– "It is a great relief to see these brood green lawns after the Congestion of simla." (शिमले के घमसान के पीछे इन विस्तृत हरे मैदानों को देखने में आनन्द मिलता है) फिर कहा– These are wonderful level grounds and you most have spent a lot of money on it." (यहाँ बड़ी आश्चर्यदायक समतल भूमि है। इसको ठीक करने में आप का बड़ा धन व्यय हुआ होगा)

मैंने बतलाया कि हमने कुछ भी व्यय नहीं किया, केवल कुछ वर्षों तक कई बार जंगली बूटियाँ कटवाई हैं। नंगे पैर ब्रह्मचारियों को फुटबाल को उड़ाए फिरते देखकर श्रीमानों ने कहा–"मैं तो अपने पगों को ऐसी परीक्षा में डालने का हौसला कभी न करता।" झूलनेवालों के कर्त्तब देखते एक क्षण ठहर गए थे। हाकी के खेल में ब्रह्मचारियों को धावा करते देखकर बोले–"यह धावा हमारे कुछ उत्तम दलों का मुकाबिला कर सकता है।"

बिछुड़ते हुए श्रीमान वाइसराय तथा श्रीमती लेडी चेम्सफोर्ड ने निश्चय दिलाया कि वे गुरुकुल को स्मरण रखेंगे और इस यात्रा को भूलेंगे नहीं।

वाइसराय ने यह भी पूछा था कि कितनी ब्रह्मचारिणी गुरुकुल विधि पर शिक्षा पाती हैं। मैंने उत्तर दिया कि इस विधि पर तो कोई कन्या गुरुकुल नहीं। परन्तु जालन्धर में कन्या महाविद्यालय हैं। यह प्रश्न शायद हमारी नियमावली को पढ़कर उत्पन्न हुआ होगा।

लिखने के लिए तो बहुत-सी बातें और हैं परन्तु उनका लेखबद्ध करना उचित नहीं।

श्रीमान् लॉर्ड चेम्सफोर्ड जहाँ एक उदार शिक्षक का प्रभाव डाल गए वहाँ श्रीमती लेडी चेम्सफोर्ड ने विद्यार्थियों और अध्यापकों के हृदयों को अपनी दैवी सहानुभूति और प्रेम से वशीभूत कर लिया। मैं श्री वाइसराय और देवी लेडी चेम्सफोर्ड को दिल से धन्यवाद देते हुए आशा रखता हूँ कि वे फिर भी गुरुकुल आश्रम निवासियों को अपने दर्शनों से तृप्त करेंगे।

[सद्धर्म प्रचारक, 4 नवम्बर, 1916]

सच्चा स्वराज

[1]

आज भारत के कोने-कोने में स्वराज का शब्द गूंज रहा है। जो लोग इस शब्द के महत्व को समझते हैं और जो नहीं समझते, उन सबको यह अत्यन्त प्रिय है। इसमें न जाने क्या आकर्षण भरा पड़ा है ? इसमें न जाने कौन-सी मिठास ओत-प्रोत है। स्वराज्य इस शब्द का उच्चारण होते ही बालक नाचने लगते हैं, युवकों का रुधिर जोश से दौड़ने लगता है। प्रौढ़ पुरुष भी सीना सीधा करके बैठ जाते हैं और बूढ़े लोग और कुछ नहीं तो कान लगाकर सुनने ही लगते हैं। भारतवासियों को यह स्वराज्य शब्द कुछ विलक्षण-सा प्रतीत होता है और साथ ही कुछ नया भी मालूम देता है। जो शब्द ऐसा आकर्षणशील है, जिसकी महिमा ऐसी अपार प्रतीत होती है, उसका अर्थ क्या ? उसका असली तात्पर्य क्या है—ये प्रश्न इस समय अप्रासंगिक नहीं है।

पाठकगण, आप समाचार पत्रों में तथा पुस्तकों के स्वराज्य नाम का बारम्बार पाठ पढ़ते होंगे। क्या आपने कभी विचारा कि यह स्वराज्य कथावस्तु है ? शायद आप में से थोड़ों ने ऐसा विचार किया होगा और उन थोड़ों में से भी अधिक संख्या ने इस शब्द के बहुत संकुचित अर्थ समझे होंगे। उन्होंने यही समझा होगा कि भारतवर्ष के लिए स्वराज्य का तात्पर्य यह है कि भारतनिवासी अपने देश का स्वयं ही प्रवन्ध करें। देशवासी अपने आप ही अपने ऊपर कर लगाए और सरकार की बड़ी से बड़ी नौकरी तक पहुँच सकें। शायद इसी प्रकार कोई स्वराज्य आपके दिमाग में घूम जाता होगा। जब आप किसी समाचार पत्र में स्वराज्य पर लेख पढ़ते होंगे।

हमारा निवेदन है कि स्वराज्य शब्द की यह व्याख्या बहुत संकुचित है। स्वराज्य शब्द के गर्भ में जो भाव घुसे हुए हैं, उनका एक चतुर्थांश भी इस व्याख्या से पूरी तरह नहीं आता। स्वराज्य को केवल राजनीतिक अर्थों में पढ़ना भारी भूल है—और शब्द के महत्व को घटाना है। यह शब्द बड़ा व्यापक है—इसके अर्थक्षेत्र का पारावार नहीं। मनुष्य या मनुष्य समूह की क्रियाओं का जहाँ तक विस्तार है,

स्वराज्य शब्द वहीं तक व्याप्ति है। राजनीति तो मनुष्य की चेष्टाओं का एक बहुत ही थोड़ा भाग है। मनुष्य या मनुष्य समाज का जीवन न राजनीति में प्रारम्भ होता है और न ही उसमें अस्तर होता है। राजनीति तो मनुष्य-समाज के जीवन की एक मध्य सीढ़ी है। जो कार्य भाग न प्रथम और न अन्तिम होने का गौरव रखता है, स्वराज्य शब्द को केवल उसी तक परिमित कर देना ठीक नहीं।

साथ ही यह भी समझ रखना चाहिए कि केवल राजनीतिक स्वराज्य असम्भव है। स्वराज्य को केवल नीति की परिभाषा मान लेने से हम इसे एक बड़ा अधूरा सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। देशों और जातियों का इतिहास हमें बताता है कि केवल राजनीतिक स्वराज्य न कहीं उत्पन्न हो सका है और यदि कहीं उत्पन्न भी हुआ तो रह नहीं सका। जिन लोगों ने स्वराज्य की इस अपूर्ण व्याख्या को मानकर कार्य प्रारम्भ किया, उन्होंने कभी कृतकार्यता लाभ नहीं की। स्वराज्य एक शब्द है—किन्तु इस छोटे-से शब्द में एक संसारव्यापी नियम समाया हुआ है। इस लेखमाला में हम उसी व्यापी नियम को भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाना चाहते हैं।

[2]

किन्तु प्रथम इसके कि हम इस शब्द के भिन्न-भिन्न भागों की विस्तृत व्याख्या करें, आवश्यक है कि इसके शब्दार्थ पर ध्यान देकर मौलिक सिद्धान्त को समझ लें। स्वराज्य शब्द दो शब्दों के मिलने से बना है—स्व तथा राज्य। स्व का अर्थ है अपना और राज्य का अर्थ है आधिपत्य, अपना आधिपत्य। इसी शब्द में यही भाव स्वयं आ जाता है कि अपने ऊपर अपना आधिपत्य। यह भाव नहीं निकालना चाहिए कि किसी अन्य पर अपना राज्य भी स्वराज्य कहा जा सकता है। एक नौकर पर स्वामी का आधिपत्य स्वराज्य नहीं—अपने देह या परिवार पर आधिपत्य ही गृहपति का स्वराज्य है। अपने ऊपर अपना आधिपत्य—इस शब्दार्थ में कोई विशेष राजनीतिक स्पर्श नहीं है, इसलिए स्वराज्य शब्द को केवल राजनीतिक स्वराज्य के अर्थों में प्रयुक्त करना शब्द के साथ अन्याय करना है। स्वराज्य शब्द मनुष्य की हर एक प्रकार की जीवन प्रवृत्ति के सम्बन्ध में प्रयुक्त किया जा सकता है। स्वराज्य शब्द का प्रयोग हम व्यक्ति के विषय में, धर्म के विषय में, समाज के विषय में, धर्म के विषय में, समाज के विषय में तथा साहित्य के विषय में कर सकते हैं। इसी प्रकार ढूँढ़ते जाएँ तो हम देखेंगे कि स्वराज्य का विषय उदार-दृष्टि से देखा जाए तो बड़ा विशाल है। इसके बड़े-बड़े प्रान्तों को पृथक् करके हम चार प्रकार के स्वराज्य का परिगणन कर सकते हैं।

(1) आत्मिक स्वराज्य
(2) धार्मिक स्वराज्य
(3) साहित्यिक स्वराज्य

(4) सामाजिक या नैतिक स्वराज्य

इन चारों भागों के करने से यह तात्पर्य नहीं है कि स्वराज्य का सिद्धान्त इन चार प्रान्तों में ही मिल सकता है। इनसे बहुत आगे और पीछे भी इस सिद्धान्त का विस्तार है। इनके लेने से हमारा केवल इतना अभिप्राय है कि ये मुख्य-मुख्य प्रदेश हैं जिनमें स्वराज्य सिद्धान्त के मर्म को हम भलीभाँति अनुशीलन कर सकते हैं।

साथ ही एक और प्रश्न भी उठता है स्वराज्य की इस विस्तृत व्याख्या के विषय में वेद क्या कहता है ?

[सद्धर्म प्रचारक, 16 दिसम्बर, 1916]

सच्चा स्वराज्य

[2]

आत्मिक स्वराज्य

सारे स्वराज्य का मूलभूत आत्मिक स्वराज्य है। स्व–मुख्यतया आत्मा का ही निर्देश करता है--उसका अपने ऊपर आधिपत्य सब प्रकार के स्वराज्य का आधारभूत समझना चाहिए। अपने ऊपर अपना ही अधिकार हो और किसी दूसरी शक्ति का–मन का या इन्द्रियों का–अधिकार न हो, यही आत्मा का स्वराज्य है। यदि आत्मा को और शक्तियों ने दबा लिया तो दासता का ओंकार प्रारम्भ हो जाता है। जो आत्मा अपने सैनिक इन्द्रियों के या मन्त्री के ही अधीन हो जाए वह फिर संसार में सबके वश में आ सकता है। स्वराज्य का आरम्भ इन्द्रियों के विजय से होता है। वेदों में इन्द्रियों को वश में रखनेवाले जीवात्मा का काम इन्द्र आता है। इन्द्र की वेदों में अपार महिमा वर्णित की है। जो पुरुष इन्द्रियों का स्वामी इन्द्र है, उसके सभी अभीष्ट फलों की प्राप्ति होती है।

अनवद्यैरभि द्युभिर्मखः सहस्वदर्चति।
गणैरिन्द्रसय काम्यैः। ऋ. 1, 6, 8।

अनिन्दनीय और दिव्यगुणयुक्त चाहने योग्य उत्तम फलों के समूह से युक्त होता हुआ इन्द्र का प्रत्येक श्रेष्ठ कार्य सिद्धि को प्राप्त होता है।

इन्द्रिय शब्द की उत्पत्ति का मूल है, जो इन्द्र की हो। जो इन्द्र की हैं, उनका जो स्वामी है, वही इन्द्र–वही जीवात्मा है। उस वशी जीवात्मा के सारे ही काम सिद्ध होते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

यह एक अति सरल तर्क है। जो लोग इस तर्क को भी नहीं समझ सकते, उनके बनाए हुए मार्ग पर चलकर भारी धोखा मिलता है। फ्रांस में इतनी भारी राज्य क्रान्ति हुई। राजा और रईसों के अत्याचारों ने तंग आकर प्रजा ने स्वाधीनता का झंडा उठाया और प्रजा का स्वराज्य स्थापित करने का यत्न किया। यह ठीक है कि प्रजा के जोश ने राजा को सिंहासन पर से उतार दिया, यह भी ठीक है

कि रईसों को फ्रांस से भागने से सिवाय या गर्दन झुका देने के सिवाय बचने का कोई चारा नहीं दिखा। किन्तु यह भी सच है कि फ्रांस के अत्याचारी राजाओं ने शायद 25 साल में इतना खून न बहाया होगा जितना क्रान्ति के समय प्रजा ने 7 सालों में बहा दिया। संसार ने इतना भयानक दृश्य इससे पूर्व नहीं देखा था। प्रजा के स्वराज्य के नाम पर इतने रुधिर को बहता हुआ देखकर बड़े-से-बड़े स्वाधीनता पक्षपाती भी स्वाधीनता के नाम से घबराने लगे थे।

इसका कारण क्या था ? ऐसा महान् अनर्थ क्यों हुआ ? कारण यही था कि जो प्रजा स्वाधीनता के झगड़े के नीचे आकर युद्ध करने के लिए खड़ी हुई थी—उसमें आत्मिक स्वराज्य नहीं था। उन्होंने संयम का पाठ नहीं पढ़ा था। क्रोधादिदोष आने के समय अपने आपको वश में लाना और जिसका अपराध नहीं है उसे अपराधी के साथ ही सूली पर न धकेल देना—यही संयम कहाता है। जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ और मोह के आवेग के समय इन्द्रियों को मुट्ठी से नहीं निकलते देता वही आत्मिक स्वराज्यवान् कहा जा सकता है।

यह नियम सदा याद रखने योग्य है। जिस स्वराज्य की पुकार शराबखाने या जुएखाने से चलेगी, वह स्वराज्य नहीं। जो भी यत्न ऐसे स्वराज्य के लिए किए जाएँगे वे देश या जाति को सुख देने वाले नहीं हो सकेंगे। ऐसा स्वराज्य यदि दो दिन के लिए आ भी जाए तो वह अमृत के स्थान में वैतरणी नदी का प्रवाह चलानेवाला होगा।

अपनी इन्द्रियों का संयम पहला और मूलभूत स्वराज्य है। यही आत्मिक स्वराज्य कहलाता है। यह सब स्वराज्यों की पहली सीढ़ी है।

धार्मिक-स्वराज्य

इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयो भुवः
वर्हिः सीदन्तु अस्रिधः। ऋ. 13। 9

इस मन्त्र का तात्पर्य है कि (इडा) स्तुतिरूपवाणी परमात्मा की उपासना (सरस्वती) वाणी, या वाङ्मय अर्थात् विस्तृत अर्थो में साहित्य और (मही) पृथ्वी ये तीनों अहिंसित होती हुई संसार में स्थित हों। इस मन्त्र में तीन जीवों की अहिंसा के लिए प्रार्थना है। प्रत्येक जाति और मनुष्य जाति का और उन द्वारा व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि इन तीनों चीजों को हिंसित न होने दें—दूसरे ये अत्याचार या अनुचित प्रभाव में न दबने दें। इन तीनों रक्षणीय चीजों से प्रथम चीज 'इडा' या धार्मिक वाणी है। परमात्मा से प्रत्येक मनुष्य का जो सम्बन्ध है—वह निजू है, इसीलिए अपने धर्म से प्रत्येक व्यक्ति का अपना ही सम्बन्ध है। इसमें दूसरे को कोई दखल नहीं। परमात्मा जैसे दूसरे का पिता है वैसे ही मेरा भी पिता है, जैसे मुझे अधिकार है

कि मैं अपने पिता की यथेष्ट रीति से सेवा करूँ उसे यथेष्ट नाम से पुकारूँ इसी प्रकार यह भी मेरा अधिकार है है कि मैं परमात्मा की अपनी अभिष्ट रीति से स्तुति-प्रार्थना उपासना करूँ और उसे यथेष्ट राम से पुकारूँ दूसरा कोई व्यक्ति मुझे मेरे धार्मिक विचार में बाधित नहीं कर सकता। मुझे तलवार का, सामाजिक बायकाट या किसी अन्य प्रकार का भय या लोभ दिखाकर जो परमात्मा के और मेरे सेवक सम्बन्ध में दखल देता है कि वह अत्याचारी है। वेद की आज्ञा है–कि मैं उसके अत्याचारों की परवाह न करता हुआ अपनी 'इडा' की रक्षा करूँ।

साथ ही यह भी निश्चित है कि जैसा पिता और पुत्र का सीधा सम्बन्ध होता है, वैसा ही मनुष्य का और परमात्मा का सीधा सम्बन्ध है। पिता पुत्र के बीच में पड़ने की किसी को न आवश्यकता है और न अधिकार है। ऐसे ही रोम में बैठे हुए किसी पोप को मन्दिर में बैठे हुए ब्राह्मण को या काशी में बैठे हुए किसी पुजारी को यह आवश्यकता नहीं कि दूसरे मनुष्य की आत्मा का स्वामी बनकर परमात्मा तक उसकी इच्छाएँ पहुँचाएँ, और अपनी थैली में पैसे पहुँचाएँ। प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि वह अपने हृदय से निकले हुए शब्दों द्वारा परमात्मा की प्रार्थना उपासना करे। हृदय के असली भाव-पुष्पों से भगवान् की अर्चना करे, या बाजार से मोल लिए नकली कागजी फूलों की भेंट करके परमात्मा को धोखा न देना चाहे। यह धार्मिक स्वराज्य का दूसरा अंग है।

आत्मिक स्वराज्य का स्वाभाविक परिणाम धार्मिक स्वराज्य है, और यह अगले सब प्रकार के स्वराज्यों की सीढ़ी है।

[सद्धर्म प्रचारक, 23 दिसम्बर, 1916]

भारत में शिक्षा

इंग्लैंड में 3,60,00,000 की आबादी है, और उनमें से 60 लाख विद्यार्थी स्कूलों में शिक्षा पाते हैं और शिक्षा पर सरकार का दो करोड़ पौंड से अधिक व्यय होता है। अंग्रेजों के भारतवर्ष में 26 करोड़ की आबादी है, उसमें से केवल 70 लाख विद्यार्थी स्कूलों में पढ़ते हैं और 1913-14 में शिक्षा पर केवल 30 लाख पौंड व्यय हुआ था। शिक्षा पर व्यय कितना कम हुआ और अनुपात से हमारे विद्यार्थी कितने कम हैं। दोनों देशों का शासन एक ही सम्राट् की आज्ञा के अनुकूल होता है। जहाँ प्रति विद्यार्थी इतना कम खर्च हो, वहाँ शिक्षा की उत्तमता कहाँ से हो सकती है ?

[सद्धर्म प्रचाक, 23 दिसम्बर, 1916]

सच्चा स्वराज्य

[3]

साहित्यिक-स्वराज्य

वेद के जिस मन्त्र में इडा सरस्वती और मही की रक्षा का उपदेश है, वह पहले दिया जा चुका है। इडा से धार्मिक वाणी और सरस्वती से लौकिक भारतीय साहित्य–का ग्रहण है। सरस्वती की रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक जाति और प्रत्येक राष्ट्र का परम कर्त्तव्य है। आत्मा शरीर का स्वामी है, धर्म शरीर का प्राण है, तो साहित्य शरीर में रुधिर का काम देता है, जैसे रुधिर हृदय से उत्पन्न होकर शरीर के एक-एक अंग में जाता और जीवन का संचार करता है, अंगों को सचेत करता और परिपुष्ट करता है, उसी प्रकार साहित्य भी जाति के हृदय स्थल में उपजे हुए भावों को कोने-कोने में पहुँचाकर जाति के जीवन और पोषण का कारण होता है। यदि भारत का साहित्य विशुद्ध और जीवनाणुओं से युक्त है, तो जाति दोनों दिन वृद्धि करती जाएगी। उसके अंग परिपुष्ट और दर्शनीय होते जाएँगे। किन्तु यदि वह रुधिर गन्दा हो जाए, यदि उसमें रोग जन्तु प्रविष्ट हो जाए, तो फिर आज ज्वर है तो कल फोड़ा हो जाएगा। रूधिर के समान साहित्य भी जाति शरीर में बड़ी द्रुतगति से भागता और नेताओं की सम्मतियों को सर्वसाधारण तक पहुँचाता है।

साहित्य का स्वराज्य क्या है ? व्यक्ति के लिए सरस्वती सम्बन्धी स्वराज्य का तात्पर्य है–मनुष्य को अपने आत्मा के अनुकूल वाणी के प्रयोग का अधिकार हो, किसी दूसरे के बलात्कार से वह अपनी वाणी को न बदले। यह व्यक्तिगत साहित्य स्वराज्य है। व्यक्ति सरस्वती की हिंसा मही कहाती है कि मुख से जो वाणी निकले वह भय लोभ या निर्बलता के कारण आत्मा की वाणी हो। इस स्वराज्य में दो प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं, एक तो आत्मा की प्रकृति से कई लोगों के हृदय में सत्य की भावना इतनी कम होती है, कि वे आत्मा के शब्द को निकाल ही नहीं सकते। असली युद्ध आटे में तेल मिलाना उनका स्वभाव-सा हो जाता है। किसी बाह्य कारण से नहीं, अपितु अन्दर की आवृत्ति से मजबूर होकर वे अन्यथा

बोलते हैं। ऐसे लोगों का स्वराज्य अन्दर के घुन से ही खाया जाता है। वाणी की स्वाधीनता को रोकने के दूसरे कारण बाह्य होते हैं। बाह्य कारणों में राजभय, लोकभय, पितृभय, धन लोभ, यह लोभ, आदि अनेक कारणों में होते हैं। इन कारणों में फँसकर मनुष्य अन्यथा कहने पर बाधित हो जाता है। इस प्रकार बाधित होकर वाणी की स्वाधीनता नाश करने का पाप दो पर ही होता है। जो भय दिखाकर दूसरे की सरस्वती की हिंसा करता है वह भी पाप का भागी होता है, और जो अपने आपको इतना निर्बल कर लेता है कि भय या लोभ के झटपट ही काबू में आ जाए, वह व्यक्ति भी पाप का कम भागी नहीं है। इन दोनों प्रकार के पापों से बचता हुआ जो मनुष्य न दूसरे की वाणी पर बाधा डालता है और न अपनी वाणी पर बाधा पड़ने देता है वही मनुष्य वस्तुतः साहित्य स्वराज्य में निवास कराता है।

यह व्यक्ति के सम्बन्ध में सरस्वती साम्राज्य बताया। इसी प्रकार जाति के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। जाति की सरस्वती पर भी ऐसे ही अनेक प्रकार के विघ्न आ सकते हैं, जिससे उसके स्वराज्य में अनेक प्रकार की रुकावटें उपस्थित हों। जाति के सम्बन्ध में साहित्यिक स्वराज्य की तात्पर्य यह होता है कि किसी जाति का साहित्य स्वतन्त्र विहार करे—न कोई आभ्यान्तर कारण ही उसमें बन्धन डाल सके, और न कोई बाह्य कारण ही उसके स्वछन्द विहार को रोक सके।

जाति के साहित्य पर बन्धन डालनेवाले आभ्यनतर कारण कई हो जाया करते हैं। कभी-कभी जाति के जीवन में ऐसे समय आते हैं जब धार्मिक पुस्तकों का लिखा जाना उचित समझा जाता है। इतना उचित समझा जाता है कि और किसी विषय में भी यत्न करना कम-से-कम अपराध माना जाने लगता है। साहित्य की उन्नति में यह बड़ी भारी बाधा समझर्नी चाहिए। एक-दूसरे प्रकार की बाधा तब उपस्थित होती है जबकि कोई आचार्य आकर भाषा के अंग-प्रत्यंग पर व्याकरण या अलंकार शास्त्र को ऐसी कड़ी जंजीरें डाल देता है कि उसका इधर या उधर हिलना असम्भव हो जाता है। स्वच्छन्द विहारिणी सरस्वती—नदी एक नहर के रूप में आ जाती है। उसका फैलाव, उसकी नए-नए देशों में सैरें, उसका स्वाभाविक सौन्दर्य—यह सब कुछ सपना हो जाता है। व्याकरण हो, और अलंकार शास्त्र भी हों, किन्तु उनका उद्देश्य भाषा को विद्यमान दशा समझना होना चाहिए, न कि उसे बाँधना ही उसका एकमात्र लक्ष्य हो जाना चाहिए। सरस्वती परमात्मा की दी हुई अमृत नदी है, उसका बन्धन बुरा है, जाति के जीवन को कुंठित करनेवाला है।

सरस्वती की हिंसा करने के बाह्य साधनों में से मुख्य किसी दूसरे साहित्य का भारी आक्रमण है। साहित्यों पर ऐसे आक्रमण प्रायः होते रहते हैं। भारतवर्ष में 18 वीं शताब्दी में फारसी तथा उर्दू का भयंकर आक्रमण हुआ था; जर्मनी के

साहित्य पर भी लगभग उसी समय फ्रेंच भाषा का भयंकर आक्रमण हुआ था और आज फिर हमारे देश के समस्त साहित्य पर अंग्रेजी भाषा का जबर्दस्त हमला हो रहा है। अंग्रेजी बोलना, अंग्रेजी पढ़ना, भाषा में अंग्रेजी घुसेड़ना, अंग्रेजी में पुस्तकें लिखने और समाचार पत्र लिखना—यहाँ तक जातीय सभाओं में व्याख्यान भी अंग्रेजी भाषा में ही देना भारतवासियों का धर्म-सा हो रहा है। यह जातीय सरस्वती की सबसे वड़ी हिंसा है—यह साहित्यिक स्वराज्य का सबसे बड़ा अंग विच्छेद है।

वेद इन सब बाधाओं को दूर करके व्यक्तिगत और जातीय साहित्य के स्वराज्य की रक्षा करने का उपदेश करता है।

[सद्धर्म प्रचारक, 30 दिसम्बर, 1916]

लखनऊ में जातीय-सप्ताह

लखनऊ का जातीय सप्ताह समाप्त हो गया, और अपने पीछे आशा उत्साह और अध्यवसाय की स्मृति छोड़ गया। हम गत सप्ताह बता चुके हैं कि यह सप्ताह लखनऊ में बहुत-सी सभाएँ देखेगा। जहाँ तक हम अनुमान लगा सके हैं सभा सम्मेलनों की संख्या चालीस से कम नहीं रही। इन सब सभाओं ने अपने-अपने मनोवांछित प्रस्ताव पास किए, और आगे से उन्नति करने का निश्चय किया। इन सब सभाओं की केन्द्रभूत जातीय सभा का यह अधिवेशन, न केवल कांग्रेस के अपितु भारतवर्ष के इतिहास में भी सदा स्मरणीय रहेगा। इस अधिवेशन में और जो प्रस्ताव पास हुए वे प्रतिवर्ष होते थे, उनमें इस साल इतनी ही विशेषता थी कि प्रस्ताव करनेवालों का उत्साह बहुत अधिक था। किन्तु एक स्वराज्य-प्रस्ताव ने, और उसी के आधार पर भारत सन्तान का परस्पर जो मेल हुआ है उसने, राष्ट्रसभा के अधिवेशन को विशेष तथा स्मरणीय बना दिया है।

कांग्रेस का यह अधिवेशन अपूर्व कृतकार्यता से युक्त हुआ, यह सर्वसम्मत है। मित्र और शत्रु सभी इस बात को स्वीकार करेंगे। जिसके आँखें या कान हैं, वह इससे इन्कार नहीं कर सकता। इस असाधारण कृतकार्यता के कारण कौन-कौन से हैं ? कृतकार्यता के मुख्य कारणों में से भी मुख्य कारण यह था कि अपने पुराने सब भेदभावों को भुलाकर देश के राष्ट्रीय दल के नेता इस अधिवेशन में एकमत हो सम्मलित हुए थे। सूरत में जिस कलह से भारत के माथे पर कलंक लगा था, लखनऊ में उसका अन्त्येष्टि संस्कार कर दिया गया और शृंगारी नवाबों की राजधानी लखनऊ ने भारत माता का अभिनव शृंगार किया। जहाँ गत सालों में कांग्रेस के प्लेटफार्म केवल एक नर्मदल के नेता दिखाई दिया करते थे, वहाँ इस बार मधोल करके मिसेज बेसेण्ट और डाक्टर रासबिहारी घोष से कुछ दूर लोकमान्य तिलक और कर्मवीर गांधी को बैठा देखकर दर्शकों का हृदय गद्‌गद हो रहा था। कांग्रेस के माथे पर से फूट का कलंक धुल गया था और भाई-भाई को प्रेम मिलाप करता देख जीवित और स्वर्गवासी भारतभक्तों की आत्माएँ आनन्दसागर में हिलोरें ले रही थीं।

इतनी ही नहीं—जो मुसलमान भाई अब तक कांग्रेस से परे-परे रहते थे, इच्छा रहने पर नवोढा वधू की भाँति दूर-दूर हटते थे, वे भी संकोच और भय को छोड़कर अपने भाइयों के गले आ लगे। इस सारे मेल का कारण स्वराज्य का प्रस्ताव हुआ, जिस पर सब देशभक्तों के भेद दूर हो गए। पहले ऐसा एकमत नहीं था। स्वराज्य की जो स्कीम बनाई जा रही थी, उसमें मुसलमानों और हिन्दुओं की संख्या का झगड़ा था। हिन्दुओं की संख्या कितनी हो, और मुसलमानों की कितनी—यह प्रश्न बड़ा कठिन हो रहा था। दोनों पक्षों में खिंचातानी रही। किन्तु अन्त में महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक और श्रीमती एनी बेसेण्ट के उद्योग से सुलहनामा हो गया। सम्भव है, कई हिन्दू और कई मुसलमान उस सुलहनाम से प्रसन्न न हों, किन्तु सुलहनामा चीज ही ऐसी है जिससे सब दलों के सब लोग प्रसन्न नहीं हो सकते, और दूसरी ओर सुलहनामा राजनीति और लोक व्यवहार की जान है। जहाँ तक सत्य का खून न होता हो, वहाँ तक सुलहनामे में कोई हर्ज नहीं, प्रत्युत वह कृतकार्यता का प्राण है।

सुलहनामा हो गया और देशवासियों के सब प्रतिनिधि स्वराज्य की एक स्कीम पर सहमत हो सके। 29 तारीख के दिन वह प्रस्ताव पेश हुआ। देश के बड़े-बड़े राजनीतिक नेता और कांग्रेस के प्रधान मल्लों के इसी दिन भाषण हुए। भारत का दुन्दुभिनाद सुनानेवाले सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने स्वराज्य का प्रस्ताव पेश किया। भाषण का सरांश यह था कि भारतवासी अब अपनी रक्षा के लिए, अपनी उन्नति के लिए और अपनी उन्नति द्वारा संसार का उपकार करने के लिए स्वराज्य चाहते हैं। कांग्रेस का सुरेन्द्र अब समय के साथ बूढ़ा हो रहा है। कांग्रेस के तोपखाने की सबसे बड़ी तोप अब बुढ़ापे के प्रभाव से सिंहनाद अब अपनी ऊँचाई को छोड़ रहा है, किन्तु फिर भी स्वराज्य का प्रस्ताव पेश करने का अधिकार यदि किसी को है तो कांग्रेस के बूढ़े सिपाही को है। मिसेज एनी बेसेन्ट ने इस महाप्रस्ताव का अनुमोदन किया। इस चमत्कारिणी महिला की वाणी में जो जादू है, उसे वे ही जानते हैं जिन्हें कभी उसके प्रभाव में आने का अवसर मिला है। वाणी और अनुभाव की उस सारी शक्ति से, जिसने आपको लाखों के हृदयों की स्वामिनी बनाया हुआ है, मिसेज बेसेण्ट ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया और उपस्थित जनता के हृदयों पर स्वराज्य की उपादेयता अंकित कर दी। भारतमाता की सेवा में अपने आपको बलिदान करनेवाले लोकमान्य तिलक ने अपने सामान्य किन्तु दृढ़ शब्दों में इस प्रस्ताव का समर्थन किया। जिस व्यक्ति ने स्वराज्य के लिए यत्न करने में अपने तन, धन स्वाहा कर दिए, उसको स्वराज्य के प्रस्ताव का समर्थन करना शोभा देता था। आपका सन्देशा सारे देश को यही था कि अब शब्दों और

मुहावरों के दिन हो चुके, अब कार्य के दिन हैं। दृढ़ निश्चयपूर्वक स्वराज्य के लिए यत्न करो और सरकार को समझा दो कि हम स्वराज्य लेंगे और अवश्य लेंगे। बस इसी से स्वराज्य मिलेगा, इसके बिना नहीं। मि. मजरुलहक ने अपनी संक्षिप्त भाषण में मुसलमानों की ओर से स्वराज्य का समर्थन करते हुए कहा कि मैं अपने समस्त राजनीतिक जीवन में हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल के लिए यत्न करता रहा हूँ। आज मुझे अपने यत्न की सफलता दिखाई दी है। अब मुझे सन्तोष है—यदि मृत्यु भी आ जाए तो मैं इस सन्तोष के साथ उसका स्वागत करूँगा कि मेरी अभिलाषा पूर्ण हो गई। इस व्यक्ति ने बरसों तक अपने मुसलमान भाइयों द्वारा 'काफिर' कहाकर भी मेल का गीत अलापना नहीं छोड़ा। सचमुच वह ऐसे शब्द कह सकता था। श्रीयुत विपिन चन्द्रपाल मि. बैप्तिष्टा आदि के भाषण भी स्वराज्य के समर्थन में हुए। सारांश यह कि कांग्रेस के सम्पूर्ण बड़े-बड़े वक्ताओं ने इस प्रस्ताव का परिपोषण किया। इस प्रस्ताव से स्वराज्य मिल सकता है, यह कोई नहीं कह सकता किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रस्ताव को लेकर जो मेल हुआ है वह देश के लिए कल्याण और मंगल होगा। सम्भव है इस प्रस्ताव का भी उतना ही परिणाम हो जितना केवल प्रस्तावों का हुआ करता है, तथापि निकम्मे प्रस्तावों की अपेक्षा उत्तम प्रस्ताव अच्छा है और उसके कारण जो अभेदभाव हुआ है वह व्यर्थ नहीं जाएगा।

कांग्रेस—पण्डाल के पास ही आर्यसमाज का पंडाल था। उस पंडाल में हुए मुख्य तथा चार कार्य वर्णनीय है। आर्य कुमार सम्मेलन 26, 27 तथा 28 को कांग्रेस से बचे हुए समय में होता रहा। हम नहीं जानते कि सम्मेलन के इस अधिवेशन को कृतकार्य कहें या नहीं। यदि उपस्थिति पर दृष्टि डालें तो कह सकते हैं कि अन्य सम्मेलनों से कम न थी। किन्तु इसमें सम्मेलन की विशेष कृतकार्यता नहीं समझनी चाहिए। कारण यह है कि उन दिनों लखनऊ में कांग्रेस तथा अन्य कार्यों के निमित्त इतना जनसमूह भारत के भिन्न-भिन्न भागों से एकत्र हुआ था कि यदि एक समय में सात स्थानों पर भिन्न सोसाइटियों की ओर से व्याख्यान होते थे तो अनायास ही उपस्थिति हो जाती थी। सम्मेलन के सभापति की वकृता उत्तम हुई और प्रस्ताव भी पास हुए। कौन-कौन से प्रस्ताव पास हुए—यह तो पीछे ही ज्ञात होगा। क्योंकि जो प्रस्ताव सूची छपी हुई थी, उसमें से कई प्रस्ताव छोड़ दिए गए थे। और कई परिवर्तित कर दिए गए थे। बोलनेवाले भी उसी समय चुने गए थे और वे अपनी-अपनी वक्तृताएँ देकर उठते गए। कारण यह था कि दिन-भर कांग्रेस के अधिवेशन से थककर रात की सम्मेलन करने की हिम्मत साधारण पुरुषों की नहीं हो सकती। हमारी सम्मति में कांग्रेस के दिनों में ही सम्मेलन करना ठीक नहीं हुआ। इसमें सम्मेलन का कार्य बहुत गौण हो गया। सम्मेलन करानेवाले को अपनी समय विभाग के तथा कार्यक्रम के लिए सदा कांग्रेस की अपेक्षा करनी पड़ती

थी। इसमें कार्यवाही खुले समय में नहीं हो सकी।

आर्यसमाज के पंडाल में 28 दिसम्बर की शाम को 5 बजे से महात्मा मुन्शी राम जी का गुरुकुल शिक्षा प्रणाली पर व्याख्यान था। उपस्थिति बहुत थी, सारा मंडप खचाखच भरा हुआ था। व्याख्यान में आपने गुरुकुल की बहुत-सी विशेषताएँ बताईं। व्याख्यान का प्रभाव उपस्थित जनता पर खूब हुआ। विशेषतया गुजराती और महाराष्ट्रीय सज्जनों की गुरुकुल के लिए बहुत अभिरुचि उत्पन्न हुई।

29 दिसम्बर को प्रातःकाल आर्य समाज के मंडप में राष्ट्रभाषा सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। इस सम्मेलन की जनोपस्थिति ने और सब सम्मेलनों की उपस्थिति को मात कर दिया। विस्तृत और खुला पंडाल भर गया था और उसके चारों ओर दूर-दूर तक मनुष्य ही मनुष्य दिखाई देते थे। यहाँ तक कि कुछ काल के लिए सभा का करना असम्भव प्रतीत होता था किन्तु महात्मा मुन्शी राम जी तथा पंडित मदनमोहन मालवीय जी के पुरुषार्थ से कुछ शान्ति हुई और भारत में एक लिपि–नागरी लिपि और एक भाषा–हिन्दी भाषा के प्रचार का प्रस्ताव पेश हुआ। सभापति के आसन पर महात्मा गांधी विराजमान थे। श्री पंडित मदनमोहन मालवीय जी, श्रीमती एनी बेसण्ट तथा श्रीयुत रामस्वामी अय्यर के व्याख्यान हुए। इन तीनों देश नेताओं ने इस प्रस्ताव का बड़ी योग्यता से समर्थन किया। मद्रासी महाशय का समर्थन विशेष बल और तात्पर्य रखता था। अन्त में कर्मवीर गांधी ने हिन्दी भाषा में अपना भाषण दिया। व्याख्यान अनूठा था, और उन लोगों के लिए विचारणीय था जो भारतीय होते हुए भी अंग्रेजी को ही अपनी भक्ति का पात्र बनाए रखते हैं और भाषा से अनभिज्ञता रखने में लज्जा नहीं करते। आपने व्याख्यान में दो सलाहें दीं। (1) एक तो यह कि सम्मेलन उन स्थानों में करना चाहिए, जहाँ भाषा का प्रचार नहीं। सम्मेलन करके मद्रास आदि प्रान्तवालों को भाषा की उत्तमता बतानी चाहिए। (2) दूसरा यह कि सम्मेलनों को तथा सभाओं को भाषा के प्रचारक अन्य प्रान्तों में भेजकर भाषा सिखाने का प्रबन्ध करना चाहिए। साथ ही कई अन्य उपयोगी सलाहें दीं। आपने कहा कि हमें सरकारी कागजात या प्रार्थना पत्र भाषा में ही लिखने चाहिए, कांग्रेस की भाषा में करनी चाहिए। यह नहीं डरना चाहिए कि सरकार तक हमारी बात नहीं पहुँचेगी क्योंकि यदि हमारी बात अच्छी होगी तो 'लाटसाहब अपने सेक्रेटरी को नहीं तो सी.आई.डी. के पंडित जी को भेजकर पता लगाएँगे कि गांधी जी क्या कहता है' सारांश यह कि राष्ट्रभाषा सम्मेलन का यह अधिवेशन अपूर्व कृतकार्यता से हुआ और उपस्थित जनता पर असाधारण प्रभाव हुआ।

सायंकाल 3 बजे से प्रसिद्ध कवि पंडित श्रीधर पाठक के सभापतित्य में हिन्दी कविता–सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, जिसमें समस्या पूर्तियाँ सुनाई गईं। हम नहीं कह सकते कि अन्य उपस्थित जनों को इस कविता सम्मेलन में रस आया या

नहीं, अपने लिए हम कह सकते हैं कि बहुत रसिक होने का यत्न करने पर भी हम कविता का रसास्वादन न कर सके। सम्भवतः इसमें कवियों का दोष नहीं था यह सम्मेलन चुने हुए काव्य प्रेमियों में किया जाता या कम-से-कम इसके लिए कोई बन्द और परिमित मन्डप चुना जाता तो अधिक कृतकार्यता प्राप्त होती।

देश भाषा का आदर देश में कब होगा ? यह प्रश्न अब बहुत कठिन नहीं रहा। यह ठीक है कि कांग्रेस और सोशल कान्फ्रेंस में भाषा का प्रयोग कुफर समझा जाता है, यह भी ठीक है कि पढ़-लिखे लोगों के दिमाग अभी सुधरे नहीं। तो भी एक घटना ने हमारे हृदय को प्रफुल्लित कर दिया और आशा से भर दिया है। कांग्रेस में महात्मा गांधी को एक प्रस्ताव पेश करने के लिए कहा गया। आपने अपने सिद्धान्तानुसार हिन्दी में बोलना शुरू किया। इस पर चारों ओर से मद्रासी तथा महाराष्ट्रीय आदि सज्जनों ने 'अंग्रेजी', 'अंग्रेजी' का शोर मचा दिया। इस पर कर्मवीर गांधी ने वह प्रस्ताव अंग्रेजी में पढ़ दिया और यह कहकर आप बैठ गए कि 'जब तक कांग्रेस अपनी राष्ट्रीय भाषा में भाषण सुनने को तैयार नहीं तब तक मैं भी कांग्रेस में बोलने को तैयार नहीं। जिन लोगों ने कभी महात्मा गांधी को अंग्रेजी में भाषण करते सुना है वे जानते हैं कि आप अंग्रेजी बोलने में किसी मुवक्ता से भी कम नहीं हैं। फिर भी टूटी-फूटी देशभाषा बोलना और लच्छेदार अंग्रेजी बोलकर शाबासी लेने का यत्न न करना कितना बड़ा स्वार्थ त्याग है ? जिन लोगों की मातृभाषा हिन्दी है, किन्तु जो अंग्रेजी लिख या बोलकर वाह-वाह लूटे बिना नहीं रह सकते, वे क्या इस महापुरुष के चरित्र से कुछ शिक्षा प्राप्त करेंगे ?

[सद्धर्म प्रचारक, 6 जनवरी, 1917]

सच्चा स्वराज्य

[4]

सामाजिक स्वराज्य

व्यक्ति के लिए तीन प्रकार का स्वराज्य बतलाया जा चुका है। वह स्वराज्य मनुष्य मात्र द्वारा उपादेय है और बलिदान पाने योग्य है। वह स्वराज्य तीन प्रकार का है——(1) आत्मिक स्वराज्य (2) धार्मिक स्वराज्य (3) साहित्य स्वराज्य।

व्यक्तियों के समूह का नाम समाज है। व्यक्तियों के लिए जो स्वराज्य उपादेय है, समाज के लिए भी वही स्वराज्य उपादेय है। समाज को भी आत्मिक, धार्मिक और साहित्यिक स्वराज्य की आवश्यकता है। इन तीन स्वराज्यों के होते हुए ही समाज उन्नति कर सकता है, इनकी विद्यमानता में ही उसके अंग खुली तौर पर फैल और बढ़ सकते हैं। जिस समाज में तीन प्रकार का स्वराज्य नहीं रहता, चीनी स्त्रियों के पैरों की भाँति वह बढ़ नहीं सकता।

वह समाज कई रूपों में प्रकाशित होता है। समाज का एक साधारण और मौलिक रूप परिवार है, परिवारों के समूह का नाम जाति है। वही जाति एक राज्य और एक देश के साथ दृढ़ सम्बन्ध होने पर राष्ट्र नाम से पुकारी जाने लगती है। परिवार, जाति और राष्ट्र ये तीनों ही अपने-अपने ढंग का स्वराज्य चाहते हैं। आजकल पृथ्वी पर परिवारों या जातियों के नहीं—राष्ट्रों के दिन हैं। आजकल की सामाजिक इकाई राष्ट्र ही है। परिवार की इकाई उन स्थानों में या जातियों में ही पाई जाती है, जिनमें सभ्यता अभी निचली अवस्था से नहीं निकली या अत्यन्त गिरकर नीचे दर्जे की हो गई है। जाति अर्थात् रुधिर सम्बन्ध में बँधे हुए परिवार ही जाति नाम से कहे जाते हैं। आज भी जातियाँ हैं किन्तु उनका बन्धन एकता का अधिक प्रेरक नहीं। केवल आर्यजाति में होना अंग्रेजों और जर्मनों में युद्ध नहीं रोक सका, पीली जाति का सम्बन्ध चीन और जापान की तलवारों को म्यान में नहीं ढाल सकेगा। जातियाँ अपने सम्बन्ध से एकता का साधन हो सकती हैं, किन्तु एकमात्र साधन नहीं हो सकता है। अब एक-एक राष्ट्र में अनेक जातियों के लोग होते जाते हैं, और वे राष्ट्र के बन्धन में बँधकर जातीय भेदों को भूल जाते हैं।

राष्ट्र का स्वराज्य

राष्ट्र का स्वराज्य व्यक्ति के स्वराज्य के समान तीन प्रकार का तो होता है, किन्तु उसका आत्मिक स्वराज्य राष्ट्र के सम्बन्ध में और ही प्रकार का होता है। वह स्वराज्य वेद के शब्दों में मही-स्वराज्य है। राष्ट्र का मही अर्थात् पृथ्वी से विशेष सम्बन्ध निश्चित है—आवश्यक है। इसलिए राष्ट्र के विचार में मही को नहीं भुलाया जा सकता। एक देश में एक राज्य के नीचे रहनेवाले समाज का नाम राष्ट्र हैं राष्ट्र के लिए आवश्यक है कि वह अपनी मही-भूमि या मातृभूमि के स्वराज्य की भी रक्षा करे। वह रक्षा राज्य द्वारा हो सकती है इसलिए राष्ट्र के लिए राज्य रक्षा द्वारा मही रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है।

राष्ट्र का स्वराज्य इस प्रकार इन रूपों में परिणत हो जाता है—

(1) धार्मिक स्वराज्य
(2) साहित्यिक स्वराज्य
(3) मही-स्वराज्य

राष्ट्र का धार्मिक स्वराज्य

जैसे व्यक्ति की अपनी इडा धार्मिक स्तुति है—वैसे राष्ट्र की भी इडा है। राष्ट्र का भी अपना धर्म है। यह हो सकता है कि एक ही राष्ट्र में अनेक मतों पर ही विश्वास रखनेवाले पुरुष विद्यमान हों, किन्तु जो राष्ट्र पक्का राष्ट्र बन जाता है, उसका धर्म प्रायः एक प्रकार का हो जाता है। एक ही धार्मिक भाव का उनमें संचार हो जाता है। उनको राष्ट्रीय विशेषताएँ कहते हैं। राष्ट्र के लिए उन राष्ट्रीय धर्म के अंगों का सुरक्षित करना अत्यन्त आवश्यक है।

[सद्धर्म प्रचारक, 13 जनवरी 1917]

एक और प्रमाण

'अंग्रेजी और भाषा के शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों की ओर मेरा निर्देश है। ऊँची शिक्षा के लिए इस समय हम अंग्रेजी भाषा पर अवलम्ब रखते हैं। यह सम्भवतः इसलिए है कि आजीविका का द्वार अंग्रेजी है और देशी भाषा में पाठ्य पुस्तकें नहीं मिलतीं, किन्तु परिणाम स्पष्ट है। विद्यार्थी एक विदेशी भाषा द्वारा कठिन विषय समझने का यत्न करते हैं, और बहुत अंशों में समझने की योग्यता न होने से पाठ्य पुस्तकों को स्मरण कर लेते हैं। इस स्मरण-प्रथा की हम आलोचना करते हैं, किन्तु मेरे मन में इससे उन विद्यार्थियों का आदरणीय जोश टपकता है, जो ज्ञान की अभिलाषा छोड़ने की अपेक्षा उन समग्र पृष्टों या समग्र पुस्तकों को कण्ठस्थ कर लेते हैं, जिनका भाव भी वे पूर्णतया नहीं समझते। यह तो शिक्षा-भास है। कुछ दिन हुए मुझे एक प्रसिद्ध भारतवासी के साथ बतचीत करने का अवसर मिला, जिसने मुझे अपना अनुभव बतलाया। जब उसने इतिहास विषय लिया और देखा (अब वह अंग्रेजी का प्रसिद्ध विद्वान् है) कि उसका अंग्रेजी का ज्ञान पाठ्य पुस्तक समझने के लिए पर्याप्त नहीं है उसने उसे सम्पूर्णतया याद करने का निश्चय किया। परीक्षा में प्रश्न आया, जिसके विषय में उसे यह तो पता लग गया कि उसका उत्तर अमुक पृष्ठ पर है, किन्तु यह ज्ञात न हुआ कि प्रसंगागत भाग कौन-सा है। बुद्धिमत्ता सावधानी में है—उसने सारा पृष्ठ लिख डाला। इससे उसे कुछ कम नम्बर मिले—उसने कुछ अधिक नम्बरों की आशा की थी। परीक्षक से पूछने पर उसे उत्तर मिला कि उत्तर इतना असम्बद्ध था कि प्रश्न समझकर लिखा हुआ प्रतीत नहीं होता था। मेरी राय में यह गवाही विद्यमान-शिक्षा प्रणाली के दोषों को स्पष्ट कर देती है। मैं आपसे पूछता हूँ और एक विश्वविद्यालय का विद्यार्थी रह चुकने की हैसियत से अपने आप से पूछता हूँ कि यदि हमारे समय में एक विदेशी भाषा ही शिक्षा का माध्यम होती तो हमारी क्या गति होती ? क्या हम हिम्मत हारकर पढ़ना ही न छोड़ देते और उन विद्यार्थियों के लिए मेरे हृदय में बड़ा आदर भाव उत्पन्न होता है, जो दूषित रीति द्वारा डाले हुए भार को उठाने का यत्न करते हैं।' इत्यादि।

पाठक वृन्द ! ये सम्पादक के या किसी पक्षपाती भारतवासी के वचन नहीं हैं। ये भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के वचन हैं जो उन्होंने अभी दिल्ली

में शिक्षा सम्बन्धी एक सभा में व्याख्यान देते हुए कहे थे। हमें यह पहले से ही ज्ञात था कि वर्तमान वायसराय की इस बारे में क्या सम्मति है ? उसे जनविदित करके आपने बड़े साहस का काम किया है। ये वचन हमारी सम्मति में बहुत ही जोरदार शब्दों में वर्तमान शिक्षा प्रणाली के भयंकर दोष का वर्णन कर देते हैं। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का बड़े-से-बड़ा पक्षपाती भी अपनी प्रणाली के एक अंग की पुष्टि इससे अधिक जोरदार शब्दों में शायद न कर सकता। हम समझते हैं, सरकारी तौर से वर्तमान शिक्षा प्रणाली का ऐसा खंडन अभी तक इस बल से किसी ने न किया था। यह बड़े साहस का कार्य था। इन स्पष्ट शब्दों के लिए वर्तमान बड़े लाट हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

इन सारे वाक्यों से वर्तमान प्रणाली का दोष दिखाकर आपने यह भी कहा है कि इसके दो इलाज हो सकते हैं। या तो देशी भाषा को शिक्षा में स्थान दिया जाए, या अंग्रेजी पर और जोर दिया जाए ये सम्भव इलाज हैं, किन्तु आपके बोलने का सारा झुकाव इसी ओर है कि एक विदेशी भाषा में शिक्षा देना अस्वाभाविक है।

ऐंग्लो इण्डियन समाचार पत्र और उल्टे दिमाग के लोप शायद इससे यही तात्पर्य निकालेंगे कि भारतीय विद्यार्थियों के दिमागों को अंग्रेजी की रटन्त से और भी सड़ाया जाए, किन्तु भाषण का तात्पर्य स्पष्ट है। जो दोष का मूल है, उसे उखाड़ दो; टहनियों की काँट-छाँट से क्या होगा। विदेशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना छोड़ दो, मातृभाषा द्वारा विद्यार्थियों को शिक्षा दो। फिर देखो, घोटा लगाने की कितनी कम आवश्यकता पड़ेगी। यह गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का एक मुख्य सिद्धान्त है। विचारशील लोग इस सिद्धान्त को स्वीकार कर रहे हैं।

[सद्धर्म प्रचारक, 3 फरवरी 1917]

धार्मिक शिक्षा का जटिल प्रश्न

आजकल यूरोप के सामने धार्मिक शिक्षा का जटिल प्रश्न उपस्थित है। साम्प्रदायिक धार्मिक शिक्षा प्रायः कट्टरपन की ओर साथ-साध ही हठ को लानेवाली हो जाती है। वह हठीलापन अशान्ति का कारण होता है। इस आशंका के डर से यूरोप के कई देशों ने प्रायः पाठशालाओं से धार्मिक शिक्षा को बाहर कर दिया है। इसका परिणाम और भी भयंकर हुआ है। अधार्मिकता की जबरदस्त लहर ने यूरोप पर आक्रमण किया है, और उस आक्रमण के नीचे यूरोप के अंग थर-थर काँप रहे हैं। इसका इलाज क्या है ? इलाज यह नहीं कि धार्मिक शिक्षा का द्वार ही बन्द कर दिया जाए न यही इलाज है कि हठीली साम्प्रदायिक शिक्षा दी—परन्तु साम्प्रदायिक अनुदारता को पास न आने दो। इस समय गुरुकुलों ने धार्मिक शिक्षण की पद्धति हाथ में ली है। यह बड़ा आवश्यक प्रश्न है कि क्या वे इस कठिन समस्या को हल कर सकेंगे ? हिन्दू यूनिवर्सिटी भी धार्मिक शिक्षा का प्रोग्राम लेकर देश के सामने आई है। देखना है कि वह इस प्रश्न का क्या उत्तर निकालती है। गुरुकुलों का दावा है कि धार्मिक शिक्षा देते हुए वे साम्पद्रायिक अनुदारता को दे सकेंगे. हमें आशा है कि यह दावा पूर्ण होगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 28 अप्रैल, 1917]

नई सरकारी रिपोर्ट में आर्यसमाज

सरकारों का स्वभाव विचित्र होता है। उसके किसी कार्य के विरुद्ध हलचल मचाओ। यदि वह हलचल ऐसी हो कि सरकार को किया हुआ कार्य पलटना पड़े, तब तो ख़ैर सल्ला। किन्तु यदि ऐसा न हो सके, यदि हलचल इतनी प्रबल न हो कि सरकार तंग आकर अपने किए पर पछताने लगे, तो हलचल मचानेवालों की ख़ैर नहीं। सरकार की दृढ़ता रोज-रोज बढ़ती जाती है। हलचल करनेवालों को नित्य कई कठिनाइयाँ भोगनी पड़ती है। सरकारों का स्वभाव ही ऐसा होता है। अत्यधिक हलचल मचने से बंग-विच्छेद भी उलट गया, परन्तु साधारण हलचल करने से आर्यसमाज के विषय में पिछली युक्त प्रान्त की सरकारी रिपोर्ट में जो शब्द लिखे गए थे, वे नहीं बदले जा सके। इस पर यदि प्रजा अधिक और जोरदार हलचल को लाभदायक समझने लगे तो सरकार को आश्चर्य क्यों होना चाहिए। इसमें प्रजा का दोष नहीं, दोष सरकार के स्वभाव का है। यदि सरकार थोड़े में ही किसी कार्य का अनौचित्य समझ जाया करे तो अधिक हलचल मचाने की आवश्यकता न पड़े किन्तु देशों के दुर्भाग्य से शासकों के दिमाग ऐसे ठोस हो जाते हैं कि वे 'भज्यन्ते न नमन्ति च' कोई जबरदस्त चोट ही उन्हें दिला सकती है।

ये विचार हमारे मन में नई सरकारी रिपोर्ट देखकर आए। पिछली रिपोर्ट को इस रिपोर्ट ने मात कर दिया है, मानो चन्द्रग्रहण लगा दिया है। इसमें दिल खोलकर आर्यसमाज पर सम्मतियाँ प्रकट की गई है। आर्यसमाज के खंडनात्मक साहित्य पर जो कुछ लिखा गया है, उसे छोड़ भी दें तो यह आश्चर्य होता है कि अब सरकार अपने आपको आर्यसमाज के विचारों पर राय देने के भी योग्य समझने लगी है। ऐसा पता लगा है कि संयुक्त प्रान्त की 1915 की सरकारी रिपोर्ट लिखनेवाले महाशय केवल शासक ही नहीं बड़े भारी दार्शनिक और धर्मज्ञ भी हैं। आर्यसमाज के मौलिक विचारों की हँसी उड़ाई गई है और उनका बड़े तुच्छता-सूचक शब्दों में कथन किया गया है। कहते हैं, कि जिसके दिमाग में बहुत स्वतन्त्र विचार घूमते हों, वह शासक नहीं हो सकता; हमारी राय में जो सज्जन बिना हर विषय में टाँग अड़ाए नहीं रह सकता, वह शासक होने के योग्य नहीं है। फिर भारतवर्ष की तो दशा ही विचित्र है। यहाँ जातियाँ भिन्न, धर्म भिन्न, भाषा तक भिन्न है।

सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि शासकों के भाषा धर्म और सभ्यता प्रजा से भिन्न हैं। ऐसी दशा में सावधान और चौकन्ने होकर काम करना शासकों के लिए आवश्यक है। न जाने प्रजा की कौन-सी ऐसी बात हो, जिसको ठीक-ठीक समझना शासक मंडल के लिए सम्भव ही न हो। शासक सर्वज्ञ नही होते, फिर उन्हें सर्वज्ञता का दावा करने का भी अधिकार नहीं है। यदि वे दावा करने ही लगे तो प्रजा का कर्त्तव्य है कि ऊँची आवाज से उन्हें सुना दे कि 'महाशय यहीं तक, अगो नहीं'।

अब हम 1915-1916 की संयुक्त प्रान्त की सरकारी रिपोर्ट के कुछ-कुछ उद्धरण देकर अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं। समाचार पत्र और साहित्य के शीर्षक के नीचे इस प्रकार सम्मतियाँ दी गई हैं–

'मुसलमानों की लेख शैली विरोधियों की अपेक्षा अधिक नर्म रही, यद्यपि जब आर्यसमाज ने उन्हें भड़काया तो उन्होंने दिखा दिया कि वे भी कठोर उल्टी चोट कर सकते हैं।' पृष्ठ 55

इन पंक्तियों में कठोरता का सारा अपराध आर्यसमाज के कन्धों पर डाला गया है। राष्ट्रीयता के विचारों पर सम्मति प्रकट करते हुए लिखा है–

'हिन्दू चाहेगा कि भारतवर्ष का शासन हिन्दू करें, और सब विदेशी रीति-रिवाज आदि यहाँ से उड़ जाएँ। मुसलमान चाहेगा कि भारतवर्ष एक बड़े पानइस्लामिक फेडरेशन का भाग बन जाए। आर्यसमाजी वेदों में ज्ञान का इतना भंडार पाएगा, जितना वर्तमान समय में नहीं पाया जाता।'

इन्हें सरकारी रिपोर्ट भारतवासियों के विचारों का सीमा तक पहुँच जाना चाहती है। इन उपयुक्त तीन स्थापनाओं में से पहली दो जहाँ सामान्यतः हिन्दू और मुसलमान राष्ट्रीय दलवालों के विषय में सर्वथा अशुद्ध विचार देती हैं, वहाँ अन्तिम जिस मजाक के भाव को प्रकट करना चाहती है, आर्यसमाज उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। हाँ, आर्यसमाज मानता है कि वेदों में वह ज्ञान भरा हुआ है जो पश्चिमीय विद्वानों के दिमागों में अभी तक नहीं आया है, और वह अपनी स्थापना के लिए हेतु रखता है। अन्य मतावलम्बी उसके सिद्धान्त पर आक्षेप करते हैं जो वह उत्तर भी देता है, किन्तु सरकार को किसी मत या सम्प्रदाय के मौलिक सिद्धान्त पर मजाक उड़ाने का क्या अधिकार है ? हम स्पष्ट कहते हैं कि प्रजा के किसी भी भाग के धार्मिक विचारों पर आक्षेप या उपहासपूर्ण दृष्टि डालना भारतीय सरकार के अधिकारों से बाहर है।

आगे चलकर सरकारी रिपोर्ट के लेखक ने ऐतिहासिक प्रश्नों तक हल कर डाले हैं। 'कई हिन्दू इतिहास लेखक इतनी दूर तक चले गए कि उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि जापानी लोग भारत से गए हुए प्रवासियों की सन्तान थे, जबकि दूसरे ने सम्मति दी कि चीन फारस और इंग्लैंड के राज्य 'हमारे पूर्वजों' के कथन

से महाभारत युद्ध में भाग लेने आए थे।'

इन कथनों पर सरकारी रिपोर्ट आश्चर्यचकित है किन्तु शोक यह है कि सरकारी रिपोर्ट सर्वज्ञ नहीं हैं। उसे यह न समझ लेना चाहिए कि वह इतिहास का भी उतना ही बड़ा पंडित है, जितना बड़ा धर्म का।

हम फिर कहते हैं कि उपर्युक्त उद्धृत वाक्यों में तीन बातें आक्षेप योग्य हैं (1) आर्यसमाज और मुसलमानों के झगड़े में आर्यसमाजियों पर कटुभाषिता का दोष फेंका गया है (2) आर्यसमाज का मौलिक सिद्धान्त है कि वेद में सब उपयोगी ज्ञानों के मूलसूत्र विद्यमान हैं। इस पर सरकारी रिपोर्ट में उपहासपूर्ण सम्मति प्रकट की गई है। (3) तीसरी सम्मति इतिहास विषयक है परन्तु वह सूचित करती है कि भारतवर्ष के शासक धीरे-धीरे सर्वज्ञ हो रहे हैं। जैसे अब राजनीतिक मामलों पर नियम पास किए जाते हैं या मुक़दमों के फैसले होते हैं, ऐसे ही आगे से सरकार ऐतिहासिक विषयों पर भी आज्ञाएँ निकाला करेगी। जो उनसे उलटा इतिहास मानेगा उसे पहले सरकारी रिपोर्ट में समझाया जाएगा, फिर जुदा सूचना दी जाएगी और अन्त में शायद सरकार को कोई कड़वा कार्य भी करना पड़े। किन्तु हम स्पष्ट कहे देते हैं कि प्रजा भारत की सरकार को इतना शीघ्र सर्वज्ञ न बनने देगी। आर्यसमाज को भी अपने अधिकार जोरदार भाषा में बतलाने पड़ेंगे ताकि सरकार को आए साल उस पर और उसके सिद्धान्तों पर लाँछन लगाने का साहस न पड़े।

अमरीका और इंग्लैंड

अमरीका भी मैदान में आ कूदा, और इंग्लैंड के गले मिलकर कूदा है। आजकल मि. बालफूर अमरीका गए हुए हैं। वहाँ ब्रिटिश और अमरीकन राजनीतिज्ञों में खूब मेलजोल हो रहे हैं। दोनों देश मिल-जुलकर मानो दूध मिश्री हो रहे हैं। यह स्वाभाविक ही है। यदि दोनों अंग्रेजी बोलनेवाली जातियाँ एक न हो सकें, तो फिर भाषा में बल ही क्या रहे ? भाषा एक शक्ति है, और भाषा की एकता जाति या जातियों को एक-दूसरे की ओर खिंचती है। जो लोग भाषा के बल पर विश्वास नहीं करते, वे जरा इस दृष्टान्त को देखे। यों देखें तो अमरीका और इंग्लैंड के राजनीतिक हिताहित समान होते हुए भी कई अंशों में असमान हैं। अमरीका के फिलिपाइन द्वीप को जो स्वाधीनता-सी दे दी है उसके कारण भारतवर्ष में अंग्रेजों को हमेशा शर्मिन्दा होना पड़ता है। कई दिल चले अमरीकनों को कनाडा में ब्रिटिश राज्य बहुत खटकता है। ये सब बातें हैं, किन्तु भाषा की एकता आज भी इंग्लैंड अमरीका को एक-दूसरे की ओर खिंचती हैं और आगे भी खिंचती रहेगी।

दया के सागर उखड़ रहे हैं

बेचारे भारतवासियों की दशा पर ऐंग्लो इण्डियन पत्रों की ओर से दया के सागर

उमड़ रहे हैं। बेचारे बेवस हैं, क्या करें, नहीं तो चुटकी बजाते ही भारतवर्ष को उन्नत कर डालते। दया में तो जरा भी कसर नहीं है। कसर इतनी ही है कि वे अपनी इच्छाएँ पूर्ण नहीं कर सकते। यदि कहीं वे अपनी इच्छाएँ पूर्ण कर सकते तो आज भारतवासी इतना शोर न मचा रहे होते, क्योंकि उनमें शोर मचाने की शक्ति ही न रहती। आजकल पायनियर पत्र भी दयामय कृपामय रूप धारण कर रहा है। भारतवर्ष में अनेक लिपियाँ प्रचलित हैं, इससे देश की बड़ी दुर्दशा हो रही है। कई बिगड़े हुए दिमाग के लोग नागरी लिपि को भारत की एक लिपि बनाना चाहते हैं, किन्तु वे भूले हुए हैं। भला भारतीय भाषाओं के लिए कहीं भारतीय लिपि भी काम योग्य हो सकती है ? नागरी भाषा में बड़ी बुराई यह है कि वह बहुत शीघ्र ही सारे भारत की एक भाषा हो सकती है। इसलिए विलायत के मि. नौलभ के साथ एकमत होकर पायनियर महाशय भी राय देते हैं कि भारतवर्ष को रोमन लिपि झटपट स्वीकार कर लेनी चाहिए। रोमन लिपि के बड़े लाभ हैं। एक भारी लाभ यह है कि अंग्रेज लोग देसी भाषाओं को देसी लिपि की अपेक्षा रोमन लिपि में अधिक सुगमता से पढ़ सकते हैं। यह कोई कम लाभ नहीं है। दूसरा लाभ यह है कि भारतवासी भी अब बहुत-से—चाहे प्रतिशतक कितने ही कम हों—रोमन् लिपि जान गए हैं, वे सब एकदम इसके प्रयोग से आराम पा सकेंगे। यह पुण्य सलाह देने के लिए पायनियर ने एक मुख्य लेख लिखा है। उसके अन्त में आप लिखते हैं कि 'इस कार्य के सम्पन्न होने में एक ही अड़चन है। भारतवासी इसे स्वीकार नहीं करेंगे'। भारतवासियों की यही तो भूल और अज्ञता है कि वे पायोनियर जेसे हितैषियों की निःस्वार्थ भाव से दी हुई अछूती सलाह को सिर माथे पर नहीं रखते, और उपेक्षित कर देते हैं।

[सद्धर्म प्रचारक, 12 मई, 1917]

संन्यासी का सन्देश आर्य जाति के प्रति

निष्काम कर्त्तव्य–परायणता के जीवन का संचार किस प्रकार संसार में हो–इसका विचार करने के लिए मैंने आर्य जाति को ही क्यों सम्बोधन किया है ? यह प्रश्न स्वाभाविक है परन्तु इसका उत्तर भी वहुत स्पष्ट है। यह ठीक है कि आर्य जाति इस समय सभ्य संसार की दृष्टि में गिरकर रसातल को पहुँच चुकी है, परन्तु साथ ही इसको भी नहीं भूलना चाहिए कि जिस जाति की आँख अभी-अभी खुली है और जिसने कि अपनी गिरावट को सबसे पीछे अनुभव किया है, वह यही जाति है। अन्य जातियों ने जब आँखें खोली थीं तव सभ्य संसार में भोग जीवन की दीवाली थी। यूरोप के फड़दार राजनैतिक मोंटेकार्लो में बैठे ऐसी जागी हुई जातियों का प्रेम से स्वागत करते और जब एक बार उन्हें पासे का मजा आ जाता तो फिर उनकी वही हालत होती जो सिंह की लहू मुँह लग जाने पर होती है। ये तो सब भोग के जीवन में बह चुके हैं, इस अंश में आर्य जाति सौभाग्यवती है कि उसकी आँखें पूर्ण रीति से उस समय खुली है जब यूरोप के पोलिटिकल मोंटेकार्लो का दीवाला निकल चुका है। अब यूरोप की सभ्यता और उसकी राजनैतिक और उसकी धर्म पद्धति का पोल खुल चुकी है। इसलिए गत शताब्दी में साथ की जातियों को थोड़े काल में ही उन्नत देखकर जो ईर्ष्या का भाव भारत के राजनैतिक नेताओं के हृदय में उत्पन्न होता रहा उसे अब दूर करके परमात्मा का धन्यवाद करना चाहिए कि पुनः उसने अपनी अपार दया से उस भँवर में पड़ने का अवसर नहीं दिया, जिसमें पड़कर अन्याश्रित जातियों को सोचने का ही अवसर नहीं मिलता था।

इस समय तक परमेश्वर के अटल न्याय-नियम के अनुसार भारतनिवासी अपने पूर्व कर्मों का फल भोग रहे हैं। यह कौन कह सकता है कि कब तक उन कर्मों का फल और भोगना पड़ेगा। परन्तु वह फल भोग का समय अनुमान से समाप्ति पर ही प्रतीत होता है, क्योंकि जहाँ आर्यजाति को अपनी शक्ति और अपने अस्तित्व का ज्ञान हो चला है वहाँ ब्रिटिश जाति की वर्तमान विचार–लहर प्रकट कर रही है कि भारत को अब एक जागृत शक्ति समझा जाने लग गया है। ऐसे समय में जब संसार की सर्व सभ्य जातियाँ एक-दूसरे के लहू की प्यासी घोर युद्ध

में सम्मिलित हैं, एक आर्य जाति ही है जो कोई नया परीक्षण कर सकती है। एक बात और है। पश्चिमी सभ्य जातियों के लिए अवश्य यह नया परीक्षण कहा जा सकता है परन्तु आर्य जाति के लिए यह कोई नया परीक्षण नहीं।

आर्य जाति के गौरव का समय वह था, इसके ऐश्वर्य का मध्यकाल वह था, जबकि इस देश में तप और निष्काम–परायणता का ही राज्य था। परमेश्वर की कृपा से वह इतिहास प्राचीन उपनिषद् ग्रन्थों तथा बाल्मिकी रामायणादियों में सुरक्षित चला आया है। महाभारत के भोग प्रधान समय में उसका नाश हुआ, परन्तु शताब्दियों के पश्चात् प्रायश्चित पर प्रायश्चित करते हुए, इस जाति ने शुद्धि की भट्टी में अपने आपको बाधित होकर पवित्र किया है। इसलिए यदि संसार के अन्दर फिर से भोग-जीवन को हटाकर पवित्र कर्त्तव्य परायणता के कर्म जीवन का प्रचार करने के लिए आर्यजाति से आशा रखी जाए तो उसे अत्याशा नहीं समझना चाहिए।

परन्तु यहाँ राजनीतिक दल में खलबली मच जाती है। वे घबराकर पूछते हैं–"क्या तुम फिर से हिन्दुओं को प्राणाहार त्याग का हमें ग्रास बनाना चाहते हो ? इस घातक त्याग ने तो हमें कहीं का नहीं छोड़ा, इसके पँजे में हम फिर न फँसेंगे। निस्वार्थ जीवन के अर्थ क्या हैं। स्वार्थ के बिना संसार में सिद्धि कहाँ होती है और स्वराज्य कब मिल सकता है। हमारा स्वार्थ घृणित नहीं, प्रत्युत यह व्युत्पन्न स्वार्थ (enlightened self-interest) है जिसके बिना कोई जाति जीवित नहीं रह सकती। तुम बहुत ऊपर क्यों उड़ते हो ? जरा पृथ्वी पर उतरो और जीवन की वास्तविकता को देखो।"

भारत के राजनीतिक नेता भूले हुए हैं यदि वे यह समझते हैं कि भारत के व्युत्पन्न स्वार्थ में भी उनको कृमकार्यता के लिए निस्वार्थ जीवन की शरण न लेनी पड़ेगी। घातक त्याग को तो मैंने भी पाप ही समझ रखा है, परन्तु अकर्मण्यता और बात है और निष्काम भाव का कर्म-जीवन कुछ और बात। क्या भोग के जीवन से स्वराज्य की प्राप्ति होगी ? कैसी भूल है ? यदि तुम्हारी स्वराज्य की इच्छा कर्त्तव्यपरायणता के विचार से नहीं प्रत्युत अधिकारों के भोग के लिए ही है, तब भी वह भोग बिना तप और कर्त्तव्यपरायणता को प्राप्त न होगा।

दृष्टान्त इस झगड़े को शीघ्र निपटा देंगे। तुम अधिकारों के लिए लड़ते रहे, फक्कड़ों के लिए युद्ध करते रहे। यदि एक स्वर होकर आर्यजाति किसी पर बल दे तो प्रायः ब्रिटिश गवर्नमेन्ट उनकी याचना का आदर करती है। परन्तु वह एक स्वर तो होने नहीं पाता। तुममें से कितने कांग्रेस के नेता थे जिन्हें हाईकोर्ट की जजी ने और अन्य स्वार्थ सिद्धियों ने देश और जाति की सेवा से वंचित कर दिया। कोई बिरला ही कर्मजीवी निकला जिसने प्रलोभन के समय अपने देशसेवा के सत्यव्रत को दृढ़ रखा। तुमको गिराने वाले उस जाति में उत्पन्न हुए हैं जिसकी राजनैतिक चालों में मुकाबला करनेवाला गत 1000 वर्षों ने कोई उत्पन्न नहीं किया और जिस

जाति की नीति ने आज भी सारे संसार को वश में कर रखा है। ऐसी नीति का मुकाबला तुम नीति से क्या करोगे। राजनीति में तो साम-दाम, दण्ड और भेद सभी काम देते हैं। मनु महाराज ने भी इसका समर्थन किया है तब यदि उन्हीं साधनों का अनुसरण ब्रिटिश राजकर्मचारी करें तो उन्हें दोष कौन दे सकता है ? राजव्यवस्था के ये सब आवश्यक अंग हैं। तब निर्बल लोहा सबल इस्पात को क्या काटेगा ? यहाँ लोहे का लोहे से मुकाबला नहीं हो सकता। यदि जबरदस्त इस्पात की चोट भी पानी पर पड़े तो अकृत कार्य होकर लौट जाएगी। तुम्हारी जाति बल की तरह निर्मल होनी चाहिए, जिस पर सहस्र घनों की चोट भी कुछ असर न कर सके। तुम्हारे सहस्रों भोग जीवियों को जहाँ ठहरने का साहस नहीं हुआ वहा एक तपस्वी, कर्मवीर गांधी, चट्टान की तरह खड़ा है। उसे कोई प्रलोभन डिगा नहीं सकता। क्यों ? इसलिए कि वह ब्रह्मचारी है।

तब कर्त्तव्य क्या है ? ब्रह्मचर्य के पुनरुद्धार के सिवाय न तो भोग-जीवन से ही मुक्ति होगी और न ही कर्मपरायणता का जाति में प्रचार होगा। ब्रह्मचर्य से ही वे तपस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हो सकेंगे जो प्रलोभनों से मुक्त होकर शासन पद्धति के निर्माण का काम निष्पक्षता से कर सकें। क्षत्रिय सचमुच धर्म की रखा का कार्य कर सकेंगे और वैश्य देश के ऐश्वर्य को बढ़ा सकेंगे। परन्तु सबसे पहले राजनैतिक नेताओं को भोग जीवन के लिए तिलांजलि देनी होगी।

जब नंगे सिर और नंगे पैर गाढ़े के वस्त्र धारण करने वाले गांधी को नील वाले अंग्रेजों के शोर मचाते हुए भी गवर्नमेन्ट के कमीशन में बैठा लिया तो कोट, पतलून और कालर नकटाई बिना तुम्हें भी राजद्वारों से जवाब न मिलेगा, क्या तुम देखते नहीं कि जब-जब तुमने जाति के नाम पर राजदरबार से कुछ माँगा तभी तब बलपूर्वक उत्तर मिला कि यह याचना प्रजा की ओर से नहीं। तुमने समझा कि तुम्हारे शासकों ने गप्प मारी है, परन्तु यह तुम्हारी भूल है। तुम्हारे शासक जानते हैं कि तुम भोगजीवी हो, तुम्हें भोग की आवश्यकता है। इसलिए वे विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि सारी प्रजा तुम्हारे साथ नहीं। यदि अनपढ़ों का ही प्रश्न होता तो शायद तुम्हारे साथ से कम गिरते, क्योंकि भारत के अनपढ़ प्रायः भोग में फँसे हुए नहीं हैं। परन्तु शोक तो यह है कि तुम जैसे ही नवशिक्षित और राजनैतिक चमकते सितारे अधिकतः भोगजीवी हैं और उनको भोग का लालच देकर गिराना कुछ कठिन नहीं है। इसलिए यदि तुम अपने व्युत्पन्न स्वार्थ को ही लक्ष में रखो तब भी भोग जीवन को त्याग कर कर्म जीवन का ही आश्रय लेने से तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध हो सकता है।

परन्तु मेरा उद्देश्य तुम्हें इस निकृष्ट राजनीति से ऊपर उठाने का है। इस समय सारा सभ्य संसार एक घोर युद्ध में फँसा हुआ है। न जाने युद्ध के अन्त तक कितने करोड़ जनसंख्या घटेगी और न जाने शेष बच्चों में से कितने करोड़

आत्माओं का नाश हो चुकेगा। निराशा के बादल सारे संसार पर छा जाएँगे। यदि तुम इस अन्तर में अपने देश की शिक्षा अपने हाथ में लेकर और अपनी सन्तान को ब्रह्मचारी बनाकर और अपने गृहस्थ का सुधार करके सच्चे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों द्वारा अपनी जाति के संगठन को स्वच्छ और दृढ़ कर छोड़ोगे, तो निराश यूरोप के आगे अपने आपको आशाजनक उदाहरण की तरह पेश कर सकोगे।

इस बड़े काम में कैसे कृतकार्यता हो सकती है और उसके लिए क्या सामान हैं, इसकी व्यवस्था-पद्धति शारीरिक अवस्था अनुकूल होने पर आर्य जनता के सामने आ सकेगी।

[सद्धर्म प्रचारक, 28 जुलाई, 1917]

आर्यसमाज और राजनीति

आज तक आर्यसमाजियों का राजनीति के सम्बन्ध में जो व्यवहार रहा है, उसके कई विचित्र-विचित्र परिणाम हुए हैं। उन परिणामों में कुछ थोड़ों का हम वर्णन करते हैं–

(1) आर्यसमाजी लोग प्रायः राजनीति से जुदा रहते हैं। जहाँ तक अन्य कार्यों से छूटकर उनकी सारी शक्तियाँ आर्यसमाज के अर्पण होती है, वहाँ तक राजनीति का यह बहिष्कार लाभदायक है। आयास-विभाजन संसार के प्रत्येक विभाग में कार्य करता दिखाई देता है। किन्तु जब हम तह के नीचे पहुँचते हैं, तो एक और विलक्षण घटना हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। आर्यसमाज कहता है कि वैदिक धर्म ही सत्य है, और सब मत मतान्तर झूठे हैं। आर्यसमाज कहता है कि जीवन का प्रत्येक अंग-प्रत्यंग वेदों में विद्यमान है। राजनीति समाजशास्त्र तथा विज्ञान सभी वेद में है। भारत सरकार के कर्मचारी इन सब बातों को सुनकर सोचते हैं कि आर्यसमाजियों के वेद में राजनीति है, सत्यार्थ प्रकाश में राजनीति है फिर आर्यसमाजी राजनीति के पराङ्मुख क्यों है। इस पराङ्मुखता के दो ही कारण हो सकते हैं या तो आर्यसमाजी ही अपने सिद्धान्तों को मानते ही नहीं, अथवा मानकर भी उस कार्य को अन्यथा गतार्थ समझते हों। यही सन्देह का कारण होता है। ब्रिटिश सरकार के कई कर्मचारी अज्ञानवश सोचते हैं कि आर्यसमाजी पढ़े-लिखे हैं, धर्म में श्रद्धा रखते हैं। इनके धर्म ग्रन्थों में राजनीति का निषेध नहीं, इन लोगों में देशभक्ति का भी अभाव नहीं है फिर ये प्रत्यक्ष रीति से राजनीति में प्रवेश क्यों नहीं करते। अवश्य ही ये परोक्ष रीति से राजनीति का कार्य करते हैं यही ज्ञान सममूलक है। किन्तु अवस्थाएँ देखकर हो सकता है। राजनीति में आर्यसमाजियों के न प्रवेश करने से पहला दुष्परिणाम यह उत्पन्न हो जाता है।

(2) दूसरा एक और परिणाम उत्पन्न होता है, हम लोग जानते हैं कि संसार का कोई व्यवहार सत्य को छोड़कर नहीं चल सकता। राजनीति और व्यापार भी धर्म के बिना नहीं चल सकते। आर्यसमाज प्रायः कहता है कि आजकल की राजनीति अधर्म बहुल है। उसमें सत्या-सत्य का अधिक विचार नहीं है। हम यह भी देखते हैं कि आजकल के राजनीतिज्ञ जिस राजनीति को अपना गुरु मानते हैं वह कच्चे

आधारों पर स्थित है। वह सच्ची राजनीति नहीं। वर्तमान राजनीति के क्षेत्र में सत्य का कम आदर होता है। हम लोग यह भी कहते हैं कि और ठीक कहते हैं कि लोगों ने अशुद्ध राजनीतिक देवता स्थापित कर लिए हैं और उनकी पूजा प्रारम्भ कर दी है। राजनीति के क्षेत्र में भी वैदिक आदर्श बहुत उच्च है।

यह सब ठीक है किन्तु इसमें दोष किसका है ? यदि राजनीतिक क्षेत्र में सत्य नहीं है तो जो लोग सत्य की महिमा समझते हैं और राजनीतिक क्षेत्र में काम नहीं करते, दोष उनका है। यदि वर्तमान राजनीति ने धोखेबाजी को ही आदर्श मान लिया है तो अपराध उनका है, 'जो झूठ या धोखे का जय नहीं'—इस सिद्धान्त को मानते हैं, किन्तु राजनीति के पास नहीं जाते। जो लोग राजनीति में कार्य करते हैं वे यही परिणाम निकालते हैं कि राजनीति में धर्म का काम नहीं है। क्योंकि जो लोग धर्म-धर्म पुकारते हैं वह राजनीति से कोसों दूर रहते हैं। यदि राजनीति का क्षेत्र दोषमय हो तो उसे सुधारना उन लोगों के हाथों में है जो सत्य और धर्म की महिमा जानते हैं और सुधारने की शक्ति और इच्छा रखते हैं।

(3) राजनीति से दूर रहने का एक और बुरा परिणाम हुआ है संसार के सारे काम प्रभाव से होते हैं। साथ ही लेने और देने का सिद्धान्त भी भुलाया नहीं जा सकता। जो देगा नहीं वह ले भी नहीं सकेगा। यह कलियुग नहीं, कवि के शब्दों में 'कर युग' है। एक कर से दो और दूसरे कर से ले लो। आर्यसमाज पर समय-समय आपत्तियाँ आती रहती हैं कई ऐसे मामले होते हैं, जिनके लिए लेजिस्लेटिव कौन्सिलों को हिलाना आवश्यक होता है; कई विषयों के लिए देश-भर के समाचार पत्रों का शोर मचाना जरूरी होता है। किसी मंदिर या मस्जिद पर आपत्ति आती है तो देश के क्या धार्मिक क्या राजनीतिक समाचार पत्र भड़क उठते हैं, और शोर मचाने लगते हैं। किन्तु हमारे यहाँ देखिए। आर्यसामाजिक पत्रों के सिवा अन्य पत्रों में एक नोट लिखाने के लिए भी खास यत्न करना पड़ता है। यदि कोई अंग्रेजी दैनिक अत्यन्त कृपा करके एक सम्पादकीय नोट लिख भी दे तो उसके लिए धन्यवाद का प्रस्ताव पास करना पड़ता है। लेजिस्लेटिव कौन्सिल में समाज-विषयक प्रश्न पूछना कठिन कार्य हो रहा है। यहाँ भी बहुत से धन्यवाद देने पर शायद कोई महाशय कृपा करने को प्रवृत्त हों। यह नहीं कहा जा सकता कि आर्यसमाज कौन्सिलों या समाचार पत्रों को परवाह नहीं करता; क्योंकि जब आवश्यकता होती है तो राजनीतिक नेताओं की सेवा में उपस्थित होना ही पड़ता है।

इस परमुखदर्शिता का इलाज क्या ? क्या हमारा इतना प्रभाव नहीं हो सकता कि हमें किसी का धन्यवाद न करना पड़े ? क्या देश के कार्यों में हमारा इतना गौरव नहीं हो सकता कि हमारे ऊपर आपत्ति आए तो हम अपने बाहुबल से ही पार उतर सकें ? यह सब हो सकता है किन्तु इसके लिए एक बात आवश्यक है। यह जरूरी है कि आर्यसमाजी लोग राजनीति और समाज सेवा के विस्तृत

कार्यक्षेत्र में भी अग्रसर हों। देश का कोई व्यवसाय न हो, जिसमें आर्यसमाजी अगुआ न हों, भारतवर्ष का कोई ऐसा कार्यक्षेत्र न हो जिसमें आर्यसमाजी नेता न हों। हमारी इच्छा वह दिन देखने की है, जब देश के बड़े-से-बड़े बैंक का संचालक भी आर्यसमाजी हो, कांग्रेस का प्रधान भी आर्यसमाजी हो, और इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल का सभासद् भी आर्यसमाजी ही चुना जाए उस दिन क्या आज की तरह हमें दूसरों का मुख देखना पड़ेगा ? कभी नहीं उस दिन कौंसिलों में समाज-विषयक प्रश्न करने में लोग अपना सौभाग्य समझेंगे, और समाचार पत्रों के सम्पादक समाजी नेताओं के पास आकर सामाजिक मामलों में ज्ञान प्राप्त किया करेंगे।

आर्यसमाज समूह रूप से वही कार्य करता रहे, जो अब कर रहा है किन्तु क्या इसका यह तात्पर्य है कि आर्यसमाजी विद्वान् बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार न करें, बड़े-बड़े व्यापार न चलाएँ या राजनीतिक नेतृत्व की ऊँची-से-ऊँची सीढ़ी पर न पहुँचे। आर्यसमाज को हम उस दिन कृतकार्य समझेंगे, ऋषि दयानन्द के मिशन को हम उस दिन फलता-फूलता मानेंगे, जब एक ओर एक आर्य संन्यासी वैदिक धर्म का झंडा हाथ में लिए मिथ्या भ्रमों का निवारण कर रहा होगा और दूसरी ओर आर्य गृहस्थी, शुद्धता, मातृभाव, समानता और स्वाधीनता के झंडे को हाथ में लिए आपत्तियों को आने के लिए निमन्त्रण दे रहा होगा।

वैदिक धर्म में वह शक्ति है, जो शीशे को लोहा और लोहे को वज्र बना सकती है। वैदिक धर्म में वह सामर्थ्य है जिससे लंगड़ा पहाड़ पार कर सकता है और अन्धा त्रिलोकी का दर्शन कर सकता है। उसी वैदिक धर्म में यह भी शक्ति है कि संसार के दुःखों को उन्मूलित कर सकता है, पापों का प्राणान्त कर सकता है और अत्याचारों का उच्छेद कर सकता है। ऐसे विशाल शक्ति सम्पन्न धर्म के अनुयायियों की शक्तियों की सीमा नहीं होनी चाहिए, उनकी गति अव्याहत होनी चाहिए।

हमारा इन दोनों लेखों के लिखने से यह प्रयोजन है कि इस सम्बन्ध में राजा और प्रजा दोनों का सन्देह दूर हो जाए। आर्यसमाज ने अलिखित नियम के अनुसार राजनीति को अपने कार्यक्षेत्र से बाहर रखा हुआ है—यह ठीक ही है। न राजा को और न प्रजा को कभी समझना चाहिए कि इस समय आर्यसमाज का राजनीति राजभक्ति या राजद्रोह से कोई सम्बन्ध है।

साथ ही आर्य जनता को यह भी जानना चाहिए कि उनका धर्मव्यापी वैदिक धर्म है, जो सब प्रकार के धर्मों का बखान करता है। व्यक्ति धर्म व्यापार राजनीति—यह सभी कुछ वैदिक धर्म के अन्तर्गत है। इन सबसे भागना कायरता है। वैदिकधर्मी की हैसियत से आर्यपुरुष सब क्षेत्रों में काम करें, नाम पाएँ और अगुआ हों—यह केवल अपेक्षित ही नहीं प्रत्युत आवश्यक है।

[सद्धर्म प्रचारक, 28 जुलाई, 1917]

संन्यासी का सन्देश भारतीय महिलाओं के प्रति

भारत को वीर सन्तान की आवश्यकता है। ऐसी सन्तान नहीं, जो मद्य से उन्मत्त हो, जुझाऊ बाजे (मारशल बैंड) की तान में मस्त, मदान्ध की नाईं मोर्चे पर चढ़कर कट जाए; ऐसी सन्तान की नहीं जो, अत्याचारों से खिजकर, क्रोध के दास बन, बम के द्वारा अपराधी के स्थान में निरपराधियों का भी जीवन समाप्त कर सकती है; ऐसी सन्तान की नहीं जिसे उसका कर्त्तव्य पालन कराने के लिए करतालिका ध्वनि की आवश्यकता है; ऐसी सन्तान की नहीं जो अधिकारों की भीख माँगने के लिए, अपनी वक्तृता से, आकाश और पाताल को एक कर सकते हैं। जो शराब पी, जुझाऊ पर मस्त होकर रण भूमि में आगे बढ़ते हैं वे शराब का नशा हिरन हो जाने और बाजे के फट जाने पर हथियार भी तत्काल रख देते हैं; जो अत्याचारों से खिजकर बम उठाते हैं, वे अत्याचारियों के सामने अपने आपको बेबस देखकर, विधवा के धन पर टूटकर अनाथों को निर्धन कर जाते हैं; जो करतालिका ध्वनि की प्रेरणा से ही कर्त्तव्य पालन के लिए उद्यत होते हैं, उन्हें मूर्खों की वाह ! वाह ! की चाह कभी-कभी अधर्म के गढ़े में भी गिरा देती है; जो अधिकारों की भीख के लिए आकाश और पाताल को मिला देते हैं, वे स्वार्थ सिद्धि के लिए सारी जाति को भी बेच सकते हैं।

ऐसी सन्तान की भारतजननी को आवश्यकता नहीं है। भारतमाता को स्मरण है कि वह कभी कर्मभूमि थी, उसकी सनतान, उस समय भोग के जीवन से योजनों दूर थी; उस समय सारे भूमंडल के लोग यहाँ चरित्र संगठन की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आया करते थे। जननी वैसी ही सन्तान की याचना इस समय कर रही है।

यह कैसी सन्तान थी ? जिनकी इन्द्रियाँ और मन वश में थे, जिनके लिए कर्त्तव्यपरायणता एक स्वाभाविक बात थी, जिनको धर्म मार्ग से न लोभ, न मोह और न भय डिगा सकते थे, जिनके व्रजसमान हृदयों पर लगकर काम के वाण टूट स्वयं गिर पड़ते थे, जिन्हें बड़ा-से-बड़ा प्रलोभन भी अपने सत्य व्रत के पालन से हिला नहीं सकता था। इस समय उन्मत्त होकर, बिना विचारे, कट जाने वाली सन्तान की आवश्यकता नहीं। भारतमाता काली-कराली नहीं है जिसकी लहू-भरी

जिह्वा की शान्ति के लिए मनुष्य-बलियों की आवश्यकता हो। यह जननी वह शारदा है जिसकी शान्ति के लिए अमर होने वाली सौम्य सन्तान की आवश्यकता है। जिनके शरीर दृढ़ हों, ब्रह्मचर्य के तेज से जिनके मुख की कान्ति सदा उज्ज्वल रहनेवाली हो, जो गृहस्थ में ब्रह्मचर्य का जीवन पालन करनेवाले हों, जिनको मृत्यु का भय भी धर्म पथ से डिगा न सके—ऐसी सन्तान की जननी जन्मभूमि को आवश्यकता है।

ऐसी सन्तान के लिए माता भारत पुत्रियों से याचना करती है। हे आर्यावर्तीय देवियों ! ऐसी सन्तान उत्पन्न करना तुम्हारे ही अधिकार में है। संसार के सबसे पहले धर्म-शास्त्रकार ने तुम्हें 'जाया' इसीलिए कहा है कि तुम्हारे गर्भ में नौ मास रहकर ही सन्तान का संशोधन होता है। मनु महाराज का संशोधन होता है। मनु महाराज कहते हैं—"पतिर्भार्या संप्रविश्य गर्भो भत्वेह जायते। जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः।" पति की भार्या में प्रवेश करके गर्भ रूप हो, संसार में उत्पन्न होता है; जाया का जायात्व यही है जो कि इस में फिर से जन्मता है।

हे देवियो ! सन्तान वैसी ही उत्पन्न होगी जैसी तुम चाहोगी—मनु जी फिर कहते हैं—यादृशं भजतेहि स्त्री सूते तथाविथम् ! जैसे प्रकार के पुरुष का सेवन करोगी उसी प्रकार का पुत्र उत्पन्न होगा। यदि तुम भोगवादिनी हो तो तुम भोगी पुरुष को ही चुनोगी। तब सन्तान कर्मवीर कैसे उत्पन्न होगी ?

पुरुषों में आत्मबल बहुत थोड़ा होता है। हे देवियों ! तुम आत्मबल की अधिष्ठान रूप हो। यदि तुम पुरुषों को आत्मबल दोगी तभी वे सन्तान की शुद्धि में तुम्हारी सहायता कर सकेंगे। जैसे वीर्य का संशोधन तुम्हारे अधीन है वैसे ही अच्छे वीर्य का नाश भी तुम्हारे ही वश में है। जितना ही आत्मिक बल तुम में अधिक है, उतनी ही आत्मा के नाश करने की शक्ति भी तुममें है। तुम शक्ति ही तो हो। यदि तुम शारदा और सरस्वती का रूप धारण करो तो संसार का कल्याण है, परन्तु यदि तुम चंडी का अवतार धारण करके डाकिनी और शाकिनी सहित काम भी खड्ग लेकर चलो तो संसार के भस्मीभूत होने में क्या सन्देह है ? इसलिए, हे देवियो ! अपने अन्दर मातृभाव को जागृत करो जिससे आर्यावर्त का कल्याण हो और उसके साथ सारे संसार का उद्धार हो।

पुरुष अपनी मूर्खता से तुम्हारी पवित्रता को कलंकित करते हैं। जो अग्नि वह प्रज्वलित कर देते हैं, जब वह संसार को भस्म करने लगती है तो फिर आश्चर्यचकित होकर चिल्लाते हैं। हे आर्य देवियो ! पुरुषों की मूर्खता को भूलकर उनके लिए संशोधन तेज बन जाओ।

भारत को वीर सन्तान की आवश्यकता है। वीर सन्तान वीरांगना ही उत्पन्न कर सकती है। परन्तु हे देवियो ! तुम अपने शरीर, अपने मन और अपने आत्मा की अवस्था की ओर देखो। लखनऊ में वृहज्जातीय सभा के अधिवेशन पर बीसियों

देवियों को वेदी पर प्रतिनिधि रूप से बैठे देखकर राजनैतिक दल बहुत प्रसन्न हुआ था, परन्तु मुझे उस दृश्य ने बहुत दुःखित किया था। गोटा, किनारी, रेशम और आभूषणों के अन्दर का शरीर क्या कभी स्वस्थ रह सकता है ? ऊँचे तले काले नाजुक बूटों को पहनकर चलने से क्या कभी शरीर का उचित व्यायाम हो सकता है ? मैंने वहाँ देखा कि पुरुष जहाँ विदेशीय अनुकरण से दासों की नाईं स्वयं अपना व्यक्तित्व नष्ट कर चुके हैं। उन्होंने तुम्हें भी तितलियाँ (butterflies) बना दिया है। क्या सचमुच अपने शासकों से मिलने के लिए कोट, पेंट, कालर, नेक्टाई और बूट की आवश्यकता है ? मैंने देखा कि वाइसराय तक के प्रासाद में गामेशाही लकड़तोड़ जूता पहने, नंगे सिर धोतीपोश, फलाहारी का वही मान है जोकि नए फैशन के 'अपटूडेट' (up to date) मांसाहारी का। हे देवियो ! तनिक सोचो। क्या तितली के गर्भ से सिंह उत्पन्न हो सकता है ?

हे माताओ ! जो तुम्हें तितलियाँ बना रहे हैं, वे जाति और जन्मभूमि का नाश कर रहे हैं। तुम इन पुरुषों को कह दो कि यदि तितलियाँ देखने का शौक है तो तुम्हारे समीप न आएँ। तुम अपने पुराने पहनावे को फिर से धारण करो। इस युग के ऋषि ने सम्वत् 1932 में लिखा था कि जिस अनुचित पर्दे का उस समय रिवाज हुआ था जब फिर मदांध दुष्ट आतताइयों से पतित कायर हिन्दुओं की बहू-बेटियों के सतीत्व के बिगड़ने का भय रहता था। अब उस झूठे पर्दे को दूर कर दो। और फिर लिखा था—'जैसे दाक्षिणात्य लोगों की स्त्रियाँ वस्त्र धारण करती है वैसा ही पहले था क्योंकि कभी वस्त्र अशुद्ध नहीं रहता। सब दिन जैसे पुरुषों के वस्त्र शुद्ध रहते हैं वैसे ही स्त्री लोगों के भी शुद्ध रहते हैं।' शरीर के साथ जो वस्त्र लगे उसको नित्य धोना चाहिए और वस्त्र ऐसे पहनने चाहिए जिनसे शरीर को सूर्य के प्रकाश और वायु के स्पर्श से सदा पुष्टि पहुँचती रहे। सो उस नेशनल कांग्रेस की वेदी पर बंगाली, काश्मीरी और अन्य देशस्थ तितलियों के साथ एक-दो महाराष्ट्र की महिलाएँ ही ऐसी दिखाई दीं जो वीर सन्तान उत्पन्न करने के योग्य कही जा सकें।

हे देवियो ! तुम्हें अपने खान-पान अपने पहनावे और अपने सब व्यवहारों में एक मुख्य बात पर दृष्टि रखनी चाहिए। सन्तान का बुरा वा भला उत्पन्न होना तुम पर ही निर्भर है। तुम तितली क्यों बनती हो, तुम स्वाभाविक मानवीय मननशील गम्भीर भाव को छोड़कर हाव-भाव (नाज-नखरों) का अभ्यास क्यों करती हो ? इसलिए कि ऐसा करने से पुरुष तुम पर मोहित होंगे, तुम से प्रसन्न होंगे परन्तु क्या परमेश्वर ने तुम्हें इसीलिए विशेष शक्ति दी है। जिन पुरुषों को नखरे और कृत्रिम सजावट अच्छी लगती है, जिन्हें तितली का नाच देखना ही अभीष्ट है, वे क्यों न स्वयं मोर की तरह सजकर नाच लिया करें। यदि पशुओं का ही अनुकरण करना है तो पूरा अनुकरण करें।

हे माताओ ! अपने जीवन से पुरुषों को बतला दो कि ये तुम्हारे योग्य तभी हो सकेंगे जबकि उनके अन्दर विद्या, बुद्धि, बल, पराक्रम और शूरवीरता के लिए प्रेम होगा।

आज जातीय महासभा की वेदी पर तितलियाँ अपना सौन्दर्य दिखाने के लिए जाती हैं। इसलिए कांग्रेस के प्लेटफार्म पर पुरुषों और स्त्रियों की धुआँधार स्पीचें बहरे कानों पर पड़ती हैं और यदि कुछ क्षणिक प्रभाव डालती भी हैं तो पण्डाल से बाहर वह प्रभाव दूर हो जाता है। परन्तु जिस दिन भारत महिला देशी जूता पहने वा नंगे पैर, श्वेत स्वच्छ साड़ी धारण किए, सोने चाँदी के जेवरों से मुक्त, दाहिनी ओर चार स्वस्थ दैदीप्यपान पुष्ट कन्याएँ और अपनी बाई ओर चार हृष्ट, तेजस्वी, धीर पुत्र साथ लेकर, कांग्रेस की वेदी पर पग धरने लगेंगी उसी समय से भारत-माता के हृदय की शान्ति मिलनी आरम्भ होगी।

आर्य देवियो ! भविष्य तुम्हारे ही हाथ में है—केवल आर्यावर्त का ही नहीं परन्तु समस्त भूमंडल का—क्योंकि सारा संसार भोग के जीवन में लिप्त चिल्ला रहा है। उठो और अपने ईश्वरदत्त अधिकार को समझो क्योंकि यह समय सोने का नहीं है। ऐसी सन्तान उत्पन्न करने की आज से ही तैयारी आरम्भ कर दो जिसके तेजमात्र से—बिना मनुष्यों का घात हुए—संसार की काया पलट जाए। भगवती सीता का आशीर्वाद तुम सब भारत-महिलाओं को मिले—संन्यासी की मंगलकामना है।

[सद्धर्म प्रचारक, 4 अगस्त, 1917]

संन्यासी का सन्देश संन्यासी मंडल के प्रति

जब मेरा संन्यास लेने का विचार समाचार पत्रों द्वारा प्रकट हुआ था तो एक हिन्दू धर्मावलम्बी होने का अभिमान करनेवाले पत्र ने बड़ा उचित प्रश्न मुझ पर किया था। इस समय शब्द याद नहीं परन्तु आशय यह था कि पहले जो लाखों निखट्टू भारतवर्ष पर बोझ हो रहे हैं उनकी संख्या में एक की ओर उन्नति करके मैंने क्या भलाई सोची है। आर्यवर्त के संन्यासी मंडल की सेवा में मेरी विनीत प्रार्थना है। किसी पन्थ के और किसी सम्प्रदाय के भी हों, जो फकीरीवाना पहने फिरते हैं उन सब का ही आवेश इस समय संन्यासाश्रम में समझा जाता है। कुछ परमहंसों की ही विशेषता नहीं है, दशनाम का ही कुछ अधिकार नहीं है, उदासी और निर्मल, बैरागी और कनफटे, औवड़ और कबीर पन्थी, चरणदासी और करीबदासी सभी संन्यासी हैं। अब तो नाम का भी कुछ भेद नहीं रहा; सारे आनन्द ही आनन्द का राज्य हो रहा है। इसलिए भारतवर्ष में छः लाख के लगभग साधु, सन्त-महन्तों की आबादी है, उस सबसे ही मेरा सम्बोधन है।

'मनुभगवान् ने गृहस्थ को ज्येष्ठाश्रम कहा है क्योंकि अन्य तीन आश्रमों का जहाँ पालन-पोषण गृहस्थाश्रम करता है, वहाँ उनका उत्पत्तिस्थान भी नहीं है। मनु भगवान् कहते हैं—यस्मात् प्रयोऽप्यांश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही। महाभारत में लिखा है—यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्वतः। एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः। महाभारत का लेखा सर्वथा ठीक है। गृहस्थ ही सब आश्रमों की माता है, क्योंकि उसी के आश्रम से अन्य तीन आश्रमों का जीवन होता है। संन्यासी मंडल को भूलना नहीं चाहिए कि शताब्दियों से गृहस्थाश्रम रूपी माता ने उनका खुले दिल से पालन-पोषण ही नहीं किया, प्रत्युत उनका प्रेमपूर्वक लालन भी किया है। गृहस्थों ने आप क्लेश सहे, कष्ट उठाए, किन्तु साधुओं के लिए उत्तम-से-उत्तम भोग के सामान बहम पहुँचाएँ।

उस गृहस्थाश्रम पर अब आपत्ति का समय है। अपने सम्राट बड़े घोर विश्वव्यापी युद्ध में पुरे हुए हैं। यूरोप और अफ्रीका ही नहीं, एशिया के रेतीले मैदानों में भी युद्ध की काली रक्त में भरी जीभ निकाले एक हाथ में असि और दूसरे हाथ में खप्पर लिए चक्कर लगा रही है। इराक अरब के मैदान में खून की

नदियाँ बह गईं। ब्रिटिश और भारत-निवासी, तुर्क और औकुर्द इनके रक्त से मैदान लाल हो गया। परन्तु काली की अभी तृप्ति नहीं हुई, उसका खप्पर भी बला का खप्पर है जो भरता ही नहीं उधर युद्ध की वेदी पर अभी लाखों बलियों की आवश्यकता है। भारतवर्ष राजभक्ति प्रधान देश है। इस समय तो सब ओर से अन्धी भक्ति का यहाँ राज्य है। अपने राजा पर भीड़ पड़े, तब भारतीय गृहस्थ कब सुख की नींद खो सकते हैं। सरकार को चाहिए आदमी ! आदमी !! आदमी !!! अब जाति और आयु की भी कोई विशेषता नहीं रही। जो भी तैयार हो जाएँ वही स्वीकार है। जात-पाँत पूछेगा कोई। हरि को भजे सो हरि का होई। ऐसे भयानक समय में. हे संन्यासी महात्माओं कभी रस में जानेवाले युवकों की माताओं, भगिनियों और धर्मपत्नियों के रुदन और विलाप का दृश्य देखों तो तुम्हारा दृश्य पिघल जाए। और जब लाखों विधवाओं की ठंडी साँसों का अनुभव करो जिनके रक्षा करने वाले पति युद्ध क्षेत्र में बलिदान हुए तो तुम्हारी व्याकुलता की कोई सीमा न रहे। इस समय गृहस्थाश्रम तुम्हारे जन्मदाता और पालन-पोषण कार्य गृहस्थाश्रम पर घोर आपत्ति का समय है। क्या संन्यासी मंडल उनकी सहायता करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझता ? आप पूछोगे—'हम किस प्रकार सहायता कर सकते जैं। अपना तो कर्त्तव्य यह है कि परमेश्वर की भक्ति करना और भोजन पाकर मस्त सो रहना।' यह आपकी सर्वथा भूल है। इस समय साठ लाख साधुओं में से कितने हैं जो परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त किए हुए हैं। मुश्किल से पचास हजार ऐसे होंगे जा शाखों का मर्म तो दूर रहा उनका कुछ पाठ भी किए हों। शेष तो मठों के प्रबन्ध या भंग के प्याले या गाँजे वा चरस के दम में ही निमग्न रहते हैं। उनसे संसार का क्या उपकार हो रहा है। बहुत डेरेदारों की चारदीवारी में से तो यही सदा सुनाई देती है--'कम्पनी किसकी जोरू और संन्ध्या किस का साला, पी प्याला मार भाला, लगे दम रहे बेदम।' क्यों न वे सब सरकार को कह दें—'हमारा गृहस्थाश्रमरूपी माता से पालन-पोषण हुआ है। अब उस माता पर आपत्ति का समय है। हम तैयार हैं। जब तक हमारी भरती जारी रहे, जब तक हम सरकार को निराश न करें, तब तक गृहस्थ युवकों को हाथ न लगाया जाए।' फिर देखो आपकी बदौलत कितने लाख घरों का शोक दूर होगा।

आप फिर पूछोगे। 'संन्यासी को युद्ध से क्या मतलब ! यह क्षत्रियों का काम है।' ठीक है, साधारण समय में ऐसा ही है। परन्तु क्या यह साधारण समय है। महाभारत के युद्ध पर, असाधारण समय समझ, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य जी ब्राह्मणों ने शस्त्र उठाने में तनिक भी संकोच नहीं किया था। यह समय उससे भी बढ़कर है। वहाँ के बल 38 लाख सेना उभय पक्ष की थी। यहाँ उभय पक्ष के इससे तिगुने तो कट चुके हैं, इससे छः गुने घायल हो चुके हैं, इससे चौगुने शत्रुओं के बन्दी गृह में पड़े सड़ रहे हैं और इससे दश गुणे बिना घरवार के इतस्ततः

मारे-मारे फिरते हैं। इससे बड़ा शत्रु इस समय और कौन हो सकता है ? इसलिए शस्त्र धारण करने में आप लोगों को किंचित् भी संकोच नहीं करना चाहिए, और फिर जब ऐसे भारी उपकार–नहीं, प्रत्युपकार–के लिए शस्त्र बाँधने पड़ें। इसलिए संन्यासी मंडल को चाहिए कि 18 वर्ष की आयु से लेकर 40 वर्ष की आयु तक के जितने साधु हैं उन सबको सेना में भरती होने के लिए आगे भेज दें। इसमें से सहस्रों बढ़े-चढ़े हुए घुड़सवार हैं। गत कुम्भ पर हजारों नागे फरागत का और कुश्ती के उस्ताद देखे गए थे। उदासियों के बड़े-छोटे अखाड़ के कर्त्तव्य भी लोगों को भूले नहीं। यदि यह सेना जाए तो निस्सन्देह इनके सामने न जर्मन और न तुर्क कोई भी खड़ा नहीं हो सकेगा। कुछ एक फक्कड़ों को यह फिक्र होगा कि उन्हें प्याले और दम से वंचित रहकर कष्ट न हो। प्रथम तो प्याले और दम को छोड़कर भी बेगम रहने का अभ्यास पड़ जाए तो लौटकर ये सब महात्मा देश के पूज्य बन जाएँगे। परन्तु यदि बूटी और चिलिम से यारी न तोड़ना हो तो अपनी दयालु सरकार उनके लिए सब कुछ युद्ध क्षेत्र में ही पहुँचाएगी। जिस दयालु सरकार ने गोले बनानेवाले मजदूरों के कहने पर बीयर Beer शराब दुगनी बनवानी आरम्भ कर दी, जिस वीर-प्रिय सरकार ने गोरे फौजी नित्य रेलवे ट्रेनों में रम और बरांडी लुढाते देखे जाते हैं, क्या वह सरकार तुम्हारे लिए भाँग और गाँजा ही न प्राप्त करा सकेगी। और युद्ध क्षेत्र से जो लौटते हैं उनका कथन है कि वहाँ भोजन वस्त्र की बेपरवाई है। इधर तो यह; और उधर परोपकार। यदि आप कट भी गए तो गुसाईं तुलसीदास के कथन को याद करो–'पर हित लाम तजै जे देही। सतत सनत सराहहिं तेही'।। परन्तु इतना ही नहीं, प्रत्युत जो युद्ध क्षेत्र से वीरतापूर्वक लौट आएगे उन्हें सरकार भूमि और पारितोषिक भी देगी। तो भगवान् कृष्ण के कथनानुसार–'हतो वा प्रप्स्यसि स्वर्ग जिखावा मोक्ष्य से महीम्।' तब उठो महानुभावो ! गृहस्थों को संकट से छुड़ाकर भरती आरम्भ कर दो। तुम यदि जाग उठो तो छः महीनों में कम-से-कम पाँच लाख ढूढ़ाँग पुष्ट सेना का लाभ अपनी सरकार को है और जब आगामी वर्ष युद्ध समाप्त हो तो विजय पताका तुम्हारे हाथ में रहे।

एक कर्त्तव्य इस समय संन्यास मंडल का और है। आपका आर्यजाति से गाढ़ा सम्बन्ध है। आप आर्य जाति के ही पूज्य और उसी के सर्वस्व हो। इस समय स्वराज्य का बड़ा आन्दोलन हो रहा है। कोई तो अत्यन्त उतावले होकर स्वराज्य तत्काल ही प्राप्त करना चाहते हैं और कुछ फूँक-फूँककर पग उठाना चाहते हैं। शीघ्र हो या देरी में, इस समय राजा और प्रजा दोनों, इस बात में सहमत हैं कि भारतनिवासियों को स्वराज्य मिलना अवश्य चाहिए। अच्छा, तो उसके सम्बन्ध में आपका भी कुछ कर्त्तव्य है। ब्रिटिश गवर्नमेंट चाहती है कि स्वराज्य के योग्य भारतनिवासी हो जाए। हिन्दू मुसलमान भी सब यही चाहते हैं। परन्तु एंग्लो इन्डियन

दल अन्दर से इस के विरुद्ध है, क्योंकि उन्हें अपने मनमाने अधिकार छिनने का भय है। वे अब ईसाईयों को अपने साथ गाँठ रहे हैं। इसाई उनके पूरे काबू आ गए हैं और अपने आपको शासक जाति का एक अंग समझने लग गए हैं। इसकी तो कुछ परवाह नहीं, क्योंकि जब ब्रिटिश गवर्नमेंट यही कहती चली जाए कि मतभेद से कोई भी प्रजा अधिक हक नहीं ले सकती तो देसी ईसाईयों की इस मातृभूमि के प्रति कृतघ्नता से कुछ हानि नहीं। परन्तु उन्होंने एक और चाल चलनी शुरू की है। जिनको 16 करोड़ हिन्दुओं ने अछूत कह रखा है उनको दिन दिहाड़े आर्य जाति में ईसाई पादरी अलग कर रहे हैं। इसकी जाति के नेताओं को बड़ी चिन्ता है। इन छः करोड़ को आर्य जाति की सहायता के लिए बचाना है। उनमें से बहुत-से इसीलिए ईसाई होते हैं कि उनकी सन्तान को उनके हिन्दू भाई विद्या प्राप्ति से वंचित रखते हैं। यहाँ संन्यासी मंडल के लिए बड़ा काम है। आपके मठों की आमदनी इससे उत्तम काम में व्यय नहीं हो सकती, प्रत्येक सम्प्रदाय एक 'अछूतोद्धार निधि स्थापित करे। उसके प्रबन्ध का काम सम्प्रदाय के महन्तों और विद्वानों की समिति करे। जितने पढ़े-लिखे साधु हैं वे अछूतों के अध्यापक बनें। फिर जब संन्यासी महात्मा स्वयं उन सबको युद्ध करके जाति के एक दृढ़ भाग बना दें तो किस गृहस्थ का साहस हो सकता है कि उनके साथ भातृभाव का बर्ताव न करे ? फिर आर्य जाति की अर्थात् 22 करोड़ हिन्दू मुसलमानों को 6 करोड़ सम्मतियाँ अपने साथ मिल जाएँगी। तब 28 करोड़ के मुकाबले में लाख दो लाख एंग्लो इन्डियन तथा देसी ईसाइयों के यह कहने का साहस न होगा कि हिन्दुस्तानियों को अधिकार मिलने के दिन अभी दूर हैं। समाचार पत्र ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों का विस्तारपूर्वक समय विभाग विचार करने के लिए ठीक स्थान नहीं।

यदि संन्यासी मंडल के पूज्य वृद्धों को इस किंकर का निवेदन तनिक भी आदरणीय ज्ञात हुआ और उन्होंने मुझे भी किसी सेवा के योग्य समझा तो मैं भी अपनी योग्यता और शारीरिक शक्ति के अनुसार अपना कर्त्तव्यपालन करने के लिए तैयार हूँगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 11 अगस्त, 1917]

हिन्दी संसार में उपयोगितावाद का राज्य

मेरी इच्छा हुई कि मैं लिखूँ–'मैं लिखने लगा। मेरी इच्छा हुई मैं घूमूँ, मैं घूमने लगा। यह प्रतिभा से किया समझिए।

दूसरी बार मैं सोचता हूँ कि मुझे लिखना चाहिए, क्योंकि लिखना भी एक आजीविका है, पेट भरने का उपाय है। फिर सोचता हूँ–लिखकर कुछ घूमना चाहिए, इससे स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। हाँ लिखना या घूमना उपयोगिता के वशवर्ती होकर किया है।

उपयोगितावाद कोई अतिनिन्दत सिद्धान्त नहीं। यदि उपयोगितावादी विचारशील हो तो वह कम भूलें करेगा। यदि वह सचमुच किसी कार्य के लाभा-लाभों की सोच सकता है तो निसन्देह वह देख लेगा कि समाजहित में उसका हित है, समाज के भले में ही उसका भला है। किन्तु उपयोगितावाद मस्तिष्क को प्रधानता देता है, और कृत्रिमता का कारण होता है। हृदय का राज्य उपयोगितावाद से दूर रह जाता है। देखना होता है कि अमुक पुस्तक लिखने से मुझे कितनी हानि होगी। लेखक सोच विचारकर, ऐसी पुस्तक लिखता है, जिससे लाभ अधिक हो। इस लाभा-लाभ विवेचना के साथ कृत्रिमता स्वभावतः आ जाती है। जब लाभा-लाभ के रहस्यों पर विचार करके हमने निर्णय कर लिया है कि अमुक पुस्तक लिखने से हमें आर्थिक लाभ होगा, या कम-से-कम क्षति नहीं होगी, तो हम उसकी तैयारी में लग जाते हैं। तैयारी का सबसे प्रथम अंग यह है कि हम अपने दिमाग का झुकाव उस पुस्तक की ओर करने लगते हैं। आवश्यक नहीं कि हमारे दिमाग का स्वभाविक झुकाव उधर ही को हो जो दिमाग में स्वभावतः नहीं है। जिधर मस्तिष्क निसर्गतः नहीं झुकता, उसके अनुकूल ठीक-ठाक कर दिमाग को बनाना पड़ता है। उपयोगितावाद में यही कृत्रिमता है।

दूसरी ओर प्रतिभा का राज्य है। प्रतिभायुक्त कवि जिधर को झुकता है, झुक जाता है। इन्जीनियरों की निकाली हुई नहर की नाईं वह निर्दिष्ट और शासक के दर्शाए हुए मार्ग पर नहीं चलता अपितु स्वच्छन्द गंगा-प्रवाह की भाँति जिधर चाहे बह निकलता है। उस बहने में स्वच्छन्दता है, पवित्रता है, चमक है, नैसर्गिकता है। जान्हवी की पूजा होती है, पर उसकी नहर केवल खेत में सींचने वाली कही

जाती है। सम्भवत है कि नहर अधिक भूमि को उपज योग्य बनाती हो किन्तु पूजा नदी की ही होती है। नदी का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह नहरों को पैदा कर सकती है, नहर में नदी उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। इसी प्रकार जो साहित्य सेवा उपयोगितावाद के वशवर्ती होकर नहीं, अपितु प्रतिभा के योग से की जाती है, वह गंगा प्रवाह की भाँति स्वच्छन्द, पवित्र और उज्जवल होती है, वह अन्य कृत्रिम साहित्य-लहरों को पैदा कर सकती है, और जैसे नहरें टूट फूट जाती हैं, नदी वैसी की वैसी स्थिर रहती हैं; वैसे ही उपयोगिताजन्य कविता ग्रन्थ नामशेष रह जाते हैं, प्रतिभाजन्य कविता कभी नहीं नष्ट होती, वह स्थिर रहती है।

जब हम हिन्दी-साहित्य की वर्तमान स्थिति पर विचार करते हैं, तो एक अद्‌भुत बात सामने उपस्थित होती है। हिन्दी में प्रतिवर्ष निकलनेवाली पुस्तकों की कमी नहीं है। बंगला, गुजराती, मराठी, आदि समृद्ध भाषाओं की पुस्तकें केवल एक-एक प्रान्त में निकलती हैं या किसी-किसी को दो प्रान्तों में निकलती है, किन्तु एक हिन्दी ही ऐसी है। जिसकी पुस्तकें पंजाब, संयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्य प्रान्त, कलकत्ता, बम्बई, राजपूताना, सिन्ध और बर्मा तक में प्रकाशित होती हैं। एक मद्रास प्रान्त आर्यभाषा से वंचित है, अन्य कोई प्रान्त नहीं। इन सब प्रान्तों में वर्ष-भर में निकली। हिन्दी पुस्तकों की संख्या अन्य किसी भाषा से भी बहुत अधिक होती है। आर्यभाषा के लिखनेवाले भी कम नहीं हैं, पढ़नेवाले भी कम नहीं हैं। इतना विस्तृत क्षेत्र, इतना उज्ज्वल भविष्य। किन्तु फिर भी एक बात की बड़ी न्यूनता है। बंगला भाषा ने इन थोड़े-से सालों में ऐसे-ऐसे लेखक पैदा कर दिए हैं, जिन पर भारत गर्व कर सकता है। बंग सरस्वती ने कई नामों को अमर कर दिया है। बकिंम, रवीन्द्र और द्विजेंद्रलाल के नाम बंगाल की सीमाओं को पार करके सारे भारत में व्याप्त हो रहे हैं। उनकी कीर्ति प्रान्तिक नहीं—देशिक हो रही है। बंगला में जो स्थान कवियों ने लिया महाराष्ट्र में वही स्थान गद्य लेखकों को मिला है। जो प्रबल, तेजस्वी, गौरवयुक्त और उद्दण्ड गद्य मराठी में है, वह अन्य देसी भाषाओं में कम मिलेगा। उस गद्य ने भी कई नामों की ख्याति लोहे की लाट की भाँति स्थिर कर दी है, परन्तु अभी तक आर्यभाषा के नवीन लेखकों में से किसी का भी नाम आर्यभाषा—संसार से बाहर अधिक ख्याति लाभ नहीं कर सका। पुराने कवियों की हम बात नहीं कहते, सूर और तुलसी—भूषण और बिहारी के नामों की कोई क्या पाएगा, हम नवीन लेखकों की बात कहते हैं। भाषा के नवीन लेखकों में से किसी को वैसी सुविस्तृत ख्याति नहीं मिली। इसका कारण क्या है।

इसका एक मुख्य कारण हमारी समझ में यह है कि कुछेक प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों को छोड़कर (जिनके मुखिया हम भारतेन्दु को समझते हैं) अन्य लेखक अधिकतया उपयोगितावाद के दास बनकर साहित्य सेवा करते हैं। साहित्य के पूज्य-मन्दिर में पहुँचकर भी वे टके से दास्य का तौक उतार नहीं सकते। यह दास्य

कई प्रकार का हो सकता है, किन्तु उस प्रकार के दास्य का मूल कारण उपयोगिता वाद है। देखिए, उपयोगितावाद भिन्न-भिन्न प्रकार के दास्य को कैसे उत्पन्न करता है। पहले जन-सम्पति-दास्य ही लीजिए। जो व्यक्ति बिक्री पर दृष्टि रखकर पुस्तक लिखता है, वह सदा यह ध्यान रखेगा कि मैं ऐसी पुस्तक लिखूँ जो लोगों के निश्चित विचारों को ठेस न लगाए, उनके हृदय में विद्रोह उत्पन्न न करे, जन-सम्मति के इन्जीनियर देवताओं की आँखों में न खटके। यह पहला दास्य है, जो उपगोगितावादी के हृदय को आ घेरता है।

दूसरा दास्य समालोचक—दास्य है। जो मनुष्य अपनी पुस्तक की बिक्री चाहता है, उसकी इच्छा रहती है कि वह समालोचना—लेखकों को प्रसन्न कर सके, ताकि पुस्तक का विज्ञापन अच्छा हो सके। आर्यभाषा में समालोचना और विज्ञापन का एक ही उद्देश्य समझा जाता है। पुस्तक लेखक समाचार पत्रों के पास पुस्तकें इसलिए नहीं भेजते कि उनका गुण-दोष विवेचन हो, अपितु इसलिए भेजते हैं कि पुस्तक का विज्ञापन हो जाए। समालोचक लोग भी प्रायः इस बात को जानते हैं—और अच्छी है, खासी है, पता यह है और मूल्य वह है, लिखकर फैसला कर देते हैं, अपनी लेखनी चलाते हुए उपयोगितावादी लेखक की दृष्टि कागज पर नहीं, समालोचक की लेखनी पर रहती है, तब भला लिखने की स्वतन्त्रता कहाँ रही।

तीसरी दासता राजनीतिक नियमों के प्रति दासता है। भारतवर्ष का प्रेस लॉ ऐसा भंयकर है, कि साहित्य बेचारे का योंही दम खुश्क है। फिर यदि लेखकों की दृष्टि निरन्तर उसी प्रेस लॉ की ओर रहे तो फिर प्रतिभा का स्वच्छन्द प्रचार कहाँ सम्भव है ? उपयोगितावादी सदा सिर पर लटकती हुई राजा जनकवाली तलवार को देखता रहता है, और काँपते हृदय काँपते हाथ से जो कुछ लिखा जा सकता है, सो ही लिखता है। प्रेस लॉ के विषैले प्रभाव से बचने का उपाय यह है कि प्रतिभाशाली लेखक राजनियमों को न पढ़े, न सुने, न उन्हें तोड़ना चाहे, न उनके अनुकूल ही रहना चाहें, जैसे दिल कहे, जैसे मन स्वीकार करे—किम्बहुना जैसे प्रतिभा सिखाए—वैसे लिखते जाएँ। यह तभी हो सकता है जबकि लेखक की दृष्टि उपयोगितावाद पर न हो, उसकी प्रतिभा अनन्त आकाश की भाँति विस्तृत, प्राणदायी पवन की भाँति स्वच्छन्द बाहिनी और निष्प्रतिरोध, भुवनभास्कर की भाँति तेजोयुक्त की उज्ज्वल हो। तभी दास्यहीन स्वच्छन्द साहित्य सेवा हो सकती है, अन्यथा नहीं।

आर्यभाषा साहित्य के दुर्भाग्य है कि उसके सेवकों में प्रतिभा सम्पन्नों की संख्या न्यून अति न्यून है, और उपयोगितावादियों की संख्या अधिक है। जब तक यह दशा न सुधरेगी, तब तक आर्यभाषा की साहित्य को सार्वदेशिक गौरव नहीं प्राप्त हो सकता।

[सद्धर्म प्रचारक, 8 सितम्बर, 1917]

प्रारम्भिक शिक्षा समिति

आज हम प्रेरित पत्रों से प्रारम्भिक शिक्षा समिति की अभ्यर्थना प्रकाशित करते हैं। आर्यसमाज कांगड़ी ने यह समिति इसलिए बनाई है कि आस पास के ग्रामों में आरम्भिक शिक्षा का बिना शुल्क प्रचार किया जाए तो थोड़ा बहुत कार्य यह समिति कर रही है, उस का संक्षिप्त-सा ब्यौरा भी अभ्यर्थना में दिया गया है। चार पाठशालाओं में द्विजातियों के भी और अन्य लोगों के भी बालक साथ-साथ शिक्षा पाते हैं। शिक्षा समिति इतने कार्य से सन्तुष्ट नहीं है। विचार यह है कि पहले आस पास के जिलों में पाठशालाओं का एक जाल फैलाया जाए और फिर साथ मिलते हुए अन्य जिलों से भी शिक्षा की मशाल पहुँचाई जाए। यह कार्य धीरे-धीरे व्यापी हो जाएगा तो इस स्थान को केन्द्र मानकर बहुत दूर-दूर तक देश में शिक्षा का प्रचार हो सकेगा। जिन ग्रामों में पाठशालाएँ बनी हैं, उनसे भी हमें अधिक सहायता मिलती है। गुरुकुल से भी एक पाठशाला के लिए सहायता मिलती है। पर वह कार्य का विस्तार करने के लिए पर्याप्त नहीं। एक ग्रामीण पाठशाला पर जिसमें 50 तक ब्रह्मचारी पढ़ते हो 17 रुपए से अधिक मासिक व्यय नहीं होता। देखिए लगभग 200 रुपए वार्षिक में 50 लड़के शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। यह शिक्षा का कार्य कैसे महत्व का है। हरेक पाठशाला में पूरी धर्म शिक्षा दी जाती है। हम आशा रखते हैं कि धर्म जाति और देश के हितैषी सज्जन शिक्षा समिति का इस अत्यावश्यक कार्य में हाथ बटाएँगे।

[सद्धर्म प्रचारक, 8 दिसम्बर, 1917]

सेना में आर्यसमाजी

ब्रिटिश सरकार के लिए यह बड़ा चिन्ता का समय है। बड़े चतुर और धूर्त शत्रु से वास्ता पड़ा है। ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया में रहनेवाले प्रत्येक पुरुष-स्त्री का कर्त्तव्य है कि साम्राज्य की यथाशक्ति सहायता करें।

प्रजा का यह कर्त्तव्य है—और इसके साथ मिलता हुआ राजा का भी कुछ कर्त्तव्य है। राजा का कर्त्तव्य है कि प्रजा को कर्त्तव्य पालन में सहूलियत दे—उसके मार्ग में रुकावटें न डाले। रुकावटें डालने से राजा का ही काम बिगड़ेगा। ऐसे समय में सरकार का कर्त्तव्य होना चाहिए कि उन गुणों का विशेष परिचय दे जो प्रजा के हृदय को खींचने के लिए आवश्यक होते हैं। धार्मिक स्वाधीनता, निष्पक्षपात, सम व्यवहार आदि गुण की प्रजा को खींच सकते हैं। उनके बिना प्रजा का प्रेम टूट-फूट जाता है—उसका साम्यभाव नष्ट हो जाता है।

रोहतक प्रान्त के आर्यसमाजियों की भर्ती में कुछ कठिनाइयाँ थी। हमने उनका निर्देश किया था। सरकार के माँगने पर हमने कई सबूत भी भेजे थे, जिनसे सिद्ध होता था कि भर्ती करनेवाले अफसर जनेऊ वालों को तंग करते हैं। जनेऊ उतरवा तक देते हैं। हमें विश्वास दिलाया गया था कि सरकार इस शिकायत को दूर कर देगी। प्रसन्नता की बात है कि शिकायत दूर करने का यत्न किया गया है। हमें रोहतक से जो समाचार मिले हैं, उनसे ज्ञात होता है कि हमारा यत्न निष्फल नहीं हुआ। वहाँ के आर्य पुरुषों से भर्ती के लिए विशेष तौर पर कहा गया है और यज्ञोपवीत न उतरवाने का वचन दिया गया है। जहाँ हमारा पहले कर्त्तव्य था कि हम सरकार को एक अनुचित व्यवहार पर चेतावनी देते, वहाँ अब हमारा कर्त्तव्य है कि इस परिवर्तन पर धन्यवाद दे। यह निपटारा तो ठीक हो गया था। भर्ती हुई आर्य समाजियों की शिकायतें दूर नहीं हुई। हमें विश्वस्त सूत्रों से पता लगता रहता है कि कई पलटनों में मुसलमान या पौराणिक अफसरों के कारण आर्य समाजियों को धार्मिक कर्त्तव्य पालन करने में बड़ी कठिनाइयाँ होती है। सिपाहियों को समाज के साप्ताहिक सत्संग में आने से रोका जाता है, उन्हें छेड़ा जाता है, उन्हें सामाजिक संस्थाओं के लिए चन्दा करने से हटाया जाता है।

यहाँ हम यह स्पष्टतया कह देना चाहते हैं, कि चाहे भारतीय हो चाहे अंग्रेज

हो—जो सरकारी अफसर है वह सरकार का अंग हैं। अपने हरेक कर्मचारी के कार्य या व्यवहार की जिम्मेवार सरकार है। यह उत्तर नहीं चल सकता कि आर्य सिपाहियों को तंग करनेवाले भारतवासी हैं—अंग्रेज नहीं। चाहे भारतीय हों—चाहे अंग्रेज हों, सरकारी अफसर सरकार के भाग हैं। उनके व्यवहार की उत्तरदायिता सरकार पर है।

इस समय अधिक नहीं, हम केवल एक नया उदाहरण देते हैं। नाम-धाम लिखने की आवश्यकता नहीं। एक आर्यसमाजी सिपाही की खोस्ट से अहमदाबाद तब्दीली हुई। अहमदाबाद पहुँचने पर इस सिपाही को अंग्रेज अफसर ने अपने सामने बुलवाया और पूछताछ की। उस समय की उनकी बातों से पता चलता था कि उन्हें एक आर्यसमाजी सिपाही के अपनी छावनी में आ जाने का शोक है। अस्तु। यह तो हो गया। उसके आगे उस पल्टन में आर्य समाजियों की दशा विचित्र देखी गई है। वहाँ के देसी अफसर की यहाँ तक कृपा है कि आर्य सिपाहियों को संन्ध्या करने से रोका जाता है, उनके पास समाजी पुस्तकें रहना ठीक नहीं समझा जाता।

यह सब कुछ तो था ही। एक नया प्रश्न उत्पन्न हो गया। कुछ सिपाहियों ने मिलकर शाखा गुरुकुल मटिण्डू के लिए चन्दा किया। अफसरों के हृदय में यह चन्दा काँटा-सा खटकने लगा। सिपाहियों को पहले कहा गया कि 'तुम चन्दा एकत्र न करो' उन्होंने चन्दा इकट्ठा कर ही लिया अब भेजने का समय आया। हमें सूचना मिली है कि चन्दा नहीं भेजने दिया गया। चन्दा भेजनेवालों को कहा गया कि यदि चन्दा भेजोगे तो तुम्हें फौज से निकलना पड़ेगा।

यह घटना सत्य है, गप्प नहीं है। यह अपनी व्याख्या स्वयं करती हे, इस पर टिप्पणी देना आवश्यक नहीं है। हम केवल इतना ही पूछना चाहते हैं कि इस भयंकर काल में प्रजा के कर्त्तव्य बहुत हैं तो क्या सरकार के कर्त्तव्य नहीं हैं ? कि ऐसे समय में प्रजा राजा को सहायता करे तो क्या राजा का कर्त्तव्य नहीं है कि प्रजा से उचित पक्षपातहीन समता का व्यवहार करे ? सम्भव है—ऐसे दुर्व्यवहार सरकार की निति के सर्वथा विरुद्ध हों—किन्तु इसके लिए क्रियात्मक सबूत होना चाहिए। जो अधिकारी या कर्मचारी सरकार की स्थिर नीति को तोड़कर दुर्व्यवहार द्वारा सिपाहियों में असन्तोष फैलाए, उस से उत्तर माँगा जाना चाहिए, उसके कान खींचने चाहिए और आवश्यक हो तो उसे अधिक दण्ड भी मिलना चाहिए। सेना में आर्यसमाजी सिपाहियों का अभाव नहीं है। आर्यसमाजियों को तंग करने की घटनाएँ भी नई नहीं हैं। ऐसी दशा में यदि सरकार अपनी निश्चित सूचना फौजी अधिकारियों तथा कर्मचारियों को दे दे तो सम्भव नहीं है कि नित्य नए सिरे से आर्य पुरुषों को अपने कर्त्तव्य पालन में तंगी हो।

हमें पूर्ण आशा है कि सरकार का इस ओर ध्यान खींचेगा।

[सद्धर्म प्रचारक, 22 दिसम्बर, 1917]

संन्यासी का सन्देश आर्यसमाज के प्रति

आर्य नाम श्रेष्ठ धर्मात्मा का है। धर्मात्मा पुरुषों का, जो समूह है उसे ही आर्यसमाज कह सकते और कहते चले आए हैं। वेद में लिखा है कि आर्य और दस्यु का भेद जानना चाहिए। जो धर्मात्मा है—वे आर्य है, जो अधर्मी है वे ही दस्यु हैं। वेद में लिखा है कि परमात्मा ने धर्माधर्म पर पूर्ण दृष्टि डालकर मनुष्यों के अन्दर धर्म में श्रद्धा और अर्धम में अश्रद्धा का अभाव उत्पन्न कर दिया है। तभी तो अधर्म का कार्य आरम्भ करते हुए स्वच्छ जीव आत्मा के अन्तःकरण में भय शंका और लज्जा उत्पन्न होते हैं। हाँ, जिनके अन्तःकरण अविद्याग्रस्त हो गए है, जिनकी आत्मा रूपी दर्पण के ऊपर मैल चढ़ चुकी है उनको भय, शंका, लज्जा का रूप ही दिखना बन्द हो जाता है। परन्तु स्वच्छ अवस्था में जीव आत्मा धर्म के स्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन करता है।

तब आर्यसमाज और दस्यु समाज तो सगरिम्भ (इस सृष्टि की आदि) से ही होते चले आए हैं आर्यसमाज के प्रवर्तक (ऋषि दयानन्द) ने जब धर्म प्रचार का कार्य आरम्भ किया उस समय भी दोनों ही प्रकार के समाज वर्तमान थे। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के समय में भी दोनों समाज ही विद्यमान थे।

परन्तु जहाँ भगवान रामचन्द्र को किसी विशेष आर्यसमाज के स्थापन करने की आवश्यकता न हुई हो, वहाँ भगवान दयानन्द ने इस न्यूनता को अनुभव किया और आर्यसमाज नाम से एक विशेष जत्थे की बुनियाद डाली। इस भेद का कारण क्या है।

राम का जन्म तेत्रायुग में हुआ। जब धर्म के तीन चरण अपने यौवन पर थे। अधर्म केवल एक चरण के कुछ भाग में ही सिर छिपाता फिरता था। दयानन्द का जन्म उस समय हुआ जबकि अधर्म ने तीन चरण धरती को सम्भालकर चौथे धर्म के चरण को निगल जाने की तैयारी की हुई थी। युगों के भेद का तात्पर्य क्या है, ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि जब संसार में धर्म का राज्य और मनुष्यों में अधर्म का नाममात्र ही शेष हो तो उस समय को सतयुग कहते हैं। जबकि चौथा भाग अधर्म के प्रभाव का प्रचारित हो जाता हैं कि त्रेतायुग धर्माधर्म की आदोआद बाँट हो जाए तो द्वापर और जब धर्म केवल चौथे भाग में सीमित रह

जाए तो समय को कलयुग कहते हैं। सुधारक आचार्य को कठिन काम कलयुग में करना पड़ता है और इसलिए उसके अन्दर उस समय बड़ी प्रबल शक्तियों का संचार होना चाहिए।

ऋषि दयानन्द ने देखा कि जहाँ चारों ओर अन्धकार की शक्तियाँ काम कर रही हों वहाँ एक आर्य को अपने आर्यत्व की रक्षा करना ही कठिन हो जाता है, तब वह धर्म को आगे फैलाने का काम क्या कर सकेगा ? संस्कृत ब्राह्मणों को सुशिक्षित करके जनता की काया पलट करने का यत्न उन्होंने किया, देशाटन करके अधर्म के प्रबल खंडन द्वारा मनुष्य सुधार का प्रयत्न उन्होंने किया, लेखबद्ध प्रचार के लिए अपूर्व पुस्तकें उन्होंने रचीं, परन्तु अब इन सबको अपने अभीष्ट (आर्य गढ़ने के काम) की सिद्धि में अशक्त पाया तब उन्होंने आर्यसमाज के नियमोपनियम बनाकर आर्यसमाज की स्थापना की। इस समाज की स्थापना का यह तात्पर्य न था कि इनके सिवाय संसार में सभी मनुष्य दस्यु हैं प्रत्युत उद्देश्य यह था कि वे लोग एक-दूसरे से बल पाकर संगठित शक्ति से चरित्र संगठन के अगुआ बनेंगे। आर्य तो संसार में और भी बहुत होंगे परन्तु आर्यसमाज में सम्मिलित आर्यों से यह आशा थी कि वे अपने चरित्रों का सुधार करके वेद के प्रत्येक उपदेश को अपने जीवन में ढालकर दिखाएँगे।

क्या आर्यसमाजस्थ सभ्यों ने आचार्यव की आशा को पर्ण किया है ? यह प्रश्न आज चारों ओर से पूछा जा रहा है, और इसका उत्तर दिए बिना आर्यसमाज का जीते रहना दुष्कर है। आर्यसमाजस्थ पुरुष स्वयं इस कमी को अनुभव कर रहे हैं और समाचार पत्रों द्वारा अपनी सन्दिग्ध अवस्था का परिचय दे रहे हैं। विविध पुरुषों की विविध सम्मतिएँ आए दिन छपती रहती है, प्रश्न पर विविध दृष्टियों से विचार होता है; परन्तु मुख्य कारण फिर भी स्पष्टतया जन साधारण के सामने नहीं आता।

स्वामी दयानन्द ने सब सुधारों का एक ही जड़ रूपी सुधार क्या समझा था ? आदिम सत्यार्थप्रकाश में आर्यावर्तीय मत मतान्तरों की समीक्षा करते हुए अन्त में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—'ब्रह्मचर्य और विद्या के छोड़ने से ऐसा देश बिगड़ा है कि भूगोल में ऐसी दुर्दशा किसी देश की नहीं हुई जैसी महाभारत के युद्ध के पीछे इस देश की हुई है...जो इस समय वेदादिक पढ़ने में लगें, ब्रह्मचर्याश्रम 40 वर्ष तक करें, कन्या और बालक सब श्रेष्ठ शिक्षा और विद्यावाले होवें...सत्य धर्म और परमेश्वर की उपासना में तत्पर होवें तो देश की उन्नति और सुख हो सकता है।' इसी प्रकार सप्तमबार के छपे सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ 417 पर लिखा है—'जब लों वर्तमान और भविष्यत में उन्नतिशील नहीं होते तब लों आर्यावर्त्त और अन्य देशस्थ मनुष्यों की वृद्धि नहीं होती। जब वृद्धि के कारण, वेदादि सत्य शास्त्रों का पठन पाठन ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के यथावत् अनुष्ठान सत्योपदेश होते हैं तभी देशोन्नति

होती है।' आर्यसमाज के छठे नियम के अनुसार इस संस्था की स्थापना ही संसार के शारीरिक आत्मिक तथा सामाजिक सुधार के लिए की गई थी, उस सुधार का मूल मन्त्र ऋषि दयानन्द ने ब्रह्मचर्य का पुनरुद्धार और उसके द्वारा सत्य विद्या की प्राप्ति बतलाया है। अर्थात् ब्रह्मचर्य को ही मूल साधन जतलाया है। जहाँ तक आर्यसमाज के सभासद् ब्रह्मचर्य के नियमों पर चलकर सत्य विद्या की प्राप्ति करेंगे वहाँ तक ही वे ऋषि दयानन्द के उद्देश्य को पूरा और अपना जीवन सफल करेंगे अब देखना यह है कि वर्तमान आर्यसमाज के सभासद् कहाँ तक इस नियम का पालन करते हैं।

ऋषि दयानन्द ने सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से यह बतलाया कि सब आश्रमों में गृहस्थ ही ज्येष्ठ है। और गृहस्थ का आधार विवाह संस्कार है। बिना गृहणी के गृह नहीं कहला सकता। ब्रह्मचर्याश्रम में वेद पढ़कर मनुष्य (स्त्री और पुरुष) केवल एक ऋषि ऋण से मुक्त होता है। शेष दो ऋणों से बिना विवाह किए उऋण नहीं हो सकता। पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए उत्तम सन्तान उत्पन्न करनी चाहिए और देव ऋण से मुक्त होने के वास्ते उत्तमोत्तम यज्ञ रचने चाहिए। 24 वर्ष की आयु से पहले पुरुष और 16 वर्ष की आयु से स्त्री का विवाह नहीं होना चाहिए। कहा जाएगा कि इस अंश में अब उन्नति होती जाती है। यदि मान भी लें कि इस अंश में सन्तोषजनक उन्नति हो रही है तो भी प्रश्न यह होता है कि क्या उस आयु तक दम्पति ने ब्रह्मचर्य का यथावत् पालन किया है। क्या मनुष्य उत्पन्न करने के पवित्र साधनों का दुरुपयोग करने के पश्चात् बड़ी आयु में विवाह करना कुछ विशेष प्रशंसा योग्य समझा जा सकता है। आर्य पुरुषों में भी इस अंश में कहाँ तक गिरावट विद्यमान है इसका अनुभव मैंने गत आठ वर्षों के बड़े विस्तृत पत्र-व्यवहार से किया है। पुत्रों और पुत्रियों—दोनों की पाठशालाओं के अनुभव, बड़े होकर स्त्री पुरुषों ने अपने लेखों द्वारा मुझे बहुत ही भयानक बतलाए हैं। जहाँ मुझे यह सन्तोष है कि निज के गुप्त पत्र व्यवहार से ही, जीवन ठीक साँचे पर ढालने के कारण, बहुतों ने युवावस्था की निर्बलताओं से मुक्ति लाभ की, वहाँ यह देखकर भी सन्तोष है कि इस ओर आर्य पुरुषों तथा स्त्रियों का ध्यान बहुत खिंच रहा है।

जब ऐसे वायुमंडल से निकलकर पुरुष गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेंगे तो उन से ऋतुगामी होने की आशा करना व्यर्थ है। परन्तु बिना ऋतुगामी हुए उत्तम सन्तान नहीं हो सकती और जाति को अधोगति में उठने के लिए उत्तम सन्तान की आवश्यकता है।

[सद्धर्म प्रचारक, 26 जनवरी, 1918]

जातीय शिक्षा किसके हाथ हो ?

स्वराज व राजनैतिक संशोधन के साथ-साथ शिक्षा पद्धति के संशोधन का पक्ष भी बड़े वेग से चल रहा है। यूनिवर्सिटी शिक्षा के भविष्य पर विचार के लिए गवर्नमेंट ऑफ इन्डिया में शिक्षा निपुण सिद्धान्तों का एक कमीशन नियत किया है जो सारे भारतवर्ष में भ्रमण करके आन्दोलन कर रहा है। उसी कमीशन को लक्ष्य में रखकर साढ़े पाँच मास हुए, प्रयाग के दैनिक पायोनियर—में एक लेख माला छपी थी। 23 अगस्त 1917 के पायोनियर में उसकी प्रथम मणि मुख्य लेख के रूप में निकली थी। उसका सारांश यह था—यूनिवर्सिटी शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि कालेज की पढ़ाई समाप्त करके ग्रेजुएट विद्वान और स्वात्मावलंबी होकर निकले। परन्तु यह तब हो सका है जबकि स्कूल की शिक्षा में पूर्ण मानसिक और धार्मिक (सम्प्रदायिक नहीं) योग्यता प्राप्त करके विद्यार्थी महाविद्यालय (कालिज) में प्रवेश करें। परन्तु यहाँ स्कूल का काम कालेज में करना पड़ता है। इंग्लैंड आदि देशों में शिक्षा केवल सुशिक्षित बनाने के लिए दी जाती है। इसके विरुद्ध भारतवर्ष शिक्षा का उद्देश्य सरकारी नौकरी प्राप्त करना है। इसीलिए शिक्षा-पद्धति भी प्रायः ऐसी ही बनाई जाती है जिससे नौकरी के जिज्ञासुओं की ही अर्थ सिद्धि हो सके। लेखक ने इस अव्यवस्था को दूर करने के दो साधन बतलाए थे।

प्रथम यह कि स्कूल शिक्षा का सारा कार्य प्रजा के आधीन कर दिया जाए। जातीय शिक्षा जाति के हाथ में हो। धार्मिक शिक्षा भी तभी प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी इच्छानुसार दे सकेगी। इस प्रकार से पब्लिक स्कूलों की बदौलत ही इंग्लैंड के सुशिक्षितों में स्वात्मावलम्बन का प्रचार हुआ था। राज-संगठन इस विषय में कुछ नहीं कर सकता। दृष्टान्त रूप से लेखक ने गुरुकुल कांगड़ी और भारत कवि के शान्ति निकेतन को पेश किया "we have examples, in the Hardiwar Gurukula and Tagore's school at Bolpur of what can be done in this way." लेखक का मत है कि देश के उत्तम-से-उत्तम मस्तिष्क इसी शिक्षा के काम में लग जाने चाहिए।

दूसरा संशोधन, लेखक की सम्पत्ति में यह होना चाहिए कि सरकारी नौकरी के लिए ग्रेजुएट होने की शर्त को बढ़ा दिया जाए। प्रत्येक सरकारी पद के लिए

विशेष परीक्षा होकर जो भी परीक्षात्तीर्ण हो, ले लिया जावे। लेखक के शब्द ये हैं– "Let the conference which is now in sessionat Shimla seriously consider whether the best way to improve the school is not abolish the perference at present shown in appointing Govenrment Servants, to graduates or entered under graduates of a University. Let the Government hold its own qualifying examination and recognize on other test what ever." पायोनियर के लेखक की सारी ही लेखमाला विचारणीय थी, परन्तु हमारे देश के नेताओं ने स्वराज की धुन में मस्त, इस ओर आँख उठाकर भी न देखा। इसी लेखमाला की ओर निर्देश करके लाहौर आर्यसमाज के गत वार्षिकोत्सव पर श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने आर्यसभाज का ध्यान प्रारम्भिक शिक्षा अपने हाथों में लेने की ओर खींचा था, परन्तु इधर भी आर्यसमाज के नेताओं के सिर पर जूँ तक न रेंगी।

अब लंदन टाइम्स (इंग्लैंड के राजनैतिक मुख्य दैनिक) के शिक्षा सम्बन्धी क्रोड़ पत्र में एक विशेष लेख निकला है जो अब तक मूल रूप से हमारे सामने नहीं आया। परन्तु उस समय पायोनियर के बावेला मचाने से पता लगाता है कि उसमें कुछ भारत के हित की बात अवश्य होगी। टाइम्स की सम्मति है कि भारत के राजनीतिक और शासन सम्बन्धी सुधार की स्कीम अधूरी रह जाएगी यदि भारतीय राजमन्त्री (मिस्टर मान्टेगू) भारतीय शिक्षा का सुधार भी न कर आए। टाइम्स की सम्मति यह है कि भारतीयों को प्रजातन्त्र राज्य देने से पहले प्रजा के प्रतिनिधियों के चुननेवालों की योग्यता में उन्नति होनी चाहिए। इसके लिए टाइम्स के लेखक का प्रस्ताव है कि मिडिल तक अंग्रेजी सर्वथा न पढ़ाई जाए। देश भाषा पर ही सारा जोर लगे। पढ़ाई की समाप्ति तक उत्तीर्ण विद्यार्थियों को एक प्रमाण पत्र मिले। जिनके योग्य ऐसा प्रमाण पत्र हो वही प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए सम्मति दे सके। इन पाठशालाओं का नाम आज 'वर्नेक्यूलर स्कूलूज' है। परन्तु टाइम्स की सम्मति ने इनका नाम 'नेशनल (जातीय) स्कूलूज' हो जाना चाहिए। ऐसी जातीय पाठशालाओं की संख्या बहुत बढ़ा देनी चाहिए और उनके लिए उत्तम अध्यापक तैयार करने के विशेष साधन नियत करने चाहिए। गवर्नमेंट बहुत-से ग्रेजुएटों को शिक्षा पद्धति सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए ग्रेट ब्रिटेन तथा आस्ट्रेलिया, कनेडा आदि में भेज दे और उनसे पहले प्रतिज्ञा ले ले कि गवर्नमेंट के दान से शिक्षा लाभ करके वे कुछ वर्षों तक अवश्य गवर्नमेंट की पाठशालाओं में पढ़ाएँगे। इसके अतिरिक्त इनमें से उच्च योग्यता के व्यक्ति अपने देश में ही बहुत-से ट्रेनिंग कालेज खोलकर योग्य अध्यापकों की संख्या बढ़ा सकेंगे। टाइम्स के लेखक ने तो बहुत कुछ और भी लिखा है, परन्तु हमें आज इतने पर ही कुछ लिखना है। चाहे मिस्टर मोन्टेग कोई ऐसा संशोधन शिक्षा विषय में करे वा आंशिक

स्वराज मिलने के पश्चात भारतीय व्यवस्थापक सभा legislative assambly ही कोई विशेष नियम बनावे, इसमें सन्देह नहीं कि यदि वास्तविक स्वराज को प्राप्त करना है तो प्रजा के बड़े भाग को सुशिक्षित बनाने की आवश्यकता है। यदि ऐसी साधारण ज्ञान की शिक्षा गवर्नमेंट देगी तो उसका उद्देश्य पूर्ण करनेवाले मनुष्य उत्पन्न होंगे। परन्तु यदि ऐसी शिक्षा जाति के अपने हाथ होगी तो उससे शिक्षा पाई प्रजा अपने अधिकारों का जातीय दृष्टि से ही उपयोग लेंगे। हमारी सम्मति में गुरुकुल शिक्षा विधि ही यह शक्ति रखती है कि सदाचारी सुशिक्षित देशभक्त उत्पन्न कर सकें। इस समय गुरुकुल कांगड़ी की सारी शक्ति यदि गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के क्षेत्र को बढ़ाने में लग सकें तो परिणाम बहुत ही उत्तम प्राप्त किए जा सकते हैं। परन्तु इस कार्य में कृतकार्यता के लिए आवश्यक है कि गुरुकुल विश्वविद्यालय की प्रबन्धकर्ता सभा का मुख्य स्थान गुरुकुल भूमि में ही रहे और उसके अन्दर काम करने वाले इसी को अपना मुख्य उद्देश्य समझनेवाले हो।

[सद्धर्म प्रचारक, 16 फरवरी, 1918]

मेरे कुछ असिद्ध स्वप्न

स्वप्नावस्था में ही जागृत की सारी तैयारी होती है। इसी अवस्था में योगी परमात्मा की सृष्टि का सौन्दर्य देखना आरम्भ करता है और इसी में साधारण पुरुष का मन कर्मकांड की तैयारी करता है।

गुरुकुल के लिए जिस दिन धन एकत्र करने के लिए मैं घर से निकला था (12 भादों, 1956 वि. तदानुसार 26 अगस्त 1988) उसी दिन रेलगाड़ी में बैठते ही कुछ विशेष कल्पनाएं, गुरुकुल सम्बन्धी कार्यक्रम की, मैंने कर ली थीं। फिर जब कार्तिक सम्वत् 1958 में मुझे आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से आज्ञा मिली कि शीघ्र कांगड़ी ग्राम में कुछ अस्थिर मकान बनवा गंगा तट पर गुरुकुल खोल दिया जावे, तब भी 22 फाल्गुन 1958 को शाम तक गुरुकुल भूमि में पहुँचने से पहले मेरे मन में बहुत-से संकल्प उठे थे। उस समय ये सब संकल्प स्वप्नतम् ही थे। उनमें से कुछ तो में परिणित हो आशा से बढ़कर पूरे हुए और कुछ असिद्ध रहकर अब भी स्वप्नावस्था में ही पड़े हुए हैं। उन स्वप्नावस्था में पड़े हुए असिद्ध संकल्पों का वर्णन इसलिए कर देता हूँ कि शायद कोई उन्हें सिद्ध करनेवाला कर्मवीर निकल आवे और अपने व्यक्तित्व के प्रतिकूल अवस्थाओं के कारण जो मैं न कर सका, उसमें वह कृतकार्य हो जावे।

प्रथम आर्थिक दशा सम्बन्धी कुछ स्वप्न थे वो पूरे न हो सके। आरम्भ में मेरा विचार यह था कि 50 लाख रुपयों का स्थिर कोष जमा करके उनके सूद से ही गुरुकुल का काम चलाया जाए। परन्तु ब्रह्मचारियों को कांगड़ी में ले जाते ही ऐसा चौमुखी युद्ध करना पड़ा कि धन एकत्र करने के लिए बाहर जाना मेरे लिए कठिन हो गया। और जिनका इस संस्था को चलाना कर्त्तव्य था उनमें बहुधा इसको तोड़ने के लिए ही कमर बाँध बैठे। तब धन कौन लाता ! फिर शनैः-शनैः यह भाव स्थिर हुआ कि रुपयों के स्थिर कोष के स्थान में आमदनी का स्थिर यत्न किया जाए जिससे यह शिक्षणालय आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़ा हो सके। इसके लिए मैंने नीचे लिखे साधन सोचे थे—

(क) एक (Workshop) कारखाना खोला जाए जिसमें एंजन लगाकर कई प्रकार के व्यवसाय का काम हो। कांगड़ी ग्राम और उसके आस-पास के जंगल

में खैर के वृक्ष बहुत हैं। एक कारखाना कत्था बनाने का खोला जाए। अपने जंगल में ढाक के वृक्ष बहुत हैं उनसे लाख पैदा की जाए, और उन्हीं के फूलों (केमू) से रंग बनाया जाए। सेमल की रूई इकट्ठी करके बेची जाए। पास के जंगल से शीशम और तुन की लकड़ी सस्ती मिल सकती हैं। उन लकड़ियों से मेज कुर्सी आदि सामान बनवाकर बेचा जाए। इन के अतिरिक्त और भी व्यवसाय के कार्य जारी हो सकते थे। स्वामिणेनी सभा के अधिकारियों से जब बातचीत की तो उन्होंने विरोध ही किया। शिवालिक की पड़ोसी पहाड़ियों पर औषधियाँ बहुत होती हैं और बिना मूल्य मिल सकती हैं। वैद्य के आने पर सभा से आज्ञा चाही गई कि चरक सुश्रुत में दिए नुसखों के अनुसार औषधियाँ बनाकर वैद्यों के हाथ बेचने की आज्ञा दीजिए। हुकूम हुआ कि ना-मन्जूर।

जब सभा ने ऐसी बेरुखी दिखाई तो मैंने एक धनाढ्य पुरुष को व्यवसाय के कामों के लिए धन देने को तैयार कर लिया। धामपुर के रईस रायबहादुर चौधरी रणजित सिंह जी गुरुकुल देखने आए। कारखाने की बातचीत आते ही उन्होंने मुझसे पूछा कि पूरा कारखाना बनाने के लिए क्या व्यय होगा। मैंने एक लाख का अनुमान बतलाया। उक्त महोदय ने प्रतिज्ञा की कि 50 हजार रुपए वह देंगे, शेष इकट्ठा करने का मैं यत्न करूँ। परन्तु जहाँ घर में कलह हो और उल्टी माला फेरी जाती हो वहाँ बाहर से क्या सहायता मिल सकती है। श्रीमान् चौधरी रणजित सिंह जी गुरुकुल से घर लौटकर दस-पन्द्रह दिनों के अन्दर ही अचानक मृत्यु के ग्रास हुए। यह विचार दिल का दिल में ही रह गया। यदि वह स्वप्न जागृत में परिवर्तन होता तो जहाँ एक ओर गुरुकुल चलाने के लिए स्थिर आय होती वहाँ ब्रह्मचारियों के आर्थिक भविष्य का प्रश्न भी शायद किसी हद तक हल हो जाता।

(ख) कांगड़ी ग्राम की भूमि 1200 पक्के बीघों के लगभग है। उनमें से केवल अनुमान 175 बीघ में खेती होती है। 325 बीघे के लगभग में नाला आदि हैं। 100 बीघे भूमि गुरुकुल की इमारतों के नीचे होगी। शेष 600 बीघे में से 400 बीघे को नौतोड़ किया जा सकता है। मैंने कृषि विभाग इसलिए खोला था कि उस विभाग के ब्रह्मचारी तो कृषि का सारा काम सीखेंगे परन्तु जो काम (नलाई, कटाई, जुताई इत्यादि) केवल मजदूरों सम्बन्धी होंगे वह गुरुकुल के अन्य ब्रह्मचारियों से, उनके खाली समय में, कराया जाएगा। पैदावार बढ़ाने के लिए ग्राम में एक कूप लगवाया था। विचार था कि दानियों को प्रेरित करके दस बारह कूप लगवाकर खेती की पैदावार बढ़ाई जाए। मेरा अनुमान था कि यदि 400 बीघे और नौतोड़ हो जाए तो वर्ष-भर में से नौ महीनों के लिए अनाज यहीं से निकल आया करेगा। ब्रह्मचारियों में जोश भी पैदा कर दिया गया था। कृषि विभाग से विभिन्न ब्रह्मचारी भी आश्रम की वाटिकादि में काम करने लग गए थे। परन्तु प्रबन्धकर्तृ सभा के अधिकारियों की असहानुभूति के कारण यह काम भी न चल सका।

(ग) एक बार ब्रह्मचारियों में यह उत्साह हुआ कि इमारत का काम वे स्वयं (मिस्तरी की सहायता से) कर लिया करें। एक कमरे की तैयारी में बहुत कुछ काम उन्होंने किया भी; परन्तु उनके मार्ग में इतने विघ्न डाले गए और उनको इतना निरुत्साहित किया गया कि उनका जोश ठंडा पड़ गया और फिर उन्हें इस काम के लिए किसी ने उत्साहित नहीं किया।

(घ) कांगड़ी ग्राम के जंगल से एक वर्ष ईंटों के भट्ठे के लिए लकड़ियाँ कटवाई गईं। उस वर्ष जंगल की आमदनी तीन हजार से बढ़ गई। मैंने बजट में वह रकम ग्राम की उन्नति के लिए स्वीकार करवाई। साथ ही उपाध्यायों तथा अध्यापकों के लिए निवासस्थान उसी भूमि में बनवाने को विचार किया जहाँ नया आदर्श ग्राम बसाया जाना था। मैं कई कारणों से गुरुकुल से अलग जा बैठा। मेरे उत्तराधिकारियों ने जहाँ उपाध्याय-गृह गुरुकुल के समीप बनवा लिए, वहाँ ग्राम के लिए स्वीकार की हुई रकम बिना व्यय हुए ही, वर्ष के अन्त में, लिप्त हो गई और उसकी पुनः स्वीकृति न मिली। यदि कृषिकारों के जीवन का सुधार हो जाता तो पैदावार बहुत बढ़ जाती और गुरुकुल का यश भी अधिक विस्तृत होता। एक बार फिर विचार उठा कि स्थिर धन राशि को जमीन पर लगाना चाहिए। पचास हजार में एक ग्राम बिकता था। उसका नकदी लगाना इतना वसूल होता था कि सैकड़ा मासिक का सूद फैल जाता। नहर का पानी लगता था। यदि उन्नति की जाती तो पैदावार और बढ़ सकती थी। कुछ एक आर्य पुरुषों का पालन भी हो सकता था। परन्तु इस विषय को सभा में पेश करने से ही अधिकारियों ने इनकार कर दिया। गुरुकुल को तो 50 हजार में ही ग्राम मिलता था। पीछे उसका मूल्य 60 हजार से भी बढ़ गया।

इन सब प्रस्तावों का उत्तर अधिकारियों की ओर से यही था कि यदि इन कामों की आज्ञा, लाहौर से दूर, दी गई तो साधारण सभासद् यह समझेंगे कि सारी शक्ति कांगड़ी को जा रही है। मुझे कहा जाता था कि मेरी बदनामी इस प्रकार की जाएगी कि जो थोड़ी बहुत सेवा धन या तन से मैंने की है उसके बदले मैं अपनी शक्ति बढ़ाना चाहता हूँ। अर्थ यतः ऐसा आक्षेप नहीं हो सकता इसलिए वर्तमान कार्यकर्ताओं को आप बढ़ाने के लिए उपरोक्त साधनों का प्रयोग में लाने का यत्न करना चाहिए, यदि वे इसे उचित समझें।

दूसरे ब्रह्मचारियों के शारीरिक स्वास्थ्य तथा उन्नति सम्बन्धी कुछ विचार थे जो स्वप्नावस्था में ही विलीन हो गए। गतका, फरी, घुड़सवारी और अन्य देशी खेलों का शिक्षक अर्जुनसिंह बहुत उत्तम मिला था। कई कारणों से वह अलग किया गया। कई ड्रिल मास्टर आए और चले गए। अन्त में चैत्र, 1973 को सरदार फतेहसिंह को रखा गया जो दिल से काम कर रहे हैं। खेलों में तो ब्रह्मचारी अनुराग से सम्मिलित होते हैं और उससे उनकी शारीरिक दशा औरों की अपेक्षा बहुत उत्तम

रहती है, परन्तु प्रातःकाल का, नसों और संगठित करने तथा शरीर को दृढ़ करनेवाला, व्यायाम ठीक प्रकार नहीं होता। मुझे आशा थी कि शनैः-शनैः गुरुकुल के स्नातक ही अध्यापन के काम में लग जाएँगे और व्यायाम के स्वयं अभ्यासी ब्रह्मचारियों के प्रातःकाल के व्यायाम को ठीक कर देंगे। परन्तु न तो गुरुकुल और उसकी शाखाओं में पढ़ाने के लिए अधिकतः गुरुकुल के स्नातक ही मिले और न ही अन्य सब अध्यापक ऐसे आए जो स्वयं भी व्यायाम के प्रेमी हों।

(क) जिस प्रकार पहले कुछ वर्षों के अध्यापक स्वयं खूब व्यायाम करते थे और अब भी कोई-कोई ऐसा करते हैं, इसी प्रकार इस समय की सर्व शाखाओं तथा मुख्य गुरुकुल के अध्यापक और उपाध्याय स्वयं व्यायाम को अत्यन्तावश्यक समझकर ब्रह्मचारियों के साथ व्यायाम किया करें, तब मेरा स्वप्न फलीभूत होगा।

(ख) शारीरिक शिक्षा तथा शरीर रक्षा और उन्नति के सम्बन्ध में बड़ा विचार मैं यह लेकर गुरुकुल में आया था कि रात की पढ़ाई विद्यार्थियों को न करनी पड़े। परमेश्वर ने दिल, शरीर और इन्द्रियों से काम लेने को बनाया है और रात इन सबको आराम देने के लिए। यदि अध्यापक ऐसे मिले जो दिन को पढ़ाई के समय ही विद्यार्थी को सब कुछ उपस्थित करा दें तो रात में पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती और दिन को अन्य समय में मानसिक परिश्रम का कोई प्रयोजन नहीं रहता। और तब आँखों और दिमाग की कमजोरी की शिकायत भी नहीं हो सकती। आरम्भ में दो वर्ष तक तो कुछ-कुछ यह क्रम चला शायद इसलिए कि उस समय सर्व नियत विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध न था, परन्तु आगे चलकर अब बड़े-बड़े अध्यापक और प्रोफेसर जमा हो गए तो जितना परिश्रम मैं इस आदर्श की ओर ले जाने में करता उतनी ही रात की पढ़ाई अधिक होती जाती। शायद इसमें मेरी ही भूल हो, परन्तु यदि गुरुकुल के संचालकों को मेरे प्रस्ताव में कुल सार दिखाई दे तो आशा है कि वे इस ओर फिर ध्यान देगे।

तीसरी कुछ कल्पनाएँ मानसिक शिक्षा सम्बन्धी थीं। उनमें से बड़ी कमी उचित पाठय पुस्तकों की है। आजकल के सभ्यताभिमानी देशों की युनिवर्सिटियों के पास अपना प्रेस होना अत्यन्तावश्यक समझा जाता है। गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली (इस युग के लिए) नई, उसका पाठ्यक्रम नया, उसकी उमंगे नई फिर पुस्तकों का संशोधन तथा निर्माण इस शिक्षणालय का एक मुख्य अंग होना चाहिए था। यही सोचकर मैंने गुरुकुल के अर्पण सद्धर्म-प्रचारक प्रेस का सारा सामान कर दिया था। इसी आवश्यकता को लक्ष्य में रखकर गुरुकुल कोष से सहस्रों व्यय करके प्रिटिंग मशीन; इंजन तथा टाइप का विस्तृत सामान भी मँगाया था। आधुनिक संस्कृत साहित्य की पाठ्य पुस्तकों में से अश्लील तथा अनुचित भाग निकालकर पुस्तकें तैयार की गईं, वैदिक मैगेजीनादि की सारी अपनी छपाई गुरुकुल में होने लगी; गुरुकुल का यन्त्रालय हम प्रान्तों में केवल इन्डियन प्रेस, प्रयाग, से दूसरे दर्जे पर

पहुँच गया था—जब अकस्मात प्रेस भवन में आग लग गई और दस-बारह हजार का सामान जलकर खाक हो गया। प्रेस के जलने के साथ पाठ्य पुस्तकें छपवाने का प्रश्न भी फिर खटाई में पड़ गया। फिर प्रेस दिल्ली में गया, उसका बड़ा भाग 6500 रुपए में बेचा गया, और कुछ हैन्डप्रेस और कटिंग मशीनादि बचाकर फिर से गुरुकुल प्रेस की बुनियाद पड़ी। उसके पश्चात् दो बार मैंने सभा से कुछ स्वीकृति, प्रेस को बढ़ाने के लिए माँगी, परन्तु मुख्य अधिकारियों के कटाक्ष पर (कि मैंने सहस्रों रुपए प्रेस में बरबाद करा दिए हैं) मैं अपने प्रस्ताव पर जोर नहीं देता रहा। प्रेस का कार्य बढ़ाने से बहुत से अन्य लाभ भी हैं, इसलिए जब वर्तमान मुख्याधिष्ठाता जी की कार्यकुशलता तथा धन रक्षा की योग्यता पर पूरा भरोसा है तो आशा है कि सभा उनको आठ-दस हजार रुपया व्यय करके प्रेस को बढ़ाने की आज्ञा देगी।

गुरुकुल विश्वविद्यालय और उसकी शाखाओं के लिए उत्तम साहित्य मुद्रित करना तो गुरुकुल यन्त्रालय को विस्तृत करने का फल होगा ही, किन्तु उसके साथ ही उससे स्थिर आय भी खासी हो जाएगी।

(ख) गुरुकुल के स्नातकों के लिए आजीविका का प्रबन्ध करने के विचार से ही नहीं, प्रत्युत उनको जाति और राष्ट्र के लिए अधिक-से-अधिक फलदायक बनाने के लिए, गुरुकुल की आरम्भिक शिक्षा-प्रणाली में ही आयुर्वेद, कृषि और व्यापार शिक्षा का ध्यान रखा गया था। कब से मैं इन विषयों के लिए बल देता रहा हूँ और किस प्रकार की रुकावटें उस प्रयत्न के मार्ग में खड़ी होती रही हैं—इस कहानी से यहाँ कुछ लाभ न होगा। मैंने कृषि शिक्षा का कार्य आरम्भ भी किया परन्तु कई कारणों से उसने अब तक वह कृतकार्यता प्राप्त न हुई जो सहज में ही हो सकती थी। मेरे सामने तो कृषि विभाग का जीवन ही सन्दिग्ध था, परन्तु अब फिर कृषि विभाग को योग्य उपाध्याय मिल गए हैं। यदि इस विभाग को तोड़ने का प्रयत्न हुआ तो जहाँ ब्रह्मचारियों को कार्यशील बनाने में सहायता मिलेगी वहा, कुछ वर्षों के पीछे, इससे आय भी अच्छी होने लग जाएगी।

फिर आयुर्वेद के लिए भी कुछ वर्षों से मैंने प्रस्ताव कर रखा था। जिस वर्ष गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर कविराज योगेन्द्रनाथ सेन एम.ए. आए थे, उसी वर्ष बहुत-से धन की भी, आयुर्वेद विभाग खोलने के लिए, प्रतिज्ञाएँ हुई थीं और कुछ धन वसूल भी हुआ था, और योग्य वैद्य भी मँगा लिए गए थे। परन्तु शासक सभा के अधिकारियों ने उस विभाग का खुलवाना उचित न समझा। मेरा निश्चय है कि यदि आयुर्वेद विभाग के साथ ही, एक योग्य डाक्टर रखकर अनाटमी सर्जरी आदि की शिक्षा का भी प्रबन्ध कर दिया जाता तो शायद इस समय तक गुरुकुल के School of medicine को गवर्नमेंट का चिकित्सा विभाग प्रमाणित भी कर देता। अब बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आयुर्वेद विभाग के खोलने का प्रस्ताव गुरुकुल

की शासक सभा ने स्वीकार कर लिया है और यदि इस समय कोई योग्य डाक्टर भी अपनी सेवा गुरुकुल के अर्पण कर दें तो आशा है कि जहाँ गुरुकुल के स्नातक कलकत्ता मद्रासादि भटकते फिरने से बच जाएँगे वहाँ बाहर के विद्यार्थी भी इस विभाग से पूरा लाभ बैठा सकेंगे।

यह भी सुनने में आया है कि व्यापार तथा महाजनों की शिक्षा के लिए भी पाठविधि तैयार हो रही है। परमेश्वर शासक सभा को बल प्रदान करें जिनसे अधिकारीगण इन कार्यों के चलाने में आलस्य न कर सकें।

आत्मिक शिक्षा सम्बन्धी जो दिव्य स्वप्न देखकर मैं गुरुकुल में गया था, उनका निरन्तर 16 वर्षों तक काम करते हुए, स्मरण तक नहीं आता था। उनके संस्कार तो प्रबन्ध के द्वन्द्व युद्ध से मुक्त होने पर ही पुनः आगे हैं। गुरुकुल भूमि में पग धरा था यह दृढ़ प्रतिज्ञा करके कि सात वर्षों तक वेदांगों में परिश्रम कर तथा आत्मिक साधनों द्वारा बल प्राप्त करके ऋषि दयानन्द की बतलाई प्रणाली पर वेदाध्ययन में ब्रह्मचारियों की स्वयं सहायता करूँगा और तब आचार्य कहलाने का अधिकारी बनूँगा। गया था अभ्यासी बनने और आत्मिक शक्तियाँ सम्पादन करने, परन्तु गुरुकुल भूमि में प्रवेश करते ही घोर संग्राम पड़ा। जहाँ प्रकृति प्रत्येक प्रकार से अनुकूल थी, जहाँ वेदाज्ञा के अनुकूल हिमालय के पवित्र चरणों में जान्हवी के किनारे डेरा डालकर आशा थी कि ब्रह्मचर्याश्रम के बड़े बोझ को उठाने के लिए बल मिलेगा, वहाँ मानवी हृदयों की उठाई अशान्ति ने पूर्व के साधनों से प्राप्त बल को भी शिथिल के लिए आक्रमण कर दिए। इस विषय में मनुष्यों के प्रति वाणी वा लेखनी द्वारा, कुछ बतलाया नहीं जा सकता। जो कल्पनाओं का मनोहर तथा शान्तिप्रद उद्यान हृदय भूमि पर बनाया था वह अब स्मरण में आ रहा है। आत्मिक अवस्था को उच्चासन पर ले जाने और वैदिक ज्ञान की क्रियात्मक बनाने का अवसर, परमेश्वर की कृपा से अब मिलेगा और इस जन्म की तैयारी आगामी जन्म में अवश्य काम आवेगी--इस आशा पर ही मैं काम कर रहा हूँ। परन्तु अपनी मृत्यु से पहले यदि एक बार यह दृश्य देख लूँ कि गुरुकुल विश्वविद्यालय के आचार्य पद पर एक ऐसे विद्वान स्थित हैं जो वेद ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को आचरणों में डालते हुए ब्रह्मचारियों को मनुष्य के परम पुरुषार्थ की ओर ले जा रहे हैं, तो मैं बड़े सन्तोष से आनेवाले जन्म की तैयारी कर सकूँगा।

ब्रह्मचारियों के आत्माओं पर निस्वार्थ भाव को भली प्रकार अंकित करने तथा उन्हें धर्म और जाति सेवा के लिए तैयार करने का बड़ा भारी साधन यह समझा गया था कि उनके संरक्षकों पर उनकी पढ़ाई एवम् उनके पालन पोषण का कुछ भी बोझ न पड़े। गुरुकुल की आरम्भिक शिक्षा विधि की तैयारी के समय से ही मैं इस पर बल देता रहा और इसीलिए नियमधारा 6 के नीचे नोट दिया गया था—"अब कुछ समय में पर्याप्त धन एकत्रित हो जाएगा तो समस्त ब्रह्मचारियों

का शिक्षा दान तथा उनका पालन-पोषण बिना किसी व्यय लिए किया जाएगा। मैंने बहुत बार हाथ पाँव मारे कि पर्याप्त धन (50 लाख) जमा हो जावे, परन्तु उसके लिए परिश्रम करने का मुझे समय और अवसर ही न मिला। फिर जब सं. 1967 में कई कारणों से मैं मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य पद से त्याग पत्र देकर अलग हुआ तो कुछ सज्जन मित्रों ने मेरी हार्दिक इच्छा को जानकर सर्वथा शुल्क मोचन पर बल दिया और उनका प्रस्ताव स्वीकृत भी हो गया। फिर जब मुझे पुनः गुरुकुल की सेवा के लिए लौट आने के लिए बाधित किया गया तो शुल्क लगाने का प्रश्न फिर उठ खड़ा हुआ। उस वर्ष तो पुराने प्रस्ताव को ही सभा से दृढ़ता मिली, परन्तु उस से दूसरे वर्ष इस प्रश्न को फिर सभा में रखाया गया। यह देखकर कि कुछ काम करनेवाले बिना गुरुकुल के ब्रह्मचारियों पर शुल्क लगवाए काम करना छोड़ देंगे, मैंने उन अधिवेशन में सम्मिलित होने से ही बचना चाहा, परन्तु शुल्क के पक्षपातियों की ओर से भी प्रधान जी ने विश्वास दिलाया कि आठ श्रेणियों तक कोई शुल्क लगाने का विचार नहीं; उसके ऊपर शुल्क लगाने का निश्चय है। वे तो इस समझौते पर चुप रहा परन्तु प्रस्ताव कर्ताओं ने पूर्ववत् सब श्रेणियों के लिए शुल्क स्वीकार करा लिया। मैंने अपनी निजू प्रतिज्ञानुसार मौनधारण किए रखा और सम्मति भी कुछ न दी।

इस समय बिना शुल्क के गुरुकुलों को चलाना असम्भव-सा ही हो गया है, क्योंकि जहाँ प्रबन्ध उत्तम है और अपने कर्त्तव्य को समझनेवाले संचालक हैं वहाँ धन पर्याप्त नहीं, और जहाँ शुल्क न लेने का आडम्बर रचा जाता है वहाँ ब्रह्मचारी तो साधारण भोजनों के लिए भी तरसते हैं और गुरुकुल भक्त सांसारिक भोगों का आनन्द लूटते हैं। मेरा यह स्वप्न भी इस जीवन में पूरा होता नहीं दिखता।

गुरुकुल के सम्बन्ध में मेरी एक और प्रबल इच्छा थी जो अपूर्ण रह गई। मेरा विचार था कि प्रत्येक नगर के पास और प्रत्येक पाँच ग्रामों के समूह के मध्य स्थान में प्रारम्भिक शिक्षा के लिए पाठशालाएँ खोल दी जाएँ जिनमें बालक गुरुकुल के लिए तैयार किए जाएं। चार वर्ष की पाठ विधि हो। जनता की सभाएँ बनाकर अनिवार्य शिक्षा का प्रचार किया जाए, जिससे उस ओर का कोई भी बच्चा (लड़की हो वा लड़का) अशिक्षित न रह जाए। गुरुकुलों के सम्बन्ध में तो कई कारणों से मैं इस विचार को असली सूरत न दे सका, परन्तु यह प्रबल इच्छा अवश्य है कि आर्यसमाज का इतिहास समाप्त करके, धर्म प्रचार करता हुआ, आर्यभाषा पाठशालाएँ खुलवाने का यत्न करता रहूँ। उन पाठशालाओं में साधारण ज्ञान देने के अतिरिक्त प्रत्येक आर्य बालक और बालिका को वैदिक धर्म का आवश्यक ज्ञान भी कराया जावे। इस काम के लिए ऐसे धर्मवीरों की आवश्यकता होगी जो वर्तमान समय के अनुचित भोगों को तिलांजलि देकर तप का जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार हो। स्वर्गीय महात्मा गोपालकृष्ण गोखले को इस काल के लिए उत्तेजित करने

का मैंने प्रयत्न किया था, परन्तु वह कई बार इच्छा प्रकट करके भी मेरी प्रार्थनानुसार एक सप्ताह गुरुकुल में निवास न कर सके और इसलिए हमारी स्कीम पक न सकी।

गुरुकुल सम्बन्धी और भी बहुत-सी मेरी आकांक्षाएँ थी जो पूरी नहीं हुईं; उनके वर्णन से इस समय लेख को बढ़ाना उचित नहीं है। मैंने इन सब असिद्ध स्वप्नों में असफलता का कारण यही समझा था कि गुरुकुल का प्रबन्ध एक ऐसी कार्यकारिणी सभा के अधीन है जिसके सभासदों का गुरुकुल के साथ सीधा सम्बन्ध बहुत कम रहता है। प्रथम तो आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा में सभासद् लिए ही किसी अन्य भाव से जाते हैं, फिर बहुत से गुरुकुल के सचे हितैषी (अधिक दाम देनेवाले, स्नातक, ब्रह्मचारियों के संरक्षक तथा अन्य विद्वान्) इसके निमन्त्रण में भाग नहीं ले सकते और सबसे बढ़कर कमी यह है कि शासक सभा की बैठकें गुरुकुल से दूर होने के कारण उसकी आवश्यकताओं को सभासद की दृष्टि में नहीं रख सकें। मैंने गुरुकुल की भलाई इसी में समझी थी कि उसके लिए एक जुदा नियंत्रक परिषद बनाई जाए जिसमें दानियों स्नातकों तथा अन्य गुरुकुल प्रेमियों के प्रतिनिधि भी लिए जा सकें। मैंने ऐसा प्रस्ताव दस ग्यारह वर्षों से कर रखा है परन्तु ऐसा नियम संशोधन का प्रस्ताव आर्य प्रतिनिधि सभा के उस अधिवेशन में पेश हो सका है जिसमें सभासदों की उपस्थिति दो तिहाई से कम न हो। एक बार उपस्थिति ठीक हो भी गई और बहुपक्ष अनुकूल था, परन्तु सम्मति लेना दूसरे दिन पर रोका गया और दूसरे दिन कोरम न रहा।

सारा सभ्य संसार इस समय अनुभव कर रहा है कि शिक्षा प्रणाली पर ही संसार की भविष्यत् भलाई का निर्भर है। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ही संसार को वर्तमान अशान्ति की औषधि आर्य पुरुषों ने समझ रखी है। बाह्य संसार के कुछ शिक्षक भी इस विषय में आर्यों के साथ सहमत हो चुके हैं। तब गुरुकुल की रक्षा और उन्नति के लिए जो भी उपाय उचित हो उनसे आर्य जनता की उपेक्षा नहीं करना चाहिए। इसीलिए मैंने आर्य जनता की सेवा में अपने अनुमान उपस्थित करने का यत्न किया है।

[सद्धर्म प्रचारक, 23 मार्च, 1918]

खंड दो

श्रद्धा

स्वाध्याय के बाह्य नियम

यजुर्वेद के तैत्तिरीयोपनिषद् के द्वितीय अनुवाक में शिक्षा की व्याख्या की है–"ओम् शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्ण स्वरः। मात्रा वलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शिक्षाध्यायः।" अर्थ–"परमात्मा का निज् नाम लेकर शिक्षा हम कहेंगे (हे शिष्य सुनो !) अकारादि वर्ण, उदात्तादि स्वर, ह्स्वादि मात्रा, आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न शान्तिपूर्वक मध्यम वृत्ति से वर्णों का उच्चारण और परस्पर वर्णों का मेल (संहिता–इस प्रकार से शिक्षाध्याय कहा है।"

गुरु के वाक्यों को सुनकर शिष्य शिक्षा लेना आरम्भ करता है। तब आरम्भ में ओम् का ध्यान करके ही मंगलाचरण करता है। "सहनौ यशः सहनौ ब्रह्मवर्चसम्।" हम दोनों–शिष्य और गुरु का यश साथ ही प्रचारित रहे और हम दोनों का ब्रह्म तेज (वेद से प्राप्त हुआ तेज) साथ ही हो।" अर्थात स्वाध्याय का आरम्भ करने से पहले शिष्य को श्रद्धापूर्वक ये वाक्य बोलने चाहिए।

अब देखना चाहिए कि यजुर्वेद के प्रतिशाख्य में (कात्यायन ऋषि ने) क्या उपदेश दिया है। प्रतिशाख्य के प्रथमाध्याय में पहले शब्द, रूप, प्रयत्न, स्थानादि का वर्णन करके सोलहवें सूत्र में कहते हैं :

'ओंकार स्वाध्यायादौ।'–स्वाध्याय का आरम्भ ओंकार पूर्वक करना चाहिए, यह सूत्र का तात्पर्य है। मनु महाराज ने भी कहा है--ब्राह्मणः प्रणवं कुर्य्यादादावन्ते च सर्वथा क्षरत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीयर्त।। (अ. 2/76)

वेद पढ़ने के प्रारम्भ में सदा प्रणव (ओइम्) का उच्चारण करें और अन्त में भी। यदि पूर्व में और अन्त में प्रारम्भ में प्रणव का उच्चारण न करें तो उसका पढ़ा हुआ धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है। यह ठीक ही है। जो पाठ श्रद्धा के बिना किया जाता है, उसका स्मरण चिरस्थाई नहीं होता। परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है--ओंकाराथकारौ।। 7।।–स्वाध्याय के आदि में जो ओंकार के उच्चारण की प्रतिज्ञा है वह अखंड्य नहीं है क्योंकि उसके तुल्य ही फल अर्थ शब्द का भी तो है। मनु ने भी कहा है–"

ओंकारश्चाथाकारश्च द्वावेतौ ब्राह्मणः पुरा।
कंठं भित्वा विनिर्यातौ तेनेमौ मंगलाबुभौ।।

यह ठीक है परन्तु इनमें से—"ओंकार वेदेषु।। 8।।

ओंकार का उच्चारण वेद के स्वाध्याय के आदि में करने की ही विधि है और—अथकारं भाष्येषु।। 9।।' भाष्य के स्वाध्याय की आदि में 'अथ' शब्द के प्रयोग की विधि है। चार संहिता मूल वेद के अतिरिक्त जितने भी (ब्राह्मण, उपनिषंद, वेदांग, उपांगादि) ग्रन्थ हैं वे सब वेद के भाष्य रूप हैं। अब स्वाध्याय की तैयार का वर्णन है—प्रयतः।। 20।।—स्वाध्याय में प्रयत्न के बाह्य साधन क्या है ? इस पर भाष्यकार 'उव्वट' कहते हैं—प्रयतः शुचिरुच्यते, पादशौचाचमनादिना शुचिरधीयीतेत्यर्थः।। स्वाध्याय का आरम्भ करने से पहले हाथ-पैरादि धोकर आचमन से कंठ शुद्धि कर लेनी चाहिए। फिर—'शुचौ।। 2।। शुद्ध अर्थात एकान्त देश में अध्ययन करना चाहिए। न केवल अकेले विद्यार्थी के लिए एकान्त देश में अध्ययन करने की विधि है प्रत्युत गुरुकुल तथा अन्य विश्वविद्यालय भी स्वच्छ एकान्त देश में होने चाहिए। इसका फल आत्मा शुद्धि होगी और बिना आत्मा शुद्धि के स्वाध्याय का उद्देश्य ही प्राप्त नहीं होता। इसीलिए कहा है :

द्वावेववर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः।
स्वाध्यायभूमिं चाक्षुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः।।

जब आत्मा को स्थिर कर लिया और शुद्ध, एकान्त भी प्राप्त हो गया तब आसन की विधि कही जाती है—'इष्टम्।। 22।।—जिस आसन (अर्थात् बैठने का प्रकार) बैठकर स्वाध्याय मे विघ्न न पड़े उसी आसन का अभ्यास करना चाहिए। औंधे लेटकर कोई पुरुष सूक्ष्म विचारों को अपने अन्दर स्थान नहीं दे सकता, जैसे आराम चौकी पर बैठकर व्यायाम करने की चेष्टा निष्फल है। इसलिए ऐसे आसन पर बैठकर स्वाध्याय करना चाहिए जिससे स्वाध्याय में विघ्न न होकर पूरी सफलता प्राप्त हो।

परन्तु क्या सब ऋतुओं में एक-सा स्वाध्याय हो सकता है ? नहीं, ऋतु भेद से स्वाध्याय के समय में भी परिवर्तन होगा। दृष्टान्त के लिए सूत्रकार कहते हैं—ऋतुं प्राप्य।। 23।।, भाष्य—'हेमन्तमृतुं प्राप्य रात्र्याश्चतुर्थप्रहरेऽधीयति'—हेमन्त (बहुत जाड़े की) ऋतु में रात के चौथे पहर उठकर पढ़े। इससे स्पष्ट विदित होता है कि हेमन्त ऋतु के अतिरिक्त अन्य सब ऋतुओं में रात को पढ़ना मना है और उस ऋतु में भी पहली रात पढ़ने के लिए वर्जित है। फिर पढ़ने में विशेष नियम का पालन—योजनान्न परम्।। 24।।, भाष्य—'अधीयानो योजनात् परमध्वानं न गच्छेत्।'—अर्थात् पढ़ते हुए एक योजन से आगे न जावे। यह विधि विचित्र प्रतीत

होगी, परन्तु जब नियम यह है कि गुरुकुल नगर से एक योजन की दूरी पर होना चाहिए तब समझ में आ जाता है कि जहाँ भ्रमण करता हुआ पाठ विचार करता है, वहाँ विचारते-विचारते सीमा से बाहर न निकल जावे। विद्यार्थी जीवन में भोजन कैसा करना चाहिए—'भोजनं मधुरं स्निग्धम्।। 25।। भाष्य—'मधुररसप्रायं घृतप्रायं चान्नंभुञ्जीत', अर्थात् मधुर रस प्रधान और घृत प्रधान अन्न का भोजन करना चाहिए। रूखा, तीखा, खट्टा आदि भोजन का तो मधुर शब्द से ही खंडन हो गया। फिर भी जहाँ मस्तिष्क को ठीक रखने तथा शारीरिक बल की स्थिरता के लिए घृत की आवश्यकता है वहाँ रसप्रधान भाजी, दालादि के सेवर से गरिष्ठ भोजन का निषेध भी हो गया। ब्रह्मचारी के लिए सर्व प्रकार के हानिकारक तथा काम-क्रोधादि को उत्तेजित करनेवाले भोजना मना है।

[श्रद्धा, 30 अप्रैल, 1920]

खिलाफत का प्रश्न मातृपूजा या हिजरत ?

खिलाफत का प्रश्न इस समय सर्वोपरि प्रश्न हो रहा है। इसके नीचे और सब प्रश्न इस समय दब गए हैं। पंजाब के भीषण अत्याचार का तीव्र आन्दोलन भी इसके सामने मन्द पड़ गया है। यही अब भारत सन्तान के लिए सर्वोपरि प्रश्न बन रहा है।

महम्मदी मुसलानों के लिए यह मजहबी सवाल है। उनके विश्वास के अनुसार इस्लाम का कोई खलीफा अवश्य होना चाहिए। वह खलीफा वर्तमान समय में सुलतान रूम हैं। मुसलमानों के पवित्र स्थान उसी खलीफा की अधीनता में रहने चाहिए कि विरोधी आक्रमणों से दारुल-अमान की रक्षा कर सके। जब युद्ध आरम्भ हुआ तो टर्की के, जर्मन दल के साथ, मिलने पर ब्रिटिश सरकार की मुसलमान सेना ने उनके विरुद्ध लड़ने में पसोपेश किया। भारत के विचारशील तथा निडर मुसलमानों ने यह भी कहा था कि स्वभावतः उनकी सहानुभूति अपने हम मजहबों और अपने खलीफा के साथ होगी। ब्रिटिश प्रधान सचिव (मिस्टर लाइड जार्ज) ने अपनी वक्तृता द्वारा स्पष्ट शब्दों में कहा कि यह धर्मयुद्ध नहीं। टर्की हमारे शत्रुओं के साथ बिना कारण मिल गया है इसलिए हम उसके साथ लड़ने के लिए बाधित हैं। अन्यथा मुसलमानों के पवित्र स्थान सुरक्षित रहेंगे और सुलतान रूम (टर्की) की वर्तमान राजसत्ता में कुछ भी भेद नहीं आवेगा।

मुसलमान सेना दिल खोलकर लड़ी। मिस्र की रक्षा और मिसपोटामिया तथा पेलेस्टाइन के विजय में उन्होंने बड़ा भाग लिया। ब्रिटिश सरकार के मित्रदल का विजय हुआ और विजय की लूट के हिस्से बखरे का समय आया। उस समय भारत के 8 करोड़ मुसलमानों ने अपने प्रधान सचिव को उनकी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाया। भारत सचिव (मिस्टर मांटेगू), महाराज बीकानेर, लॉर्ड सिन्हा और सर आगा खाँ इत्यादि को लेकर पेरिस गए और मुसलमानों को निश्चय दिलाया कि इस सम्बन्ध में उनके साथ विश्वासघात न होगा। परन्तु ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए त्यों-त्यों तौर बदलते गए। और अब जो निश्चय मित्रदल ने रोम में बैठकर किया है और जहाँ तक उसका गन्ध बाहर निकला है, उससे ज्ञात होता है कि ब्रिटिश सरकार के दूसरे मित्र ब्रिटिश प्रधान सचिव को प्रतिज्ञा हानि के लिए बाधित करके ही छोड़ेंगे।

इधर भी चिन्ता हुई कि अपने प्रधान सचिव को बाधित करना चाहिए कि वह अपनी प्रतिज्ञा का अवश्य पालन करें। इसके लिए निखिल भारत ख़िलाफत कमेटी स्थापित हुई। इसकी बुनियाद तो 17 अक्टूबर 1919 को पड़ चुकी थी। दिल्ली के राज विद्रोही अधिवेशनों के विरुद्ध कानून 17 अप्रैल को जारी हुआ था। उसकी अवधि 16 अक्टूबर तक थी। 17 को खिलाफत सभा का अधिवेशन दिल्ली के मलिकावाले बाग में बुलाया गया। बाग की आज्ञा लेने वाले डाक्टर अंसारी महाशय चाहते थे कि हड़ताल न हो। परन्तु जनता के अन्दर जो लहर उमड़ आई हो उसे कौन रोक सकता है। सारे शहर में बेमिसाल हड़ताल हुई। हिन्दू-मुसलमान सब इस हड़ताल में शरीक थे। और शान्ति भी अनिर्वचनीय रही। शाम को सभा में 50 हजार की भीड़ थी। उस बड़े हजूम में मैंने अपने मुसलमानों भाइयों की वक्तृताएँ सुनीं उनके दोहराने की जरूरत नहीं। मैं स्वयं किसी स्थान विशेष की पवित्रता मानने वाला नहीं और न धर्म मार्ग में किसी खलीफा की जरूरत समझता हूँ। परन्तु प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है कि धार्मिक विश्वासों की उसे स्वतन्त्रता मिले। मैंने देखा कि मेरे मुसलमान भाइयों को इसमें दुख है। मैंने वहीं सोचा कि जब मेरे भाई दुखी हैं तो मैं उनके साथ रहता हुआ कैसे सुख भोग सकता हूँ। यह एक बात थी। दूसरी बात यह थी कि ब्रिटिश प्रधान सचिव की प्रतिज्ञा स्पष्ट थी। जब वह स्पष्ट प्रतिज्ञा टूट सकती है तो फिर इनकी किस बात पर विश्वास किया जा सकेगा। तब तो पग-पग पर विश्वासघात होंगे। इन विचारों से प्रेरित होकर मैंने सभा में बोलने की आज्ञा माँगी और कह दिया कि इस मामले में अपने शासकों को नौ करोड़ मुसलमान प्रजा का ही ध्यान नहीं रखना है प्रत्युत 22 करोड़ हिन्दुओं को भी उनके साथ ही समझना होगा।

इसके पश्चात आन्दोलन बढ़ता गया। महात्मा गाँधी ने इस प्रश्न को अपने हाथ में लिया। दिल्ली में खिलाफत कान्फ्रेंस हुई। महात्मा गाँधी के साथ मैं भी दिल्ली में था। बहुत से हिन्दू नेता शामिल थे। सर्वसाधारण तो कोई बाहर न था। उसके पश्चात खिलाफत कमेटी और उसकी शाखाओं के बहुत जलसे हुए और सिवाय थोड़े-से बाल की खाल उतारनेवाले मुसलमानों और हिन्दुओं के भारत की सारी प्रजा एक ही स्वर अलापती रही। फिर मौलवी शौकत अली और मुहम्मद अली छूटकर अमृतसर में आए और खिलाफत कान्फ्रेंस में शरीक हुए। उनके आने पर यह जद्दोजेहर खूब जारी रहा। और अन्त को खिलाफत डेपुटेशन इंग्लिस्तान गया। ब्रिटिश प्रधान सचिव ने उनसे भेंट की और अब जो मित्रदल की इटली वाली कान्फ्रेंस में फैसला हुआ कि वह बड़ा ही असन्तोषजनक और भयानक है। Mandate का मतलब क्या है ? यह कि एक देश और उसमें रहनेवाली जाति एक दूसरी जाति के अधीन कर दी गई। उनका छुटकारा चार जन्म में भी नहीं हुआ करता। 'मिस्र' कहाँ गया और ऐसे ही अन्य देश कहाँ ! फ्रांस सीरिया

को सँभालेगा, ब्रिटिश सरकार मेसोपटामिया, मौसल और पैलेस्टाइन पर अधिकार जमाए रखेगी और आरमीनिया का कोई वाली वारिस नहीं बनता। इसके अतिरिक्त टर्की के साथ जो सलूक होगा वह तो देखा जाएगा परन्तु यह सब तो साफ है। तुर्कों को यह उत्तर दिया जाता था कि तुर्क जालिम थे इसलिए अरबों के अधीन मुसलमानों के पवित्र स्थान रखे जाएँगे। अब अरब वाले कहते हैं कि हमें भी स्वतन्त्रता चाहिए हम आपके अधीन नहीं रहना चाहते। जब फैसला विरुद्ध हो गया तो उसके पीछे जिस कार्यक्रम की घोषणा महात्मा गाँधी की सम्मत्यानुसार हमारे मुसलमान भाइयों ने दी वह आरम्भ होना ही था। हिन्दू-मुसलमान की एकता जान श्री हकीम अजमल खाँ साहब ने सरकार की दी हुई उपाधियाँ लौटा दीं और भी लौटा रहे हैं। शायद आनरेरी ओहदों को भी दीनदार मुसलमान दूर ही से सलाम कह दें। उसके पीछे यदि फिर भी ब्रिटिश गवर्नमेंट मित्रदल को सीधे रास्ते पर न ला सके तो सिविल और मिलिटरी की नौकरियाँ भी क्रमशः छोड़ते जाएँ। इन कामों में शायद मुसलमान सब न शरीक हों, बहुत से रह भी जावें। और इसी पर ब्रिटिश गवर्नमेंट ने तकिया लगाया है। परन्तु एक बात तो निश्चित है कि यदि मुसलमानों के साथ विश्वासघात पक्का हो रहा तो तो कोई मुसलमान भी सरकारी सेना में भरती होकर अपने सहधर्मियों के साथ लड़ने को तैयार न होगा।

अवस्था भयानक है, परन्तु कर्तव्य भी कुछ वस्तु है। गुरुकुल के काम के बोझ के कारण मैं यहाँ से हिल नहीं सकता, इसलिए खिलाफत कमेटी के उपसभापति पद से त्यागपत्र दे दिया। परन्तु मेरी पूर्व प्रतिज्ञा तो वैसी ही बनी हुई। प्रश्न होता है कि इस अवसर पर हिन्दू भाइयों को क्या करना चाहिए। मैं नहीं कह सकता वे क्या करेंगे परन्तु यह कह सकता हूँ कि मैं क्या करूँगा। जब मिस्टर मुहम्मद अली भी निराश होकर पेरिस से फ्रेंच गवर्नमेंट की सहानुभूति सुनकर आशाजनक समाचार भेजने बन्द कर देंगे। परमेश्वर की कृपा से मैंने ऐसा कोई काम ही नहीं किया कि ब्रिटिश गवर्नमेंट की ओर से मुझे कोई उपाधि मिलती, यदि मुझे कोई उपाधि मिली होती तो यह लिखकर लौटा देता कि जहाँ विश्वासघात है वहाँ की दी हुई उपाधि धारण करना आत्मा का अपमान करना है। यदि मुझे कोई आनरेरी चाकरी मिली होती तो उससे भी मुक्त हो जाता—उसके मैं कभी योग्य ही नहीं समझा गया। सरकारी चाकरी का मुझे गौरव ही प्राप्त नहीं हुआ, नहीं तो उस दासता की साँकल भी तोड़ डालता। हाँ, मेरे वश में इतना ही है कि मैं इन दासताओं में भविष्य के लिए भी न फँसू। यहाँ तक तो मैं अपने मुसलमान भाइयों के साथ चलने को तैयार था। परन्तु अब 'हिजरत' का मामला जोश से सामने आ रहा है। मौलाना शौकत अली और अन्य मुसलमान बुजुर्गों ने फतवा दिया है कि जब मजहब ख़तरे में हो तो उसकी हिफाजत के लिए दो ही तरीके हैं। अगर ताकत हो तो 'जिहाद' नहीं तो 'हिजरत'। सो जिहाद की ताकत नहीं इसलिए हिजरत।

यहाँ मेरे लिए विचारणीय विषय हो जाता है। मैं जिहाद को सांसारिक हथियार और हिंसा रूपी अधर्म का सहायक समझकर धर्म नहीं समझता, परन्तु उसका तो मौका भी नहीं। परन्तु क्या 'हिजरत' लाज्मी है ? संस्कृत कवि ने, जो वेदों के मर्म को जानता था, कहा है—"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" और उस शायर ने, जो आजकल मुसलमानों से कम दीनदार न था कहा है—"हुब्बे वतन अजमुल्के सुलैमां खुशतर। खारेवतन अज सेबुलौरैहां खुरतर।। युसुफ किवमिस्र पादशाही मीकरदर मीगुत्फ गदाबूद ने कनआं खुशतर।।" मिस्र देश का सम्राट होते हुए जब युसुफ ने अपनी जन्मभूमि में भिखारी बनकर रहना उससे उत्तम समझता है तो इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। मैं अपने मुसलमान भाइयों से विनय तथा प्रेमपूर्वक निवेदन करता हूँ कि वह अपने इस फैसले में जल्दी न करें। मैं जानता हूँ कि सब मुसलमान और हिन्दू एकदम सरकारी नौकरी न छोड़ देंगे, और जो छोड़ना चाहेंगे उन्हें भी शायद कष्ट दिया जाए, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आगे के लिए तो भरती बन्द होगी। यदि फिर भी ब्रिटिश गैवर्नमेंट की आँखें न खुलें तो क्या करना चाहिए ? क्या यहाँ से बाहर जाकर हम कुछ भी कर सकेंगे ? सच है, अमीर साहब काबुल आश्वासन दे रहे हैं परन्तु यदि नेताओं के पीछे दो-तीन करोड़ मनुष्य उठ दौड़े तो उनका पालन-पोषण कौन करेगा। और जब भारतमाता के सुपुत्र बाहर गए तो उसके आँसू पोंछनेवाला कौन रहेगा। मेरे भाइयों ! भागना कायरों का काम है। हम यहाँ ही रहेंगे, यहाँ ही जिएँगे और इसी पवित्र भूमि में माता की सेवा करते हुए प्राण त्यागेंगे। यहाँ से 'हिजरत' के स्थान में यहाँ ही शहीद बनेंगे और अपने सहन और तप से गोरी जातियों के कठोर हृदयों को भी ऐसा पिघला देंगे, कि उन्हें भारत के एक-एक बच्चे से दीन प्रार्थना करनी पड़े, और ब्रिटिश गवर्नमेंट के प्रतिनिधि यह कहने के लिए मजबूर रहे कि—"उठो भारत के सच्चे पुत्रों और उसकी सच्ची पुत्रियों ! अपनी अमानत को सँभालो क्योंकि हम अब अमानत में ख़यानत नहीं करना चाहते।"

[श्रद्धा, 7 मई, 1920]

महात्मा गाँधी स्वराज्य सभा में

यह समाचार मैंने बड़ी प्रसन्नता से सुना है कि महात्मा गाँधी ने निखिल भारतीय-स्वराज्य सभा का प्रधान पद स्वीकार कर लिया हैं। यह सन्तोष की बात है कि जो मित्र उन्हें इस महत्व के काम से रोकते थे उनकी कृतकार्यता नहीं हुई। इसी में देश का कल्याण है। महात्मा गाँधी ने अब तक किसी संघटन में मिलकर काम नहीं किया। सत्याग्रह सभा में तो मानो वह प्रजातन्त्र (Democracy) में अकेले अधीश्वर (Despot) थे। ऑल-इंडिया होमरूल लीग में उन्हें अपनी सभा के सभ्यों का बहुपक्ष अपने साथ लेना होगा। अमृतसर में जब एक प्रस्ताव का संशोधन अन्तरंग सभा में अस्वीकार होने पर महात्माजी ने कांग्रेस से अलग होकर अपने मत के प्रचार का संकल्प किया था, उसी समय मैंने उनसे स्पष्ट कह दिया था कि संस्था में रहकर सुधार का प्रयत्न करना और *यदि अपना संशोधन गिर जाए तो बहुपक्ष के आगे सिर झुकाना प्रत्येक नेता का कर्तव्य है*। हाँ, यदि ऐसा बहुपक्ष उसके माने हुए किसी मूल सिद्धान्त का बाधक होकर आत्मा के विरुद्ध हो तो उस सभा का विरोध न करते हुए उससे अलग हो जाना चाहिए। अब मुझे सन्तोष है कि महात्मा जी संघटन के साथ होने के कारण बिना अपनी सभा की सम्मति के किसी प्रकार के भी घोषणा-पत्र न निकाला करेंगे।

भारत में महात्मा गाँधी पहले नेता हैं जिन पर सारी प्रजा का विश्वास है। अन्य समयों और देशों में भी कोई बिरले ही ऐसे उच्च आत्मा हुए हैं। नेता का काम सच्चाई और धर्म की ओर जाति को ले चलना है और इसके लिए गाँधीजी का जीवन है। मुझे विश्वास है कि अपनी लीग को सीधे मार्ग पर ले चलने में वह कामयाब होंगे। परन्तु यदि किसी मुख्य विषय पर उन्हें आत्म-साक्षी न मिलेगी तो भारत के कुछेक वर्तमान नेताओं की तरह प्रधान पद से चिमट नेतृत्व को स्थिर रखने के लिए वह आत्मघात न करेंगे प्रत्युत प्रसन्नता के साथ संस्था से जुदा होकर वे सभ्यों की आँखें खोल देंगे।

और इस विषय में महात्मा गाँधी को उस ऋषि के जीवन से उपदेश मिल सकता है जिसे उन्होंने (Intolarant) असहिष्णु की उपाधि दी है। जम्मू के महाराजा ने ऋषि दयानन्द को अपने राज्य में धर्म प्रचारक के लिए निमन्त्रण देते हुए यह

शर्त लगाई कि मूर्ति पूजा का खंडन न करें। उत्तर मिला कि महाराजा चाहे मुझे न बुलावें परन्तु यदि मैं गया तो पहला व्याख्यान मूर्तिपूजा के खंडन पर ही होगा। क्योंकि मैं भारत की गिरावट का एक बड़ा कारण इसे समझता हूँ। महाराणा उदयपुर ने निवेदन किया कि मूर्ति पूजन का राजनीत्यानुसार खंडन न कीजिए। आप एकलिंगेश्वर मन्दिर के महन्त बन जाइए, सारी रियासत वहाँ के अधीन है। उत्तर मिला–"तुम मुझे तुच्छ लालच देकर महान ईश्वर की आज्ञा भंग कराना चाहते हो। यह छोटी सी रियासत (और उसके मन्दिर) जिससे मैं एक दौड़ लगाकर बाहर जा सकता हूँ मुझे कभी भी वेद और ईश्वर की आज्ञा तोड़ने के लिए बाधित नहीं कर सकती।" मुझे विश्वास है कि महात्मा गाँधी के शासन में जातीय स्वराज्य सभा कुटिल राजनीति का उल्लंघन करके सत्य और धर्म को ही देश और जाति का कवच बनाने में कृतकार्य होगी।

[श्रद्धा, 7 मई, 1920]

दिल्ली में फिर विरोध की तैयारी

राज विद्रोही सभाओं के विरुद्ध फिर दिल्ली में घोषणापत्र निकला है। क्या चलते-चलते यह ठोकर आनरेबल मिस्टर बैरन लगा गए हैं। गत वर्ष के विप्लव में बैरन साहब ने (मेरी सम्मति में) बड़ी उत्तम नीति से काम लिया था। ओडवायर के साथी गोरेशाही सब इसीलिए उनसे अप्रसन्न थे। विशेषतः इसलिए कि मैंने मिस्टर बैरन की प्रशंसा की थी। बैरन साहब हैं बहुत अच्छे, परन्तु अच्छाई के साथ जो निर्बलता का सम्बन्ध है, वह उनमें भी है। राजनैतिक नेता चाहे कुछ कहें परन्तु मैं जानता हूँ और लिखूँगा कि लॉर्ड चेम्सफोर्ड का दिल भी बुरा नहीं, अच्छा है। परन्तु जिस प्रकार अन्य शक्तियाँ उन्हें स्वतन्त्रता से काम नहीं करने देतीं उसी प्रकार बैरन साहब को भी गोरेशाही विरोध ने दबा लिया था। इसीलिए पिछले दिनों वह मुझसे मिलते घबराते थे। मेरी शुभ इच्छा यह है कि मिस्टर बैरन जहाँ शारीरिक स्वास्थ्य को ठीक करके लौटें वहाँ अपने आत्मा को भी दृढ़ करके अपने पद पर आवें जिससे अपने आत्मा के अनुकूल काम करते हुए उनका हृदय डाँवाडोल न हो।

[श्रद्धा, 7 मई, 1920]

खिलाफत और भारत प्रजा का कर्तव्य

(1) क्रियात्मक प्रश्न

खिलाफत का प्रश्न अब बातों का सवाल नहीं रहा। अब कर्तव्य का समय समीप आ रहा है। तुर्की राज प्रतिनिधि फ्रांस में पहुँच गए हैं और शीघ्र ही पता लगेगा कि मित्रदल क्या फैसला देता है। गतांक में अपनी सम्मति मैं दे चुका हूँ। मेरी दशा तो ऐसी है कि मैं महज में परीक्षोतीर्ण हो सकता हूँ। यही दशा महात्मा गाँधी तथा उन सब महानुभावों की है जो न तो उपाधिकारी हैं, न किसी अँधेरी ओहदे पर हैं और न सिविल वा मिलिटरी महकमों के चाकर हैं। परन्तु जनता के लिए यह जीवन और मृत्यु का प्रश्न है। महात्मा गाँधी जी वास्तव में इस आन्दोलन के नेता हैं। मुझे कई मुसलमान नेताओं ने स्वयं कहा है कि यदि गाँधी जी खिलाफत के प्रश्न में जान न डालते तो मुसलमानों के वश का यह आन्दोलन न था। इस प्रश्न की जान गाँधी जी हैं। इसी पर क्या बस है। इस समय का कोई भी भारतीय प्रश्न ऐसा नहीं जिसकी जान गाँधी जी न हों। इसलिए मैंने अपने सन्देह की निवृत्ति के लिए महात्मा जी को एक पत्र लिखा। न तो मैं ही दो प्रकार के (अन्तरीय और बाह्य) जुदे-जुदे धर्म रखता हूँ और ना ही महात्मा गाँधी जी। इसलिए वह पत्र-व्यवहार ज्यों का त्यों ही यहाँ देता हूँ।

(2) मेरा पत्र

श्रीमान महात्मा गाँधी जी ! मुझे ठीक पता नहीं है कि आप सिंहगढ़ में हैं या और कहीं, इसलिए आश्रम के पते से ही पत्र भेजता हूँ। आशा है कि जहाँ कहीं आप होंगे मेरा पत्र वहाँ पहुँच जावेगा।

मैं समाचार पत्रों में खिलाफत के सम्बन्ध में आपके सम्भाषणों का सारांश और मिस्टर शौकत अली के व्याख्यानों का हाल पढ़ता रहा हूँ। अपने मुसलमान भाइयों की जो न्यायानुकूल माँग है उसके न पूरा होने पर आपने अपनी गवर्नमेंट के साथ सहयोगिता का क्रमशः त्याग बतलाया है। यहाँ तक तो मैं आपके साथ सहमत हूँ कि हिन्दू-मुसलमानों को न्यायानुकूल निपटारा न होने पर उपाधियाँ त्याग

देनी चाहिए, ऑनरेरी कामों से भी फिर किनारा करना चाहिए, परन्तु प्रश्न यह है कि यदि आप लाखों सिविल और मिलिटरी के सरकारी नौकरों को उनकी नौकरी से अलग कर लेंगे, और उनकी आजीविका का कोई प्रबन्ध न कर सकेंगे तो जनता के अन्दर कितनी अराजकता फैलेगी। इससे तो रोग और बढ़ेगा, घटेगा नहीं। मैं इसके विरुद्ध नहीं हूँ कि मुसलमानों और हिन्दुओं के सुशिक्षित उच्च पदाधिकारी अपने पदों को छोड़ दें, मेरा मतलब लाखों Civil और Military चाकरों से है जिनको आजीविका से जुदा करके सत्याग्रह की उच्च मर्यादा पर स्थिर रखना कठिन होगा। मुझे डर है कि जिन मुसलमानों की धार्मिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए आप उनके पथ-प्रदर्शक बन रहे हैं, कहीं वे ही न कष्ट अनुभव करने लग जावें।

परमेश्वर की कृपा से मुझे कोई उपाधि प्राप्त नहीं, इसलिए उसके त्याग का प्रमाण नहीं दे सकता। कभी चाकरी भी नहीं की, इसीलिए उस प्रकार की सहानुभूति भी नहीं दिखला सकता, परन्तु एक ही प्रकार का सत्याग्रह है जिसमें मैं सम्मिलित हो सकता हूँ; अर्थात् जनता के उपाधि तथा नौकरी त्याग करने पर भी गवर्नमेंट की आँखें न खुलें तो मुसलमान भाइयों के साथ स्वयं भी ब्रिटिश साम्राज्य को छोड़कर किस राष्ट्र की शरण ली जावे; जहाँ धर्मानुसार जीवन व्यतीत करने का आश्रय मिल सकेगा। समाचार पत्रों में इशारा देखा है कि काबुल हम सबको बुला रहा है, परन्तु वहाँ जाकर ब्रिटिश सरकार पर क्या दबाव पड़ सकेगा और सिवाय ब्रिटिश सरकार के साथ भौतिक युद्ध किए कैसे अभीष्ट की प्राप्ति होगी, यह समझ में नहीं आता। और यदि भारतवर्ष के हिन्दू-मुसलमान भौतिक शस्त्रों का आश्रय लेकर ब्रिटिश गवर्नमेंट से लड़ने को बाधित हुए तो वे सब कहाँ तक सत्याग्रही रह सकेंगे, यह आप ही विचार कर लेंवे।

मैं चाहता हूँ कि इस विषय में आपके मन्तव्य को स्पष्ट ज्ञान मुझे हो जावे जिससे मैं अपने मन्तव्य के साथ कर्तव्य को बराबर मिलाए रखूँ। जब आप आराम कर रहे हैं, तब यह कष्ट देना अनुचित है, परन्तु जहाँ सारी जाति के भविष्य का प्रश्न हो वहाँ ऐसा कष्ट देना अनिवार्य भी हो जाता है।–

आपका उत्तराभिलाषी
श्रद्धानन्द

(3) महात्मा जी का उत्तर

भाई साहब ! आपका पत्र मिला। सरकारी नौकरों को नौकरी छोड़ने को तब ही कहा जाएगा जब उनके लिए खाने-पीने का प्रबन्ध करने की ठीक योजना बन जाएगी। इस बारे में मुसलमान भाइयों के साथ मैं मसलत कर रहा हूँ।

देश त्याग करने की सलाह न तो कभी दी, न मैं दे सकता हूँ। कितने

मुसलमान भाइयों का हिजरत करने का अवश्य अभिप्राय है, उनको हम रोक नहीं सकते हैं। उनसे भी हिजरत का नतीजा अच्छा नहीं आ सकता है ऐसा बता रहा हूँ। यदि सत्याग्रह दृष्टि से हम हिन्दुस्तान का त्याग करें तब उसमें सरकार पर कुछ भी दबाव पड़ने का ख्याल नहीं आ सकता है। मगर मेरी राय से हिन्दुओं को हिन्दुस्तान छोड़ने का मौका तो तब आ सकता है जब कोई हिन्दू राजा होगा और प्रजा उसके साथ मिलकर हिन्दू धर्म का पालन ही अवश्य कर देगी। यदि सरकार का असहकार करने में इस समय हम असमर्थ होंगे तो उसका अर्थ मैं ऐसा ही निकालूँगा कि मुसलमानों की धर्मवृत्ति क्षीण हो गई है। हर कोई देख सकता है कि इस खिलाफत के प्रश्न में इस्लाम को बड़ा धक्का पहुँचाने की बात है। यदि ऐसे समय पर भी मुसलमान जान-माल की कुरबानी करने के लिए तैयार नहीं होंगे तब तो धार्मिकता का लोप हो गया, ऐसा ही कह सकते हैं। यदि ऐसा बुरा परिणाम आ जाएगा तो भी मुझे आश्चर्य नहीं होगा क्योंकि मैं संसार में भ्रमण करता हुआ कलिकाल की महिमा को देख रहा हूँ। धर्म की भावना हरेक जगह बहुत ही मन्द हो गई है और अनेक कार्य जो धर्म के नाम से होते हैं उसमें भी मैं तो अधर्म ही देख रहा हूँ। यदि मैंने जो लिखा है वह स्पष्ट नहीं होगा तो आप मुझे फिर भी पूछेंगे।

गुरुकुल का कार्य अब अच्छी तरह से चलता होगा। मैं आज चार दिन से इस एकान्त स्थान में आया हूँ।

आपका
मोहनदास गाँधी

(4) करना क्या है ?

महात्मा गाँधी का पत्र स्पष्ट है। हिजरत के वह स्वयं पक्ष में नहीं। परन्तु यदि हमारे कुछ मुसलमान भाई हिजरत को भी अपने धर्म का अंग समझते हैं तो वह उसमें दखल न देंगे और न कोई अन्य दख़ल दे सकता है। इस पत्र-व्यवहार तथा अखबारों के लेखों से मैंने जो सम्मति स्थिर की है उसे प्रकाशित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

(क) जब हिन्दू तक खिलाफत के सवाल पर अपने मुसलमान भाइयों के साथ हैं तो शिया साहेबान तथा अन्य मुसलमानों को भी (जो सुलतान रूम को ख़लीफा नहीं मानते) अपनी कौम का साथ देना चाहते क्योंकि यह प्रतिज्ञा पालन तथा विश्वासघात का सवाल है।

(ख) उपाधियाँ तथा आनरेरी ओहदे जितने ही अधिक मुसलमान भाई त्याग करेंगे उतना ही ब्रिटिश गवर्नमेंट को निश्चय होगा कि वे लोग अपने मतालबे पर

दृढ़ हैं। यदि मुसलमान ही पीछे रह गए तो हिन्दुओं से क्या आशा हो सकती है। परन्तु यदि उनमें जोश बढ़ा तो हिन्दू भी अवश्य साथ देंगे।

(ग) मुसलमान उच्च पदाधिकारी यदि सिविल मिलिटरी कामों से त्यागपत्र दे दें—यथा आनरेबल मियाँ महम्मद शफी, मुसलमान हाईकोर्ट जज साहेबान् और अन्य मुसलमान सिविलियन तथा मिलिटरी आफिसर—तो हिन्दू भी कुछ उनके साथ शरीक हो जाएँगे।

(घ) फिर भी यदि कुछ ध्यान न खिंचे तो कम वेतनवाले मुलाजिम त्यागपत्र दें तो पहले उनके परिवारों का निर्वाह का प्रबन्ध कर लिया जाए। इनको हिजरत के लिए न पीछे चलाया जाए प्रत्युत इनसे जातीय (कौमी) पुलिस का काम लिया जाए। गतवर्ष अप्रैल में जैसा रामराज्य 19 दिनों तक रहा फिर बहुत स्थानों में लाया जा सकता है, परन्तु यह तब हो सकता है जब दौलतमन्द आदमी भी और काम छोड़कर इस पुलिस की अफसरी में लग जाएँ। यदि यह क्रियात्मक दौर चल जाए तो मुझे निश्चय है कि ब्रिटिश गवर्नमेंट स्वयं मित्रदल को हमारे पक्ष का बनाने में कृतकार्य हो सकेगी। यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार को अपनी प्रतिज्ञा पालन का ख्याल तो है, परन्तु दूसरी ओर भी फँस चुकी है। यदि हम ठीक हो तो उन्हें भारतप्रजा की दृढ़ता से मित्र दल की कांउसिल में बल मिलेगा।

[श्रद्धा, 14 मई, 1920]

आर्यसमाज और राजनीति

पंजाब में आर्यसमाज का अधिक प्रचार है। वहाँ ही इसका अधिक बल है। और पंजाब ने ही अपनी उत्तम से उत्तम सन्तान आर्यसमाज को भेंट की हुई है। इसलिए जव पंजाब पर मार्शल-ला (अर्थात् नौकरशाही की अराजकता के राज्य) की चढ़ाई हुई उस समय भी आर्यसमाजियों का ही कर्तव्य था कि वे आई हुई आपत्ति को धैर्य और शान्ति से अंगीकार करके जनता के सामने दृष्टान्त रूप से खड़े हो जावें। उनकी परीक्षा का वही समय था। जब जलती हुई आग बीच में हो और स्वधर्म पालन के लिए दूसरे पार जाना हो, उसी समय धर्मध्वजियों की परीक्षा होती है। कवि ने क्या पते की कही है–

'धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी।
आपतकाल परखिए चारी।।'

''उस समय पंजाब के आर्यसमाजियों के धर्म तथा धैर्य की परीक्षा हुई। यद्यपि उस परीक्षा में बहुत से आर्य उत्तीर्ण हुए, परन्तु उन आर्य नामधारियों की संख्या भी उपेक्षा से देखी जाने योग्य नहीं, जो उस समय धर्म के उच्च आसन से गिर गए, और ऐसे आर्यसमाजियों ने इसी गिरावट को अपना शृंगार सिद्ध करना आरम्भ कर दिया। वह यह कहकर अपनी ठीक ठोंकते रहे कि जब सब राजनैतिक लहर में बह गए तो आर्यसमाज को राजनीति से पृथक सिद्ध करने के यत्न तथा अन्य साधनों से उन्होंने आर्यसमाज की रक्षा की और लहर में नहीं बह निकले।''

परन्तु परिणाम क्या हुआ ? जिन्होंने अपनी चमड़ी बचाने के लिए अपने आपको नोन-पुलिटिकल सिद्ध करने का यत्न किया, नौकरशाही की दृष्टि में वह भी इस सम्बन्ध से जुदे न समझे गए। हाँ, उन्हें एक अधिक उपाधि मिली। जैसा कि एक मित्र ने दिखलाया–पंजाब गवर्नमेंट ने उन्हें कातर (coward) की उपाधि अवश्य दी। मेरी सम्मति यह है कि पंजाब में गत विप्लव में जिन्होंने जनता का साथ दिया उन आर्यसमाजियों ने पालिटिक्स में भाग नहीं लिया, उन्होंने मनुष्य अर्थात आर्य-धर्म का ही पालन किया। अब बैठे बाल की खाल उतारते जाओ तो

उनकी स्थिति में भेद नहीं आता। मैं प्रति सप्ताह आदित्यवार को व्रतपूर्वक रोलेक्ट एक्ट से स्वदेश की मुक्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना करता हुआ यह भी बलपूर्वक इच्छा किया करता हूँ कि जब-जब किसी मनुष्य समूह पर अन्याय और अत्याचार का आक्रमण हो उसे रोकने के लिए आर्य सामाजिक पुरुष सबसे पहले आगे बढ़ा करें।

[श्रद्धा, 14 मई, 1920]

नई कौन्सिलें और आर्यसमाज का कर्तव्य

उपरोक्त विषय पर विचार करते हुए 'प्रकाश लाहौर' के योग्य सम्पादक लिखते हैं कि यतः समाजिक सुधार के प्रश्न भी काउन्सलों के सामने अवश्य आवेंगे और इन प्रश्नों के साथ आर्य समाजियों का सम्बन्ध कम नहीं--'इसलिए' उनकी सम्मति है कि "योग्य आर्य–समाजियों को–उन आर्य समाजियों को जो खतरे में पड़कर भी लोकहित को निजहित पर तरजीह देने को तैयार हों–क्या इम्पीरियल काउन्सल और क्या प्राविन्शल काउन्सलों में न जाना चाहिए जो अपना सर्वस्व आर्यसमाज को दे चुके हैं और जिनका सारा समय और सारी शक्ति आर्यसमाज के काम में लगती है।" मुझे इस लेख में व्याघात दोष दीखता है। जान जोखों में डालकर जो स्वहित पर लोकाहित को तरजीह दे सकते हैं वे ही पुरुष तो हैं जो अपना सब कुछ आर्यसमाज पर न्यौछावर कर चुके हैं। यदि ऐसे सच्चे ब्राह्मण आर्यसमाज काउन्सिलों में भेज सके तब तो धार्मिक कानून बनाने में सहायता दे सकेगा। यदि आर्यसमाज भी सांसारिक सम्मति के मद में उन्मतों को ही भेजेगा तो उससे लाभ क्या होगा।

परन्तु क्या जो दो-चार सच्चे त्यागी आर्यसमाज में कहीं हैं उन्हें काउन्सलों में भेज देना चाहिए ? मेरी सम्मति में क्षणिक लाभ के लिए स्थिर लाभ को गँवाना बुद्धिमता का काम नहीं है। आर्यसमाज में जो सदाचारी, त्यागी विद्वान हैं उन्हें काउन्सिलों के योग्य साधन सम्पन्न जवान तैयार करने के काम में लगना वा लगे रहना चाहिए। यदि आर्य समाजियों से कुछ हो सकता है तो उन्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि आगामी दस वर्षों के पीछे सदाचारी, ब्रह्मचारी, त्यागी, साधन-सम्पन्न ब्राह्मण ही इम्पीरियल तथा प्रान्तिक काउन्सिलों में सभासदी के आसनों की शोभा बने हुए दिखाई दें।

[श्रद्धा, 14 मई, 1920]

एक पहेली का सुलपगव

पंजाब में मार्शल-ला के दिनों जो अत्याचार हुआ उसमें जनरल डायर की पिचाशलीला सबसे बढ़-चढ़कर समझी गई है। जालियाँवालाबाग में जो भयंकर आसुरी लीला उसने रची उसके सम्बन्ध में लाला हरिकृष्णलाल जी ने जालन्धर की पोलिटिकल कान्फ्रेंस के जलसे में एक भाव प्रकट किया था। उन्होनें कहा था कि जनरल डायरादि ने जान-बूझकार सर्वसाधारण को हजारों की तादाद में इसलिए जमा किया कि आसानी से बहुत बेगुनाहों को भून डालें। इस कल्पना को trap theory की उपाधि दी गई। कांग्रेस कमिटी की रिपोर्ट मे इस पर बल नहीं दिया गया। मैं एक घटना पेश करता हूँ जिससे इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है और शायद उस प्रकाश में यह पहेली बूझी जा सके।

9 अप्रैल की रात को महात्मा गाँधी जी गिरफ्तार हुए। 11 अप्रैल के मध्यान्होत्तर वह बम्बई पहुँचे, जहाँ से मुझे नीचे लिखी तार दी "अभी बम्बई पहुँचा और छोड़ दिया गया हूँ। मुझे फिर गिरफ्तारी ढूँढ़नी होगी। लाहौर और अमृतसर में सूचना दे दीजिए कि कोई दुराग्र (Violence) न हो।" यह तार 11 की शाम को मेरे पास पहुँचा। उसी रात को मैंने लाहौर लाला दुनीचन्द्र बैरिस्टर को तार दिया कि Violence से लोगों को रोकें। अमृतसर से डाक्टर सत्यपाल और डॉ. किचलु डिपोर्ट हो चुके थे, इसलिए लाला कन्हैयालाल के नाम महात्मा गाँधी का सन्देश भेजा। श्री लाला कन्हैयालाल जी को वह तार 12 अप्रैल को किसी समय पहुँचा। वह सिविल लाइन में शहर से बाहर रहते थे। उनके पास न कोई गया और न उन्होंने किसी से इसका जिक्र किया। फिर हंसराज (सरकारी गवाह) ने कैसे मुनादी कराई कि लाला कन्हैयालाल जी का व्याख्यान होगा। उस तार खबर का पता सिवाय जनरल डायर और सी.आई.डी. के और किसको लग सकता था ? मुझसे देवी रनकौर ने रोकर कहा कि यदि लाला कन्हैया लाल का नाम न सुनाया जाता तो उनके पति न जलियाँवालाबाग जाते और न गोली से भूने जाते। और भी कइयों ने मुझसे कहा कि चिरकाल से जो लाला कन्हैयालाल सर्वसाधारण की सेवा से अलग हो गए थे, इसलिए उनका नाम सुनकर बहुत से वृद्ध पुरुष 13 अप्रैल की शाम को जलियाँवालाबाग में इकट्ठे होकर मौत का शिकार हुए।

निश्चयपूर्वक तो कहना कठिन है क्योंकि यह तो हंसराज ही बता सकता और वह न जाने किस ओहदे पर मेसोपोटामिया में भोग का जीवन व्यतीत कर रहा है, परन्तु इस घटना से यदि कुछ पहेली के सुलझाने में सहायता मिल सके तो गवर्नमेंट और प्रजा के नेता दोनों को ही उस पर अवश्य विचार करना चाहिए।

[श्रद्धा 14 मई, 1920]

देहरादून के पंडित ज्योति स्वरूप जी

देहरादून के पं. ज्योति स्वरूप जी के देहान्त का समाचार गतांक में उप-सम्पादक ने दिया था। मेरे लिए ऐसी मौत विशेष प्रकार से शिक्षा सिद्ध होती है। मौत बतला रही है कि इस संसार में जो पैदा हुआ है वह मरेगा। मौत का कोई समय नहीं; इसलिए हर समय उसके लिए तैयार रहना चाहिए। पंडित ज्योति : स्वरूप क्या-क्या परोपकार के काम करना चाहते थे, मैं जानता हूँ। परन्तु कितने काम हैं जिन्हें वह पूरा हो सके ? अधर्म के कामों में खिंचते समय तो सोचते ही जाना चाहिए परन्तु धर्म कार्यों के लिए कवि का यह वचन ही ठीक है—'काल करे सो आज कर, आज करे सो अब। पल में परलो होत हैं, फेर करोगे कब।।' जो धर्म कार्य अपने से हो जाए बड़ी गनीमत है क्योंकि कवि के कथनानुसार—'को विजानीति कस्याद्यः मृत्युकालो भविष्यति।'

[श्रद्धा, 14 मई, 1920]

शिक्षा का सार्वभौम आदर्श

जो सार्वभौम शिक्षा का आदर्श है वही जातीय शिक्षा का आदर्श भी हो सकता है। भारतवर्ष में सदा से सार्वभौम शिक्षा के नियम पर ही काम होता रहा है। गुरु और शिष्य का वैयक्तिक सम्बन्ध ही सार्वभौम शिक्षा का मूल है। आचार्य रूपी पिता ही विद्या रूपी माता के गर्भ में ब्रह्मचारी को धारण कराके उसकी रक्षा करता और जब वह ब्रह्मचारी दूसरा जन्म प्राप्त करके देव श्रेणी में दाखिल होता तब आचार्य ही उसका समावर्तन संस्कार कराने में समर्थ होता था। भारतवर्ष में वैयक्तिक शिक्षा का स्थान सामूहिक शिक्षा ने तब लिया जब विदेशी मतवादियों में यहाँ राजशासन करना आरम्भ किया। परन्तु अब तक भी विद्या के केन्द्रों (काशी नदिया आदि) में वह प्रथा (चाहे कैसी भी गिरी हालत में क्यों न हो) चली आती है। भारत विभिन्न देशों में वैयक्तिक शिक्षा के गौरव को शिक्षकजन कहीं अब समझने लगे हैं। एक रस्सी में बौने, लम्बे और जिनको बाँधने के यत्न में यूरोपियन देशों को कृतकार्यता नहीं हुई। यूरोप और अमेरिका में शिक्षा सम्बन्धी बड़े परिवर्तनों के हो जाने पर भी भारतवर्ष में अब तक 'मैकाले' की डाली हुई वही पुरानी लकीर पीटे जा रहे हैं। परन्तु यहाँ भी आँखें खुलने लगी हैं। लार्ड कर्जन ने तो स्पष्ट ही कर दिया था 'रेजिडेन्शल यूनिवर्सिटी' का भाव भारत में सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि यहाँ प्रथम से गुरु-शिष्य का गाढ़ा सम्बन्ध रहा है।

यह निर्विवाद सचाई है कि सब मनुष्य एक-सी शक्तियाँ तथा एक-सी प्रवृत्तियाँ लेकर उत्पन्न नहीं होते। और यही बड़ी भारी दलील पुनर्जन्म के लिए है जिसके आगे आजकल के सभ्य देशों के उच्च विचारक भी सिर झुका रहे हैं। जब यह ठीक है कि भिन्न-भिन्न रुचियाँ और भिन्न शक्तियाँ लेकर मुनष्य उत्पन्न होते हैं तो उनकी शिक्षा क्रम में भी भेद अवश्य होना चाहिए जिससे विधना (अर्थात् उनके कर्मों) ने जिस कार्य के योग्य उसको बनाया है उसी में लगकर वे अपने जीवन को सफल कर सकें। संसार में जो उच्च कोटि के काम अर्थात् कविता, शिक्षा, उपदेश, राजशासन आदि हैं उनका बीज मनुष्य के अन्दर लेकर जन्मता है। अनेक जन्मों के साधनों से ये उच्च शक्तियाँ सम्पादन की जा सकती हैं। तभी तो वेद का आदेश है कि आचार्य में यह मानसिक बल होना चाहिए कि अपने

शिष्य की स्वाभाविक रुचि तथा शक्ति को पहचान कर ही उसकी आवश्यकता के अनुसार उसके लिए पाठविधि नियत करे।

शिक्षा का यही एक सार्वभौम नियम है जिस कारण से आचार्य और ब्रह्मचारी का घनिष्ट निकट सम्बन्ध होना चाहिए। और सब नियम गौण हैं। इसी नियम को लक्ष्य में रखकर प्राचीन भारतवर्ष में गुरुकुल की प्रथा चली थी। इन्हीं ब्रह्मचर्याश्रमों का नाम तीर्थ था। 'समानतीर्थे वासी' इस उपनिषद वाक्य में भी यही रहस्य है। इसी भाव को लक्ष्य में रखकर ऋषि दयानन्द ने ब्रह्मचर्याश्रम रूपी गुरुकुल स्थापन करके शिक्षा प्रणाली के सुधार के लिए बल दिया था। ऋषि की इसी आज्ञा को मनुष्य मात्र के कल्याण का मुख्य हेतु समझकर कांगड़ी ग्राम की भूमि में गुरुकुल की बुनियाद रखी गई थी।

शिक्षा का माध्यम क्या होना चाहिए ? यह गौण विषय है और एक प्रकार से देशी भी है। सार्वभौम नियम यह है कि शिक्षा का माध्यम बालक की मातृभाषा होनी चाहिए। सार्वभौम लिपि होने के योग्य देवनागरी लिपि है। सार्वभौम भाषा होने के योग्य संस्कृत भाषा है, यह मेरी और मुझ सरीखे कुछ अन्य विचारकों की सम्मति है। परन्तु जब तक सारे संसार में एक लिपि तथा एक भाषा का प्रचार न हो ले तब तक क्या होना चाहिए ? उत्तर यही हो सकता है कि साधारण प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम प्रान्तिक भाषा ही हो सकती है। भारतवर्ष में प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम बंगाली, गुजराती, मराठी, तैलंगी, करनाटी, तमिल इत्यादि होते हुए भी उच्च शिक्षा का माध्यम संस्कृत को बनाया जा सकता है। परन्तु गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली को भारत से बाहर ले जाना होगा तो वहाँ उसी प्रान्त की भाषा से काम लेना होगा। किन्तु आचार्य और ब्रह्मचारी के घनिष्ट सम्बन्ध और दोनों के ब्रह्मचर्य व्रत पालन का नियम वहाँ भी समय रहेगा। इसी प्रकार अन्य गौण नियमों को भी समझ लेना चाहिए।

अब तक गुरुकुल ने गौण नियमों के पालन में किसी हद तक सफलता प्राप्त की है। सादा जीवन सिखाने, सहन शक्ति के विकसित कराने इत्यादि में कुछ कृतकार्यता हुई है। परन्तु मुख्य नियम के पालन की क्या दशा है, इस पर लिखना सुगम नहीं है। उसके लिए मुख्य साधन योग्य आचार्य का मिलना है जो इस वर्णाश्रम से पतित समय में अप्राप्त है। और इसी प्रकार पूर्व साधनों से संस्कृत ब्रह्मचारी मिलने भी कठिन है। कहा जा सकता है कि जैसे ब्रह्मचारी मिलते हैं वैसे आचार्य भी मिल सकते हैं–यह ठीक है और इसी पर सन्तोष करना पड़ता है। परन्तु फिर भी आचार्य में यह शक्ति होनी चाहिए कि ब्रह्मचारी का जीवनोद्देश्य क्या स्वाभाविक है, इसे चुन सकें और उसके अनुसार उसे शिक्षा दे सके। इसमें फिर कठिनाई है। प्राचीन गुरुकुल आचार्य के अधीन होते थे, इस समय के गुरुकुल सभाओं के अधीन है। आचार्य भी उन सभाओं का नौकर हैं। उसे अपनी आत्मा की साक्षी पर नहीं

चलना है प्रत्युत अपनी स्वामिनी सभा के सभासदों के विचारों के अनुकूल अपनी आत्मा को बनाना है। कहा जाएगा कि प्राचीन काल में शिक्षा की आवश्यकताएँ इतनी न थीं जो अब हैं, परन्तु जिन गुरुकुलों में चौसठ विद्या और अनगिनत शास्त्र पढ़ाए जाते थे वहाँ आर्थिक आवश्यकता को वनस्थ आचार्य अपने पल्ले से पूरा करता हो, यह ध्यान में नहीं आता। मेरी इस शंका की पुष्टि उस श्लोक से होती है जिसमें दस सहस्र विद्यार्थियों के पालन-पोषण का भार अपने ऊपर लेकर उन्हें दूसरा जन्म देनेवाला ही आचार्य कहा जाता था। इतनी दौलत वनी के पास कहाँ से आती थी। निस्सन्देह बिना उसके प्रबन्ध तथा शासन में हस्तक्षेप किए उसकी आर्थिक आवश्यकताओं को राजा और अन्य श्रीमान् पुरुष पूरा करते थे। उसके विरुद्ध आजकल के भारतीय आचार्य का काम एक ओर, गुरुकुल के लिए स्वयं तथा अन्य शिक्षकों द्वारा पब्लिक से भीख माँगते फिरना दूसरी ओर, फिर प्रबन्ध-कर्तृसभाओं की कड़ी आलोचनाओं का उत्तर देने में समय बिताना तीसरा काम। क्या ऐसी स्थिति उचित है ? यदि नहीं तो इसको ठीक अवस्था में लाने का यत्न गुरुकुलों की प्रबन्ध-कर्तृसभाओं को करना चाहिए।

[श्रद्धा, 21 मई, 1920]

भावी कार्यक्रम...पहला पग

देश में, इस समय, एक नवयुग आ रहा है। कुछ ही दिनों में सुधार स्कीम के अनुसार, नई कौंसिलें बन जावेंगी और शासन की बागडोर किसी अंश तक, हमारे देशवासियों के हाथ में आ जावेगी। कौंसिल के चुनाव के लिए अभी से तैयारियाँ हो रही हैं। उम्मीदवार खड़े हो रहे है। गरम और नरम दल के नेता भावी कार्यक्रम को बताने के लिए अपने-अपने उद्घोषणा पत्र निकाल रहे हैं। परन्तु उनमें वास्तविकता कुछ भी प्रतीत नहीं होती। इस विश में 'सर्वेन्ट आफ इंडिया' का यह कथन सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि जैसे कामान्ध पुरुष मीठी-मीठी बातों से दूसरों को फँसाता है, उसी प्रकार ये उद्घोषणा पत्र बड़ी-बड़ी बातों से सर्वसाधारण को लुभाकर अपने पक्ष में वोट लेने मात्र के लिए ही है। वस्तुतः सचाई भी यही है। 'उत्तर-दातत्व शासन प्राप्त करना', 'सम्पूर्ग स्वराज्य लेना', 'अधिकार', 'वैध आन्दोलन', 'शिक्षा', 'हिन्दू-मुसलमान एकता' इत्यादि ये बातें तो ऐसी हैं जो क्या गरम और क्या नरम, दोनों दलों को ही स्वीकृत हैं और जिसके लिए दोनों प्रकार के नेता प्रयत्न करेंगे ही। क्या 'स्वराज्य' और 'अधिकार' प्राप्ति के लिए 'वैध आन्दोलन' करने से कोई भी दल इनकार कर सकता है ? क्या वे इसके लिए पूर्ण प्रयत्न न करेंगे ? यदि हाँ, तब विशेष उद्घोषणा पत्रों की क्या आवश्यकता है ? अब समझ में आ जाता है कि दलबन्दी से भरी हुई ये उद्घोषणाएँ क्यों थोथी हैं ? इसलिए कि इनमें शाखाओं को ही सुधारने का प्रयत्न किया गया है, मूल को नहीं।

तब भावी के लिए हमारा कार्य विभाग किस प्रकार का होना चाहिए जिससे देश में कुछ मौलिक सुधार हों, बनावटी नहीं।

देश के नेताओं को और विशेषतया राजनीतिक सभाओं को अब यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि राजनीतिक सुधारों की भी अत्यन्त आवश्यकता है। अब तक यह समझा जाता रहा है कि समाज सुधार का काम आर्यसमाज, ब्रह्म समाज आदि समाजों का ही है, कांग्रेस का नहीं। इसी भयंकर भूल का यह परिणाम है कि आज 6 करोड़ से अधिक भारतमाता के पुत्र हमसे बिछुड़कर ईसा की भेड़-बकरियों की संख्या बढ़ा रहे हैं। यदि अभी तक हमने अपनी इस

भूल को नहीं समझा तो अब समझ लेना चाहिए। इस समय देश में प्रचलित जो 'छूत-अछूत, 'उच्च-नीच', 'शिक्षित-अशिक्षित', 'ब्राह्मण-अब्राह्मण' आदि के झूठे भेद हैं, उन्हें दूर करते हुए अछूतों को भी छूत बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। देश के नेताओं ने अछूतोद्धार के महत्व को समझकर कार्यरूप में यदि अभी परिणित न किया और भावी कार्यक्रम का इसे एक मुख्य अंग समझते हुए इसके लिए उचित आन्दोलन न किया, तब वे एक दिन शोक से देखेंगे कि उन्हीं के पूर्वजों का सन्तान उनके विरुद्ध लड़ने को तैयार है।

समाज-सुधार की दृष्टि से तो अछूतोद्धार का महत्व है ही परन्तु राजनैतिक दृष्टि से भी इसका अत्यन्त महत्व है। वह क्या ? समाचार पत्रों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि नई कौन्सिलों की उम्मीदवारी के लिए लोग अभी से खड़े हो रहे हैं और अपने पक्ष में वोट लेने के लिए सब प्रकार के प्रयत्न किए जा रहे हैं। यद्यपि गाँवों में रहनेवाले 'अशक्षितों' और 'अछूतों' की ओर से भी इनमें कुछ प्रतिनिधि भेजे जाने का नियम है परन्तु सुना जाता है कि कुछ एक जमींदार, नवाब और रायसाहब-रायबहादुरिए उन पर अनुचित दबाव डालते हुए अपने लिए वोट ले रहे हैं। ईश्वर करे कि यह खबर झूठ हो पर कहा जाता है कि सरकार का भी इसमें कुछ हाथ है। यू.पी. में एकदम ऐसे नवाबों, राजाओं और जी-हुजूरों का, जिन्हें राजनीति का क, ख भी नहीं आता, उम्मीदवारी के लिए खड़े हो जाना इस सन्देह को और भी पुष्ट करता है। यदि यही अवस्था रही तो फिर कौन्सिलें उन्हीं 'खरीदे हुए' आदमियों से भर जावेगी जिनसे आजकल भरी हुई है। 'आसमान से गिरा और खजूर में अटका' वाली कहावत के अनुसार कौन्सिलें फिर ऊँचे आदमियों के लिए ही होंगी।

शिक्षित दल को और राजनीतिक नेताओं को इस भयंकर भूल से बचने के लिए हम अभी से चेतावनी दिए देते हैं। यद्यपि अब बहुत देर हो गई है पर तो भी हाथ-पाँव मारने से कुछ न कुछ बन ही जावेगा। उन्हें चाहिए कि इसे अपने कार्यक्रम का एक मुख्य अंग बनावें।

इसलिए आनेवाले नवयुग में सफलतापूर्वक काम करने के लिए हमारा प्रथम पग यह होना चाहिए कि हम अछूतों को सब प्रकार से अपने साथ मिलावें। दूसरा पग क्या होना चाहिए—इस पर हम अगले अंक में विचार करेंगे।

[श्रद्धा, 28 मई, 1920]

अभागी टर्की

संसार में गरीब की कोई नहीं सुनता, इस विषय में जो उदाहरण दिए जाते थे, इतिहास में टर्की की गिनती भी अब उन्हीं में हुआ करेगी। किसी समय टर्की का सिक्का एशिया में बड़े भाग पर बैठा हुआ था, उसकी सभ्यता का दौरदौरा था परन्तु आज संसार के राजनीतिक क्षेत्र में इस प्रकार जबरदस्ती धकेला जाया देखकर वस्तुतः उस पर तरस आता है। परन्तु यूरोप की राजनीति में 'तरस' और 'दया' के लिए कोई भी स्थान नहीं है। यूरोप ! तुम्हे बधाइयाँ ! क्योंकि प्रेजिडेंट विलसन की 14 बातों की आड़ में की गई तुम्हारी कुटिल नीति आज सफल हो गई है। क्योंकि तुम्हारी आँखों का कीड़ा बुड्ढा रोगी अपना बोरिया-बिस्तर सिर पर उठाए पर तुम्हारी ओर क्रोध और घृणापूर्ण नेत्रों से देखते हुए आज जा रहा है। इंग्लैंड ! घर में घी के दिए जलाओ क्योंकि 'मोसुल' की तेल की खानें अब तुम्हारी ही मुट्ठी में है। इस तेज रोशनी से अब तुमने काली जातियों के चेहरों को खूब चमकाना !! टर्की का निपटारा 'लीग आव नेशन' की पहली करतूत है। देखें, आगे क्या गुल खिलते हैं ? इस दावपेंच और कतरव्योंत को देखकर सार्वभौम शान्ति की आशा करना क्या वज्रमूर्खता नहीं है।

[श्रद्धा, 28 मई, 1920]

राजनीति में झूठ

लोकमान्य तिलक ने पिछले दिनों अपने एक लेख में कहा था कि राजनीति में झूठ बोलने से कोई हानि नहीं और विशुद्ध वा निर्विशेषण सत्य के लिए इसमें कोई स्थान नहीं है। परन्तु, इसके विरुद्ध महात्मा गाँधी का यह सिद्धान्त है कि मनुष्य को सदा क्या राजनीति में और क्या धर्म में सत्य पर ही आरूढ़ रहना चाएिह। इसी से वह सफल-मनोरथ हो सकता है। आजकल समचार पत्रों में इस विषय पर खूब विवाद चल रहा है। प्रश्न यह है कि क्या राजनीति में झूठ बोलना चाहिए ? हम तो इस विषय में महात्मा गाँधी के साथ पूर्ण सहमत हैं। लोकमान्य ।तिलक जी से हम पूछते हैं कि यदि राजनीति में झूठ बोलना उचित ही है तब वे नौकरशाही पर झूठे दोष लगाने, झूठे कारण ढूँढ़ने आदि का दोष क्यों लगाया करते हैं ? उन्होंने अपनी सब पुस्तकों में सत्य बोलने पर क्यों बल दिया है ? अच्छा, यदि लोकमान्य जी के इस सिद्धान्त को ठीक ही मान लिया जावे तब इसका प्रयोग सबसे पहले उन्हीं पर होना चाहिए। ओर वह इस रूप में कि इसमें क्या प्रमाण है कि राजनैतिक क्षेत्र में वे जो कुछ कर रहे हैं, सच्चे भाव से ही कर रहे हैं। हमारा यह अभिप्राय कभी नहीं कि हमें उनकी देशभक्ति की सत्यता के विषय में कुछ भी आशंका है पर जब प्रश्न सिद्धान्त का है तब उस पर सभी की दृष्टि से विचार होना चाहिए। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिसने एक दिन अधिक लाभ के लिए विदेशियों के सानने झूठ बोला, अगले दिन वह अपने देश भाइयों को भी धोखा दिए बिना नहीं रह सकता। क्योंकि विचार और भाव तो वे ही हैं केवल स्थान ही भिन्न-भिन्न है।

[श्रद्धा, 28 मई, 1920]

आयरलैंड और भारत

कई सदियों से अब तक आयरलैंड इंग्लैंड के पाँवों में लोटता हुआ और गिड़गिड़ाता हुआ ही अपने अधिकारों को माँगता था पर उनसे कुछ फल निकलता न देख अब वह ब्रिटेन के सिर पर चढ़कर अपने अधिकारों को माँगता नहीं, किन्तु स्वयं उद्घोषित कर रहा है। ठीक है, 'भूत वही जो सिर पर चढ़कर बोले।' दैनिक पत्रों में प्रकाशित होनेवाली रूटर की तारें यदि सच्ची हैं, जिसमें अभी भी बहुत सन्देह है, तो वस्तुतः सिनफीन वहाँ वड़ा दंगा कर रहे हैं। कुछ ही हो, सरकार की ओर से भी हाउस ऑफ कामन्स में कई कठोर नीति की उद्घोषणा कर दी गई है जिसके अनुसार ऐसी घटनाओं को दवाने के लिए सब प्रकार के साधन प्रयुक्त किए जावेंगे। इसमें अभी बहुत सन्देह है क्योंकि जिस कठोर शासन के परिणामस्वरूप ये घटनाएँ हैं वे उसी प्रकार के शासन से कैसे दब जावेंगी। एक भूल के लिए की गई दूसरी भूल से कोई बात सुधर नहीं सकती। इतिहास इस बात को डंके की चोट पर कह रहा है कि अत्याचार और कठोरता से वेस्ट मैनिस्टर में बैठे हुए राजनीतिज्ञ इस सिद्धान्त को समझते हुए भी इसके विरुद्ध न कवेल आयरलैंड में किन्तु भारत और मिस्र में भी कार्य करने के लिए तत्पर हैं। गत वर्ष पंजाब में जो घटनाएँ हुई थीं, आयरलैंड में उनसे भी अधिक भयंकर होने पर भी यद्यपि वहाँ पर मार्शल-लॉ नहीं लगाया गया पर तथापि शासन को कठोरता का रूप देने में कोई कसर नहीं छोड़ी गई। हम तो भारत सरकार नहीं-नहीं.....ब्रिटिश सरकार से यही कहते हैं कि वह संसार की गति को देखे, समय की नब्ज को पहचाने और तद्नुसार न केवल आयरलैंड के प्रति भी किन्तु भारत और मिस्र के प्रति कठोर नीति के अब अवलम्बन को छोड़ते हुए उदार-नीति का ही आश्रय ले। अब उसकी शान इसी में है।

[श्रद्धा, 28 मई, 1920]

मि. तिलक का प्रायश्चित

'टाइम्स ऑफ इंडिया' के गत अंक में यह प्रकाशित हुआ है कि मि. तिलक ने अपने दूसरे पुत्र के विवाहोत्सव में इंग्लैंड जाने के लिए प्रायश्चित किया है। यदि खबर सच्ची है तो वस्तुतः लोकमान्य तिलक जैसे नेता के जीवन पर यह एक कलंक है कि वे समाज-सुधार के मामलों में इतने संकुचित हृदय के हैं।

[श्रद्धा, 28 मई, 1920]

गुजरात में महिला विद्यालय

गुजरात-काठियावाड़ में पूना के महिला विश्वविद्यालय के अनुसार स्त्रियों के लिए एक विद्यापीठ बनने लगा है जिसमें बम्बई के 'सर थैकारे' ने 33 लाख रुपए दान दिए हैं। गुजरात वालों का उद्योग प्रशंसनीय है।

[श्रद्धा, 28 मई, 1920]

बालक के गले में फँसरी

पो. ढाका (जि. चम्पारन) में किसी चन्द्रहाससिंह सरूपा, ने हमारे पास एक चिट्ठी भेजी है। उसने गिड़गिड़ाते हुए लिखा है, ''मेरे बाल-विवाह की अनिच्छा प्रकट करने पर भी मेरे पिता तथा अन्य कुटुम्बी जबरदस्ती मुझे एक बारात में घसीट ले गए। पहुँचने पर मैं बहुत रोया-धोया और उसी समय मेरी सुध-बुध जाती रही। सुनते हैं, तभी मेरी शादी कर दी गई। अब अगर शादी से मेरा उद्धार नहीं हुआ तो मैं आत्महत्या कर लूँगा।''

[श्रद्धा, 28 मई, 1920]

क्या संसार में बौल्शेविज़्म का राज्य होगा ?*

अभी बहुत काल व्यतीत नहीं हुआ कि सब लोगों के मुँह पर एक ही शब्द था। महायुद्ध की प्रत्येक घटना, प्रत्येक समाचार और प्रत्येक बात इसी दृष्टि और इसी भाव से देखी जाती थी। प्राचीन पुस्तकें और नवीन ग्रन्थ इसी ओर लगाए जाते थे। यह शब्द थे कि "क्या संसार में पर केवल 'फौजीपन' (Militarism) का ही राज्य होगा ? महायुद्ध का अन्त हो गया। नई घोषणा हुई। यह घोषणा 'अन्तर्जातीय संगठन' की थी। कहा गया सेना दूर होगी, न्याय का विजय होगा, सब सुख-शान्ति और आराम मिलेगा। पर वह कहाँ ? कहा जाता है कि अन्तर्जातीय संगठन शान्ति लाएगा, महँगी दूर करेगा। पर आपत्ति दूर न हुई बड़े-बड़ें राष्ट्रों की वही हालत। रमणियाँ और सन्तानों की वही दशा। कहाँ तक चुप होएं ? अब व्याकुल हृदय पूछता है कि कहाँ है अन्तर्जातीय संगठन ? फिर नया शब्द उठता है। वह दबाए नहीं दबता छिपाए नहीं छिपता। दूसरी ओर से कहा जाता है कि अंतर्जातीय संगठन सब कुछ कर देता है, बौल्शेविज़्म खराब कर रहा है, इसे दबा लो फिर सुख-शान्ति का राज्य होगा।

अब प्रश्न उठता है "बौल्शेविज़्म' क्या है ?" दबाते हैं, छिपाते हैं पर दबता नहीं और छिपता नहीं। सच्चा भाव प्रकट हो जाता है। एक उच्च सरकारी पदाधिकारी से बातचीत हुई तो उसने देहली, पंजाब की घटनाओं पर बात करते हुए मुझसे कहा कि "स्वामी जी ! निश्चय ही आप बोल्शेविक लोगों के विरुद्ध लड़ने में हमारी सहायता करेंगे।" मुझसे जिसका धनबल, शक्तिबल कुछ नहीं और जिसका विद्याबल भी बहुत नहीं, सहायता माँगने पर आश्चर्य बहुत हुआ। मैंने कहा, "पहले समझाएं तो सही बौल्शेविज़्म क्या है ?" यह कोई गिरगिट है–जब सुनते हैं तो लाल रंग कहा जाता है। देखते हैं तो पीला रंग फिर श्वेत और हरा हो जाता है। उन्होंने बौल्शेविज़्म का रूप 'Murder, Arsan, Pillage' बताया। अर्थात् 'घात, दाह और लूट' इत्यादि ही बौल्शेविज़्म है। मैंने कहा कि कुछ दिन पहले यह बातें "कैंसर के बारे में कही जाती थीं और सब कुछ कैंसर के माथे मढ़ा

* उस व्याख्यान का सारांश जोकि श्री पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी ने 26 मई के सायंकाल को कलकत्ता-आर्यसमाज में बड़ी जनता के सम्मुख दिया था।

जाता था।'' फिर अखबार देखे और इधर-उधर देखा। एक वैदिक धर्मी से बातचीत हुई। उसने कहा कि इस बौल्शेविज़्म में धर्म की गन्ध आती है। ये धर्मात्मा मालूम होते हैं। इस प्रकार अब तक 'बौल्शेविज़्म' समझ नहीं पड़ा कि क्या है ? यदि यही घात, दाह और लूट ही बौल्शेविज़्म है तो कहिए पंजाब में पिछले दिनों क्या था ? आजकल का संसार का झगड़ा क्या है ? ऐसा बौल्शेविज़्म रूस से लाने की जरूरत नहीं, ऐसे बौल्शेविज़्म के 'जर्म' तो हर जगह उपस्थित हैं। आजकल की हड़तालें इसी के नमूने हैं। यह बौल्शेविज़्म रूस से नहीं आता पर हर जगह स्वयं पैदा हो जाता है। भूत से घबरानेवाले के लिए भूत बाहर नहीं परन्तु उसी के भीतर हृदय में बैठा हुआ है। हृदय से यदि भूत निकल जाए तो बाहर भूत सता नहीं सकता।

किसी स्थान पर चिन्ह देखकर अनुमान किया जाता है कि वहाँ कोई वाटिका थी, कभी पैदावार भी थी, महल थे। पर अराजकता, आलस्य, प्रमाद के फैल जाने से जंगल बन गया, माँसाहार शुरू हो गया। कोई बुद्धिमान आता है। सोचता-विचारता है। चिन्हों को देखकर एक हाथ में आग दूसरे में कुल्हाड़ा पकड़कर सफाई करता है। फिर खेती शुरू होकर महल-वाटिका आदि खड़े हो जाते हैं। कमेटी आदि बैठती है तो सलाह-मशवरे में ही सारा समय बीत जाता है। दुख के साधन बिना आग दूर नहीं हो सकती। खांडव को भी आग से ही साफ करना पड़ा था। दुख के साधनों को दूर करने के लिए आग और कुल्हाड़े के सिवाय और कोई चारा नहीं। पर यदि नई खेती पर ही इनको चलाना शुरू कर दिया तब समस्या का हल नहीं। फिर तो चारों ओर दुख ही दुख है। यही दृष्टांत बौल्शेविज़्म के साथ लगाइए। एक दिन रूस में एक सत्ता थी। उसने 16 वर्ष के बालक-बालिकाओं को साइबीरिया में डाल दिया। किसी की सुनाई न होती थी। महायुद्ध के समय उलट-पुलट हुई। उलट-पुलट करनेवालों को क्या मालूम था कि क्या निकल आएगा। कुल्हाड़ा और आग ने सफाई कर दी। कौन-सा स्थान है जहाँ बौल्शेविज़्म नहीं है। जहाँ भी अत्याचार पर अत्याचार शुरू हो जाता है, धर्म से ग्लानि पैदा हो जाती है; न्याय का मानो निशान नहीं रहता, वहीं तो बोल्शेविज़्म पैदा हो जाता है। तब घेरे में घिरी हुई बिल्ली के गले पर झपटने की दशा आ जाती है। संसार में भी वही हालत है। दूर जाने की जरूरत नहीं। यहीं ब्राह्मणों के अछूतों पर अत्याचार देखिए। मद्रास में श्वानों पर ब्राह्मणों के अत्याचार याद कीजिए। भारत में साढ़े छह करोड़ अछूत हैं। आपके ही बंगाल में 'नाम शूद्र' लोगों के अत्याचार आप से छिपे नहीं है। उसी का परिणाम आज का ब्राह्मण-अब्राह्मण का कलह है। अब्राह्मण कहते हैं हम किसी ब्राह्मण को कौंसिल में न जाने देंगे। नेशनलिस्ट मौड्रेस्ट को न जाने देने पर उतारू हैं। मौड्रेस्ट तो शायद एक-आध चला भी जाए पर ब्राह्मण शायद एक भी न जा सके। बस, यही बौल्शविज़्म है। शासन से विश्वास उठ जाए, मृत्यु का

राज्य हो जाए, किसी की सुनाई न हो; दलील का कुछ काम न हो–बस फिर कुल्हाड़ी और आग की जरूरत पड़ती है, यह भी न हो तो बाहर से चिनगारी लाई जाती है। यह बौल्शेविज़्म बाहर से नहीं आता–अन्दर ही है। अब प्रश्न उठता है कि यह अवस्था कैसे दूर हो ? इसको दबाया नहीं जा सकता। दबानेवाले में भी इसके पैदा होने का भय है। यह छूत का रोग है–छछून्दर छोड़ने की देर है। कोई खास मनुष्य इसे किसी स्थान से नहीं लाते हैं। हड़तालें हो रही हैं–अन्याय का अनुभव कर सब काम छोड़ बैठते हैं। आज अछूत बात नहीं सुनते।

अमृतसर के स्वागत भाषण में मैंने कर्नल बूथटकर के शब्दों में कहा था कि ''ईसाई ब्रिटिश राज्य रूपी जहाज के लंगर हैं।'' ग्राम के ग्राम ईसाई हो रहे हैं। साढ़े छह करोड़ पर जो अत्याचार किए थे उन्हीं का परिणाम है। आज फिर पूछा जाता है कि ''क्या पंजाब की गत घटनाओं के बारे में कोई भी ईसाई सरकार के प्रतिकूल था चूँकि वे ब्रिटिशर हो गए थे।'' बस यदि सात करोड़ ब्रिटिशर हो गए तो जड़ें पाताल को चली जाएँगी। आज तिलक महाराज कहते हैं ''अगर स्वराज्य का आन्दोलन सफल हो जाए तो मैं अछूतों के साथ खाने को तैयार हूँ।'' यहाँ 'अगर' की शर्त है वहाँ तो झट 'ब्रिटिशर' बना लिया जाता है। कहो तो सही तुम में और अछूतों में भेद क्या है ? यदि इनके पवित्र मन और आत्मा को देखना है तो चलो 'गुरुकुल कांगड़ी'। दशम और एकादश में जो बालक पढ़ते हैं देखो उनमें कोई भेद है भी या नहीं। रामचन्द्र आर्यजाति के पिता समान और सीता माता समान हैं। उन्होंने भी 'निषाद' गले लगाया और अपनाया पर आज तुममें उन्हें गले लगाने का हौसला नहीं है। जो तिरस्कार और अत्याचार किए हैं उन्हें दबाना कठिन है। इसे ही दूर करना है। आज वे हमारी नहीं सुनते। तब क्यों वे ब्राह्मणों के लिए वोट देने लगे हैं ?

लोहा लोहे को काटता है, स्वयं भी कट जाता हैं। जलता लोहा पानी से बुझता है। 'शठं प्रतिशठं कुर्यात् सादरं प्रति सादरम्' को लेकर जो लोग शैतान के साथ शैतानी करना चाहते हैं क्या वे अपने घर चोरी होने पर स्वयं चोर बनेंगे ? क्या वे व्यभिचार होने पर स्वयं धर्म मार्ग से गिरेंगे। इस स्मृति वाक्य का तात्पर्य है कि उदंड को दंड देकर दबाया जाए न कि हम भी उदंड हो जाएँ। बौल्शेविज़्म का इलाज बौल्शेविज़्म नहीं है। गोला चलाना ही बौल्शेविज़्म है। यदि गोलाबारी से इसे दबाया गया तो लोहा स्वयं की कटेगा।

समाज क्या है ? हमारे प्राचीन कह गए हैं ''ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः। उरुतदस्य यद् वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।'' शरीर के तीन जोड़ चार भाग बनाते हैं। इनमें बुरा कोई भी नहीं। पंच ज्ञानेन्द्रियों और एक कर्मेन्द्रिय वाला सिर ब्राह्मण है जिसका कार्य ज्ञान का उपार्जन कर उपदेश देना है। यद्यपि सब भोजन मुख से ही खाया जाता है पर प्राण वह शरीर के दूसरे भाग को देकर

स्वयं कुछ भी नहीं खाता। भुजा क्षत्रिय अर्थात् रक्षा के लिए है, पर पागल होकर स्वयं को ही मारना शुरू कर देती है। इसी प्रकार सच्चे वैश्य और सच्चे शुद्र भी समाज के लिए आवश्यक हैं। इसीलिए तुलसीदास ने भी कहा है कि ''न जाने किस वेश में नारायण मिल जाएँ।'' इस समय खराबी यही है, समाज की व्यवस्था ठीक नहीं है। बौल्शेविज़्म पागलपन है—दिमाग का ठिकाने न रहना है। एक दिन अश्वपति का एक राज्य था जिसमें न कोई चोर, न शराबी, न व्याभिचारी पुरुष और न व्यभिचारिणी स्त्री थी। वह सब राज्य केवल दिमाग के बिगड़ने से ही उठ गया। सिर की अवस्था ठीक न थी। यह प्राचीन आर्यो की दशा थी, आज की दशा विचित्र है।

दशरथ महाराज के महामन्त्री कौन थे ? वह लायड जार्ज न थे, जिन्हें अपने घर वालों के ऐश्वर्य की चिन्ता है और जो ऐहिक स्वार्थ से प्रेरित हो कानून बनाते हैं। वे सच्चे ब्राह्मण एक ही समय के यज्ञ का सामान रखनेवाले वशिष्ठ थे। बस, यदि महामन्त्री सच्चे ब्राह्मण और राजा सच्चे क्षत्रिय नहीं बना सकते तो बौल्शेविज़्म भी दूर नहीं हो सकता। इस समय के महामन्त्री वैश्य हैं, अपने और घरवालों के स्वार्थ से प्रेरित होकर कानून बनाते हैं।

आज शोर है हम सुधर लेंगे। क्या होगा सुधारों सें यदि फिर कौन्सिलों में जायदाद के मालिक अपना जत्थे और जाति का पक्षपात रखनेवाले चले गए। आज गोरी नौकरशाही है, कल काली नौकरशाही हो जाएगी। यदि वैश्य लोग कानून बनाएँगे तो फिर उन्हीं करोड़ों पर अत्याचार होगा और फिर बौल्शेविज़्म यहीं पैदा हो जाएगा। रूस जाकर इसे लाने की जरूरत नहीं है। कोई होमरूलरस हैं, कुछ कांग्रेसमैन और कुछ मॉड्रेट। होमरूलरस भी तीन हैं, एक महाराज तिलकाइट, दूसरे ऐनी बेसेंट के चेले और तीसरे अब गाँधीयाइट होंगे। सभी अपनी धुन में लगे हैं—किसको रोएँ ? तुम्हारे में नेकचलन ना भी होंगे तो भी अपने में से ही दौलतमन्द बदचलन भेजोगे। परिणाम क्या होगा—फिर बौल्शेविज़्म जारी होगा। यह बौल्शेविज़्म बौल्शेविज़्म से न दबेगा। यह तो संसार की भलाई के लिए ही हैं। इसको दबाया नहीं जा सकता। इसे रूस से लाने की आवश्यकता नहीं, यह यहीं है और पैदा हुआ है।

वर्णाश्रम धर्म की पुनः स्थापना ही इसे दबा सकती है। इस धर्म की स्थापना यहीं हो सकती है। भोग-विलास में लिप्त दूसरे देशों में इस धर्म की स्थापना नहीं हो सकती। इसी पवित्र भूमि में जो कि पतितावस्था में भी त्याग के लिए आदर्श है, इस धर्म की स्थापना हो सकती है। यह देश संसार का गुरु है। भारत की आत्मिक शक्ति तोप, बन्दूक आदि की प्राकृतिक चीजों से नहीं दब सकती। यदि यहाँ वर्णाश्रम धर्म की स्थापना हो गई तो न केवल भारत ही का परन्तु संसार का उद्धार हो जाएगा। क्रमशः सुधारों के लिए मरने की जरूरत नहीं है। सुधार

तो स्वयं हो जाएँगे, यदि कौन्सिलों में सच्चे ब्राह्मण जाएँगे। यद्यपि कम्पनियाँ और आर्थिक तथा व्यापारिक मामले बुरे नहीं है परन्तु उनमें विदेशियों का सामना नहीं किया जा सकता—वह और भी आगे बढ़ते जाएँगे। कारखाने सब नाकारी हो जाएँगे। यह भी सब हो, पर इनकी दृढ़ता के लिए वर्णाश्रम धर्म की भारी जरूरत है। और यह अवस्था गुरुकुल प्रणाली के प्रचार के बिना कठिन है। ब्रह्मचर्याश्रम में वर्ण का बीज बोकर वर्ण व्यवस्था सुधर सकती है अन्यथा नहीं। यदि वर्ण व्यवस्था के बिना प्राकृतिक उन्नति के लिए यत्न किया गया तो फिर आग और कुल्हाड़े की जरूरत पड़ेगी। बौल्शेविज़्म टाले न टलेगा, दबाए न दबेगा, छिपाए न छिपेगा।

अब समय कार्य करने का है बातें बनाने का नहीं। समय था जबकि शब्द का जादू मोह लेता था अब तो साधारण लोग भी कर्तव्य बुद्धि से ही बात सुनते हैं। कर्तव्य का समय है। सच्चे ब्राह्मण पैदा करने का समय है। अभ्यास और वैरागय से ही यह सम्भव है। स्थान-स्थान पर गुरुकुलों की स्थापना हो। उत्तम सन्तानें हों, तब सब सिद्ध हो जाएगा। आप में भाव है केवल इच्छा को कर्म में लाने की जरूरत है। आपका ही देश है, आपकी ही जाति है और आपका ही पवित्र वायुमंडल है जहाँ इस वर्णाश्रम धर्म की स्थापना हो सकती है।

परमात्मा हम सबमें अपना कर्तव्य समझने और उसे पूरा करने की शक्ति दें—यही प्रार्थना है।

[श्रद्धा, 2 मई, 1920]

भावी कार्यक्रम

दूसरा पग

कलकत्ता में होनेवाली पिछली मॉडरेट-कान्फ्रेंस में सुधार स्कीम को पूर्ण रूप से कृतकार्य बनाने के लिए देश के प्रसिद्ध नेता माननीय मि. शास्त्री ने एक बड़ी शर्त यह लगाई थी कि "यदि योग्य आदमी चुने गए।" (If proper men are elected) प्रश्न यह है कि योग्य आदमी कौन हैं ? इसका उत्तर भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न दृष्टि से दे रहे हैं। इस समय की कांग्रेस की मालिक 'नेशनलिस्ट' पार्टी यह कह रही है कि जो कांग्रेस के मन्तव्यों को पूर्ण रूप से माने वही चुना जाना चाहिए। अपने आपको लिबरल कहने वाली मॉडरेट पार्टी, दूसरी ओर, डंके की चोट पर यह कह रही है कि सरकार के साथ पूर्ण सहयोगिता रखते हुए सुधार स्कीम को सब प्रकार से कृतकार्य बनाने की जो प्रतिज्ञा करे वही चुनाव के योग्य है। इस प्रकार हरेक दल अपने मन्तव्यों के पोषकों को ही योग्य पुरुष समझता है। देश के भाग्यों के निर्णायकों और जाति के सम्मुख उत्तरदायकों के लिए योग्यता का दर्जा यदि केवल अपने जत्थों की बातों को मानना--न मानना ही रह जावेगा तो ऐसे आदमियों से बनी हुई कौन्सिलों से कुछ वास्तविक सुधार की आशा करना वृथा ही है। निर्वाचित प्रतिनिधियों के महत्व और उत्तरदातृत्व को ठीक-ठीक समझकर तद्नुसार उत्तम से उत्तम व्यक्ति चुनने की जगह यदि हमारे राजनैतिक नेताओं ने, निजू स्वार्थों से प्रेरित हो, अपने धड़े के आदमियों को ही चुनाव दिया तो वे एक ऐसी भारी भूल करेंगे जिसके लिए पीछे सिवाय पछताने के और कुछ नहीं बन पड़ेगा। परन्तु शोक है कि हमारे राजनैतिक नेता, इस अंश में, सर्वथा उदासीन हैं जिसका एकमात्र कारण यह है कि उन्होंने *धर्म की राजनीति* से पृथक समझा हुआ है। वे निजू और सार्वजनिक जीवन में भेद करते हैं। वे कहते हैं कि अच्छे आदमी की कसौटी यह है कि जब वह जनता के सामने आवे तो सभ्य हो, नम्र हो, साफ-सुथरा हो, मीठी जबान का हो और सुशील हो पर उस समय जबकि वह घर में बैठा है तब कैसा हो—इससे हमें कुछ मतलब नहीं। यदि वह शराबी, कबाबी और दुराचारी है, तब भी हम उस पर अँगुली उठा सकते क्योंकि वे उसके

'घरेलू जीवन' की बातें हैं। उसके मतानुसार--''ये अन्दरूनी मामले हैं जिनमें दखल देने का किसी को अधिकार नहीं। इन राजनीतिज्ञों के कथनानुसार यदि ऐसे आदमी कौन्सिल के चुनाव के लिए खड़े हों तो हमें उनके लिए खुले दिमाग से वोट देनी चाहिए बशर्ते कि उनका सार्वजनिक जीवन वैसा हो जैसा कि हम अभी ऊपर लिख चुके हैं और वे अपनी पार्टी के बन्धनों के आगे सिर झुकाने की तैयार हों।

क्या खूब ! कैसा विचित्र सिद्धान्त है। देश के गम्भीर प्रश्नों का निर्णय करनेवाली बड़ी-से-बड़ी सभा में बैठने का अधिकार प्राप्त करने का कैसा सुगम मार्ग है ? परन्तु इसकी बुनियाद थोथी हैं हम भी इस सिद्धान्त को मान लेते यदि मनोविज्ञान की इसमें अड़चन न होती। इसके अध्ययन से हमें दो अटल सच्चाइयाँ पता लगती हैं। पहली यह कि मनुष्य जिस शैली से किसी बात पर बार-बार विचार करता है, उसकी रेखाएँ धीरे-धीरे उसके मस्तिष्क के आभ्यन्तरिक भाग पर पड़ती है कि वे विचार अनायास ही कार्य के रूप में परिणित होने लगते हैं और उनका रोकना, तब विषम-सा हो जाता है। दूसरी सचाई यह कि आभ्यंतरिक जीवन में मनुष्य जो काम करता है--अच्छे वा बुरे--उनका प्रभाव किसी न किसी रूप में, बाहर अवश्य प्रकट होता है क्योंकि वे उसकी मस्तिष्क की रेखाओं को ऐसा बदल देते हैं वा बना देते हैं कि जिससे उसके जीवन की प्रत्येक घटना में अपना प्रभाव दिखाए बिना नहीं रहते।

इन दो सचाइयों को सम्मुख रखते हुए कौन यह कहने का साहस कर सकता है कि निजू और सार्वजनिक जीवन में भेद है और दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव नहीं पड़ता। इस विषय में, यदि उदाहरणों की आवश्यकता हो तो प्रत्येक मनुष्य के अपने जीवन के अनुभव के साथ-साथ इतिहास भी ऐसे साक्षियों से भरा हुआ है। कार्लाइल इत्यादि लेखकों के विषय में यह कहा जाता है कि वे निराशावादी इसलिए थे क्योंकि वे अपने घरेलू जीवन मे अत्यन्त दुखी थे और उन्हें कब्ज और अपचन की सदा शिकायत रहती थी। तब, जो आदमी अपने घर में, अपने निज़ू जीवन में शराबी, माँसाहारी, दुराचारी और विषयी है, अपने घरवालों के साथ क्रोध, अन्याय, हिंसा और अभिमान का परिचय देता है, वह जब जनता के सामने आवेगा और सार्वजनिक जीवन में काम करेगा--तब इन प्रभावों से बेदाग और बेलाग रहेगा--यह कहना क्या दुस्साहस मात्र नहीं है ? क्या इस कथन से अपनी वज्र-मूर्खता का परिचय देना नहीं होगा ?

बस, अब समझ में आ जाता है कि भावी के लिए कार्य करते हुए *दूसरा पग* हमें क्या और किधर उठाना चाहिए। नई कौन्सिलों के लिए हमें ऐसे आदमी चुनने चाहिए जो योग्य हों। योग्यता कैसी ? किसी दलबन्दी वा जत्थे की नहीं किन्तु

सदाचार की, पवित्र जीवन की और ब्रह्मचर्य की। हमारे प्रतिनिधि विद्वान होने के साथ-साथ *शराब, माँस आदि के व्यसनों से शून्य, सदाचारी, धार्मिक, संयमी और तपस्वी तथा पूर्ण ब्रह्मचारी हों।* आज़कल के दोषपूर्ण राजनैतिक प्रभाव में बहते हुए नेताओं को हमारा कथन यद्यपि हास्यप्रद प्रतीत होगा परन्तु यह हम उन्हें निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि सुधार स्कीम के प्रति चाहे उनका कैसा ही भाव क्यों न हो—चाहे विरोध का और चाहे सहयोगिता का—वह कभी भी पूरा नहीं हो सकता यदि प्रतिनिधि उसी प्रकार के न हों जैसा कि अभी हम ऊपर लिख चुके हैं। इस विषय में हमसे यह पूछा जा सकता है कि जो सज्जन निर्बलताओं के होते हुए भी पवित्र देशसेवा के भाव से काउन्सिलों में जाना चाहते हैं, उनका क्या प्रबन्ध किया जाए, इस विषय में हम—**उम्मीदवारों को एक सलाह**—देंगे। और वह यह कि यदि उनमें देश और जाति की सेवा के लिए वास्तविक इच्छा है तो वे अच्छा हो, उसे काउन्सिलों की शानदार पर बन्द कोठरियों के बाहर रहकर ही पूरा करें। इस विषय में हम महात्मा गाँधी की इस बात से सर्वथा सहमत हैं कि कौन्सिलों के मेम्बर होने की अपेक्षा उनसे बाहर रहते हुए ही देश सेवा अधिक उत्तम रीति से हो सकती है। एक बात और है। सुधार स्कीम पहले ही बहुत दोषपूर्ण है। कौन्सिलों में यदि अयोग्य *(दुराचारी, व्यसनी, विषयी और द्वेषपूर्ण)* व्यक्ति चले गए तो वे उसे और भी दोषयुक्त कर देंगे। इसके विरुद्ध यदि योग्य पुरुष *(सदाचारी, धार्मिक, विद्वान, ब्रह्मचारी और अहिंसक)* गए तो वे अपनी योग्यता और विद्वता से दोषमुक्त इस स्कीम को भी देश के लिए हितकर बनाने में कोई कसर न छोड़ेंगे।

चूँकि अभी कुछ ही दिनों में चुनाव होनेवाला है, इसलिए हम अभी से अपने देश भाइयों को सावधान किए देते हैं। अपने देश की बागडोर यदि उन्होंने अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में दी तो *गोरी नौकरशाही* के स्थान में *काली नौकरशाही* जोकि शायद उससे भी बुरी हो—के जाने के सिवाय शासन नीति में और कोई भेद नहीं आ सकता। परन्तु इसके लिए भी एक और बात पर विचार करने की आवश्यकता हो। वह क्या ? यह हम अगले अंक में बताएँगे।

[श्रद्धा, 4 जून, 1920]

लोकमान्य तिलक और मि. पाल

मि. पाल द्वारा सम्पादित 'इंडिपेन्डेन्ट' और 'डेमोक्रेट' तथा लोकमान्य तिलक की पार्टी के 'मराहठा' और 'केसरी' आदि समाचार पत्रों में आजकल भावी कार्यक्रम के विषय में बड़ा मनोरंजक विवाद चल रहा है। प्रश्न यह है कि सुधार-स्कीम के प्रति हमारा क्या भाव होना चाहिए। लोकमान्य तिलक तथा उनकी पार्टी का यह मत है, जैसा कि उन्होंने अपने उद्घोषणा पत्र में स्पष्ट किया है कि सुधार स्कीम से पूरा लाभ उठाते हुए हमें उससे अधिक प्राप्त करने का पूर्ण आन्दोलन करना चाहिए। अर्थात् हमारा भाव सहयोगिता और विरोध दोनों का मिला-जुला होना चाहिए। इस पर मि. पाल बड़े बिगड़े हुए हैं। वे कहते हैं कि इस स्कीम के प्रति दो ही भाव हो सकते हैं, पूर्ण विरोध का वा पूर्ण सहयोगिता। सुलहनामा करके तीसरा भाव हो ही नहीं सकता। और चूँकि पिछले प्रकार के भाव का उद्देश्य नरम दलवालों ने उद्घोषित किया है, इसलिए स्वभावतः पहले प्रकार का भाव गरम दलवालों का ही होना चाहिए। इसलिए मि. पाल यह उपदेश देते हैं कि "कौन्सिलों में घुसो परन्तु सुधार स्कीम का नाश करने के लिए ही।" इसका उत्तर 'सर्चलाइट' के एक लेखक ने बहुत उत्तम दिया है और वह यह कि निर्वाचक मंडल ऐसे आदमियों को चुनेगा ही क्यों जोकि उनकी अभीष्ट वस्तु का नाश करने के लिए ही खड़े हो रहे हैं। निर्वाचक मंडल उनसे कहेगा कि "हम आपके लिए सम्मति क्यों दे, जबकि आपका उद्देश्य ही नाश करना है।" हम तो इस विषय में इतना ही कहेंगे कि मि. पाल अपनी वाक्-वीरता के लिए ही प्रसिद्ध हैं, कर्मवीरता के लिए नहीं परन्तु लोकमान्य तिलक इसके विरुद्ध, अपनी कर्मवीरता से ही देश के नेता बने हैं और जो कुछ कह रहे हैं वे अपने अनुभव से ही कह रहे हैं। मि. विपिनचन्द्र पाल को, इसलिए, अपने भड़कीले कथनों से देश को गुमराह नहीं करना चाहिए।

[श्रद्धा, 11 जून, 1920]

पायोनियर को बधाई !

वैसे तो 'पायोनियर' सदा ही देसी पत्रों के विरुद्ध रहा है परन्तु 21 मई के अंक में उसने भी एक अक्लमन्दी की बात लिख दी है जिसके लिए उसे बधाई देनी चाहिए। भारतीय सरकार के, गर्मियों में, शिमला चले जाने के कारण देश के शासन को जो हानि पहुँचती है, उसके विरुद्ध भारतीय नेता यद्यपि चिरकाल से आन्दोलन कर रहे हैं पर उसका फल कुछ नहीं निकला। अब तो सरकार को अपनी भूल मान ही लेनी चाहिए क्योंकि उसकी डुग्गी पीटनेवाले 'पायोनियर' की भी अब यही सम्मति हो गई है। 21 मई के अंक में वह कहता है कि "इन पहाड़ों का जीवन *सहभोजों और नाचों के निरन्तर चक्कर से व्याप्त होता है।" (टेढ़े अक्षर हमारे हैं)*। आगे वह लिखता है कि "कई वर्ष पूर्व किपलिंग ने यह लिखा था कि 'काम, शासन और आराम के लिए शिमला सबसे उत्तम है।' परन्तु आजकल जबकि प्रत्येक पहाड़ी स्थान अपने आपको चारों ओर से सूखे जीवन (ennui) से बचाने के लिए प्रयत्न कर रहा है, तब यह अति संदिग्ध है कि ऐसे स्थानों का वायुमंडल *कठोर और ईमानदारी के काम के लिए अनुकूल है*।" इसी प्रकार लिखते हुए उसने आगे, आजकल के सहभोजों में जिस चंचलता और भोगमय जीवन का प्रकाश होता है, उसकी कड़े शब्दों में समालोचना की है। 'पायोनियर' की इस सचाई को दृष्टि में रखते हुए यह कहना कठिन नहीं है कि इन्हीं *सहभोजों और नाचों के निरन्तर चक्कर में व्याप्त* रहने के कारण ही, शायद गतवर्ष भारत सरकार ने पंजाब की घटनाओं की बिना जाँच-पड़ताल किए, ओडवायर के कहने से ही वहाँ पर मार्शल लॉ जारी कर दिया था। 'शिमले के देव' तो पायोनियर की इस सचाई को पढ़कर शायद ही कहेंगे कि "नादान दोस्त से दाना दुश्मन अच्छा है" परन्तु हम तो समझते हैं कि "सुबह का भूला शाम जो घर पहुँच जावे" तो भी भला ही है।

[श्रद्धा, 11 जून, 1920]

मित्र दल की स्वार्थमयी नीति

युद्ध से पूर्व और युद्ध के दिनों में भी मित्र दल का सदा यही दावा रहा था कि वह छोटी जातियों की रक्षा और स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहा है। सन्धि की कड़ी शर्तों द्वारा जर्मनी को कुचलते हुए भी यही दम भरा गया था परन्तु हम देखते हैं कि स्वयं मित्रदल 'लीग ऑफ नेशन' के परदे के पीछे कोई और ही खेल रच रहा है। 'अत्याचारी' जर्मनी यद्यपि जमीन पर चारों खाने चित्त पड़ा हुआ है पर उसकी स्पिरिट, फिर भी मित्र दल में काम करती प्रतीत होती है। यही तो कारण है कि इंग्लैंड ने चुपके से एशिया, मैसोपोटामिया, पैलिस्टाइन और जर्मन, साउथ अफ्रीका के बहुत सारे हिस्से पर काबू कर लिया है, और फ्रांस ने सीरिया तथा साउथ अफ्रीका के कुछ भाग को 'शासनाधिकार' (Mandate) के नाम से अपने चंगुल में फाँस लिया है। ठीक है 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे, पर जो आचरहिते नर न घनेरे।' अब समाचार आया है कि बैलिजियम डेपुटेशन जर्मन-अफ्रीका के 'रुआंडा' और 'उरुंडि' नामक स्थानों को अपनी छत्रछाया में रखकर उन्हें सभ्य बनाने की इच्छा से आजकल इंग्लैंड में आया हुआ है और आशा की जाती है कि उसकी प्रार्थना लगभग स्वीकृत हो जावेगी। 'एक ही तवे की रोटी, क्या छोटी क्या मोटी' वाली कहावत के अनुसार बैलिजियम भी तो इन जैसा ही है। हम मित्र दल की इस स्वार्थपूर्ण नीति की कभी प्रशंसा नहीं कर सकते।

[श्रद्धा, 11 जून, 1920]

भावी कार्यक्रम : तीसरा पग

गत अंक में हम यह भली प्रकार दर्शा चुके हैं कि सुधार स्कीम के अनुसार बनने वाली कौन्सिलों में हमें जो अपने प्रतिनिधि भेजने चाहिए, उनमें क्या-क्या गुण आवश्यक हैं। परन्तु उस विचार को अलग रखते हुए भी हमें, एक और दृष्टि से, उत्तम से उत्तम पुरुष ही कौन्सिलों के लिए चुनने चाहिए।

इस समय देश में प्रधानतया पाँच प्रकार के आन्दोलन हो रहे हैं; धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, शिक्षा-विषयक और श्रमी दल सम्बन्धी जैसे हड़ताल आदि। यद्यपि ये आन्दोलन भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं परन्तु वस्तुतः ये हैं एक ही। क्योंकि इन सबके आधार में काम करने वाले मौलिक सिद्धान्त एक ही है। परन्तु फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि बिखरे हुए मोती के इन दानों को एकता रूपी सूत्र में पिरो देना साधारण बुद्धिमत्ता का काम नहीं है। ये आन्दोलन सफलतापूर्वक बढ़ते जाएँ, इनमें कहीं 'टाकरा' न हो, कहीं आपस में ऐसी रगड़ न लग जावे, जिससे विरोध की चिनगारी पैदा हो और समय के प्रवाह के साथ-साथ इन चारों क्षेत्रों में लगी हुई हमारी शक्तियाँ समभाव से और समरूप से विकसित होती जावें–इसके लिए अत्यन्त योग्यता, दृढ़ता और दूरदर्शिता की आवश्यकता है। यदि हम भारत के पिछले 10 वर्षों की जागृति के अनुभव से लाभ उठावें–जैसा कि हमें अवश्य चाहिए–तो हम यह बिना किसी हिचकिचाहट के कह सकते हैं कि अभी तक हमारे देश में ऐसे योग्य, उत्तम और विद्वान पुरुष अँगुलियों पर गिनने लायक ही हैं। इस बात का महत्व तब और बढ़ जाता है जबकि हम यह सोचते हैं कि यदि अयोग्य पुरुष कौन्सिलों में चले गए तब वे शैशवास्था में गुजरते हुए इन आन्दोलनों को आपस में न केवल लड़ा ही देंगे किन्तु अपनी मूर्खता और अदूरदर्शिता के कारण उन्हें रौंध देंगे। इसलिए हमें इस बात का भरसक प्रयत्न करना चाहिए कि हम कौन्सिलों में उन्हीं पुरुषों को जाने दें जिनका हम पिछले अंक में वर्णन कर चुके हैं।

परन्तु यह तब तक नहीं हो सकता जब तक कि चुनने वाले अर्थात् निर्वाचक मंडल उत्तम और योग्य पुरुषों द्वारा संगठित न हों। कौन्सिलों की उम्मीदवार की जहाँ योग्यता अपेक्षित है वहाँ, दूसरी ओर, उन्हें भेजने वाले की योग्यता और

दूरदर्शिता कुछ कम आवश्यक नहीं है।

परन्तु, शोक है, कि इस विषय में हमारा देश बहुत पिछड़ा हुआ है। साधारण साक्षरता जहाँ हमारे देश में 5 प्रतिशत से कुछ ही अधिक हैं वहाँ राजनैतिक शिक्षा तो हमारे देश में बहुत ही कम है। हम यह अपने अनुभव से कह सकते हैं कि अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे नवयुवक और ग्रेजुएट तक भी राजनीतिक शिक्षा में बिलकुल कोरे हैं। उन्हें नहीं मालूम कि हमारी आधुनिक राजनैतिक दशा क्या है; देश में क्या आन्दोलन हो रहा है; हमारी क्या माँगें हैं और क्या अधिकार हैं; भारत के गम्भीर और महत्त्वपूर्ण प्रश्न क्या हैं; अंग्रेजी सरकार की शासन-पद्धति क्या है और नौकरशाही किस तरह हमें सदा अपने अंकुश के नीचे रखती है। ऐसे ही शिक्षित व्यक्ति हमारे व्यवहार में आए हैं जो यद्यपि सुधार स्कीम के अनुसार बननेवाली कौन्सिलों में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार रखने के कारण निर्वाचक मंडल के सभासद हैं परन्तु उन्हें इस स्कीम का महत्त्व, इसके प्रस्ताव, इसके कायदे-कानून और इनके औचित्य-अनौचित्य के विषय में तनिक भी ज्ञान नहीं है। यही अवस्था अन्य धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों के विषय में भी है जिनमें कि वे सर्वथा अशिक्षित हैं। हमारा यह कथन अत्युक्तिमात्र न समझना चाहिए कि भारत में ऐसी शिक्षा शून्य (साक्षरता नहीं किन्तु धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक शिक्षा) पुरुषों की संख्या कुछ कम नहीं है।

जब निर्वाचक मंडल के अधिकांश सभ्यों की ऐसी शोचनीय दशा है तो वे उत्तम पुरुषों को चुन सकेंगे, योग्य व्यक्तियों को पुष्ट कर सकेंगे; धार्मिक-अधार्मिक और विद्वान-अविद्वान को परख सकेंगे और ब्रह्मचारी-अब्रह्मचारी उम्मीदवारों को ठीक कसौटी पर परख सकेंगे—ऐसी आशा स्वप्न में भी नहीं की जा सकती थी।

इस शोचनीय दशा को दृष्टि से ओझल करते हुए हमारे लिए यह बताना कठिन नहीं है कि तीसरा पग हमें किधर उठाना चाहिए। इस विषय में कुछ एक क्रियात्मक सलाहें हम ये देंगे कि :

(1) प्रत्येक ग्राम और नगर में ऐसी सभा-समितियाँ स्थापित हो जाएँ जिनका एकमात्र उद्देश्य उपर्युक्त प्रकार की सार्वजनिक शिक्षा फैलाना ही हो। अच्छा हो यदि ये समितियाँ अपना काम मुफ्त में करें। इसका एक उपाय यह हो सकता है कि जिस प्रकार निरक्षरों को साक्षर बनाने के लिए 'रात्रि पाठशालाएँ' खोली जाती हैं उसी प्रकार इन सार्वजनिक-शिक्षा शून्य पुरुषों को शिक्षित करने के लिए 'रात्रि पाठशाला' स्थापित की जावें जिनमें सर्वसाधारण को इन विषयों का साहित्य पढ़ाया जावे और इसके साथ-साथ समाचार पत्र भी पढ़ाए जावें। इन समितियों के पास एक उत्तम पुस्तकालय और वाचनालय भी अवश्य होना चाहिए।

(२) गतांक में हमने साधारण योग्यता के उम्मीदवारों को यह सलाह दी थी कि वे यदि सच्ची देश सेवा के भाव से ही कौन्सिल में जाना चाहते हैं तो उनसे बाहर रहकर ही वे इस शुभ काम को अधिक उत्तम रीति से कर सकेंगे। अब स्पष्ट हो जाता है कि उनके कर्म का क्षेत्र क्या है ? वे सर्वसाधारण में इस सार्वजनिक शिक्षा का, निःस्वार्थ भाव से प्रचार करें। लोगों को इस दृष्टि से शिक्षित करें कि जिससे वे उत्तम व्यक्तियों को ही चुन सकें। क्या यह कम महत्त्वपूर्ण काम है ?

(३) उत्तम व्याख्यान और शुद्ध साहित्य द्वारा सर्वसाधारण में इस प्रकार की सार्वजनिक शिक्षा के प्रति रुचि पैदा करने के साथ-साथ प्रचार भी किया जावे।

ये हैं, कुछ उपाय जिनसे हम ऊँचे दर्जे का लोकमत पैदा करने के साथ-साथ सर्वसाधारण को उत्तरदातृत्वपूर्ण शासन के योग्य बना सकेंगे।

हमें विश्वास है कि हमारे देश भाई इस गम्भीर प्रश्न पर पूर्ण विचार करते हुए तद्नुकूल आचरण भी करेंगे।

[श्रद्धा, 11 जून, 1920]

'अछूत' और 'पतित' शब्दों का बायकाट करो

आजकल अन्त्यजों को उठाने के लिए कई समाजों और संस्थाओं की ओर से जो इतने प्रयत्न हो रहे हैं, उन सबका ध्यान हम एक भूल की ओर खींचना चाहते हैं जोकि अभी तक वे कर रही हैं। वह यह कि इन 'अन्त्यजों' को 'अछूत' कहना एकदम छोड़ दें। इसका कारण यह है कि जब हम अपने भावों, लेखों और सम्मेलनों में बार-बार उनके लिए 'अछूत' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इससे जहाँ पढ़ने वालों और सुनने वालों के दिलों पर 'अछूतपन' का भाव दृढ़ होता जाता है, वहीं दूसरी ओर, जिनके हित और उद्धार के लिए हम इतना आन्दोलन करते हैं, वे अन्त्यज भी अपने आपको 'अछूत' ही समझते हैं। और जब तक इन लोगों की यह धारणा रहेगी कि 'हम अछूत हैं' और 'वे छूत हैं' तब तक ये अपने आपको गिरा हुआ ही विचार करते हुए कभी भी अपने आपको उत्तम करने का प्रयत्न नहीं करेंगे।

एक बात और है। आत्मसम्मान का भाव मनुष्यों को उठाने में बड़ा सहायक होता है। यदि किसी पतित मनुष्य को हम उसके पूर्वजों के नाम पर अपील करते हुए उसके आत्मसम्मान के भाव को उत्तेजित करें तो वह शीघ्र ही अपने आपको सँभालता हुआ अधःपतन से बच जाता है। इन छोटी जातियों में काम करते हुए भी हमें किसी सिद्धान्त का ख्याल रखना चाहिए। यह सोचना भ्रममात्र ही है कि इन लोगों के अन्दर आत्मसम्मान का कोई भाव ही नहीं है। गिरे से गिरे हुए मनुष्य में भी यह भाव, किसी न किसी अंश में अवश्य विद्यमान रहता है। इसलिए इन लोगों के प्रति अपने भावों को प्रकट करते हुए हमें कभी कोई ऐसा शब्द नहीं कहने चाहिए जिससे इनका आत्मसम्मान भाव दब जावे। इस क्षेत्र में काम करनेवाले ईसाई मिशनरियों में यह एक बड़ा भारी दोष है कि उनका ढंग उनके इस पवित्र और उच्च भाव को सर्वथा नष्ट करता है। यद्यपि इससे उनका अभिप्राय तो पूरा हो ही जाता है परन्तु उनका अनुसरण करनेवाले हमारे कुछ देशभाइयों की कार्यपद्धति से भी 'अछूत', 'पतित' इत्यादि अनुचित और हानिकारक भाव पूरे हो रहे हैं—यह अत्यन्त शोक की बात है। हमारे देश की कुछ जनसंख्या हमारे अपने शब्दों के प्रयोग के कारण यदि 'अछूत' और 'पतित' आदि भ्रष्ट शब्दों से सभ्य जगत में याद की जावे तो इसका सम्पूर्ण दोष हम पर ही है। इसके लिए भयंकर

भूल से बचते हुए हमें भविष्यत् में अपने इन देशभाइयों के प्रति किसी भी भाषा, लेख वा सम्मेलन में अछूत, पतित इत्यादि बुरे शब्दों का कभी भी प्रयोग न करते हुए इनका बायकाट ही कर देना चाहिए।

प्रसंगवश, हम यहाँ एक और बात कह देना चाहते हैं। अन्त्यजों में काम करनेवाले मिशन का यह प्रधान कर्तव्य होना चाहिए कि वे इन्हें अपने पाँव पर खड़ा होना सिखावें। ऐसे ढंग कभी भी काम में न लावें जिससे उन्हें फिर, अपने से ऊपर होनेवाले वर्णों का मुहताज होना पड़े। इस बात को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि जब तक किसी व्यक्ति के अन्दर स्वयं, उन्नति करने और अपने पाँव पर खड़े होने की इच्छा न हो तब तक किसी और द्वारा किए गए बाहर के प्रयत्न सर्वत्र निष्फल होते हैं। भारत का गत 15 वर्ष का राजनैतिक जीवन हमें यही शिक्षा दे रहा है। अब पिछले कुछ दिनों से, भारत में जागृति जो इतने चिन्ह प्रकट हो रहे हैं उसका एक मात्र कारण यह है कि हमारे अन्दर अपने को उठाने और अपने पाँव पर खड़ा होने की इच्छा पैदा हो गई है। परन्तु यह इच्छा भी जब तक पैदा नहीं हो सकती जब तक कि हम अपने आत्मसम्मान के भाव को सुरक्षित न रखें। इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए और अपने इस साढ़े छह करोड़ देशभाइयों के अन्दर इस पवित्र और उच्च भाव को खूब बढ़ाने का प्रयत्न करते हुए हमें अपनी ओर से कभी ऐसे शब्दों का प्रयोग, भूलकर भी नहीं करना चाहिए जिससे इन भावों पर पाला पड़ जावे।

[श्रद्धा, 11 जून, 1920]

गुरुकुल परिवार में एक नई सन्तान की उत्पत्ति

पिछले दिनों ही हुई है—गुरुकुल परिवार में एक नई सन्तान की उत्पत्ति। रोहतक जिले में पहले मटोंडू ग्राम के पास गुरुकुल विश्वविद्यालय की शाखा खुली हुई है। उसमें इस समय 60 छात्र शिक्षा पा रहे हैं। उस शाखा का वार्षिकोत्सव गत चैत्र मास (सं. 1977) की समाप्ति पर हुआ था। उस समय रुपए 7000/- के लगभग रोक धन जमा हुआ था तथा अनाज और धन की प्रतिज्ञाएँ हुई थीं। उस शाखा गुरुकुल का प्रबन्ध गुरुकुल के पुराने स्नातक पंडित पूर्णदेव जी कर रहे हैं और वहाँ की प्रबन्धक सभा का कहना था कि उस प्रान्त के सब भूमिपति उनके कार्य से वहुत सन्तुष्ट हैं। रोहतक प्रान्त 'हरियाणा' के नाम से प्रसिद्ध है। इसलिए मैंने उस संस्था का नाम 'मध्य हरियाणा गुरुकुल' रखा है। इसी रोहतक प्रान्त में दूसरा गुरुकुल झज्झर आर्यसमाज के पूर्व मन्त्री श्री पं. विश्वम्भर जी खोलना चाहते थे। उन्होंने भूमि भी खरीद ली थी, इमारतों का सामान भी तैयार कर लिया था और मेरे इस कहने पर कि यदि 50,000/-का स्थिर कोष जमा करने के अतिरिक्त वह आवश्यक मकान (पाठशाला तथा आश्रम के लिए) बनवा देंगे तब मैं उसे गुरुकुल विश्वविद्यालय की शाखा स्वीकार करूँगा, पं. विश्वम्भर जी कलकत्ता गए और 6000/- रुपए नकद लाने के अतिरिक्त 30,000 रुपए की प्रतिज्ञाएँ लाए। परन्तु जब पीछे से दानियों ने इनकार कर दिया तो उनके हृदय पर ठेस लगी और उन्हें अपने शरीरादि की सुध भी भूल गई। इस भावी गुरुकुल का नाम पं. विश्वम्भर जी ने ही 'दक्षिण हरियाणा गुरुकुल' रखा था। पं. विश्वम्भर जी ने उस प्रस्तावित गुरुकुल के सब पत्र तथा हिसाब आदि गुरुकुल कांगड़ी के कार्यालय में दे दिए हैं और यदि उसके सम्बन्ध का सब धन, जो 10,000 के लगभग है, वसूल हो जावे और कलकत्ता वाले दानी एक ब्राह्मण की प्रतिज्ञा को पूर्ण करना अपना धर्म समझें तो वह गुरुकुल भी खुल जाएगा।

तीसरे गुरुकुल का हरियाणा प्रान्त में हाल में ही जन्म हुआ है। गुठाला उप जाति के जाट भूमिपतियों से चौधरी फूलसिंह और उनके साथियों ने प्रतिज्ञाएँ कराके मुझे सूचना दी कि वह अपना जुदा गुरुकुल खोलना चाहते है। मैंने उन्हें उत्तर दिया कि यदि वह 50,000 रुपए स्थिर कोष के लिए एकत्र करके गुरुकुल कांगड़ी के द्वारा

सूद पर चढ़वा दें और आवश्यक मकानात बनवा दें तो मैं उनकी खोली हुई शाखा को प्रधान गुरुकुल की शाखा स्वीकार करा दूँगा। इसको चौधरी फूल सिंह तथा अन्य सरदारों स्वीकार किया। 'मध्य हरियाणा गुरुकुल' के जलसे से लौटते हुए मैं इन नए सम्बन्धियों के साथ भूमि देखने आया। भैंसवाल ग्राम में 190 बीघा भूमि मानो प्रकृति ने इसी गुरुकुल के लिए सुरक्षित रखी हुई थी। जैसे भूमि चौरस और वृक्षों से लदी हुई है। वैसी ही लम्बी-चौड़ी और चौरस भी है। भूमि के मध्य में एक कच्चा तालाब है। जिसके पक्के घाट बनाकर बड़ा उत्तम शान्ति सरोवर बन सकता है।

मैंने उस स्थान को उत्तम समझकर वहाँ ही गुरुकुल खोलने की सम्मति दी। मालूम हुआ कि चौधरी पासीराम जी आनरेरी मजिस्ट्रेट, जो गुठाला बिरादरी के शिरोमणि सरदार समझे जाते हैं, एक कूप बनाने को 1000 रुपए देंगे और सर्वथा गुरुकुल की सहायता करेंगे। मैं चला आया ओर पुरुषार्थी सज्जनों ने काम शुरू किया। 31 मई से गुरुकुल की प्रतिष्ठा के लिए उत्सव आरम्भ हुआ। उसी दिन कलकत्ता से सीधा भैंसवाल मैं पहुँचा। और 2 जून को भी जलसा हुआ। 51 ब्रह्मचारी प्रविष्ट हुए जिनकी संरक्षा का भार गुरुकुल के नए स्नातक पंडित शान्तिस्वरूप वेदालंकार ने उठाना स्वीकार किया। पहली जून को अपील कर पौने तेरह हजार चाँदी के रुपए प्राप्त हुए जिनसे एक बड़ा बटलोआ भर गया। 2 जून को प्रविष्ट ब्रह्मचारियों का वेदारम्भ संस्कार हुआ। और धन की अपील से फिर लगभग 7000 रुपए प्राप्त हुए। यद्यपि विवाहों के जोर-शोर के मारे लोग पूरे बल से नहीं आ सके परन्तु फिर भी इतनी भीड़ थी कि उसे बड़े हजूम को उपदेश सुनाने में छाती फटती थी। देवियों का उत्साह और उनकी अटूट श्रद्धा अनुकरणीय थी। देवियाँ सिरों पर मीठे जल के बन्टे धारण किए सुन्दर गीत गाती हुई सभा मंडल में पधारी और पुरुषों की प्यास की औषध इकट्ठी कर दी। मुझे पहले से मालूम है कि हरियाणा के जाट क्षत्रियों की माताएँ, बहनें और पुत्रियाँ बड़ी शुद्ध आचार की स्वामिनी हैं, और जब मैंने इनमें गुरुकुल के लिए असीम श्रद्धा देखी तो मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि उत्तर हरियाणा का गुरुकुल शुद्ध ब्रह्मचारी घड़कर उन्हें सच्चे द्विज बनाने में अवश्य कृतकार्य होगा।

और इस स्थान में एक बात मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। मेरे पास कुछ ऐसे पत्र आते हैं जिनमें विविध स्थानों में गुरुकुल की शाखाएँ खोलने का विचार प्रकट किया जाता है। मैं ऐसे भाइयों को सम्मति दूँगा कि यदि ऐसा विचार हो तो पहले 50,000/- तो कम से कम स्थिर कोष में जमा कर लिया करें और कम से कम 25,000/- की इमारत बनवा लिया करें जिसका नक्शा मैं तैयार कर रहा हूँ। फिर यदि उस इलाके के लोग ब्रह्मचारियों के लिए पर्याप्त अनाज प्रतिवर्ष जमा कर देने की प्रतिज्ञा कर लें तो शाखा गुरुकुल खोलकर कष्ट न होगा और प्रविष्ट छात्रों की रक्षा भी ठीक हो सकेगी।

[श्रद्धा, 11 जून, 1920]

यदि इतना समय अपने सुधार में लगाया जाता

जब कभी कहीं दो से अधिक आर्यसमाजिक सज्जन इकट्ठे होते हैं तो उनमें यही चर्चा छिड़ती है कि आर्यसमाज रसातल को जा रहा है--उसका सुधार करना चाहिए। मेरे पास पिछले दिनों एक पत्र आया जिसमें लिखा था कि आर्य लोगों में केवल नवग्रहों की पूजा न करना ही वैदिक विवाह का आदर्श समझा जाता है, उनमें और कोई भी वैदिक रीति नहीं होती। मैंने उत्तर में उन्हें दस ऐसे विवाह गिना दिए जिनमें बहुत-सा सांसारिक कष्ट सहन करते हुए भी वैदिक आदर्श नहीं तोड़ा गया था। अभी मैं आर्यसमाज के महोपदेशक पंडित पूर्णानन्द जी की पुत्री के विवाह संस्कार से लौटा हूँ। उसमें वर और कन्या की आयु तथा उनका स्वयं प्रतिज्ञा मन्त्र पढ़ना तथा बिना दूसरे की सहायता से उनके अर्थ सुनाना उपस्थित सज्जनों और देवियों के हृदयों को अल्हाद से भरपूर कर रहा था। संस्कृत के दिन थे, जब हिन्दुओं में विवाह वर्जित और आनन्द से विवाह की विधि बताई जा रही थी। मैंने अपने सम्बोधक महाशय को सब कुछ लिखकर अन्तःप्रेरणा की कि जब उन्हें अपना विवाह करने का अवसर प्राप्त हो (क्योंकि वह कुमार हैं) तो उन्हें अपनी अनुभव की हुई त्रुटियों से बचना चाहिए। और पत्र की समाप्ति पर यह प्रार्थना की--''तुझको पराई क्या पड़ी अपनी नबेड़ तू।''

आर्यसमाज उन्नति नहीं कर रहा, आर्यसमाज गिर रहा है, आर्यसमाज में जीवन नहीं है--यह पुकार आर्यजगत के चारों ओर से उठ रही है। आर्यसमाज क्यों उन्नति नहीं कर रहा ? उत्तर मिलता है कि इसमें स्वाध्याय की कमी है। मेरी ओर से फिर प्रश्न होता है क्या आप नियमपूर्वक स्वाध्याय करते हैं--तब तो बगलें झाँकने के सिवा कोई जवाब नहीं मिलता। ''जी, मुझे यह काम, वह काम; समय नहीं मिलता इत्यादि।'' अरे भाई ! गप्पाष्टक के लिए समय मिलता है दूसरों पर झाड़ें डालने का समय मिलता है; अपने सुधार के लिए समय नहीं। स्वाध्याय सब ठीक है परन्तु द्विज के लिए सर्वोत्तम तथा आवश्यक स्वाध्याय वेद का है। मनुस्मृति में लिखा है--''**योऽनधीत्यद्विजो वेद मन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शुद्रत्वभाशुगच्छति सान्वयः।।**''

जो द्विज वेद को बिना पढ़े अन्य में श्रम करे वह जीता हुआ ही वंश के

सहित शूद्रता को प्राप्त होता है। मैंने ऐसे धुरन्धर गुणधर्म से ब्राह्मणत्व का अभिमान करनेवाले देखे हैं कि जिन्हें बरसों तक विद्वानों से वेदांग पढ़ने का सुअवसर प्राप्त था पर उन्होंने मूल वेदों तक पहुँचाने का यत्न न किया और यदि वे उपन्यासों और गप्पाष्टकों से आधा समय भी बचा लेते तो आज वेद के अध्यापक बन सकते। अब भी जितना समय स्वाध्याय के उपदेश सम्बन्धी लेख लिखने और वकृता देने में व्यय होता है उसी का उपयोग वैदिक व्याकरण तथा निरुक्तादि के अध्ययन में लगावें तो कितना वास्तविक लाभ आर्यसमाज को पहुँचाने की तैयारी कर सकें।

आर्यसमाज गिर रहा है। इसमें प्रमाण क्या ? सदाचार की परवाह नहीं की जाती, कर्मकांड पर ध्यान नहीं दिया जाता। यह सब कुछ सच है, परन्तु आपके दुहाई देने से सारे आर्यसमाज में सदाचार का प्रसार, कर्मकांड का प्रचार और वैदिक सिद्धान्तों की रक्षा हो जाएगी। यदि दूसरों में दस छिद्र हैं तो पाँच आप में भी तो हैं–क्यों न उन्हीं को रफू करने में सारा बल लगा दो। क्या आप कर्मकांड में पूरे उतर चुके हो ? यदि नहीं तो अपने आपको पूर्ण करने में लग जाओ। क्या आपने सब वैदिक सिद्धान्तों के मर्म को समझ लिया है ? यदि नहीं तो उनके रहस्य को समझने की योग्यता सम्पादन करने में परिश्रम करो।

आर्यसमाज में जीवन नहीं। इसका क्या प्रमाण ? यही कि आत्मविद्या की प्यास लेकर जो आर्यसमाज में प्रवेश करते हैं उनके लिए आत्मोन्नति और योगाभ्यास के साधन का कोई स्थान नहीं। यह ठीक है, परन्तु ऐसे स्थान का निर्माण कौन करेगा ? क्या आकाश के देवता अपने मोक्ष में परमानन्द को छोड़कर मर्त्यलोक में उतर आएँगे ? जब-जब धर्म का बहुत ह्रास हुआ, तब-तब ही किसी मुक्तात्मा ने शरीर धारणकर हमें सीधा मार्ग दिखाया। उस मार्ग के दर्शक आप ही क्यों न बनो। जो समय हाल पुकार में लग रहा है वह स्वयं अमर जीवन की ओर चलने में क्यों न लगे। मैं फिर भी कहता हूँ–''तुझको पराई क्या अपनी नबेड़ तू।'' परन्तु उधर से उत्तर मिलता है–''आर्यसमाज के आचार्य ने हमें इस समाज का मुख्योद्देश्य संसार का उपकार बतलाया है, इसलिए संसार को सीधे मार्ग पर चलाना हमारा परम धर्म है, उसे हम कैसे त्याग दें ?'' मैं कब कहता हूँ कि आप अपना धर्म त्याग दो, परन्तु इतना अवश्य विचार लो कि पर उपदेश कुशलता में ही रत रहने का नियम के प्रचार से संसार का उपकार किसी अंश में हो भी सकेगा वा नहीं। यदि आपका परम धर्म संसार का उपकार करना है तो अन्य आर्यों का भी तो धर्म यही है। तब वह भी तो 'पर उपदेश' में ही लग जावेंगे। तुमने उनके छिद्र बतलाओ, वे तुम्हारे छिद्र बतलाएँगे ओर इन सबके धर्मपालन रूपी युद्ध में क्या आर्यसमाज अधिक अवनति तो न कर बैठेगा ? यह विचारणीय बात है। तब क्या किया जाए ? मान लो कि आर्यसमाज की जनसंख्या दस लाख है। इनमें से जिस किसी को भी आर्यसमाज में शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति

का अभाव दिखाई दे वह अपने अन्दर की निर्बलताओं को दूर करने का प्रयत्न आरम्भ कर दे। दूसरों का सुधार शायद वह बड़े यत्न से भी न कर सके परन्तु अपना सुधार निश्चित रूप से कर सकेगा। यदि अपने सुधार में कृतकार्य हुआ तो एक लव (बटा) दस लाखवें भाग का सुधार हो गया, परन्तु यदि जन्म भर अन्य संसार के उपकार के केवल गीत गाता रहा तो संसार अपनी वर्तमान स्थिति से हिलेगा भी नहीं।

फिर एक बात और भूलने योग्य नहीं है। शराबी के उपदेश से क्या किसी ने शराब छोड़ी है ? कबाबी की नसीहत से क्या किसी माँसाहारी ने गोवध छोड़ा है ? हुकई पिता क्या अपनी सन्तान को हुक्के की विष का वर्णन कर उसकी जहर से बचा सका है ? अन्धे को अन्धा कैसे मार्ग दिखाएगा ? जब स्वयं कर्मशील नहीं हो तो दूसरों के लिए तुम्हारा कर्मण्यता का उपदेश कब फलदायक होगा ? इसलिए आवश्यक यह है कि वाणी और लेखनी को इस अंश में, कुछ काल के लिए विश्राम देकर सब भाई अपने सुधार में लग जाएँ। फिर उनके जीवन दिन-रात उपदेश दिया करेंगे।

[श्रद्धा, 18 जून, 1920]

वर्ण विभाग की नई व्यवस्था

आजकल आर्यसमाज के नव-ब्राह्मणों ने एक नई व्यवस्था देनी शुरू कर दी है। उनका कहना है कि जब वर्ण-व्यवस्था का मूल सिद्धान्त श्रम-विभाग है तो एक ही मनुष्य पर ज्ञान और कर्तव्य दोनों का बोझ डालना ठीक नहीं। उनका कथन है कि ब्राह्मण का काम ज्ञान प्राप्त करके दूसरों के लिए उपदेश देना ही है, उस उपदेश के अनुसार चलना दूसरों का काम है। वे कहते हैं कि ब्राह्मण वेद के अनुसार उपदेश देगा कि राज स्वदेशी और प्रजातन्त्र होना चाहिए, परन्तु इन कार्यों को पूरा कराने में उसे कोई भी नहीं लेना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार मनुष्य की बनावट में सिर, बाहु, जंघा और पैर अलग-अलग हैं इसी प्रकार मनुष्य समाज में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के काम अलग-अलग हैं। परन्तु फिर भी जैसे एक मनुष्य को ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म करने पड़ते हैं उसी प्रकार मनुष्य समाज के भी ब्राह्मणत्व प्रधान राष्ट्रों को भी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के काम भी सरंजाम देनें पड़ते हैं।

मनुष्य समाज के जिस अंग (अर्थात जाहि) को हम ब्राह्मण पद का अधिकारी समझें क्या उसमें क्षत्रियत्व और वैश्यत्व के गुण-कर्म का अभाव होने पर उसका अस्तित्व भी रह सकता है ? यही हाल व्यक्तियों तथा अन्य मनुष्यकृत संस्थाओं का है। यदि एक मनुष्य का सिर केवल ज्ञान प्राप्त करके वाणी द्वारा उसका उपदेश ही करके बैठ जाए और उसकी भुजाएँ सिर की रक्षा न करें और उरू शरीर का पालन न करें तो फिर ज्ञान का उपदेश भी कैसे हो सकेगा। इसी प्रकार यदि आर्यसमाज केवल वैदिक ज्ञान के मौखिक प्रचार पर ही सन्तुष्ट बैठ जाए और उस ज्ञान को कर्तव्य में लाने का प्रयत्न न करे तो वह अपने मुख्योद्देश्य में भी कृतकार्य नहीं हो सकता। मेरी सम्मति में आर्यसमाज एक पूर्ण समाज तभी कहला सकता है जब कि उसमें चारों आश्रमों और चारों वर्णों की व्यवस्था और उनकी रक्षा का साधन विद्यमान हो।

[श्रद्धा, 18 जून, 1920]

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा क्या कर रही है ?

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के उद्देश्य बड़े विस्तृत हैं, परन्तु जितने ही उसके उद्देश्य विस्तृत हैं उससे भी बढ़कर इसका कार्यक्षेत्र संकुचित रहा है। यदि ठीक सम्मति दी जाए तो नाममात्र काम भी इसने नहीं दिया। और तो क्या होना है। साधारण वार्षिक अधिवेशन में पर्याप्त उपस्थिति होना तो एक ओर रहा, अन्तरंग सभा का 'कोरम' पूरा करने के लिए भी हाथ-पैर मारकर रह जाना पड़ता है। दोनों अधिवेशन 6 जून के लिए बुलाए गए थे। पाँच अंतरंग सभासद दिल्ली पहुँच जाते तो कुछ काम हो जाता; चार ही इकट्ठे हुए। प्रान्तिक सभाओं के काम इसलिए होते हैं कि वहाँ प्रान्तिक स्वार्थ काम करता है, सार्वदेशिक सभा का काम सब प्रान्तों का सम्मिलित काम है, इसलिए किसी का भी काम नहीं है। अस्तु, साधारणतया अन्तरंग सभा के अधिवेशन चाहे हों वा न हों, कुछ काम हो रहा है जिसका समाचार आर्य सज्जनों तक पहुँचाना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

कन्या गुरुकुल खोलने के लिए श्री सेठ रग्घूमल जी ने यही निश्चय किया है कि सार्वदेशिक सभा की ओर से ही यह संस्था चले। जो बड़ा भारी ट्रस्ट वह स्थापित करना चाहते हैं उसके साथ इस संस्था का सीधा रास्ता कोई न होगा और एक लाख इसके लिए अलग से पूरा कर दिया जाएगा। इसलिए 'बदरपुर' तथा 'तुगलकाबाद' के समीप ही 350 बीघे के एक टुकड़े का सौदा हो गया है और डिपुटी कमिश्नर दिल्ली की आज्ञा मिलते ही वह खरीद लिया जावेगा। 10,000 रुपया श्री सेठ रग्घूमल जी ने नकद दे दिया है, जमीन खरीदते ही इमारत शुरू हो जाएगी। और बाकी रुपया भी आ जावेगा। विचार यह था कि अभी किराए का मकान लेकर कन्याएँ प्रविष्ट कर ली जावें, परन्तु कोई भी उचित स्थान दिल्ली नगर के बाहर नहीं मिला, इसलिए इमारत बनने के पीछे ही कन्याओं का प्रवेश ठीक है।

दूसरा काम मद्रास में वैदिक धर्म का प्रचार है। इसके लिए तीन वर्षों से एक योग्य उपदेशक भेजने की स्वीकृति थी परन्तु जिन प्रान्तिक सभाओं पर रुपए की ढालबाच की गई थी उन्होंने सार्वदेशिक सभा की अपील का कुछ उत्तर नहीं दिया था। अब पंजाब की सभा ने अपनी प्रतिज्ञा की हुई रकम भेज दी है, संयुक्त

प्रान्त की सभा उतना ही भेजने को तैयार है, इसलिए गुरुकुल कांगड़ी के एक योग्य स्नातक को मद्रास प्रचार के लिए भेज दिया गया है। उसके अतिरिक्त दो अन्य स्नातकों को भी भेज सकता हूँ यदि धन पर्याप्त हो। मद्रास के कई नेताओं ने मुझे प्रेरित किया है कि मैं अपने प्रचारक अधिक संख्या में भेजूँ क्योंकि उनकी सम्मति में मद्रास के 'अब्राह्मणों' को वहाँ के 'नामधारी ब्राह्मणों' के अत्याचार से यदि कोई शक्ति मुक्त करा सकती है तो वह आर्यसमाज की संस्था ही है। मुझे इस काम के लिए इस समय यदि 5000 रुपए भी मिल जावें तो न कवेल काफी धर्म-प्रचारक ही भेज सकूँगा, प्रत्युत कुछ समय आगामी गुरुकुलीय दीर्घावकाश में से निकालकर स्वयं भी एक चक्कर उधर लगाऊँगा। मनुष्य सुधार के प्रेमी अन्य पत्र-सम्पादकों से भी प्रार्थना है कि मेरी इस अपील को अपने ग्राहकों तक भी पहुँचा दें।

[श्रद्धा, 18 जून, 1920]

स्वराज्य की योग्यता का प्रमाण

अभी 3 सप्ताह नहीं हुए कि पायोनियर में मैंने एक नोट देखा। लिखा था कि संसार में सब स्थानों में गेहूँ की उपज कम हुई है। एक भारतवर्ष ही है जिसमें आवश्यकता से अधिक उत्पत्ति हुई हैं मेरा माथा उसी वक्त ठनका था। अब लिखा जा रहा है इंग्लैंड में गेहूँ कम है और भारतवर्ष में आवश्यकता से अधिक है; इसलिए सरकार गेहूँ खरीदना आरम्भ करेगी। इस पर चारों ओर से अपने कोई-कोई स्वदेशी पत्र, जिसको सुधार स्कीम के विचार से कुछ अवकाश मिलता है, शोर मचा रहा है कि यहाँ से गेहूँ बाहर नहीं जाना चाहिए। यह स्पष्ट है कि यदि गेहूँ बाहर गई तो भाव 3 सेर का ही हो जावेगा और असहयोगिता दिखलाने के प्रकारों में तो मतभेद है, परन्तु यह एक ऐसा विषय है जिस पर मतभेद नहीं हो सकता। नरम और गरम सब प्रकार के राजनैतिक दल, महात्मा गाँधी और लोकमान्य तिलक और जिनका कुछ भी प्रभाव देश में हो, क्यों न घोषणा पत्र निकाल दें और क्यों न सारे देश के किसान और व्यापारी एक स्वर से प्रतिज्ञा कर लें कि भारतवर्ष से बाहर जाने के लिए एक सेर भी अनाज नहीं बेचेंगे। स्वराज्य की योग्यता का प्रमाण इससे बढ़कर न दिया जा सकेगा। यदि इंडियन गवर्नमेंट कोई अत्याचारी कानून बनाके बलात्कार से गेहूँ खरीदना चाहे तो उस कानून को तोड़कर सत्याग्रह करना मातृभूमि की बड़ी सेवा होगी।

[श्रद्धा, 18 जून, 1920]

आर्यसमाज में एकता के शुभ चिन्ह !

संसार में चारों ओर परिवर्तन देखकर आर्यसमाज की भी आत्मा हिलने लगी है। जब से विश्वव्यापी घोर युद्ध आरम्भ हुआ था तब से ही मैंने यह घोषणा देनी आरम्भ की थी कि यदि यूरोप और अमरीका की लोभप्रधान सभ्यता को कोई शक्ति विजय कर सकती है तो वह आर्यों की प्राचीन सभ्यता है। जब तक लोभ के स्थान में निष्कमता का राज्य नहीं लाया जाता तब तक यूरोप और अमरीका में, और उसके साथ ही एशिया और अफ्रीका में भी शान्ति का राज्य नहीं आ सकता। आर्यसमाज के काम करने वालों को मैं विशेषतः जगाता रहा और उन्हें यह जतलाकर कि वे ही प्राचीन आर्यसभ्यता का पुनः प्रचार कर सकते हैं, उन्हें उत्तेजित करता रहा कि अपने तुच्छ वैयक्तिक द्वेषों को दूर कर एक मन से इस बड़े सुधार में लग जावें।

चार आषाढ़ के 'आर्य गजट' में जो मुख्य लेख निकला है, उसे देखकर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। लेख का शीर्षक है—'आर्यसमाज में इनकिलाब।' यह बतलाकर कि संसार में परिवर्तन हो रहा है और यह मानकर कि दुनिया और धर्म का एक ही रास्ता है, आर्य गजट के योग्य सम्पादक लिखते हैं कि "केवल आर्यसमाज पर ही रह-रहकर नजर उठती है" और आर्यसमाज ही इस आवश्यकता को पूरा करना चाहता है, मानते हैं कि उसके अन्दर भी एक बड़े परिवर्तन की भारी आवश्यकता है। वह परिवर्तन क्या होना चाहिए ? इसके उत्तर में सम्पादक आर्य गजट लिखते हैं—"आर्यसमाज में इनक़लाब लाने के लिए सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि आर्यसमाज एक हो जावे। आर्यसमाज इस समय बिखरा हुआ है, हर एक पार्टी अपनी अलहदा कोशिशों से अपनी शक्ति को लगभग बहुत कुछ खो रही है। इस समय अधिक शक्ति तो इस बात के लिए व्यय होती रही है कि हमारी पार्टी के आदमियों के साथ हमारे आदमी जुड़े रहें, हमारी सभा के साथ हमारी समाजें पूर्ववत् सम्बन्धित रहें।" इस अवस्था को आर्यसमाज की संस्था में बाधित बतलाते हुए सम्पादक महाशय लिखते हैं—"पार्टियों का बखेड़ा अब बहुत देर तक कायम नहीं रहना चाहिए अगरचे अब आपस में प्रेम-विश्वास की लहर चल रही है तो हम यह काँटा, यही पर्दा जो तरक्की के रास्ते में 'हायत' है क्यों न

दूर कर दिया जावे ताकि एक ही संगठन के लिए सारा काम हो सके।''

आर्य गजट के सम्पादक जी का यह प्रस्ताव बड़ा ही आवश्यक और सारगर्भित है। परन्तु इस प्रस्ताव को अमल में लाने के लिए आवश्यक है कि आर्यसमाज की सब पार्टियों के वास्तविक नेता मिलकर बातचीत करें और खुले दिल से परस्पर के द्वेषभाव को दूर कर दें। संवत् 1974 के अन्तिम मास में जब मैंने धर्म प्रचार के लिए पंजाब का दौरा किया था तो प्रत्येक स्थान में दोनों पार्टियों के आर्यपुरुष मिलकर एक हो जाने के लिए तैयार मालूम होते थे। फिर जब कार्तिक के अन्त में मैं अमृतसर की आर्यकुमार सभा के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुआ सो यह देखकर प्रसन्नता हुई थी कि दोनों पार्टियों के आर्यकुमार उस उत्सव को इकट्ठे मिलकर मना रहे थे। उस समय भी मेल का प्रस्ताव हुआ था और जाती अपील लेने पर मैंने यह जिम्मा लिया था कि यदि लाहौर में मुख्य नेता आपस में मिल जावें तो मुफस्सिल के सब आर्यसमाजों को मैं इकट्ठा कर दूँगा। मैं समझता हूँ कि इस समय भी उस नियम पर काम करने से सफलता हो सकेगी।

आर्यगजट के सम्पादक जी ने दो अंशों में और इनकलाब की जरूरत बताई है, एक यह है कि भारी विद्वान उपदेशक रखे जावें और दूसरे यह कि आर्यसमाज का बच्चा-बच्चा, आर्यसमाज के लीडर और आर्यसमाज के मेम्बर इसके उपदेशक और *प्रीचर* वैदिक धर्म की आग से अग्नि रूप बने हुए हों। और अन्त में वे लिखते हैं—''हम चाहते हैं कि यह इनकलाब यदि कल आना है तो आज आवे लेकिन अकेला इन्सान इनकलाब पैदा करने में असमर्थ है। आजकल मिलकर काम करने का वक्त है, संघ शक्ति में भारी ताकत है। यदि आर्यभाई सच्चे अर्थों में आर्यसमाज की जरूरत समझते हैं तो उन्हें अब मुर्दों की तरह नहीं रहना चाहिए और इस पर अपने विचार प्रकट करके और किसी खास नतीजे पर पहुँचकर आर्यसमाज में इनकलाब लिखना चाहिए ताकि हम दुनिया को पलट सकें।'' जब सम्पादक महाशय ने गोला छोड़ दिया है तो लेख तो निकलेंगे ही और दोनों ओर से निकलेंगे, परन्तु उनसे बहुत लाभ नहीं हो सकेगा। उत्तम यह है कि आर्यसमाज में शक्तिशाली प्रत्येक विचार के मनुष्यों के प्रतिनिधि स्वयं इकट्ठे होकर विचार करें। यदि वे सब सच्चे हृदय से किसी परिणाम पर पहुँचेंगे तो उनके साथ आर्यसमाज के सर्वसाधारण बिना *ननुनच* के सम्मिलित हो जावेंगे। यह मामला ऐसा साफ है कि इसके लिए युक्तियाँ पेश करने की कोई जरूरत मालूम नहीं होती। पंजाब के अन्दर यदि पार्टीबन्दी दूर होकर एक संगठन के नीचे सब काम होने लग जावें तो अन्य प्रान्तों के भी आर्यभाई आप से आप उनके पीछे लग जावेंगे।

कोई सुने वा न सुने यदि कोई अच्छा विचार अपने अन्दर आवे तो उसे प्रकट कर देना चाहिए। मेरी सम्मति में जो महानुभाव आर्यसमाज की बिखरी हुई शक्तियों को इकट्ठा कर सकते हैं, और यदि चाहें तो बिखेर भी सकते हैं, उन्हें

महात्मा हंसराज जी एक ओर, महाशय रामकृष्ण जी दूसरी ओर भली प्रकार से जानते हैं। यदि दोनों महाशय अपने पाँच-पाँच मन्त्रियों को इकट्ठा करके एक नामावली बना लें और अपने-अपने सहायकों के साथ विचार करें तो किसी अच्छे परिणाम पर पहुँचने की सम्भावना है। यदि वे महाशय जिनके नाम मैं भूल गया हूँ, बुरा न मानें तो में अपनी बुद्धिनुसार एक सूची दे देता हूँ–

कालिज पार्टी–(1) महात्मा हंसराज जी, (2) प्रिन्सिपल साईदास जी, (3) बख्शी टेकचन्द जी, (4) लाला रामप्रसाद जी बी.ए. (5) लाला देवीचन्द जी एम. ए. (6) पं. लखपत राय जी, हिसार, (7) लाला दुर्गादास जी वकील, (8) पं. भगवत्दत्त जी बी.ए.।

महात्मा पार्टी–(1) महाशय रामकृष्ण जी, (2) महाशय कृष्ण जी बी.ए. (3) प्रो. रामदेव जी (4) पं. विश्वम्भरनाथ जी, (5) रायबहादुर ठाकुरदत्त धवन, (6) राय रोशनलाल जी, (7) पं. ठाकुरदत्त शर्मा, अमृत धारा, (9) महाशय देवराज जी।

मैं इस विषय में भी अपनी सम्मति देना चाहता हूँ कि यदि किसी स्थिर एकता का विचार हो तो सबसे पहले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि आर्यसमाज के सभासद् बने रहने के लिए कौन-से सिद्धान्त मुख्य हैं जिनको मानना आवश्यक हैं, और कौन से गौण सिद्धान्त है, जिनसे मतभेद रखते हुए भी एक मनुष्य आर्यसमाज का सभासद् रह सकता है। जब तक इसका निर्णय न हो जावेगा, तब तक वैयक्तिक झगड़ों में सिद्धान्त के प्रश्न को बलात्कार से लाने का रोग दूर न होगा और सामूहिक एकता स्थिर न रह सकेगी। परन्तु इस विचार का संसार बनाने के लिए आवश्यक है कि कुछ विद्वान संन्यासी महात्माओं को भी शामिल किया जावे। सो अपने विषय में तो मैं पहले ही कह देता हूँ कि यद्यपि मेरा इस समय किसी विशेष पार्टी से सम्बन्ध नहीं है तथापि पुराने संस्कार दोनों दलों के आर्य समाजियों के दिलों में मौजूद ही हैं, इसलिए मेरे सम्मिलित होने से तो कोई लाभ नहीं होगा। मैं तीन नाम पेश कर देता हूँ, यदि उन महानुभावों को विचार में शामिल होने के लिए प्रेरणा की जा सके तो कुछ अच्छा परिणाम निकल जावेगा–(1) श्री स्वामी सर्वदानन्द जी संन्यासी, (2) श्री स्वामी सत्यानन्द जी संन्यासी, (3) श्री स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी संन्यासी।

एकता की आवश्यकता को आर्यपुरुष अनुभव करते हैं वा नहीं, इसी से सिद्ध हो जावेगा कि मेरे इस प्रस्ताव पर क्या अमल होता है।

[श्रद्धा, 25 जून, 1920]

बेगार की आसुरी प्रथा दूर होनी चाहिए

[1]

भूमिका

बेगार प्रथा का कोई भी चिन्ह वैदिक समय के इतिहास में नहीं पाया जाता। जब वेद इसके सर्वथा विरुद्ध हैं कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपना दास बना सके तो वैदिक काल में इसका पता कैसे लग सकता है। परन्तु इस समय भारतवर्ष में बेगार प्रथा का बड़ा प्रचार है। इसके लिए केवल ब्रिटिश गवर्नमेंट ही दोषी नहीं है क्योंकि जब भारतवर्ष में अंग्रेज दूकानदारों ने आकर अपना सिक्का जमाया था तो यह प्रथा पूरे तौर पर प्रचलित थी। इस विवेचना से कोई लाभ नहीं है कि यह घृणित प्रथा कब प्रारम्भ हुई और इसका जन्मदाता कौन था। यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि स्वतन्त्र जातियों की माता होते हुए भी ग्रेट ब्रिटेन ने इस आसुरी प्रथा को जड़मूल से न खोया प्रत्युत, इसको अपनी संरक्षा में ले लिया। हम बंगाल आदि के ब्रिटिश शासकों के विषय में पढ़ते हैं कि जिन ग्रामों से वे पालकी पर चढ़कर निकलते थे, उनके डर के मारे वे ग्राम मनुष्यों से खाली होकर सुनसान जंगल की तरह हो जाते थे।

परन्तु यह बेगार प्रथा भारतवर्ष में प्रचलित थी और ब्रिटिश गवर्नमेंट ने इसे अपनाया और करोड़ों आदमी, जो औरों से बढ़के नहीं तो उनके जैसे ही शरीर, मन और आत्मा रखनेवाले हैं, एक संगठित अत्याचार के पाँवों तले रौंदे जा रहे हैं। यह प्रथा न केवल मनुष्यों को ईश्वरदत्त अधिकारों से वंचित करके पशुओं से भी गिरा हुआ बना रही है, प्रत्युत मनुष्यों को सदाचाार से भी गिरा रही है। इस कुप्रथा के भयानक परिणाम राजा और प्रजा के सामने स्पष्टतया रखने के लिए मैं नीचे का पत्र-व्यवहार सर्वसाधारण के लिए आगे रखता हूँ।

गुड़गाँव के जिला साहब के नाम मेरा पत्र

"देहली, तारीख 27 मार्च, 1919

महाशय ! जिन्हें भूल से अछूत कहते हैं, अपने देश में उनकी धार्मिक तथा

सामाजिक स्थिति को ऊँचा करने में, मुझे बड़ी *मनोरंजकता* है। आपके अधीन जिले के कुछ ग्रामों में चमारों के बहुत से परिवार रहते हैं, जिनको देहली और इन्द्रप्रस्थ की अछूतोद्धार सभाओं ने अपने बराबर दर्जा दिया है। इन चमार परिवारों को पुलिस और तहसील सदैव बेगार के काम के लिए तंग करती रहती है। पिछले दिनों ही बल्लभगढ़ के तहसील के चपरासियों ने उनकी मारपीट की और स्वयं तहसीलदार ने उन्हें गालियाँ दीं और उन्हें बाधित होना पड़ा कि तहसीलदार के लिए दाना दलने और पुलिस के थाने पर विटिनरी सर्जन का सामान उठाकर ले जाने के लिए चमार मर्द और औरतों को किराया देकर भेजें। तहसील के चपरासियों की इन करतूतों का हाल देहली के दैनिक हिन्दी 'विजय' में निकल चुका है। जिसकी एक प्रति आपके अवलोकनार्थ भेजता हूँ। मुझे मालूम हुआ है कि गुड़गाँव जिले में सब चामारों से खुली बेगार जनता की सम्मति के विरुद्ध ली जाती है और उसकी जिम्मेवारी सरकारी अफसरों पर होती है।

''जहाँ तक मुझे मालूम है कोई भी कानून या नियम ऐसा नहीं जो चमारों वा ग्राम के अन्य *कमीनों* को सरकार नौकरों की बेगार में जाने के लिए बाधित करे। वे चमार भी जो मरे हुए जानवरों की खाल़ लेते हैं, उनका कर्तव्य ग्राम के मालिकों की ओर अवश्य है, परन्तु सरकारी नौकरों के लिए बेगार में काम करने का उनका कानूनी कर्तव्य नहीं है। मैं संन्यासी हूँ इसलिए मेरा धर्म है कि जो लोग अपनी आत्मिक अैर आचार सम्बन्धी स्थिति को उच्च बनाना चाहें, उन्हें सहायता दूँ। इन प्रान्तों के चमारों ने अपने प्रतिनिधियों द्वारा मुझे तहसील और पुलिस के अफसरों और सिपाहियों के जुल्म की शिकायत की है और मैं उनकी शिकायत का आन्दोलन करने और उन्हें यह सम्मति देने के लिए कि वे गवर्नमेंट के छोटे अफसरों के अनुचित दबाव में न आवें, बल्लभगढ़ जा रहा हूँ।''

''जहाँ तक मुझे ज्ञात है पंजाब गवर्नमेंट ने अपने घोषणापत्र द्वारा बेगार की मनाई कर दी है। मैं आशा करता हूँ कि आप अपने जिले के तहसीलदारों को आज्ञापत्र भेज देंगे कि वे जबरदस्ती बेगार न लें, और यदि वे पंजाब गवर्नमेंट की स्पष्ट आज्ञा के विरुद्ध जावें, तो आप उनके ऐसे काम का नोटिस लेंगे। यदि कोई ऐसा कानून है, जिससे मैं अनभिज्ञ होऊँ जोकि तहसील और पुलिस के अफसरों को चमारों से बाधित बेगार लेने का अधिकार देता है, तो मैं आपका धन्यवाद दूँगा, यदि आप उसकी एक प्रति मेरे पास भेज देवें जिससे कि योग्य अधिकारियों की सेवा में भिजवाकर ऐसे अन-ब्रिटिश (Un-British) कानून को मन्सूख कर दिया जावे।''

इस पत्र के साथ ही जो विजय का अंक भेजा था उसकी रजिस्ट्री नहीं कराई गई थी इसलिए वहाँ से सूचना आई कि विजय का अंक नहीं पहुँचा। तब मैंने उसका दूसरा पर्चा रजिस्ट्री कराकर 27 मार्च को भेज दिया। मेरे पत्र का गुड़गाँव

के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट ने अन्त तक कोई उत्तर नहीं दिया, और मुझे देहली और पंजाब के हत्याकांडों ने उधर खींच लिया। कामों से निवृत्त होकर 23 फरवरी 1820 को मैंने एक पत्र पंजाब के वर्तमान लेफ्टिनेंट गवर्नर सर एडवर्ड मैकलेगन की सेवा में भेजा।

पंजाब के लाट साहब के नाम पत्र

''माननीय श्रीमान ! जब मैं पिछली बार लाहौर में श्रीमानों से मिला था तो यह सन्देह किया गया था कि अमृतसर में कांग्रेस के अधिवेशन के दिनों में कुछ फिसाद होगा, उन कठोर स्मृतियों के कारण जोकि जनता के मनों पर अंकित हो चुकी थीं। उस समय मैंने श्रीमानों को निश्चय दिलाया था कि फौज और पुलिस की भड़कानेवाली नुमाइशें न हुईं तो सब काम शान्ति से हो जावेगा। परिणाम ने दिखलाया कि मेरी आशा अनुचित न थी परन्तु इस सबका यश यहाँ केवल श्रीमानों को है, क्योंकि आपकी आज्ञा स्पष्ट थी कि ऐसी कोई नुमाइश न की जावे। मुझे शोक है कि जनता के साथ सच्ची सहानुभूति के इस उदार भाव के लिए मैं स्वयं जाकर आपको धन्यवाद न दे सका और इसलिए इस अवसर पर अपनी और कांग्रेस के स्वागत-कारिणी सभा की ओर से श्रीमानों की इस उदार नीति के लिए धन्यवाद देता हूँ।

''इस समय मुझे आपसे एक नई प्रार्थना करनी है और मैं आशा करता हूँ कि श्रीमान मेरे इस भाव का उचित मान करेंगे कि अखबारों में बल देने के स्थान में गवर्नमेंट के शिरोमणि की सेवा में निवेदन कर रहा हूँ मेरी प्रार्थना यह है मैं जानता हूँ कि (पंजाब के भूतपूर्व लैफ्टिनेंट गवर्नर) सर डेनिस फिट्ज पैट्रिक के समय में जबरदस्ती बेगार लेने के विरुद्ध एक दृढ़ घोषणा-पत्र सूबे में भेजा गया था और पंजाब गवर्नमेंट की उस आज्ञा का समर्थन उनके पीछे के सब लाट साहब करते रहे। विशेषतः सर डेनजिल इबैट्सन ने बहुत जोर दिया। परन्तु सत्य यह है कि गुड़गाँव तथा और जिलों में बाधित बेगार का राज्य है और जहाँ कहीं चमारों की बस्ती अधिक है वहाँ इसका दबाव अधिक अनुभव होता है। दृष्टान्त के लिए—बल्लभगढ़ जिला गुड़गाँव के एक तहसील का स्थान है। उस स्थान के चमार मेरे पास यह शिकायत लाए कि तहसील के चपरासी उनको जबरदस्ती बेगार पर ले जाना चाहते है। और अतः वे कारीगर हैं, यदि वे बेगार पर जाने से इनकार करें तो उनको बुरा भला कहा जाता और तरह से उनके साथ बुरा व्यवहार किया जाता, मैं यहाँ साफ कर देना चाहता हूँ कि हिन्दू समाज में इन चमारों का दर्जा, इन्द्रप्रस्थ अछूतोद्धार सभा के कारण ऊँचा हो चुका है। इन चमारों की कठिनाइयों का वर्णन देहली के एक हिन्दी दैनिक में निकला था और मैंने समाचार पत्र में उसकी रसीद भेजते हुए लिखा था कि विजय का अंक नहीं पहुँचा, वह कमी भी

3 अप्रैल 1919 को पूरी कर दी। उसके पश्चात् कई बार स्मरण कराने पर भी कोई उत्तर न आया। यतः मैं पंजाब की पीड़ितों को सहायता देने और उसके पश्चात कांग्रेस के अधिवेशन को कृतकार्य बनाने में लगा रहा, इसलिए मुझे बल्लभगढ़ के चमारों की नई कठिनाइयों का हाल न मालूम हुआ। अब जबकि मैं जनवरी के अन्त में देहली में हूँ मेरे पास इन लोगों के तथा अछूतों द्वारा सभा के अधिकारियों के कई डेपुटेशन आ चुके हैं, जिन्होंने उस अत्याचार का वर्णन किया है, जो इन (चमारों) पर हो रहे हैं। मेरी विनयपूर्वक प्रार्थना यह है कि न केवल इन लोगों के कष्ट के विषय में आन्दोलन किया जावे, प्रत्युत एक दूसरा स्पष्ट आज्ञा पत्र निकाल दिया जावे, जिससे पंजाब के सब जिलों में बाधित बेगार ली जानी बन्द हो जावे। मैं आशा करता हूँ कि श्रीमानों से की हुई यह प्रार्थना फल लाएगी।''

इस पत्र का उत्तर पंजाब गवर्नमेंट के अर्थसचिव माननीय महाशय ई. जोजेफ की ओर से 10 मार्च सन् 1920 को लिखा हुआ निम्नलिखित आया—

पंजाब गवर्नमेंट का उत्तर

''महाशय ! मुझे आज्ञा हुई है कि लैफ्टिनेंट गवर्नर के नाम आपके पत्र तारीक 23 फरवरी 1920 की पहुँच स्वीकार करा और आपको बतलाऊँ कि अम्बाले के कमिश्नर साहब का ध्यान गुड़गाँव जिले के बेगार के निसवत आपके उक्त पत्र में वर्णित शिकायतों की ओर खिंचा गया है।

''आपके पत्र में जो बेगार के प्रश्न पर साधारण दृष्टि दिलाई गई है, उसके सम्बन्ध में उस उत्तर की एक प्रति भेजता हूँ जो पंजाब लेजिस्लेटिव कौन्सिल में 7 मार्च को किए प्रश्न के उत्तर में दी गई थी।''

पंजाब के लाट साहब की कौन्सिल में उसी घोषणा पत्र की बुनियाद पर, जिसका जिक्र मेरे पत्र में है, सरदार बहादुर गज्जनसिंह ने प्रश्न किया था। उत्तर में चीफ सेक्रेटरी मिस्टर फ्रेंच ने कहा, ''जनवरी, सन 1894 में जिस बेगार बन्द करने वाले इश्तिहार की तरफ ध्यान खींचा गया है, मालूम हुआ कि वह अब तक रद्द नहीं किया गया। पिछले 10 वर्ष में केवल 4 शिकायतें बेगार सम्बन्धी सीधी गवर्नर के पास हुई हैं। यह सम्भव है कि और भी शिकायतें स्थानीय अधिकारियों के पास हुई हों और उन्होंने वहीं फैसला कर दिया हो......''

''उस इश्तिहार के फिर जारी करने और उसके अनुसार कार्य करने के विषय में जो सम्मति दी गई है उसका उत्तर यह है कि कोई नया आज्ञा पत्र जारी करने से पहले गवर्नमेंट उसी कमिटी की रिपोर्ट की प्रतीक्षा करेगी जो पिछली जनवरी में इस बात का निर्णय करने के लिए नियत की गई थी कि जब अफसर लोग दौरे पर हों तो उनकी आवश्यकताओं को उन तक पहुँचाने का सबसे अच्छा साधन

क्या हो सकता है।"

इसका प्रत्युत्तर मैंने फिर मार्च में ही दिया था।

मेरा दूसरा पत्र

श्रीमान् ! मेरा पहला कर्तव्य यह है कि जिला गुड़गाँव में बेगार की शिकायत की ओर जो आपने अम्बाले डिवीजन के कमिशनर का ध्यान खींचा है उसके लिए श्रीमानों को धन्यवाद दूँ। पंजाब के अर्धसचिव ने मुझे उस उत्तर की एक प्रति भी भेजी है जोकि गत 5 मार्च को पंजाब लैजिस्लेटिव के कौन्सिल में बेगार के साधारण प्रश्न पर दिया गया था। परन्तु बेगार प्रथा का एक अंश ऐसा है जिसके विषय में श्रीमानों की गवर्नमेंट को तत्काल कार्यवाही करनी चाहिए।

"गत तीन सप्ताहों में मुझे गुड़गाँव और रोहतक के जिलों में गुरुकुल विश्वविद्यालय की शाखाओं के निरीक्षणार्थ जाने का अवसर मिला। मैंने देखा कि युवक चपरासियों के साथ युवक चमारी औरतें सिर पर चपरासी का बिस्तरा लिये वाधित बेगार में जा रही हैं। मैंने इसको बहुत ही अनुचित समझा कि युवा स्त्रियाँ युवक चपरासियों और सरकारी अधिकारियों के नौकरों के साथ जबरदस्ती भेजी जावें और कभी उनके साथ ही रात बितानी पड़े। मुझे ग्रामीण सर्वसाधारणों से मालूम हुआ कि इससे बहुत बार बड़े कुत्सित परिणाम निकलते हैं; तथा व्यभिचार फैलता है और ऐसी खराबियों को लम्बरदार दबा देते हैं जो ऐसी खराबियों से स्वयं मुक्त नहीं है। स्त्री अपनी जाति की माता है चाहे वह यूरोपियन लेडी हो वा ब्राह्मणी देवी हो वा लोक प्रसिद्ध अछूत जाति की पुत्री हो। बेगार के साधारण प्रश्न के लिए उस रिपोर्ट की प्रतीक्षा की जा सकती है जोकि गत जनवरी में सरकारी अफसरों में सामान पहुँचाने के उचित स्थानों पर विचार करते के लिए नियत की गई है; परन्तु बेगार में स्त्रियों को जबरदस्ती ले जाने की प्रथा एकदम बन्द हो सकती है।

मैं श्रीमानों से प्रार्थना करता हूँ कि आप स्वयं इसमें हस्तक्षेप करें और ऐसा घोषणा पत्र घुमा दें कि किसी अवस्था में भी कोई भी स्त्री बाधित बेगार में लगाइं जावे। मैंने श्रीमानों को सीधा सम्बोधन इसलिए किया है कि एक बड़ी आवश्यक बुराई के सुधार में विलम्ब न हो। इस दृढ़ आशा से कि श्रीमानों को अपने अधीन निर्धन से निर्धन प्रजा का भी पितृवत् स्नेह है।

[श्रद्धा, 2 जुलाई, 1920]

अनुचित आशा का फल निराशा

पंडित हरिश्चन्द्र (गुरुकुल के प्रथम स्नातक) साढ़े पाँच वर्ष से विदेश में हैं। मार्च 1919 के अन्त में वे लण्डन में थे, अन्तिम पत्र उनका देहली में उनके भाई के पास अप्रैल के मध्य में पहुँचा था फिर कुछ पता न लगा। कई महीनों के बाद अकस्मात् उनका पत्र 25 नवम्बर 1919 का लिखा हुआ जनवरी में देहली पहुँचा। उसमें लिखा था कि अपनी रक्षक गवर्नमेंट की कृपा से 7 महीनों तक उनको पुर्तगाल में नजरबन्द रहना पड़ा। उसमें लिखा था कि 4 दिन से रिहाई हुई है और कि वे स्पेन की राजधानी मैड्रिड को जा रहे हैं। उसके पश्चात कोई पत्र नहीं आया जिस पर आश्चर्य था। मार्च के मध्य में फिर पत्र आया कि मैड्रिड में टाईफस (Typhus) बुखार ने बहुत सताया, दो बार उसके आक्रमण हुए परन्तु जान बच गई। निर्बलता दूर होने पर घर को लौटेंगे। इस अन्तर मैंने कर्नल सी.के. (Col. C. Kaye) डायरेक्टर सी.आई.डी. से पत्र-व्यवहार किया और स्पष्ट पूछा कि पं. हंसराज के यहाँ आने में कोई बाधा तो नहीं है। कर्नल 'क' का सीधा उत्तर आया कि कोई कारण नहीं है कि पंडित हरिश्चन्द्र अपने देश को लौटकर न आवें और साथ ही उन्होंने यह कृपा की कि इंग्लैंड में गवर्नमेंट को तार भेजकर वे उनका पता लगावेंगे। फिर जब मुझे मालूम हुआ कि जलवायु परिवर्तन के लिए पं. हरिश्चन्द्र फ्रांस के Biarretg नगर में मौजूद हैं तो मैंने कर्नल के. को भी इसकी सूचना दे दी। फिर मई के अन्तिम सप्ताह में फ्रांस के बोलों (Boulegne) नगर से पं. हरिश्चन्द्र का तार आया कि वे सात जून के जहाज से चलेंगे। श्रद्धा के उपसम्पादक को मैंने मना कर दिया कि पत्र में इसकी सूचना न दें। उन्होंने तो ऐसा ही किया पर म. कृष्ण ने अपने दोनों पत्रों में यह सूचना दे दी और लिखा "दिसम्बर सन् 1914 में वे इंग्लिस्तान गए थे और उस वक्त से लेकर अब तक यूरोप और अमेरिका में ही रहे हैं। उनकी जिन्दगी निहायत पुरमाजरा है। ख्याल है कि वे 21 जून तक भारत में पहुँच जावेंगे।"

इस समाचार को पढ़कर चारों ओर से आनन्द और आशा से भरे हुए पत्र आ रहे हैं परन्तु उधर अवस्था यह है कि जो (China) नामी जहाज बोलों से 7 जून को चला था वह 25 जून को बम्बई पहुँचा। पं. इन्द्र वहाँ थे उनको 25

तक पं. हरिश्चन्द्र नहीं मिले, और न उस जहाज में उनका पता लगा। पं. इन्द्र गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ लौट आए हैं। जिन्होंने बड़ी आशाएँ बाँधी थीं वे बहुत निराश होंगे, परन्तु जिन्होंने आशा की लहर पर सवारी न की थी वे शान्त चित्त बैठेंगे। संसार में गत 5 वर्षों के अन्दर बीसियों देश, सैकड़ों नगर, लाखों घर और करोड़ों मनुष्य बरबाद हो गए, वहाँ व्यक्ति का आना वा न आना कुछ अर्थ नहीं रखता। यदि पं. हरिश्चन्द्र के भाग्य में अपनी मातृभूमि की सेवा का विधान है तो वे अवश्य लौट आवेंगे, अन्यथा इस विषय पर अधिक लिखना वा विचार करना बुद्धिमता नहीं है।

[श्रद्धा, 2 जुलाई, 1920]

पितृ ऋण से छूटने की एक विधि

प्रत्येक आर्य गृहस्थ पर जो तीन ऋण बतलाए गए हैं, उनमें से पहला पितृ ऋण है। जिस प्रकार माता-पिता ने सन्तानोत्पन्न करके उनका पालन-पोषण कर उन्हें धर्म के मार्ग पर चलने के अनुकूल बनाया है, उसी प्रकार सन्तान का भी कर्तव्य है कि उत्तम मनुष्य सृष्टि को बढ़ावें। आर्यों में पितृऋण का इतना बोझ माना जाता है कि जब अपने कोई सन्तान उत्पन्न न हो तो दूसरे की सन्तान को अपनाकर उत्तराधिकारी बनाते हैं। किसी लड़के को गोद में लेकर उसको अपनी जायदाद का मालिक बना देना कुछ बड़ा काम नहीं है, ऐसी सन्तान जायदाद का नाश भी कर देती है। परन्तु विद्या-आचार रूपी धन देकर ही सन्तान को उत्तम बना पितृऋण से उऋण हो सकते हैं। ऐसे मनुष्यों के लिए गुरुकुल की संस्था बड़ा अच्छा अवसर देती है। अभी लाहौर के डॉक्टर परमानन्द जी ने एक अनाथ बालक का शिक्षा का सारा भार अपने ऊपर लेकर प्रथम 6 महीने का शुल्क भेज दिया है और सदैव भेजने का इकरार किया है। इस समय लगभग 40 ब्रह्मचारी स्थिर छात्रवृत्तियों के आधार पर आए शुल्क वा बिना शुल्क के शिक्षा पा रहे हैं। इनके अतिरिक्त इस समय 6 ब्रह्मचारी पूरे शुल्क पर और 5 आधे शुल्क पर ऐसे पढ़ रहे हैं जिनके घर से शुल्क आना सर्वथा बन्द हो गया है, और विवश होकर उनको गुरुकुल से अलग करना पड़ेगा। यदि 6 महानुभाव 12 रुपया महीना देनेवाले और 5 महानुभाव 6 रुपया महीना देनेवाले तैयार हो जावें तो 11 ब्रह्मचारी कुल शिक्षा का लाभ ले सकें, दानियों को पितृ ऋण से मुक्त होने का यश मिले। अन्य पत्र सम्पादकों से मेरी प्रार्थना है कि इस लेख को अपने पत्रों में भी प्रकाशित कर दें।

[श्रद्धा, 2 जुलाई, 1820]

महात्मा गाँधी और खिलाफत

महात्मा गाँधी ने खिलाफत के सम्बन्ध में अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी है। उन्होंने मान लिया है कि सब ही मुसलमान इसमें शामिल नहीं है, केवल वे ही हैं जो निर्भय होकर असहयोगिता का व्रत (Non-co-operation) पालन करना चाहते हैं। बाहरवालों के लिए चाहे वे मुसलमानों के पूरे प्रतिनिधि न समझे जावें, परन्तु वे अपनी संख्या बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसलिए कि शायद सारी मुसलमान जनता शामिल न हो सके; इनका काम एक नहीं कहा जा सकता। यह सर्वथा सत्य है। यदि एक मनुष्य भी अपना कोई विशेष धर्म समझ ले तो इसलिए कि उसमें अन्य लोग शामिल नहीं हो सकते, वह अपने कर्तव्य से नहीं गिरेगा। अपने विषय में गाँधी जी ने साफ कह दिया है कि वे मुसलमानों को प्रतिनिधि रूप से पीछे चलानेवाले मुसलमान ही हो सकते हैं। वे तो कृतकार्यता की विधि अर्थात वे लीडर नहीं है। प्रत्युत सलाहकार बैठे हैं। मुसलमान जनता को पीछे चलानेवाले हैं, अमल में लाना मुसलमानों का काम है। प्रश्न हो सकता है कि कमेटी में अन्य हिन्दू क्यों नहीं हैं, गाँधी जी उत्तर देते हैं कि यह काम मुसलमानों का है न कि हिन्दुओं का। यतः गाँधीजी असहयोगिता की विद्या में निपुण हैं इसलिए उन्हें कमेटी में लिया गया है न कि हिन्दुओं के प्रतिनिधि के रूप में। गाँधीजी लिखते हैं कि वे मुसलमानों के साथ वहीं तक चलेंगे जहाँ तक कि उनकी माँग सर्वथा न्यायालुकूल होगी। और यह ब्रिटिश राजभक्ति के विरुद्ध भी नहीं है, परन्तु यदि मुसलमान आग्रह करेंगे तो वे उनके साथ न होंगे। इसको फिर स्पष्ट करते हैं--यदि मुसलमान अफगानिस्तान के द्वारा भारत पर चढ़ाई करें और उस दबाव से टर्की की संधि की शर्तों को ठीक करना चाहें तो प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य होगा कि उस चढ़ाई का मुकाबला करे।

यह अन्तिम बात मेरी समझ में नहीं आई। ऐसे विचार रखते हुए महात्मा गाँधी जी को यह चाहिए कि खिलाफत कमेटी से प्रतिज्ञा करा लें कि वे लोग किसी भी आग्रह में शामिल न होंगे, और मिस्टर शौकत अली से उनके उस कथन का खंडन करा दें, जहाँ उन्होंने पुत्र को जहात की धमकी दी थी। यदि खिलाफत कमेटी इन बातों को मानने के लिए तैयार न हो जावे तो गाँधी जी का उस कमेटी का अगुआ बनना (क्योंकि वे ही इस समय उसके कर्ताधर्ता हैं) उनको उस कमेटी के सभासदों के सब कामों का जिम्मेवार बनावेगा। *[श्रद्धा, 2 जुलाई, 1920]*

बेगार की आसुरी प्रथा दूर होनी चाहिए

[2]

जिस पत्र का अनुवाद गतांक में दिया गया था और जिसमें मैंने सर एडवर्ड मैकलोगन से प्रार्थना की थी कि स्त्रियों से बेगार लेना एकदम से बन्द कर दिया जावे उसका श्रीमान् लाट महोदय ने कोई उत्तर न दिया। मेरी सम्मति में बेगार के सारे प्रश्न के साथ मेरी इस प्रार्थना का कोई सम्बन्ध न था, यदि बेगार पुरुषों के सम्बन्ध में इस समय रखना आवश्यक भी समझी जाती, तब भी स्त्रियों की सतीत्व की रक्षा का प्रश्न ऐसा आवश्यक था कि उसको एकदम से हल कर देना था। परन्तु मैं भूलता हूँ स्त्रियों के सम्बन्ध में आजकल की यूरोपियन सभ्य जातियों की दृष्टि का प्राचीन आर्यों की दृष्टि से बड़ा भेद है। अस्तु !

फिर मेरे पास रोहतक नगर से बनियों की बड़ी भारी शिकायत आई कि उनकी दूकानें जबरदस्ती बेगार के लिए बुलाई जाती हैं और दिनों तक उनको अपना कारोबार बन्द करना पड़ता है। इस पर 30 मार्च 1920 को मैंने उस शिकायत की नकल अपने पत्र सहित भेजी। वह शिकायत अन्य समाचार पत्रों में निकल चुकी है। इसलिए उसकी प्रति न देते हुए, मैं अपने पत्र का अनुवाद यहाँ दर्ज कर देता हूँ—

गुरुकुल वि.वि.
30 मार्च, 1920

श्रीमान् ! मैंने यहाँ लौटकर गुरुकुल विश्वविद्यालय का चार्ज ले लिया है, क्योंकि यहाँ मेरी बहुत आवश्यकता थी। श्रीमानों को ज्ञात है कि बेगार के संशोधन के लिए मुझे एक प्रकार की लगन है। अपने पिछले पत्र में मैंने श्रीमानों के समक्ष अपनी हार्दिक प्रार्थना रखी थी कि आप चमार देवियों की रक्षा के लिए हस्तक्षेप करें जिन्हें तहसील के चपरासी और सिविल और मिलिट्री अफसरों के नौकर बलात्कार ले जाते हैं। अब श्रीमानों का ध्यान एक अन्य प्रकार की बेगार की ओर खींचना चाहता हूँ जिसका मेरे पहले के पत्रों में ज़िकर नहीं है।

ऐसा मालूम होता है कि जब कभी सरकारी अफसर दौरे पर जाते हैं तो उनके कैम्पों के पास लाकर दूकान खोलने के लिए दूकानदार को बाधित किया जाता है और उनको एक कल्पित भाव पर सौदा बेचने के लिए मजबूर किया जाता है। कभी-कभी एक अफसर कई दिनों तक एक कैम्प में रहता है और दूकानदार को अपनी दूकान बन्द करके दिनों तक कैम्प ही ही सेवा-सुश्रूषा करनी पड़ती है।

एक ऐसे दृष्टान्तकर समाचार रोहतक से आया है, जिनमें शिकायत करनेवाले निम्नलिखित हैं—(1) हरजस राय, बेटा वृन्दावन महाजन, रोहतक (2) मंगतराय, बेटा नियादर मल महाजन, रोहतक (3) कुन्दनलाल, बेटा नथूमल महाजन, रोहतक (4) मनोहरलाल, बेटा प्रसाद महाजन, रोहतक। इस पत्र के साथ इन लोगों की पूरी कहानी श्रीमानों के सूचनार्थ भेजता हूँ।

मेरी सम्मति में वह बड़ा ही वजनदार मामला है, और इससे बढ़कर और वजनदार मामले हो सकते हैं और इसलिए मैं श्रीमानों से निवेदन करता हूँ कि इन मनुष्यों को बुलाकर स्वयं तहकीकात कीजिए। अन्य आन्दोलन, चाहे कमिश्नर के द्वारा ही कराए जावें, व्यर्थ सिद्ध होते हैं क्योंकि वे (कमिश्नरादि) अपने मातहतों के द्वारा काम कराते हैं, और वे मातहत ही प्रायः बेगार के मामलों में अपराधी भी होते हैं।''

यद्यपि इस पत्र का भी कोई उत्तर लाट साहब ने न दिया परन्तु ऐसा मालूम होता है कि किसी प्रकार का आन्दोलन अवश्य कराया गया और शायद कोई विशेष आज्ञा भी रोहतक में भेजी गई। इसके सिवाय रोहतक की 'डिस्ट्रिक्ट कांग्रेस कमेटी' ने कुछ प्रस्ताव पास करके गवर्नमेंट के पास और प्रेस में भी भेजे थे।

बल्लभगढ़ के चमारों की शिकायत के सम्बन्ध में बड़ी विचित्र तहकीकात हुई। अम्बाले के कमिश्नर ने शायद गुड़गाँव के डिप्टी कमिश्नर को लिखा और उन साहब बहादुर ने सब डिविजनल अफसर को वहाँ भेज दिया। सब डिवीजनल साहब ने न तहसील के चपरासियों को पूछा न तहसीलदार और थानेदारों का सामना चमारों से करवाया, प्रत्युत लम्बरदार की चमारों से बहस करवा दी। बल्लभगढ़ के चमारों की पंचायत ने जो पत्र इस विषय का लिखा, वह नीचे देता हूँ—

''श्रीमान स्वामीजी महाराज नमस्ते ! आपने जो चिट्ठी बाबत तहकीकात बेगार भेजी थी, सो वह तहकीकात 1 मई को मारफत साहब-सब-डिविजनल ऑफीसर हो गई है। साहब ने अपने बंगले पर हमको और मुख्य लम्बरदार को बुलाकर हमारी और उसकी बहस करा दी। हमारा लम्बरदार से कोई सनाजा नहीं। हमारी तहकीकात तो सिर्फ यह होनी चाहिए थी कि सरकारी मुलाजिम हमसे कितना काम मुफ्त लेते हैं जिससे हम तंग हो रहे हैं। ऐसी तहकीकात तो कई दफे हो चुकी है लेकिन कोई असर हमारी मुसीबत की कमी में नहीं हुआ। इस तरह से तो कोई फायदा हमारे लिए मालूम होता नहीं देता क्योंकि लम्बरदार से बयान ले लिया कि

चमारों के जिम्मे मुफ्त बेगार है और ये इसीलिए बसाए गए हैं।''

बल्लभगढ़ में आन्दोलन करने से मालूम हुआ कि महीने में एक बार सब-डिवीजनल अफसर आते हैं। गर्मी और बरसात के दिनों में दो चमार दिन-रात पंखे पर रहते हैं। दोनों को एक-एक आना प्रतिदिन दिया जाता है। जाड़ों में छह-छह चमार साहब का सामान लिए एक स्थान से दूसरे स्थान में चलते रहते हैं। 13 फरवरी को तहसील का चपरासी 'गेला' दस चमारों को डाक बंगले ले गया और उन्होंने साहब का सामान चार मील की दूरी पर 'तिगाओं' में पहुँचाया। इसको एक भी कौड़ी नहीं मिली। सरसों की चोरी में एक अपराधी पकड़ा गया। वह चोरी का माल मनभर से अधिक था और एक चमार के सिर पर उठवाकर अदालत में भेजा गया। यदि तहसीलदार, नायब तहसीलदार, हेड मुहर्रिर, थानेदार किसी के यहाँ भी दाना दलने या घर के यहाँ और कोई काम करने की आवयश्कता होती है तो चमारियों को जबरदस्ती पकड़ ले जाते हैं और बिना कुछ दाम दिए काम करवाते हैं, इत्यादि-इत्यादि।

ऐसा मालूम होता है कि हिसार जिले में भी बेगार सम्बन्धी बड़ा भारी आन्दोलन हो रहा है। उस जिले के डिप्टी कमिश्नर मिस्टर 'एलतीफी' ने मुझसे मिलकर बेगार के विषय में बातचीत करनी चाही थी क्योंकि भिखारी पं. नेकीराम के परिश्रम से इस विषय में बहुत कुछ आन्दोलन हो रहा है। मुझे शोक है कि मैं मिस्टर एलतीफी को मिलने का समय न निकाल पाया, परन्तु मेरी सम्मति में वह समय आ गया है जबकि ऊपरी बात से कुछ परिणाम नहीं निकलता। भिवानी के सम्बन्ध में पं. नेकीराम शर्मा ने एक घोषणा-पत्र निकाला है जिसका शीर्षक है--'बेगार मत दो।' उस पत्र में बेगार की बुराइयाँ बतलाते हुए उन्होंने लिखा है --

''भिवानी में बेगार और रसद दोनों बन्द हो गई है। मैं चाहता हूँ कि यह पाप सारे ही देश से निकल जावे। भिवानी में बेगार-विरोधनी सभा भी बनी है। बेगार और रसद के कारण जिनको जो तकलीफ हो वह साफ कहनी चाहिए। मैं समझता हूँ कि ऊँचे अफसर इस काम में हमारा साथ देंगे।''

बेगार सम्बन्ध में कई बार शोर मचा और आन्दोलन हुआ परन्तु उसकी शक्ति उसी प्रकार बनी रही। यदि मुझे गुरुकुल का चार्ज लेने के लिए यहाँ न आना पड़ता तो मेरा दृढ़ संकल्प था कुछ वर्षों तक सारा समय बेगार की प्रथा हटवाने और जिन्हें भूल से अछूत कहा जाता है, उसकी सामाजिक स्थिति को ठीक करने में लगा देता। बेगार के सम्बन्ध में एक और जटिल प्रश्न है जिसके लिए आर्यसमाज को विशेषतः और हिन्दू-मुसलमानों को साधारणतः, बलपूर्वक श्रम करना चाहिए। जब किसी अछूत जाति के व्यक्तियों को आर्यसमाज उठाकर अपने में सम्मिलित करता है, और उनके गोमाँस के भक्षण और मदिरापान के दर्शन छुड़वाता है और

उन्हें ईसाई के अर्थ बताता है, तो बेगार उनके जिम्मे फिर से लगा दी जाती है। परन्तु यदि वह ही व्यक्ति चोरी कराकर बिना समझे अपने आपको को ईसाई कहने लग जाता है तो उसकी बेगार तत्काल बन्द हो जाती है। देहली के इर्द-गिर्द चमारों को ईसाई बनाने के लिए न कोई धर्मोपदेश दिए जाते और न ईसा के साथ जुड़ जाने का आदेश किया जाता है। उन चमारों के सामने केवल प्रलोभन यह रखा जाता है कि उनसे कोई बेगार नहीं ले सकेगा।

यह सारी रामकहानी मैंने इसलिए सर्वसाधारण के सामने रखी है कि जाति का एक-एक व्यक्ति समझ ले कि उनकी जाति का भविष्य किस प्रकार बिगड़ रहा है। सबसे पहली बात यह है कि स्त्रियों का बेगार में लेना सर्वथा बन्द हो जावे। प्रत्येक जिले में एक-एक समिति (कमेटी) ऐसी बन जानी चाहिए जिसके सभासद उन जातियों को, जिनसे बेगार लिया जाता है, समझा दें कि प्रत्येक अवस्था में बेगार देने से इनकार करें। यदि फिर भी उन पर कोई जुल्म हो तो वे समितियाँ धन आदि से सहायता देकर मुकद्दमा करावें और यदि न्यायालयों से भी कोरा जवाब मिले तो अन्य प्रकार से ऐसे दोनों की रक्षा करने के साधन सोचते हैं। इस अंश में पंजाब के लाट साहब से अन्तिम निवेदन है।

प्रथम आप लोग बड़े गौरव से कहा करते हैं कि पुरोहित कौमों में स्त्रियों का बड़ा मान है। अमृतसर में जनरल डायर ने अपनी घृणित पिशाचलीला से दिखला दिया कि वह मान आपका अपनी जाति की स्त्रियों के लिए ही है। हम लोग भारत-पुत्रियों को अपनी जाति के भविष्य का निर्णायक समझते हैं। यदि आप उनकी रक्षा के लिए हाथ न बढ़ावेंगे तो आपकी गवर्नमेंट के लिए उसका परिणाम अच्छा न होगा।

द्वितीय जब आपके सिविल और मिलिटरी आफिसर भारत का खजाना लूट रहे हैं, और अपनी योग्यता से बढ़कर वेतन पा रहे हैं तो फिर उनका क्या अधिकार है कि इस महँगी के समय में एक आना रोज पर दिन-रात पंखा जबरदस्ती खिंचवाए। यदि उनके लिए पंखे की आवश्यकता है और उसके लिए उनके वेतन पर कोई बोझा न डालना आपको अभीष्ट है तो उनके लिए विशेष चपरासी नियत कर दीजिए, उनकी बारबरदारी के लिए बैलगाड़ी या ऊँटगाड़ी नियत कर दीजिए, परन्तु भारत निवासियों के ऊपर इसका अनुचित बोझ न डालिए।

मैं जानता हूँ कि देश भाषा में यह लेख होने के कारण अंग्रेजी दैनिकों के सम्पादक इस विषय पर कुछ लिखना अपना अपमान समझेंगे, परन्तु यदि देशभाषा में निकलनेवाले सब समाचार पत्रों में घोर आन्दोलन छिड़ जावे तो भी बड़ा भारी परिणाम होगा।

[श्रद्धा, 9 जुलाई, 1920]

जिसे निर्बलता समझे हो, वही बल है

आर्यसमाजियों की आरम्भ से यह शिकायत चली आती है कि गवर्नमेंट आर्यसमाज के विरुद्ध क्यों है ? आर्यसमाज ने पहले-पहले पंजाब और संयुक्त प्रान्त में जोर पकड़ा था, और तबसे ही सरकारी अफसरों की इस पर कृपादृष्टि चली आई, और तब से ही आर्यसमाजी गवर्नमेंट को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते रहे। संयुक्त प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा ने पहल की और एक नया उप-नियम जड़ दिया कि विशेष राजा का भक्त होना भी एक आर्यसमाज का कर्तव्य है। पंजाब में कभी एक दल की ओर से और कभी दूसरे दल की ओर से गवर्नमेंट को यह विश्वास दिलाने की यत्न होता रहा कि आर्यसमाज का वर्तमान राजनीति से, यहाँ तक कि किसी राजनीति के साथ भी, कोई सम्बन्ध नहीं है। मुझे शोक है याद आता है कि इस यत्न में बहुत से आर्यसमाज के नेताओं ने भाग लिया था। जितना परिश्रम ब्रिटिश गवर्नमेंट की नौकरशाही को प्रसन्न करने के लिए आर्यसमाज की ओर से किया गया यदि उतना परिश्रम अपने मन, हृदय और आत्मा के स्वामी परमात्मा के प्रिय बनाने के लिए किया जाता तो न जाने आर्यसमाज की संस्था में आज कितनी उन्नति दिखलाई देती।

ब्रिटिश गवर्नमेंट आर्यसमाज से क्यों अप्रसन्न है ? वह आर्यसमाज से क्यों इतनी घबराती है ? क्या इसलिए कि वह इसे एक पालिटिकल-बॉडी समझती है ? मेरी सम्मति में ऐसी कल्पना करना आर्यसमाजियों की भूल है। पटियाले के प्रसिद्ध गवर्नमेंट का उससे कोई झगड़ा ही नहीं। झगड़ा तो यह है कि अपने आपको धार्मिक समाज बतलाता है, और है वास्तव में पोलिटिकल बॉडी, इसलिए इस पर राजविद्रोह का संशय होता है। प्रश्न किया गया है इसका क्या प्रमाण है कि आर्यसमाज धार्मिक संस्था होते हुए भी पोलिटिक्स में दख़ल देती है ? उत्तर मिला कि इसका विचित्र संगठन ही इसके पोलिटिकल बॉडी होने का प्रमाण है।

जिन दिनों पटियाले का मुकदमा चल रहा था मुझे ट्रेन में एक यूरोपियन कमिश्नर के साथ यात्रा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मुझे पहचानते ही कमिश्नर साहब ने लाला लाजपतराय और आर्यसमाज की चर्चा छेड़ दी। उन्होंने भी आर्यसमाज को पोलिटिकल बॉडी ही बतलाया। जब मैंने उनकी सब युक्तियों का

समाधान करके उनको निरुत्तर कर दिया तो अन्तिम दलील उन्होंने बड़ी मनोरंजक दी। "But has it not got a wonderful organisation ?" "परन्तु क्या इसका संगठन आश्चर्यजनक नहीं है ?" मैंने उत्तर दिया "is it a sin to have a wonderful organisation ?" इस पर कमिश्नर साहब ने बात टाल दी।

जीवित-जागृत धार्मिक संस्थाओं के विषय में ऐसी कल्पना संसार के इतिहास में कोई नई बात नहीं है। जब पहले-पहले ईसाई मत रोम के साम्राज्य के अन्दर फैला और आश्चर्यजनक संगठन द्वारा उन्होंने अपनी संरक्षा को बढ़ाया, जब इनके नियमपूर्वक काम करनेवाले प्रचारक चारों ओर फैल गए जब उनकी चर्चा का संगठन बड़ा दृढ़ हो गया, जब उन्होंने अपने सामाजिक प्रबन्ध को ऐसा उत्तम कर लिया कि अपनी विधवाओं तथा अपने मत के अनाथों, निर्धनों की रक्षा का स्वयं प्रबन्ध कर लिया, उस समय रोमन चक्रवर्ती राज्य भी काँप उठा। उस समय के ऐतिहासिक लिखते हैं—"The Roman Emperors, discovering that it (christian Church Organisation) was absolutely incompotible with the emperial system, try to put it down by force. This was inaccordance with spirit of maxims, which had no other means but force for the establishment of confomity."

एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं, एक सल्तनत में दो बादशाह नहीं रह सके—यह बड़ी पुरानी लोकोक्ति है। एक साम्राज्य में दो संगठन कैसे रह सकें। या तो रोमन साम्राज्य का ही संगठन रहे या मसीह के अनुयायियों की चर्च गवर्नमेंट ही रहे, एक ही भूमि में दो का गुजारा नहीं हो सकता।

सन 1907 ईस्वी से अब तक आर्यसामाजिक भाई मुझसे बार-बार यह कहते रहे कि मैं प्रान्तीय लाट साहबों और श्रीमान् वायसराय को निश्चय देता हूँ कि आर्यसमाज एक धार्मिक संस्था है। जब-जब मुझसे यह कहा जाता रहा तब-तब ही मेरा यह उत्तर होता रहा—कि जो कुछ आर्यसमाजी सिद्ध करना चाहते हैं वही तो छोटे लाटों और बड़े लाटों को खटकता है। आर्यसमाज के धार्मिक काम के विषय में गवर्नमेंट का क्या विचार है—मुझे सन् 1910 के आरम्भ में ही मालूम हो चुका था। सन् 1908 के आरम्भ में गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ने आर्यसमाज के विषय में संयुक्त प्रान्त की गवर्नमेंट द्वारा आन्दोलन करवाया, और उस आन्दोलन का परिणाम छपवाकर भारतवर्ष की सब लोकल गवर्नमेंटों में बाँटा गया। उसी को सिविल और मिलिटरी ऑफिसरों ने अपने लिए प्रामाणिक धर्म पुस्तक बना लिया। उसके एक उद्धरण से ही पता लग जावेगा कि आर्यसमाज से गवर्नमेंट को क्या भय है ? आर्यसमाज के विविध मन्तव्यों और कामों की पक्षपात युक्त ईसाई दृष्टि से आलोचना करके वहाँ लिखा है—

This is one important development in the Arya Samaj Organisation; which is a source of danger to the state, and that is Gurukula system. The

history and growth of Gurukula in this provinces will be refered to in a subsequent chapter, but it is necessary to refer to it when discussing the Arya Samaj as a Religion. Whetever the defects may be, it is a very easy matter to train up a body of fanatics and devotes, by taking boys at the age of 8, absolutely removing them from parental influence, surrounding them with an atmosphiere of ascerticism austerity and religious devotion, instiling into their minds certain principles and encouraging a spirit of devotion and martyrdom. In training like this, which is what is given in the Gurukula, is to be continued under the district supervision of the ablest and most enthuziastic leaders of the Arya Samaj movement for the 17 most impressionable years of the boys life, material that will be forthcomming at the end of that period will be a menace to the state.

There will be in them what is probaly absent in most of the present missonarries of the Arya Samaj, deep-rooted personal convictious, even if it is to be only physical, will give them a wonderful influence with the people, and they will attact numberless converts instilling in to them an enthusiasm searly less then their own..."

इस लम्बे उद्धरण से स्पष्ट पता लगेगा कि यदि कोई संगठन, धर्म, सचाई, तप और अस्तेय का क्रियात्मक प्रचार करें तो वर्तमान काल की गवर्नमेंट को उससे सदा भय रहता है। उनकी समझ में नहीं आता कि कोई मनुष्य, समाज, यम और नियम का संयम, अपनी आत्मा की उन्नति और मनुष्य के परमोद्देश्य को समझने के लिए भी कर सकता है। पौराणिक इन्द्र की तरह जिसे प्रत्येक तपस्वी को देखकर यही सन्देह होता था कि उसका इन्द्रासन छिनने लगा है, वर्तमान भोग प्रधान, स्वार्थी गवर्नमेंट भी तप और संयम करानेवाली धार्मिक संस्थाओं का उद्देश्य भी अपने लिए भयकारी समझती हैं।

अदूरदर्शी पुरुष गवर्नमेंट के अविश्वास को बहुत प्रबल समझते हैं और यह अपने धर्म के लिए बहुत हानिकारक हैं। परन्तु इतिहास साक्षी देता है कि जब तक एक धर्म समाज के सभ्य अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहते हैं और ज्ञान तथा कर्तव्य को मिलाए रखते हैं, तब तक प्रबल से प्रबल सांसारिक शक्तियाँ भी उनको अपने स्थान से हिला नहीं सकतीं। ईसाई मत के भी इतिहास को देखें तो पता लगेगा कि जब तक वे अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहकर राज्य के प्रलोभनों से बचते रहे तब तक उनकी धार्मिक आस्था को कोई भी शक्ति डाँवाडोल न कर सकीं, परन्तु ज्यों ही रोमन सम्राट के ईसाई हो जाने पर वे प्रलोभनों में फँसे तभी से ईसाई-धर्म के शुद्ध नियमों में रोम के पौराणिक मत का खमीर घुस गया। भारतवर्ष

में इस समय आर्यसमाज की वही स्थिति है जोकि रोमन समय में ईसाई मत की थी। ईसाई मत ने रोमन साम्राज्य की शरण लेकर मसीह के पवित्र उसूलों को इतना दूषित किया कि 1800 वर्ष पीछे तक कई विप्लवों के पश्चात कहीं Unit-Church ने फिर से एक युद्ध रूपी ब्रह्मा की उपासना की बुनियाद ईसाई प्रजा में रखी।

क्या आर्यसमाज के सभासद ईसाई मत और कुछ अन्य सम्प्रदायों के इतिहास से कुछ शिक्षा न लेंगे ? ब्रिटिश नौकरशाही की ओर से आर्यसमाज को फँसाने के बहुत से यत्न हो चुके हैं जिनका ज्ञान भी अब तक आर्य जनता को नहीं हुआ। आर्यसमाज का भाग्य अच्छा था कि उसकी जिन संस्थाओं पर साम, दाम, दंड, भेद द्वारा काम किया गया उनके संरक्षकों में चमकीले से चमकीले प्रलोभनों से बचने की शक्ति थी। यदि आर्यसमाज के सभासद उसको अपनी निर्बलता समझें और ब्रिटिश नौकरशाही के जाल में फँसकर उनके साथ राजीनामा करने को अपना बल समझें तो इससे बढ़कर सोचनीय अवस्था नहीं हो सकती। जितना समय मनुष्यों को प्रसन्न करने और उनके विश्वासपात्र बनने में लगाया जाता है, यदि उसी का सदुपयोग करके अपने परमात्मा को प्रसन्न करने और जीवन को उसके स्वीकार करने के योग्य बनाने में लगाया जावे तो आर्यसमाज में ऐसा बल आ जावे जिस पर विचार करना भी एक बार उत्साह को बढ़ा देता है।

[श्रद्धा, 16 जुलाई, 1920]

स्वागत वा अस्वागत

इस समय यह प्रश्न बड़े बल से छिड़ रहा है कि सम्राट जार्ज के ज्येष्ठ पुत्र शहजादा वेल्स के स्वागत में भारतीय प्रजा को सम्मिलित होना चाहिए वा नहीं। इस विषय में पहले गर्म दल की संस्थाओं ने आवाज उठाई। उनका लिखना था कि जब पंजाब के नौकरशाही अत्याचारियों का कोई इलाज नहीं हुआ और जनता के अन्दर असन्तोष है, तो संशोधित कौन्सिलों की डुगडुगी बजाना और नौकरशाही के साथ मिलकर अपनी दशा से सन्तोष प्रकट करना मक्कारी होगी। इसके विरुद्ध नरम दल के नेता तथा कुछ अन्य विचारक यह सम्मति देते हैं कि नौकरशाही के दोषों के लिए बादशाह जिम्मेदार नहीं है इसलिए उन्होंने जो अपने पुत्र को भारत प्रजा के प्रति अपने सन्देश को भेजा है उनका हार्दिक स्वागत करना चाहिए। महात्मा गाँधी जी ने ब्रिटिश युवराज के स्वागत में न सम्मिलित होने के लिए एक बड़ी स्पष्ट युक्ति दी है कि उनके लिए हृदय में मान्य का भाव होते हुए और यह जानते हुए कि मन्त्रियों के बुरे-भले कामों का सम्राट के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है--यह सब कुछ जानते हुए भी युवराज के किसी भी स्वागत में इसलिए सम्मिलित नहीं होना चाहिए कि उससे जो सन्तोष हमारी क्रिया प्रकट करेगी, वे लिखते हैं--"मैं समझता हूँ कि हमारी राजभक्ति यह चाहती है कि हम सम्राट के मन्त्रियों को स्पष्टतया जतला दें कि यदि वे युवराज को हिन्दुस्तान में भेजेंगे तो हम उनके साथ किसी भी ऐसे स्वागत में शरीक न होंगे जिसका प्रबन्ध (नौकरशाही की ओर से) होगा। मैं उनको असंदिग्ध भाषा में कह दूँगा कि ख़िलाफत और पंजाब के प्रश्नों पर हमारे दिल जमे हुए हैं और जबकि हम उन (प्रश्नों) पर जान लड़ा रहे हैं तो हमसे आशा न रखनी चाहिए कि हम किसी भी स्वागत में शरीक हो सकेंगे।"

महात्मा गाँधी जी ने आगे चलकर विस्तारपूर्वक वे परिणाम बतला दिए हैं जो भारतीयों के ऐसा करने से निकलेंगे। महात्मा गाँधीजी की सब युक्तियों के साथ सहमत होते हुए भी मैं अपनी सम्मति पेश करता हूँ, यदि उसमें कुछ सार हो तो महात्मा जी उस पर कुछ विचार करें। भारतवर्ष में ऐसे आदमियों की संख्या थोड़ी नहीं है जो ब्रिटिश नौकरशाही से अपने स्वार्थ सिद्धि की आशा पर अपनी जाति को बेचने के लिए तैयार हो जावें। वे तो प्रत्येक स्वागत सभा और प्रत्येक

विनोद और राग-रंग के काम में सम्मिलित होंगे ही। उनको छोड़कर शेष सब जनता की ओर से यह निश्चय हो जावे कि वे युवराज के स्वागत के लिए पहले उनके बम्बई पहुँचने पर और फिर देहली में एक बड़ी सभा करके नौकरशाहियों के असर से दूर उनका स्वागत करना चाहते हैं। उस स्वागत में हम अपने हृदय का उद्धार उनके सामने रखना चाहते हैं यदि वे हमारी ओर से यह जुदा स्वागत स्वीकार करने को तैयार न होंगे तो इसमें हम पर कोई दोष कर्तव्य से गिरने का नहीं आ सकेगा। देवी एनी बेसेंट युवराज के स्वागत के विषय में गाँधीजी के मत का खंडन करती हुई, इस अस्वागत के भाव को राजविद्रोह तक बतलाने में संकोच नहीं करती, परन्तु साथ ही यह कहती हैं कि नौकरशाही के साथ युवराज के स्वागत में सम्मिलित होते हुए भी हम युवराज द्वारा उनके पिता के पास पंजाब और अन्य स्थानों पर अत्याचार सम्बन्धी अपने दुख की कहानी पहुँचा सकेंगे। जब कोई भी अभिनन्दन पत्र युवराज के सामने बिना नौकरशाही की आज्ञा के नहीं पेश हो सकेगा तो समझ में नहीं आता कि देवी बसन्ती की दो परस्पर विरुद्ध स्थापनाओं से सिद्ध क्या होगा।

सम्राट जार्ज को जो प्रेम अपनी भारतीय प्रजा से है उसको कोई भूल नही सकता। वे अपने पुत्र को उस परस्पर के सम्बन्ध को फिर से जगाने के लिए भेज रहे हैं। भारतीय प्रजा भी हृदय से उनका स्वागत करने के लिए तैयार है परन्तु इस सम्बन्ध के अन्दर कोई तीसरा दलाल नहीं घुसना चाहिए। भारतीय प्रजा से बढ़कर श्रद्धा सम्पन्न और कोई प्रजा नहीं है, यदि उस श्रद्धा के भाव का प्रकाश सीधा सरल हृदय युवक युवराज तक पहुँच जावे तो कोई आश्चर्य न होगा कि वे प्रजा का जुदा शुद्ध स्वागत स्वीकार कर लें। मेरी सम्मति में एक बार कर तो गुंजरना चाहिए, यदि ब्रिटिश गवर्नमेंट के सचिव सम्राट को संशय में डालकर उल्टी सम्मति देंगे तो भारत प्रजा फिर भी शुद्धान्तःकरण से कह सकेगी कि उसने अपना कर्तव्य पालन किया।

[श्रद्धा, 16 जुलाई, 1920]

पार्लियामेंट में हन्टर रिपोर्ट

हन्टर कमेटी की रिपोर्ट पर ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स में विवाद आरम्भ हो गया। भारत सचिव मि. मान्टेगू ने विषय प्रस्तुत करते हुए जो प्रारम्भिक वर्णना की है उसे पढ़कर और उसकी पुष्टि में युद्ध सचिव मि. चर्चिल्स ने जो 4 नियम स्थापित किए हैं उनको पढ़कर यदि किन्हीं राजनीतिकों का पूरा सन्तोष भी हो, तब भी इसमें सन्देह नहीं रहता कि ब्रिटिश साम्राज्य के अनुभवी और दूरदर्शी मिनस्टर्स समझ चुके हैं कि भारतवर्ष की ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सम्बन्ध स्थिर रखने के लिए भारतीयों को बराबरी के अधिकार देने चाहिए। यह माना कि जो घोर आन्दोलन देश में हुआ है और उसका सिंहनाद जो मिस्टर पटेल ने इंग्लैंड में पहुँचाया उसी का परिणाम है कि मि. मान्टेगू और मिस्टर चर्चिल ने ऐसी असंदिग्ध वक्तृताएँ दीं। परन्तु यह मानना पड़ता है कि यदि वे अन्तःकरण से एंग्लो-इंडियन नौकरशाही के अत्याचारों के विरुद्ध न होते तो इस प्रकार की जबरदस्त आवाज न उठाते।

मिस्टर मान्टेगू ने यह जतलाते हुए कि जनरल डायर ने जो कुछ किया यदि उसका समर्थन किया गया तो समझा जावेगा कि ब्रिटिश गवर्नमेंट भारतीयों को दबाकर राज्य करना चाहती है और पार्लियामेंट से यह पूछकर कि वह भारतीयों को अपने साम्राज्य का हिस्सेदार समझकर शासन करना चाहती है या उन्हें दास बनाकर, कहा—यदि दबाकर शासन करना है तो तलवार को ज्यादा तेज करके चलाना पड़ेगा और यहाँ तक चलाना पड़ेगा कि सभ्य संसार का सम्मिलित नाद ब्रिटेन को भारतवर्ष से बाहर निकाल देवे। मिस्टर चर्चिल ने यह जतलाकर कि आर्मी कौन्सिल ने सर्व सम्मति से जनरल डायर के विषय में यह निश्चय किया है कि न केवल भारत में ही प्रत्युत, अन्य कहीं भी उसको सेना में स्थान न मिले; निम्नलिखित तीन स्थापनाएँ उस समय के लिए कीं जबकि किसी बलवे के कारण मिलिटरी आफिसर को जनता पर आक्रमण करने की आवश्यकता प्रतीत हो—(1) क्या जनता किसी स्थान पर पुरुष विशेष पर आक्रमण कर रही है (2) क्या ऐसी जनता के पास हथियार है (3) उतना ही बल लगावे जितना कानून के अनुसार उनको चलाने के लिए आवश्यक हो (4) अफसर को चाहिए कि किसी एक विशेष उद्देश्य को रखकर काम करे। अन्त में मिस्टर चर्चिल ने कहा कि जो पेट के बल

चलने की पिशाचीय आज्ञा दी वह सर्वथा निन्दनीय और त्याज्य है। मि. चर्चिल ने कहा यदि कोई उनकी सम्मति लेता तो वे जनरल डायर को जबरदस्ती सेना से त्यागपत्र देने के लिए मजबूर करते।

जो लोग एंग्लो-इंडियन नौकरशाही के अत्याचारों को देखकर निराश हो जाया करते हैं उनके लिए पार्लियामेंट के इस विवाद से आशा की झलक दिखाई देती है। मि. मान्टेगू और चर्चिल की वकृता की विस्तृत तार से पता लगता है कि उन्होंने कोई भी बात संदिग्ध नहीं रखी। मि. चर्चिल ने कहा कि उनका एक मिनट के लिए भी यह विश्वास नहीं है कि जनरल डायर ने ब्रिटिश गवर्नमेंट के लिए हिन्दुस्तान को बचा दिया। भारतवर्ष में यदि ब्रिटिश गवर्नमेंट बचेगी तो उसका कारण और साधन तलवार न होगी प्रत्युत भारत-जनता के साथ सहानुभूति होगी। मि. मान्टेगू ने कहा कि यदि भारतवासियों को अपना हिस्सेदार बनाना है तो पेट के बल चलने के लिए और सलाम के अपमानजनक काम बन्द करने होंगे। इसके अतिरिक्त अब सब पुराने कानूनों और हुक्मों का संशोधन करना होगा, जिनसे हिन्दुस्तानियों की उस स्वतन्त्रता पर, जिसका पाठ ब्रिटिश जाति ने ही पढ़ाया है, कुठाराघात होता हो। मालूम होता है कि भारत के दिन कुछ फिरनेवाले हैं और यदि हिन्दू-मुसलमानों ने अपनी एकता को स्थिर रखा और भारत के सुशिक्षित नेताओं ने अपने कर्तव्य को भुला न दिया और प्रलोभनों से बचे रहे तो वह दिन दूर नहीं है कि जब गोरों को अभिमान भ्रातृभाव में परिवर्तित हो जावेगा—और सब मिलकर अपने आपको एक साम्राज्य के सभ्य समझने लगेंगे।

[श्रद्धा, 16 जुलाई, 1920]

हिन्दी पर अंग्रेजी की कलम मत लगाओ !!

कोई समय था जबकि हिन्दी की बोलचाल और चलते-साहित्य में संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग ही विद्वता का चिन्ह समझा जाता था। परन्तु यह प्रवृत्ति प्रसन्नता की बात है, शिक्षा के क्रमशः विस्तार और जनता के विरोध के कारण प्रायः दब-सी गई है। लेखक और वक्ता महाशय अब समझने लगे है। कि सरल और शुद्ध भाषा की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए, मोटे-मोटे डरावने शब्दों की ओर नहीं।

परन्तु हिन्दी के प्रायः सभी पत्रों में आजकल, एक और प्रवृत्ति नजर आ रही है, जिसका अभी से विरोध होना चाहिए। जिस प्रकार बाबू लोग—चाहे वे हिन्दी पढ़े-लिखे हों—प्रायः खिचड़ी भाषा—अंग्रेजी-हिन्दी मिश्रित ही बोलते हैं, उसी प्रकार हमारे सम्पादकगण भी अब समाचार-पत्रों में हिन्दी पर अंग्रेजी की कलम लगा रहे हैं। संस्कृत के शब्दों का बहुतायत से प्रयोग, हम जानते हैं, अनुचित हैं परन्तु आखिर को, वह भाषा स्वदेशी तो है, इसलिए उसका प्रयोग इतना भयंकर नहीं है जितना कि एक विदेशी भाषा के शब्दों का। पहली प्रकार की अवस्था में हम पूर्ण स्वदेशी ही रहते है और दूसरी दशा में हम सरकार को यह दिखा रहे होते हैं कि हमें अपने भाव प्रकाशित करने के लिए विदेशियों की शरण लेनी पड़ रही है। पिछले तीन-चार दिनों में हमने सरसरी नजर से अपने सहयोगी पत्रों से बहुत सारे ऐसे शब्द इकट्ठे किए हैं, जिनमें से कुछ एक हम अपने कथन की पुष्टि में नीचे देते हैं—

"अल्टीमेटम, पार्टी-फीलिंग, नन-आर्यसमाजी, स्पीच, नेशनलिस्ट, क्रेडेट, प्रिन्टर्स-यूनियन, टाइम, कन्ट्रोल, रिजर्व फंड, शेयर, शेयर-होल्डर, लोकल, रिटायर्ड, एडीटर, यूनिटी, इलेक्शन, डायवोर्स, वोटर, मोरलटी, डिपार्टमेंट, करेंसी, रिप्रजेन्टेटिव, कास्पान्डेंट, रिपोर्टर, प्राइमरी स्कूल, प्राइमरी एज्यूकेशन, मेजरिटी, माइनोरिटी, डिजार्टडल कमेटी···इत्यादि-इत्यादि।

प्रश्न यह है कि क्या इनके लिए हिन्दी में कोई शब्द नहीं है ? हमें याद है कि पहले भी इस विषय पर विचार उठ चुका है कि हिन्दी में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग कहाँ तक होना चाहिए। उस समय तो प्रायः सब विद्वानों ने एक स्वर से यही कहा था कि जहाँ तक हो सके, विदेशी भाषा के शब्दों का प्रयोग बहुत

कम हो और विदेशी भाषा के जो शब्द हिन्दी में ले लिए गए हैं, और जिनका अनुवाद करने से भाव प्रकट नहीं होता (जैसे रेल, स्टेशन मास्टर, स्कूल, फुटबाल, टिकट, काउंसिल वायसराय, गवर्नर, बोर्डिंग, प्रेस, कम्पोजीटर इत्यादि) उनके प्रयोग करने में कोई हानि नहीं है। परन्तु हमें शोक से कहना पड़ता है कि हिन्दी के उद्धार को दम भरनेवाले हमारे सहयोगी पत्रों की अब उलटी ही प्रवृत्ति हो रही है, और वे उचित मात्रा से अधिक, अनावश्यक रूप से, अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करने लग गए हैं। उदाहरण रूप से कितने शब्द हम पीछे दे आए हैं। उन सबके लिए हिन्दी में शब्द विद्यमान हैं और यदि किन्हीं को न मालूम हो तो हम उन्हें सहर्ष बता सकते हैं। एक बात और है कि यदि यह मान लिया जावे कि अंग्रेजी के ऐसे शब्दों के लिए हिन्दी में उपयुक्त शब्द नहीं है तो हमें स्वयं घड़ने चाहिए। समय और भाव के अनुसार नए शब्द घड़ने से ही साहित्य में वृद्धि के साथ-साथ जीवन आता है। नहीं तो, ठहरे हुए पानी से भरे तालाब की तरह उसमें सडांध पैदा हो जाती है। अंग्रेजी पुस्तकों और समाचार पत्रों को अध्ययन करनेवाले जानते हैं कि उसमें कितने ही शब्द ऐसे हैं जो नए घड़े गए हैं वा घड़े जा रहे हैं और कितने ही शब्द ऐसे है जो पुराने कोषों में न मिलकर नए कोषों में ही पाए जाते हैं। फिर, क्यों नहीं, हिन्दी के विद्वान विदेशी भाषा की दासता को छोड़ नए शब्द घड़ते ? भारत की सबसे अधिक समृद्ध देशी भाषा—बंगाली, मराठी और गुजराती में क्या ऐसा नहीं होता ?

अन्त में, हम अपने भाव को फिर स्पष्ट कर देना चाहते हैं। हम यह नहीं कहते कि अंग्रेजी से हिन्दी में कोई शब्द न लिया जावें, क्योंकि उन्नति के लिए शब्द परिवर्तन भी आवश्यक है। परन्तु इसका यह अभिप्राय भी नहीं है कि अपनी भाषा से उचित और उत्तम शब्दों के होते हुए भी हम हिन्दी पर अंग्रेजी की कलम चढ़ावें जैसा कि आजकल हमारे सामयिक साहित्य में हो रहा है। यह प्रवृत्ति बहुत भयंकर है। जिसके लिए हमें अभी से सावधान हो जाना चाहिए। हम जहाँ अन्त में, अपने सहयोगी मित्रों से प्रार्थना करते हैं कि वे अभी से इसे रोकने का प्रबन्ध करें, वहाँ हम हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थायी समिति से भी सानुरोध प्रार्थना करते हैं कि एक उपसमिति संगठित करावे जो इस बात का निर्णय करे कि अंग्रेजी के किन-किन शब्दों का, अनिवार्य रूप से, हिन्दी में प्रयोग आवश्यक है और संदिग्ध अंग्रेजी शब्दों का हिन्दी रूप क्या-क्या है। आशा है, इस विषय में उचित आन्दोलन किया जावेगा।

[श्रद्धा, 16 जुलाई, 1920]

गुरुकुल का अधिकार भारतवासियों पर

असहयोगिता (Non-co-operation) का इस समय सारे देश में शोर मच रहा है। जाति में महात्मा गाँधी जी का पद बड़ा है, श्रीमान लाला लाजपतराय जी भी देशभक्तों में ऊँचा अधिकार रखते हैं। इन महानुभावों ने जो कुछ विचार किया है उससे देश का हित ही सोचा है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु विचारणीय इस समय यह है कि क्या इन महानुभावों से प्रस्तावित असहयोगिता के कामों में सफलता प्राप्त हो सकेगी या नहीं ? जिसको मनुष्य सत्य समझे उसी के अनुसार काम करना मनुष्य का कर्तव्य है, उसमें कृतकार्यता हो या न हो। व्यक्ति को सन्तोष है कि उसने अपना कर्तव्य पालन किया और वहीं उस आन्दोलन की समाप्ति हो गई। परन्तु जहाँ लाखों और करोड़ों को पीछे लगाकर चलना हो, जहाँ 30 करोड़ के भविष्य का प्रश्न हो वहाँ सच्चाई को उसी हद तक अमल में लाना चाहिए जहाँ तक कि उस संसार के पाँचवे भाग की जनता का निश्चित लाभ होकर आन्दोलन में कृतकार्यता हो सके। महात्मा गाँधी जी के जो प्रस्ताव हैं उनकी परीक्षा मैं पहले करता हूँ–(1) सरकार से पाए हुए खिताब सब लौटा दिए जावें।'' यदि सब भारतवासी खिताब लौटा दें और आगे कोई मिलने पर भी स्वीकार न करें परन्तु जहाँ 10 छोड़नेवालों के स्थान में 100 ऐसे मौजूद हैं जो खिताबों पर इस तरह टूट पड़ते हैं जैसे कुत्ते हड्डियों पर तो उसका प्रभाव न सरकार पर ही पड़ सकता है और न जनता पर। (2) यही हाल आनरेरी ओहदों का है। (3) सिविल और मिलिट्री नौकरी से भी यदि सब त्याग पत्र देंगे तो 500 उनकी जगह लेने के लिए तैयार हैं। लाला लाजपतराय जी ने कई कौन्सिलों के बहिष्कार करने की घोषणा कर दी है उसके विषय में महात्मा गाँधी जी सम्मति बहुत उत्तम मालूम होती है। कौन्सिलों में जाने के लिए चाहे सैकड़ों तैयार हो जावें, परन्तु यदि सम्मति देनेवाले सहस्रो को काबू कर लिया जावे तो कोई भी प्रतिनिधि कौन्सिलों में न जा सके।

यह सब असहयोग कठिन मालूम होते हैं, परन्तु एक प्रकार का असहयोग है जोकि गवर्नमेंट रूपी पूर्ण पुरुष की नसें ढीली कर सकता है, वह यह कि कोई भी भारत निवासी अपनी सन्तान को सरकारी पाठशालाओं में पढ़ने के लिए न भेजे। बहुत भाग विद्यार्थियों का प्राइवेट (Private) तथा एडेड स्कूल्स (Aided

Schools) और कालिजों के अन्दर है। यदि इस प्रकार के सभी कालेज यूनिवर्सिटी से अपना सम्बन्ध तोड़ लें तो गवर्नमेंट के होश कुछ ठिकाने हो सकते हैं। मेरी सम्मति में यदि जातीय शिक्षणालयों के संचालकों में कुछ भी आत्म-सम्मान का भाव होता तो लाहौर में फ्रैंक जानसन के अत्याचारों के पीछे वे अपनी संस्थाओं को ऐसी गवर्नमेंट की दासता से मुक्त करा लेते। परन्तु अब भी कुछ नहीं बिगड़ा, सुवह का भूला अगर शाम को घर आ जावे तो उसे भूला नहीं कहते—दयानन्द एंग्लो वैदिक कालिज, दयालसिंह कालेज, सनातन धर्म कालिज और इनके आधीन सब संस्थाएँ यूनिवर्सिटी के सम्बन्ध को एकदम त्याग दें, अन्य सब प्रान्तों के सैकड़ों कालिज और स्कूल यदि स्वतन्त्रता से काम करने लग जावें, और यदि बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के संचालक धन्यवाद के साथ यूनिवर्सिटी चार्टर लौटाकर वायसराय की सेवा में भेज दें तो बिना किसी शोरगुल के ब्रिटिश नौकरशाही का दिल दहल सकता है।

शायद ये स्वप्न की वातें हैं। परन्तु एक संस्था है जिसने 19 वर्षों से असहयोगिता का प्रमाण देकर जातीय शिक्षा को स्वतन्त्र बना छेड़ा है। गुरुकुल अपने जन्मदिन से अब तक नौकरशाही के जाल से बचा हुआ अपना काम करता आया है। इसके संचालकों को क्या-क्या प्रलोभन दिए गए, जिन सुनहली जंजीरों को अन्य, जातीयता का अभिमान करनेवाले, शिक्षणालयों ने बड़ी खुशी से पहन लिया, मन लुभानेवाले वे जंजीर न जाने कितनी बार उनके सामने पेश की गई, परन्तु परमेश्वर ने उनको ऐसी दासता से बचने की बुद्धि दी। इस समय भी मैं देखता हूँ कि माता-पिता अपनी सन्तानों को विदेशी दासता से बचाकर गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के अर्पण करना चाहते हैं और बीसियों स्थानों से अनुरोध किया जा रहा है मैं गुरुकुल की शाखाएँ वहाँ खोल दूँ। प्रत्येक शाखा को खोलने का व्यय मेरे अनुमान में 75,000 रुपया है। 25,000 रुपए में एकदम ऐसे मकान बन सकते हैं जिनमें 300 से अधिक विद्यार्थी निवास तथा शिक्षा प्राप्त कर सकें। और यदि 50,000 रुपए का स्थिर कोष साथ हो तो उसके सूद से ऊपर का सब खर्च चल सकता है। यदि मेरे पास 75 लाख रुपया हो। 100 शाखाएँ तत्काल खोल सकता हूँ, जिस प्रकार की हाल में ही उत्तर-हरियाणा गुरुकुल जि. रोहतक में खोल चुका हूँ। यह पहली विशेषता है जिसके कारण गुरुकुल भारत जनता की सहायता का पात्र बन सकता है।

दूसरी विशेषता यह है कि इसी संस्था में प्राचीन ब्रह्मचर्य आश्रम को पुनरुज्जीवित करने का यत्न किया जाता है। प्राचीन गुरुकुलों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि आचार्य और ब्रह्मचारियों में पिता-पुत्र का सम्बन्ध होता था। दोनों का जीवन बड़ा सरल, भोगरहित होता और तप की प्रधानता रहती थी। उस चित्र को फिर से खींचने का जीवित प्रयत्न यदि कहीं दिखलाई देता है तो वह

गुरुकुल विश्वविद्यालय ही है। आर्यजाति के अन्दर ब्रह्मचर्य और गुरु-शिष्य के सम्बन्ध के प्रति ऐसी श्रद्धा का भाव अब तक है कि उसी की मनोहर चित्र शव्दजाल द्वारा खिंचकर इस समय की दास संस्थाएँ लाखों बटोर लेती हैं। जहाँ प्रिन्सिपल और प्रोफेसर विद्यार्थियों से दिन में 2-3 घंटे ही मिल सकते हों, जहाँ उन्हें पकड़कर एक तीसरी शक्ति ने इकट्ठा कर दिया हो, जन्म का उत्तम पहला 10-12 वर्ष का समय अन्य प्रभावों में व्यतीत करके जहाँ विद्यार्थी कालिज में दाख़िल हुए हों, उन कालिजों के लिए नालन्दा और तक्षशिला के नाम पर अपील करना कहाँ तक उचित है, यह अपील करनेवाले सज्जनों को ही विचारना चाहिए। प्राचीन गुरुकुलों के आदर्श की ओर यदि कोई संस्था चलने का यत्न कर रही है तो यही है, क्योंकि यहाँ बचपन से ही बालक प्रविष्ट होकर इसी वायुमंडल के अन्दर पलते और महाविद्यालय तक पहुँचकर इन्हीं विचारों में परिपक्व होते हैं।

तीसरी विशेषता इस कुल की यह है कि बाल विवाह की जड़ यहाँ कट जाती है। गुरुकुल के नियमानुसार कोई भी विद्यार्थी 24 वर्ष की आयु तक विवाह नहीं कर सकता। गुरुकुल का अनुकरण करते हुए देवी ऐनी वेसेन्ट ने सैंट्रल हिन्दू कालेज में यह नियम किया था कि मिडल तक कोई लड़का दाखिल न किया जावे जो विवाहित हो। लाहौर के डी.ए.वी. कालिज ने कुछ दिन पीछे इसका अनुकरण करते हुए एन्ट्रेस क्लास तक यह नियम चलाने की आज्ञा दी। परन्तु कालिज में इस नियम को चलाने का किसी को भी साहस नहीं हुआ। जिस देश में 10-14 वर्ष आयु की विधवा हो, और एक से पन्द्रह वर्ष तक की 411627 विधवाएँ हों वहाँ 25 वर्ष की आयु तक पुरुष और 16 वर्ष की आयु तक स्त्री के ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने से कितना लाभ होगा, इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं है। बाल विवाह के कारण निर्बल सन्तान होती है और उसी से जाति का नाश होता है।

चौथी विशेषता यह है कि जाति बन्धन की गुलामी से यह कुल भारत जनता को आजाद करता है। एक कुल में 15 वर्ष तक रहकर सब भाई जातिभेद को भूल जाते हैं। देखनेवालों को भी यह निर्णय करना कठिन होता है कि कौन ब्राह्मण का, कौन शूद्र का और कौन अछूत का लड़का है। जिस स्वाभाविक वर्ण व्यवस्था का वेद द्वारा उपदेश किया है, जिस श्रम विभाग का तिलक महाराज जैसे सनातन धर्मी ने भी समर्थन किया है—उस स्वाभाविक वर्ण-व्यवस्था का क्रियात्मक प्रचार इसी कुल में हो रहा है।

पाँचवीं विशेषता यह है कि जिस श्रद्धा की स्कूल और कालिजों में जड़ कट रही है उसका उज्ज्वल मुख गुरुकुल में और भी परिमार्जित हो रहा है। जिन स्कूलों और कालिजों में ऊपर से बन्धन पर बन्धन डाले जा रहे हैं और मातृ भूमि के प्रति श्रद्धा का प्रकाश राजविद्रोह समझा जा रहा है, वहाँ यदि श्रद्धा की जड़ की

कट जावे तो सरल हृदय भारत-पुत्रों का उसमें क्या दोष है ? आत्मसम्मान और देश-हित का शुद्ध भाव यदि विकसित हो सकता है तो इसी गुरुकुल विश्वविद्यालय के अन्दर।

छठी विशेषता—ब्रह्मचारियों का तप का जीवन है। बूट, कोटों के बन्धनों से मुक्त, सिर-पैर से नंगे, जंगलों और पर्वतों की यात्रा करने में ब्रह्मचारियों के अतिरिक्त कौन तपस्वी हो सकता है। इसकी साक्षी वे भद्र पुरुष भली प्रकार दे सकते हैं जिन्होंने ब्रह्मचारियों की खेलें देखी हैं वा जिन्हें कुल पुत्रों के साथ यात्रा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

सातवीं विशेषता—यह है कि देश में यही एक विश्वविद्यालय है जिसमें शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को बनाया गया है। श्रीमान पंडित मालवीय जी ने भी हिन्दी यूनिवर्सिटी स्कीम बनाते हुए पहले निश्चय किया था कि शिक्षा का माध्यम हिन्दी को रखेंगे, परन्तु फिर देवी ऐनी बेसेन्ट के साथ मिलने के कारण उन्हें इस विचार को बदलना पड़ा। हिन्दी साहित्य सम्मेलनों के अधिवेशनों में मालवीय जी का ध्यान इस ओर दिलाया जाता रहा, गुरुकुलीय आर्यभाषा सम्मेलन में हर साल आर्य भाषा को हिन्दू यूनिवर्सिटी का माध्यम बनाने पर जोर दिया जाता रहा, परन्तु अब तक उसका परिणाम कुछ नहीं निकला। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि श्रीमान् मालवीय जी ने हिन्दू यूनिवर्सिटी के पिछले कन्वोकेशन में वाइस चासन्लर की कुर्सी से उठकर यह अवश्य कह दिया कि समय आ गया है जबकि हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहिए। जो समय माननीय मालवीय जी अब लाना चाहते हैं, उसका गुरुकुल में 19 वर्षों से राज्य है।

और भी विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं परन्तु सबसे बढ़कर विशेषता यह है कि भारतवर्ष में सचमुच जातीय शिक्षणालय कहे जाने योग्य केवल यही संस्था है। परीक्षा की मंजिल से यह संस्था बहुत आगे निकल चुकी है और इस समय यदि भारत के युवकों के हृदयों में आत्मसम्मान और मातृभूमि के प्रेम का संचार कोई संस्था कर सकती है तो एक यही है। ऐसी संस्था को आर्थिक स्थिरता प्रदान करना सारे देश का कर्तव्य है। इस संस्था में बड़ी शक्तियाँ हैं और भविष्य में इसका बड़ा प्रसार हो सकता है। यदि इसके लिए दिन-रात अनुभव करनेवालों को गुरुकुल भूमि में ही रहकर काम करने का अवसर मिल सके और यह तब हो सकता है जबकि उन लोगों को धन जमा करने के लिए बाहर मारे-मारे न फिरना पड़े।

गुरुकुल की इस समय भी आवश्यकताएँ निम्नलिखित हैं—(1) महाविद्यालय विभाग के ब्रह्मचारियों के लिए स्वास्थ्यप्रद आश्रम—1 लाख रुपया। (2) वेद, दर्शन, आर्य, सिद्धान्त, Western Philosophy, रसायन, English, गणित, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि विषयों के उपाध्यायों के निर्वाह के लिए इतना धन जिसने

1800 × 10 = 18000 सालाना सूद वसूल हो सके--3 लाख 'रुपया। (3) कृषि विभाग के मकानों के लिए 50 हजार, कृषि के अन्य सामान तथा कूप आदि के लिए 50 हजार, प्रोफेसरों तथा कर्मचारियों के वेतन के लिए 1 लाख रुपस का सूद = सर्व योग 2 लाख रुपया। (4) कला भवन--स्टीम इंजन और वर्कशॉप (Steam Engine & Workshop) के सामान के लिए--1 लाख। इसमें लोहारी, तरखानी तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले और बहुत से काम सिखलाए जावेंगे। इस अंश में गुरुकुल का एक ब्रह्मचारी बड़ी तीव्र बुद्धि रखता है, और यदि पूरा सामान उसके लिए जमा कर दिया गया तो आशा है कि बहुत से यन्त्र भी तैयार हो सकेगा। हाथ से कपड़ा बुनने के लिए 50 हजार रुपया और अन्य बहत सी कारीगरियाँ सिखलाने के लिए 50 हजार रुपए का स्थिर कोष। इन सब कामों के लिए इमारत पर 1 लाख रुपया खर्च होगा। सर्वयोग 3 लाख रुपया। (5) आयुर्वेद--स्थिर कोष, जिसके सूद से 6 प्रोफेसरों, कम्पाउन्डरों और अन्य कर्मचारियों का वेतन निकल सके--ढाई लाख रुपया। आयुर्वेद तथा उपयोगी शरीर विज्ञान और तत्सम्बन्धी अन्य शिक्षाओं के लिए 50 हजार के उपकरण चाहिए। इस विभाग के लिए बनाए जानेवाले मकानों पर डेढ़ लाख रुपए से कम खर्च न होगा, जिसमें आयुर्वेद बाटिका आदि भी शामिल समझनी चाहिए। सर्वयोग चार लाखं रुपया। (6) गुरुकुल यन्त्रालय के लिए 50 हजार रुपया चाहिए क्योंकि शिक्षा माध्यम हिन्दी होने के कारण और वैदिक तथा लौकिक संस्कृत साहित्य के उपयोगी ग्रन्थों की आवश्यकता बाधित करती है कि अपने स्वतन्त्र यन्त्रालय से अपने उपयोग की किताबें छपवाई जावें। (7) विशेष विषयों के लिए विदेश में भेजकर उपाध्याय तैयार करना। गुरुकुल में वे ही उपाध्याय काम कर सकते हैं जिन्होंने इसके वायुमंडल में शिक्षा पाई हो। मैं चाहता हूँ कि कम से कम अपने 10 स्नातकों वा अन्य हितैषी विद्वानों को विदेश में भेजकर विशेष विषयों में निपुण बनाया जावे। जिससे जो अस्थिरता उपाध्यायों के बदलने के कारण दिखाई देती है बाहर हो जावे। प्रत्येक ऐसे स्नातक वा विद्वान को कम से कम 3 वर्ष विदेश में रखना होगा। अतः दस-दस हजार राशि की छात्रवृत्तियाँ चाहिए, योग एक लाख रुपया। (8) इस समय पाँच-पाँच हजार की शायद लगभग 20 के छात्रवृत्तियाँ हैं जिनसे 20 ब्रह्मचारी सदैव के लिए बिना शुल्क की शिक्षा पा रहे हैं। मैं चाहता हूँ कि कम से कम 80 और ब्रह्मचारी बिना शुल्क के शिक्षा पा सकें, इसके लिए 4 लाख रुपया चाहिए। (9) शाखा गुरुकुल कुरुक्षेत्र का सारा बोझ अब गुरुकुल की प्रबन्धकर्त्री सभा पर आ ही पड़ा है। उसको इस योग्य बनाने के लिए कि उसमें 250 छात्र बराबर पढ़ते हों और 8 श्रेणियों तक उसका प्रबन्ध हो जावे, एक लाख रुपए की आवश्यकता है।

इस प्रकार 20 लाख रुपयों की गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी को स्थिर करने के लिए आवश्यकता है। यदि इसकी यह आर्थिक सहायता पूरी हो जावे और यहाँ

के कार्यकर्ताओं को आए दिन भीख के लिए बाहर न निकलना पड़े तो इस संस्था से वे काम हो सकेंगे जो कोई भी दूसरी संस्था एक करोड़ का स्थिर कोष जमाकर के भी नहीं कर दिखा सकती।

यह अपील हाथ में लेकर मैं शीघ्र ही बाहर निकलनेवाला हूँ। भिक्षु अलख तो द्वार पर आकर ही जगावेगा परन्तु यह घोषणा इसलिए निकाल दी है कि धर्म और देश के भक्तों को सहायता के लिए पहले से तैयारी करने का अवसर मिल जावे। दैनिक और साप्ताहिक स्वदेशी पत्र सम्पादकों से प्रार्थना है कि मेरी इस अपील को पत्रों में उद्धृत कर दें।

[श्रद्धा, 23 जुलाई, 1920]

कर्मवीर कहाँ से उत्पन्न होंगे ?

मातृभूमि के लिए यह बड़ा विकट समय है। विकट ही नहीं आशापूर्ण समय भी है। एक ओर शारीरिक कष्ट पर कष्ट और प्राकृतिक विपत्ति पर विपत्ति पड़ रही है दूसरी ओर तामस अवस्था से राजस अवस्था में जाते हुए जाति के अन्दर जीवन के चिन्ह दिखाई देते हैं। जो पत्ते के खड़कने से काँपने लगते थे वे तोप के मुँह में निर्भय होकर जाने के लिए तैयार हैं, यह परिवर्तन बड़ा है, कौन इससे इन्कार कर सकता है ? इस परिवर्तन को देखकर शासक जाति की आँखें खुल रही हैं। जो कल हिन्दुस्तानियों को तुच्छ और न ध्यान देने के योग्य समझते थे वे आज उन्हीं हिन्दुस्तानियों से कह रहे हैं—"हम बाईं गाल पर थप्पड़ खाकर दाहिनी गाल आगे न करेंगे प्रत्युत तुम्हारी चोट के उत्तर में जबरदस्त चोट लगावेंगे।" यदि कोई हिन्दुस्तानी दो वर्ष पहले यह कहता कि वह भी गोरों को चोट लगा सकता है, तो सुनने वाले कहते—"मेंढक को भी जुकाम हुआ है।" कल यह दशा थी और आज यह है कि हिन्दुस्तानियों की चालों की गोरे शासक शिकायत करते हैं और धमकी देते हैं कि यदि ऐसी अवस्था रही तो वे भारत प्रबन्ध में दख़ल न देंगे। गोरों का यह शोर मचाना चाहे केवल 'कैंल' माह ही हो परन्तु ऐसे शब्द गोरों के मुँह से निकलना एक आश्चर्यजनक घटना है।

कुछ ही हो यह घटना सामने है। भारतवासी अब अपने आपको गिरा हुआ नहीं समझते, अविद्या में ग्रस्त नहीं समझते, अयोग्य नहीं समझते। समझते यह हैं कि आज ही वे स्वराज्य प्राप्त करने के योग्य हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि वे समझते हैं कि उनके अन्दर मनुष्यों पर राज्य करने की शक्ति आ गई है। राज्य कौन कर सकता है ? कृष्ण भगवान ने गीता में कहा है—"नराणां च नराधिपम्।" नरों के बीच में नराधिपति अर्थात् राजा हूँ। इससे कृष्ण भगवान का क्या मतलब है ? कृष्णोक्त गीता में निष्कामता का एक गीत गाया गया है। यदि सबसे बढ़कर कोई बात गीता से सिद्ध होती है तो वह यह कि कृष्ण भगवान अपने आपको निष्कामता का आदर्श समझते थे; तब कृष्ण की इस उक्ति का अर्थ यह है कि राजा वा शासक होने का वही मनुष्य अधिकारी है जोकि बिना फल की आशंका के अपने कर्तव्य का पालन करे। क्या भारत निवासियों,

वा उनके सुशिक्षित विभाग में, निष्काम कर्म करने का भाव जाग उठा है ? प्रश्न स्पष्ट है, परन्तु इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि क्या हमारे वर्तमान शासक निष्कामता के स्वरूप हैं ? क्या उन्होंने स्वार्थ को जीत लिया है ? क्या उनमें पक्षपात का लेश नहीं रहा ? दूर जाने की आवश्यकता नहीं, एक सप्ताह के समाचार पत्रों को ही उठा लें तो पता लगता है कि उनके अन्दर क्या काम भाव कर रहे हैं। हथियारों का कानून बड़े बाजे-गाजे से संशोधित किया गया परन्तु फल उसका यह है कि जहाँ गोरों और गवर्नमेंट के खुशामदियों को बिना रोक-टोक हथियारों का लाइसेंस मिलता है, वहाँ अन्य भद्र पुरुषों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। गुरुकुल काँगड़ी जंगल में है, वहाँ हिंसक पशुओं का भय रहता है, हथियारों का लाइसेंस पहले से है। 3 महीने से लाइसेंस बदलवाने की दरख़्वास्त दी हुई और हथियार दिखलाने के लिए भेजे हुए हैं, आज तक हथियार लौटकर नहीं मिले और शायद उस समय तक न मिलें जब तक कि आगामी वर्ष का लाइसेंस बदलवाने की जरूरत न पड़ जावे। और गवर्नमेंट कह रही है कि उसने गोरे-कालों के अधिकार बराबर कर दिए हैं। एक छोटी-सी हँसी की बात है—एक गोरे लैफ्टिनेंट की तमाखू पीने की पाइप चुराई गई। अपराधी को 4 वर्ष की सख्त सजा दी गई। हाईकोर्ट में अपील हुई वहाँ केवल 2 बरस की सजा रह गई। किसी हिन्दुस्तानी का हुक्का चुराया जाता तो शायद 3 महीने से ज्यादा कैद न होती। अभी जनरल डायर के मामले में जिस प्रकार की वक्तृताएँ बड़े प्रसिद्ध-पुराने जजों ने दीं वे सिद्ध कर रही हैं कि हमारी शासक जाति ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि को ही शासन का गुरु समझा हुआ है। एक ब्रिटिश जनरल शैतान की तरह निहत्थे युवा, बाल और बूढ़ों को भून डाले, जख्मी रात भर तड़प-तड़पकर मरे और कोई पानी पिलानेवाला नहीं, बिना औषधि के सैकड़ों रात में मर जावें और इस एक व्यक्ति को बचाने के लिए ब्रिटेन के पुराने प्रसिद्ध सार्ड चान्सलर लार्ड हाल्सबरी (Lord Halsbury) बूढ़ी अवस्था में चलने की शक्ति न रखते हुए भी लड़खड़ाती टाँगों को लिए हाउस ऑफ लार्ड में पहुँच जावें। समाचार देनेवाला लिखता है कि इतने लार्ड किसी मामले पर बहस करने को जमा नहीं हुए। जो राजमन्त्री भारत के बड़े हितैषी समझे जाते हैं उनके लेख और कर्तव्य भी पक्षपात से भरे हुए हैं। अभी बहुत से मुसलमान यह देखकर कि इस राज्य के आधीन वे अपने धर्म के कर्तव्य का पालन नहीं कर सकेंगे—हिजरत (देश छोड़कर विदेश में जाने) के लिए तैयार हुए। उनमें से कुछ पेशावर से आगे चले। उस ट्रेन में गोरे भी थे जिन्होंने मुसलमानी देवियों को कुदृष्टि से देखना आरम्भ किया। देवियों के रक्षक महा. हबीबुल्ला खाँ ने उनको स्त्रियों के कमरे में जाने से मना किया क्योंकि उन्होंने अन्दर घुसकर स्त्रियों को तंग करना शुरू कर दिया था। अतः दोनों ओर निहत्थे थे इसलिए पत्थर की मारामारी होकर ट्रेन चल दी। अगले स्टेशन पर फौज ने ट्रेन को घेर लिया। हबीबुल्ला को बन्दूकें और संगीनें

दिखलाकर बाहर बुलाया, बड़ी निर्दयता से उसके प्राण लिए गए। ख़िलाफत कमिटी पेशावर का बयान है कि उसके 6 गोलियों के जख्म थे और 9 तलवारें तथा संगीनों के; एक और 'मुहाजिर' बाहर निकल आया था, उसको भी संगीन से घायल कर मरा हुआ समझकर फेंक गए।

ऐसी निर्दयता क्यों हुई ? इसलिए कि हिन्दुस्तानियों को, अंग्रेज की ओर से अत्याचार होने पर भी, उसकी ओर आँख उठाकर देखने का साहस न रहे। शासकों पर विश्वास नहीं रहा, प्रिविकौन्सिल के न्याय पर से इतबार उठ गया, फिर साधारण गोरों की तो कथा ही क्या है। यह दृष्टान्त अपने देश के सामने है। राज विद्या में यही लोग हमारे गुरु हैं इन्हीं की चालों से हम इन्हें हराना चाहते हैं। प्रश्न यह है कि छल को छल से, पिशाचत्व को पिशाचत्व से, अन्याय को अन्याय से कभी दवाया या जीता नहीं जा सकेगा ? जब हम अपने शासकों से राजनीति का पाठ उसी के सहारे स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं तो हम भूल जाते हैं कि जिस नीति ने 150 वर्षों तक भारत से राज्य करने के पीछे भी उन्हें अकृतकार्य सिद्ध कर दिया है और इस योग्य उन्हें बना दिया है कि वे बुरे-भले में विवेक हीन कर सकें और अपने हिताहित को समझ ही न सकें तो वह नीति हमारे लिए कहाँ तक सुखदाई हो सकेगी ?

जिस स्वराज्य के लिए चिरकाल से उत्कृष्ट आकांक्षा लग रही थी उसके मिलने में बहुत कसर बाकी नहीं है। वह स्वराज्य इसलिए नहीं मिलेगा कि भारतवासी अपना शासन आप करने के योग्य हो गए हैं, प्रत्युत इसलिए कि हमारी शासक जाति के साम्राज्य का बढ़ा हुआ फैलाव न जाने किस समय उन्हें एकदम से विवश कर दे और वे भारत निवासियों को उनके भाग्य पर छोड़कर चल निकलें। दोनों तरह से स्वराज्य समीप है। यदि ब्रिटिश जाति की अति, पराकाष्ठा तक पहुँच गई और विकास सिद्धान्त के अनुसार वे भारत को छोड़ने को बाधित हो गए, तब भी और यदि सँभलकर उन्होंने अपनी नीति को बदल दिया और अपने हाथ से भारतवासियों के गले में स्वराज्य की मणिमाला पहना दी तब भी, इसका शासन भारत प्रजा को ही करना पड़ेगा। यदि पहली अवस्था हुई तब तो वह स्वराज्य बड़ा महँगा पड़ेगा। स्वार्थी और भोगी गुरुओं के स्वार्थी तथा भोगी चेले एकदम बन्दीगृह से निकलकर न जाने दूसरी कैसी दासता में उन्हें फँसना पड़े। यदि दूसरी अवस्था हुई तब भी जीवन के लिए कृष्ण भगवान के वाक्य पर अमल करना होगा। यदि बहुत से कर्मवीर कर्मफल की आशा छोड़कर निष्काम कर्तव्यपालन विद्यमान हुए तब तो बेड़ा पार हो जावेगा नहीं तो नैय्या मँझधार में डाँवाडोल होगी।

क्या कोई ऐसा कलाघर है जिसमें भय और काम के दोषों से मुक्त होकर पवित्रात्मा का काम करने के लिए खड़े हो सकें। जाति वही बनती है जो कुछ की उसे उसके शिक्षणालय बनावें। जब आजकल के शिक्षणालय भोग और स्वार्थ

की ही शिक्षा देती है और निर्बल को पीस डालने की फिलासफी की सच्चाई का ही प्रचार करते हैं तो इन शिक्षणालयों से निस्वार्थ तपस्वी, सभ्य कैसे निकल सकेंगे ? और बिना तप के कोई भी मनुष्य कर्मवीर नहीं बन सकता। भारतवर्ष के पुराने राजाओं की कहानियाँ केवल कल्पना मात्र नहीं है, उनको केवल उपन्यास कहकर टाला नहीं जा सकता। राजा अश्वपति की इस प्रतिज्ञा पर कि उसके राज्य में कोई भी कृपण, अधर्मी, व्यभिचारी इत्यादि नहीं है, समझ में जगानी है, जबकि उन्हीं उपनिषदों में (जहाँ यह कहानी लिखी है) ब्रह्मचर्याश्रमों और गुरुकुलों के आदर्श का ही केवल वर्णन नहीं, अपितु गुरु और शिष्यों का जीवित सम्बन्ध भी दिखलाया गया है। अयोध्या का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने वहाँ की प्रजा को सर्वगुण सम्पन्न बतलाने के साथ ही स्पष्ट लिखा दिया है कि उस सारे राज्य में कोई भी व्यक्ति विद्याशून्य नहीं था। वही पुराना आदर्श जब तक सामने रखकर शिक्षा का काम फिर से आरम्भ न किया जाएगा तव तक कर्मवीर मनुष्यों के दर्शन दुर्लभ हो रहेंगे।

गत चार वर्षों से मैं पश्चिमीय राज प्रबन्ध प्रणाली के विरुद्ध आवाज उठाते हुए ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रतिनिधि के सचिवों का दृष्टान्त पेश किया करता था, जहाँ एक कानून बनाकर वे 'मारकोनी कम्पनी' के हिस्सों का बाजार मन्दा करा देते और अपने एजेंटों द्वारा दूसरे के हिस्से खरीदवाते, और फिर दूसरा कानून पास करके उनके दाम तेज कराके वही हिस्से बिकवा करोड़ों के वारे-न्यारे करते है। मैं कहा करता था कि राजमन्त्री वशिष्ठ से त्यागी होने चाहिए जिनके सामने कानून बनाते हुए अपना कोई स्वार्थ न हो। मेरे इस कथन की पुष्टि लन्दन के अखबार 'न्यू विटनेस' (New Witness) से होती है। वह ब्रिटिश पार्लियामेंट को विचित्र प्रशंसा-पत्र देता है। ब्रिटिश गवर्नमेंट के एक सचिव (मि. चर्चिल) ने एक लेख में शिकायत की थी कि आजकल की जनता ब्रिटिश पार्लियामेंट से किसी भी, एक शासक को शक्ति को अच्छा समझती है, कुछ युक्तियाँ ब्रिटिश पार्लियामेंट की स्थिरता की रक्षा के लिए दीं। इसके उत्तर में उन युक्तियों को मानते हुए 'न्यू विटनेस' का सम्पादक इस बात का उत्तर देता है कि प्रतिनिधि राज्य की आवश्यकता स्पष्ट होते हुए भी क्यों लोग उसके विरुद्ध हो गए हैं। वह लिखता है—"वह विचार वा कल्पना यह है कि यह वस्तु (पार्लियामेंट) एक धोखा है। इसलिए नहीं कि राजनैतिक लोग यह कहते हैं वा वह करते हैं, प्रत्युत इसलिए कि जनता समझती है कि उन (राजनीतिकों) से रिश्वत देकर कुछ भी कराया जा सकता है। यह नहीं है कि वे जातीय आवश्यकताओं को सर्वथा भूल जाते हैं, परन्तु इसलिए कि यह विश्वास किया जाता है कि अपने स्वार्थ का उन्हें अधिक ध्यान है। यह हम न जानें कि वह अवश्य धर्मात्मा होंगे, परन्तु हम यह जानते हैं कि आजकल के पार्लियामेंट के मेम्बर ईमानदार नहीं है।" फिर 'मर्कोनी कम्पनी' के हिस्सों की मिस्टर चर्चिल को याद दिलाकर सम्पादक लिखता है—"उस समय से यह निश्चय

हो गया है और शायद अन्तिम निश्चय हो गया है कि ऐसी समस्याओं से अपनी राजनैतिक उन्नति को नहीं रोकना चाहिए।...पर्लियामेंट का हाल यह है कि यह पार्लियामेंट नहीं है। यह एक प्रकार की धनाढ्य सभा है...जोकि न धनाढ्यों की और न ही प्रजा की प्रतिनिधि कही जा सकती है...।''

यह है पार्लियामेंट जो हमें क्रमशः स्वराज्य देने लगी है। यदि इस आदर्श गुरु के लिए पीछे चलकर स्वराज्य लेना है तो वह चेलों के लिए कैसे सुखदाई हो सकेगा। यदि पूरे ब्रिटिश पार्लियामेंट के नियम आज यहाँ लागू कर दें तो उससे क्या लाभ होगा जब यहाँ की पार्लियामेंट के मेम्बर उनसे भी बढ़कर स्वार्थी हो जाएँगे। यह लोकोक्ति अधर्म पर ही घटती है कि ''गुरु गुड़ रहे और चेला शक्कर हो गए।'' मॉडरेट ऑर एक्स्ट्रीमिस्ट, कांग्रेसी और होमरूली, बेसेन्टी और तिलकी सब उसी एक पश्चिमीय रंग में रंगे जाकर फाग खेलने की तैयारी कर रहे हैं।

इस विकट समय की समस्या कौन हल करेगा ? मनुष्य और हम कागज, कलम और स्याही के पीछे भाग रहे हैं। अभी लॉर्डों में जो डायर पर बहस हुई उसके विषय में एक महाशय ने डॉक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर सम्मति पूछी। उन्होंने उत्तर दिया—''इससे हमें प्रत्येक भीख के लिए उन पर निर्भर करने की असारता और अपमान को अनुभव करना चाहिए जो हमें तुच्छ समझते हैं। हम अपनी वर्तमान गिरावट की गहराई से तभी उठ सकते हैं जब अपने अन्दर की निर्बलताओं के स्रोत को अलग करें और अपनी, समाज शिक्षा और सम्पत्ति सम्बन्धी शक्तियों को संगठन में लाएँ।...अधीनता और भिखारीपन के भावों से मुक्त होकर, भय को दूर भगाकर और व्यर्थ तीव्र क्रोध और ईर्ष्या से सुरक्षित होकर ही अपनी योग्य महान ताकत को पहुँच सकते हैं।''

दार्शनिक तथा कवितापूर्ण कल्पनाओं के सुन्दर वस्त्रों से अलग करके यदि ऊपर की दोनों सम्मतियों पर विचार करें तो परिणाम एक ही निकलता है स्वार्थ और भोग की अग्नि में दग्ध वर्तमान सभ्य राष्ट्र और राज्य और उनके नेता भारतवर्ष के लिए पथदर्शक का काम नहीं दे सकते। लोभी गुरु का लालची चेला भवसागर से पार नहीं हो सकता। यह तो सम्भव है कि दोनों एक-दूसरे को ले डूबें; यह सम्भव नहीं कि गुरु को गहरी भँवर में धकेलकर चेला पार हो जाए। कवि ने ठीक कहा है :

लोभी गुरु लालची चेला
दोनों खेलें दाँव।
भवसागर में डूबते
बैठ पत्थर की नाँव।।

संसार की वर्तमान घटनाएँ पुकार-पुकार कर हममें सावधान कर रही हैं।

हमें कर्मफल का त्याग करके कर्तव्य पालन करनेवाले कर्मवीरों की आवश्यकता है। परन्तु भारतनिवासी इस समय अपने मुख्य कर्तव्य को भूले हुए असार संसार को न्यौछावर कर रहे हैं। स्वार्थी, भयभीत दासों को छूमन्तर से निर्भय कर्मवीर नहीं बनाया जा सकता, इसके लिए 'वैराग्य' और 'अभ्यास' दोनों की आवश्यकता है।

क्या भारतवर्ष में गुरुकुलों से भिन्न कोई शिक्षणालय है जहाँ त्याग का क्रियात्मक पाठ पढ़ाया जाता है ? क्या इसके अतिरिक्त कोई संस्था है जहाँ भारत सन्तान को तपस्वी बनाने का यत्न किया जाता है ? ऐसी संस्था के मार्ग में जो आर्थिक तथा अन्य रुकावटें हैं उन्हें दूर करना भारत सन्तान का मुख्य कर्तव्य है। मेरा नम्र परन्तु दृढ़ निवेदन यह है कि यदि मेरे गतांक के लेखानुसार देश के हितचिन्तकों की ओर से आर्थिक सहायता (माली मदद) मिल जावे तो एक व्यक्ति अपना सारा बल लगाकर, इस अंश में, जो कुछ कर सकता है उसमें कमी न रहेगी।

यदि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय तथा उसकी वर्तमान शाखाओं के लिए धन की चिन्ता न रहे और यदि देश के धार्मिक नेता दानी थोड़ा सा भी ध्यान दें तो इस चिन्ता से मैं एक वर्ष में मुक्त हो सकता हूँ–तब मेरा संकल्प है कि जिन्हें अछूत बतलाकर जाति का चौथा अंग काट दिया गया है उनकी शिक्षा का काम हाथ में लिया जाए और उन्हें भारतमाता का शत्रु बनाने का जो यत्न इंगलैंड और अमेरिका की ओर से शुरू हो गया है उस यत्न का मुकाबला करके सचमुच दिखला दिया जावे कि माता की 60 करोड़ से एक भी कम भुजा नहीं है।

[श्रद्धा, 30 जुलाई, 1920]

O

राजनीति का सूर्यास्त

सोमवार 19 श्रावण (2 अगस्त) के प्रातः दैनिक अखबार समाचार लाए कि लोकमान्य तिलक का देहान्त हो गया। मैंने उसी समय सोचा कि भारतवर्ष से राजनीति का सूर्य अस्त हो गया। तिलक के होश सँभालने से पहले भी राजनीतिज्ञ थे और उनके समय में ऐसे नीतिज्ञ हो चुके हैं और हैं जिनका लोहा माना गया है। परन्तु फिर भी मैं यही कहता हूँ कि अपनी मातृभूमि में राजनीति का सूर्य अस्त हो गया। यह क्यों ? इंग्लैंड के तत्त्वज्ञानी बेकन (Bacon) के विषय में लिखा गया है कि वह फिलासफी (Philosophy) को आसमान पर से जमीन पर लाया; तिलक महाराज के विषय में निश्चय है कि भारतवर्ष में राजनीति को अंग्रेजीपढ़ों ने पुस्तकालयों से बहार निकालकर जनता की झोपड़ी में पहुँचाने के अगुआ वही थे। केसरी पहला राजनीतिक समाचार पत्र है जो किसानों की झोपड़ियों और मजदूरों की गोष्ठियों में पढ़ा जाना शुरू हुआ था और गणपति पूजा महिला संगठन है कि जिसने जनता के बड़े भाग को एक राजनीतिक सूत्र में पिरो दिया। समर्थ रामदास ने शिवाजी को द्विजन्मा बनाया और छत्रपति शिवाजी ने स्वतन्त्रता का नाद बजाया परन्तु समर्थ तिलक ने स्वयं अपना राजनीतिक संस्कार किया और स्वयं ही भारत प्रजा को राजनैतिक स्वतन्त्रता की घोषणा दी– Homerule is my birht right and I claim it. स्वराज मेरा जन्माधिकार है; और मैं इसका दावा करता हूँ।

राजनीति का सूर्य अस्त हो गया, फिर क्या अँधेरा हो जाएगा। हे पुनर्जन्म पर विश्वास रखनेवाली भारत-प्रजा ! सूर्य अस्त हो गया परन्तु उसका अत्यंताभाव नहीं हुआ। जो काम एक सूर्य करता था, उससे प्रकाश पाए हुए सहस्रों तारे उसको पूरा करेंगे। भारतमाता के उज्ज्वल मुख की ओर देखो–उसका मुख मलिन नहीं है, क्योंकि वह जानती है कि जो प्रकाश उसके समर्थ पुत्र ने फैलाया था वह एक-एक भारत पुत्र ने अपने अन्दर सुरक्षित कर लिया है।

लोकमान्य तिलक के विछोड़े पर कौन आँसू न बहाएगा। विवश होकर अश्रुधारा बह निकलेगी। परन्तु वह देखो दिद्युत के अक्षरों में सूर्यलोक पर क्या लिखा गया है–'स्वराज्य मेरा जन्माधिकार है और मैं उसे प्राप्त करूँगा।' ओइम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

[श्रद्धा, 6 अगस्त, 1920]

पार्टी का नेता नहीं वैदिक धर्म का सेवक हूँ

आर्यसमाज के मिलाप पर मैंने कुछ लिख दिया था; उसमें आर्यसमाज के दोनों प्रधान दलों के संचालकों को नाम देकर सम्बोधन किया गया था कि वे सब मिलकर एकता का कोई ढंग निकालें। इस पर प्रकाश में लिखा गया—'अगला कदम नहीं उठाया जा सकता, जब तक लाला हंसराज जी अपने खयाल का इजहार न करें। स्वामी श्रद्धानन्द जी का बकौल उनके अब किसी पार्टी से तआल्लुख नहीं, लेकिन पुराने संस्कारों की वजह से लोग उन्हें गुरुकुल पार्टी का नेता समझते हैं।' अपने 3 श्रावण के अंक में प्रकाश ने यह लिखा, और 10 श्रावण के अंक में सद्धर्म प्रचारक के सम्पादक ने इसी का अनुकरण करते हुए मुझे महात्मा पार्टी का नेता बतला दिया है। मैं यदि चुप रहूँ तो कल को पार्टियों का फुटबाल बनकर मुझे फिर से आर्यसमाज के क्रीड़ा क्षेत्र में शायद इधर-उधर ठोकरें खानी पड़े इसलिए में स्पष्ट शब्दों में लिखता हूँ कि मैं किसी पार्टी का नेता नहीं, मैं आर्यसमाज का भी 'जरख़रीद गुलाम' नहीं, मैं सार्वभौम वैदिक धर्म का एक तुच्छ सेवक हूँ।

महात्मा हंसराज को मेरी राय में चुप नहीं रहना चाहिए, उन्हें तो चार अन्तरीय सहयोगियों से निश्चय करके अवश्य अपनी सम्मति प्रकाशित करनी चाहिए। यदि यह कोई ऐसा पत्र लिख भी चुके हैं जिससे एकता के विरोध की गन्ध आती हो। जिसके प्रकाश करने की कृष्ण महाराज ने धमकी दी है। तो क्या हर्ज है; महात्मा हंसराज जी केवल इतना लिख सकते हैं कि उन्होंने अपनी सम्मति बदल दी है। परन्तु महात्मा हंसराज जी के न बोलने से महात्मा व गुरुकुल पार्टी के नेता अपनी उत्तरदायिता से मुक्त नहीं हो जाते। इस समय उक्त पार्टी के राजनैतिक नेता महाशय कृष्ण हैं और धार्मिक नेता प्रो. रामदेव जी हैं। इन दोनों का कर्त्तव्य है है कि आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान महाराज कृष्ण जी को सम्मति देकर उनसे घोषणा पत्र निकलवा दें, जिससे यह सिद्ध हो जाए कि किन शर्तों पर इन दोनों दलों में एकता की सम्भावना है फिर यही महात्मा हंसराज जी अपने दल की सम्मति प्रकाशित न करेंगे तो सर्वसाधारण की दृष्टि में भाइयों की विलाप में रोड़ा अटकाने वाले वह समझे जाएँगे।

एक आशंका सद्धर्म प्रचारक के सम्पादक महाशय ने की है। मैंने लिखा था

कि तीन संन्यासियों की परिषद् बनाकर उनसे निर्णय कराया जाए कि सिद्धान्तों ने मुख्य कौन और गौण कौन है। इस पर उस प्रचारक ने जिसको जन्म मैंने दिया, और 39 वर्ष तक चलाया, माँस भक्षण के सिद्धान्त का लम्बा उदाहरण देते हुए, उसी प्रचारक के सम्पादक लिखते हैं–'हम पूछना चाहते हैं कि यदि इस प्रस्तावित सभा के सभासदों में से बहुत से सभासदों की यह सम्मति हो कि खान-पान का सिद्धान्त गौण है, चाहे कोई मनुष्य शाक-भोजी हो और चाहे माँस-भोजी, सब कोई आर्यसमाज का सभासद हो सकता है, तथा यह सभा इस खान-पान के सिद्धान्त को गौण ही ठहरा दे, तो क्या श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज इस बात से सहमत हो जाएँगे ?'

प्रचारक के सम्पादक महाशय को विदित हो कि जो प्रश्न मुझसे किया है वह प्रो. रामदेव और महा. कृष्ण से करें। प्रकाश में लोकमान्य लाला लाजपतराय के मन्तव्यों पर लम्बी बहस उठाते हुए यह लिखा गया था कि यदि किसी गौण सिद्धान्त पर लालाजी का मतभेद हो तब तो उन्हें आर्यसमाज का काम करना ही चाहिए किन्तु यदि किसी प्रधान सिद्धान्त पर मतभेद हो तब उन्हें कालेज पार्टी के साथ भी मिलकर काम नहीं करना चाहिए। प्रकाश का वह पर्चा मेरे सामने नहीं है, शब्द तो और हो सकते हैं, परन्तु जहाँ तक मुझे स्मरण है, भाव यही था। इसी विचार से मैंने सिद्धान्तों में मुख्य और गौण का निर्णय करने की ओर संकेत किया था। मेरे लिए वेदानुकूल सभी सिद्धान्त मुख्य हैं, गौण कोई नहीं। और केवल कागज पर लिखे हुए सिद्धान्त निर्जीव हैं, उनमें जीवन तभी पड़ता है, जबकि सभी आर्यपुरुष तद्नुकूल आचरण करें।

सारांश मेरे लेख का यह है, कि मेरी सम्मति किसी दल विशेष की सम्मति नहीं है। एकता के लिए पहला पत्र तभी उठेगा जब किसी दल का नेता अपनी स्पष्ट सम्मति प्रकाशित कर देवे।

[श्रद्धा, 6 अगस्त, 1920]

सार्वदेशिक प्रचार में सहायता दो

सार्वदेशिक सभा ने कई वर्षों से यह प्रस्ताव स्वीकार कर छोड़ा था कि मद्रास में वैदिक प्रचार के लिए एक उच्च कोटि का प्रचारक भेजा जाए। देर तक यह प्रस्ताव विचार-कोटि में ही पड़ा रहा। बजट में इसके लिए 1500 रुपया रखा गया, परन्तु केवल 350 रुपए आर्य प्रतिनिधि पंजाब की ओर से इस निधि में आए शेष किसी प्रतिनिधि ने सुध न ली। संयुक्त प्रान्त की सभा ने प्रतिज्ञा की हुई है कि जो रकम पंजाब सभा देगी, उतनी ही वह भी देंगे; अर्थात् 350 रुपए नकद और 350 रुपए का वादा—इतने में ही सार्वदेशिक सभा के प्रधान ने लंगोटी में फाग खेल डाला; और 5 आषाढ़ के 'श्रद्धा' पत्र में 5000 रुपए की अपील निकालकर पंडित सत्यव्रत सिद्धाँतालंकार को म्रदास की ओर विदा कर दिया—80 सत्यव्रत ने बंगलौर में पहुँचकर जब अपना परिचय दिया तो स्कूल कालेजों के सैकड़ों विद्यार्थी हिन्दी पढ़ने के लिए उनके गिर्द जमा हो गए। विद्यार्थी ही नहीं अन्य सुशिक्षित बहुत-से सज्जन भी उत्सुक दिखाई दिए, प्रश्न स्थान का था Nathonal High School बंगलौर में इतना कमरा मिल गया जिसमें 75 विद्यार्थी पाठ ले सकें। संस्कृत जानने वाले विद्यार्थियों को पंडित सत्यव्रत स्वयं पढ़ाते हैं और केवल देशभाषा (मद्रासी) जानने वालों को उक्त स्कूल के संस्कृताध्यापक अक्षर-बोध करा रहे हैं। जिसके बाद वे विद्यार्थी पंडित सत्यव्रत जी के पास ही पढ़ने लग पड़ेंगे। अंग्रेजी में आर्यसमाज का साहित्य मैंने कुछ पंडित जी के पास भेज दिया है। और यदि पर्याप्त धन मिल गया और बहुत-सा भेज दिय जाएगा। एक और स्नातक एक-दूसरे साधारण पंडित सहित दस-बारह दिन के अन्दर मद्रास की ओर प्रस्थान करेंगे इतना तो निश्चित है, इसी पर और बहुत व्यय होगा; यदि धन पर्याप्त मिल गया, तो और भी धर्मोपदेशक उस ओर भेजे जा सकेंगे। हिन्दी का प्रचार वैदिक धर्म को सर्वसाधारण में फैलाने का पहला साधन है। इसलिए मैं धर्म प्रचार के साथ इस पर अधिक बल दे रहा हूँ।

यदि दो-ढाई महीने के लिए ही इतने बड़े डेपूटेशन का प्रबन्ध किया जाता तब भी बहुत साधन चाहिए था। मैं स्वयं कलकत्ता से होकर सितम्बर के तीसरे सप्ताह में मद्रास पहुँच जाऊँगा और कई स्थानों में न केवल व्याख्यान दूँगा प्रत्युत

वैदिक धर्म के प्रचार का भी उन प्रान्तों में कुछ प्रबन्ध करूँगा। परन्तु सार्वदेशिक सभा का प्रबन्ध ऐसा क्षणिक नहीं है। मैं चाहता हूँ कि जब तक मद्रास प्रान्त में धर्म की जिज्ञासा ठीक प्रकार से जाग न उठे और प्रान्तीय विद्वान सारा बोझ अपने ऊपर लेने को तैयार न हो जाएँ तब तक वहाँ पर निरन्तर काम होता रहे। सार्वदेशिक ने यह पहला काम सिर पर उठाया है। दूसरा काम मद्रास प्रान्त के कुम्भकोणम् नगर में होनेवाले कुम्भ पर वैदिक धर्म का प्रचार है। मथुरा में सार्वदेशिक सभा के स्थापन किए हुए धर्म प्रचारक एम.जे. शर्मा ने उक्त कुम्भ में से मिल के ट्रेक्ट बाँटने के लिए 500 रुपयों के लिए अपील की है। उनको बिना सभा की आज्ञा के स्वतन्त्र अपील नहीं करनी चाहिए। उक्त कुम्भ पर तमिल, कन्नडी, तेलुगु आदि भाषाओं में छपवाकर बाँटने के लिए बहुत-से ट्रेक्ट तैयार करवाए जाएँगे और जितने भी हमारे उपदेशक वहाँ पर होंगे उन्हें विशेष प्रकार से वहाँ पर टिकाया जाएगा। आगामी माघ मास में वह कुम्भ होगा और एक मास तक मेले की भीड़-भाड़ रहेगी। उस समय दो-ढाई हजार से कम क्या खर्च होगा। और फिर एक वैशाख संवत 1978 के दिन हरिद्वार में आने वाले कुम्भी का पर्व है। उस दिन से 20, 25 दिन पूर्व ही प्रचार का काम शुरू हो जाया करता है। सं. 1972 के कुम्भ पर सार्वदेशिक सभा की ओर से किए गए प्रचार का बड़ा प्रभाव पड़ा था—इस बार उससे भी बढ़कर काम हो सकता है, क्योंकि साधु-महात्माओं के अन्दर भी देशहित और स्वदेशहित की लहर चल रही है, और इसलिए वे आर्यसमाज के प्रयत्न को बड़े मान्य की दृष्टि से देखते हैं। उस समय व्यय करने के लिए भी अच्छी रकम चाहिए। यदि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा इन सब कामों को अच्छी तरह करना चाहे तो उस सहस्र 10000 रुपए से कम रुपया उसे नहीं चाहिए।

यह अपील किए डेढ़ महीना हो गया। प्रश्न होगा कि इस अन्तर में अपील का फल क्या ? उत्तर यह है कि केवल दो महाशयों ने पाँच-पाँच रुपए भेजे, शेष सब चुप हैं। अर्थात् इस समय हमारे पास 350+10=360 रुपए हैं जिससे काम चलाया जा रहा है। इस अपील से इतनी उपेक्षा क्यों है। मुझे ज्ञात है कि अलग-अलग प्रतिनिधियाँ अपना प्रभाव डालने के लिए बहुत साधन खर्च करने के लिए तैयार हैं, परन्तु सार्वदेशिक सभा को सहायता देना उन प्रतिनिधियों के संचालक धन को गंगा में प्रवाह करने के तुल्य समझते हैं। मुझे मालूम हुआ है कि पंजाब प्रादेशिक सभा ने तीन हजार से अधिक धन एकत्र करके अच्छी पार्टी मद्रास भेज दी है। और उसके सभ्य दो महीनों तक हिन्दी शिक्षा का प्रचार करेंगे। यह बहुत अच्छी बात है। यदि आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब को भी अपना डेपुटेशन भेजना होता तो उक्त सभा शायद अपने कोष से ही यह धन दे सकती—परन्तु इस तरह के प्रान्तिक डेपुटेशनों के जाने से कहीं मद्रास में भी आर्यसमाज की परस्पर दलबन्दी का विष पहले-पहल ही न फैल जाए। प्रान्तिक सभाओं से सम्बन्ध रखनेवाले समाजों

का कर्त्तव्य है कि अपनी-अपनी सभा की रक्षा और वृद्धि का सदैव ध्यान रखें परन्तु प्रान्तों से बाहर जो सार्वदेशिक धर्म प्रचार का कोष हो उसे सार्वदेशिक सभा के लिए छोड़ दें जिससे आर्यसमाजों के अन्दर फैला हुआ वैमनस्य नए प्रान्तों में वैदिक धर्म के लिए अरुचि न पैदा कर दे।

आर्य प्रतिनिधि सभाओं से जो सहायता मिलती थी वह मिल चुकी है। जीती-जागती दो ही प्रतिनिधि सभा हैं जिनमें से एक ने 350 रुपए दे दिए हैं और दूसरी से इतना ही धन आ जाएगा, परन्तु आवश्यकता इस समय 10000 (दस हजार) रुपए की है। मैं भारतवर्ष की समग्र आर्यसमाजों और आर्य पुरुषों से अपील करता हूँ कि यह धन शीघ्र जमा कर दें। मैंने गुरुकुल मे ही इस निधि का हिसाब खोल दिया है। अपना समय विभाग को इससे आगे दूँगा जिससे ज्ञात होगा कि 16 अगस्त 1920 के दिन मुझे यहाँ से प्रस्थान करना है। उससे पहले जितना धन आ जाएगा वह उस वक्त काम आएगा और शेष धन सब जमा होता चला जाएगा। जो धन भेजें मनीआर्डर या बीमा मेरे नाम से गुरुकुल कांगड़ी के पते पर भेजें। रसीद उनको गुरुकुल के सहायक मुख्याधिष्ठाता (पंडित इन्द्र जी) की तरह से पहुँच जाएगी।

इतना धन एकत्र होना कुछ कठिन नहीं है, यदि पचास बड़े-बड़े आर्यसमाज एक-एक सौ रुपया और एक सौ आर्यसमाज पचास-पचास रुपए जमा करके भेज दें तो एक मास में 10000 रुपया जमा हो सकता है। बहुत-से आर्यपुरुष हैं जो मद्रास में वैदिक धर्म प्रचार के लिए प्रान्तिक सभाओं को बहुत साधन देने के लिए तैयार रहते थे। उन्हें अब खुला दान देकर अपनी मनोकामना सिद्ध करनी चाहिए। अन्तिम निवेदन मेरा उन पक्षपात रहित महाशयों से है जो आर्यसमाज में परस्पर के झगड़ों को देखकर दान देने की इच्छा होते हुए भी आर्यसमाज के कामों से अलग हो बैठे हैं। उनके लिए दान देने का यह बड़ा अवसर है।

आर्यसमाज के परस्पर के झगड़ों को दूर करने के लिए सार्वभौम सभा की आवश्यकता भी, वह सभा वर्षों से निर्जीव चली आई। एक-दो बार उसमें जीवन डालने का यत्न हुआ, जो स्थिर न रह सका। इस समय एक ओर कन्या गुरुकुल के लिए भूमि मिल चुकी है और उसका भवन बनाने के लिए धन भी सामने है। दूसरी ओर वैदिक धर्म के उच्च आदर्शों का प्रचार मद्रास आदि में होकर देश की काया पलटने में बड़ा भारी भाग यह सभा ले सकती है। आर्यसमाज से मेरी प्रार्थना है कि मेरी अपील को सावधान होकर सुनें, और इसका यथोचित उत्तर दें।

[श्रद्धा, 6 अगस्त, 1920]

कोई किसी का स्थान नहीं लेता

जब कभी किसी असाधारण पुरुष की मृत्यु होती है, तब पहला प्रश्न जो जनता के सामने आता है, यह है—'इसका उत्तराधिकारी कौन होगा ?' जब 'पोलिटिकल संन्यासी' नामधारी गोपाल कृष्ण गोखले का देहान्त हुआ तब यही प्रश्न सामने आया था। गोखले महाशय अपना उत्तराधिकारी श्रीनिवास शास्त्री को बना गए थे। परन्तु महोदय सच्चे देशभक्त, त्यागी हैं, अपूर्व वक्ता हैं, समय आने पर न दबनेवाले निर्भय राजधर्म के सेवक हैं, परन्तु मैं यही कहूँगा कि वह गोखले का स्थान नहीं ले सके।

आज लोकमान्य तिलक के विषय में भी वही प्रश्न उठ रहा है। अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सभी 'रमल' फेंक रहे हैं। मॉडरेटों के 'अफलातून' मिस्टर सी. वाई. चिन्तामणि की सम्मति है कि छत्रपति तिलक महाराज का मणिमुकुट मिस्टर केल्कर के सिर पर रख दिया जाए। अन्यों की अन्य विविध प्रकार की सम्मतिएँ होंगी और वह अपने-अपने भाव के अनुसार होंगी। मिस्टर चिन्तामणि ने केलकर महोदय को क्यों चुना, मैंने कारण कुछ मापा है। अमृतसर में जब संशोधित स्कीम के प्रस्ताव के विषय में महात्मा गांधी एक संशोधन चाहते थे और उसके अस्वीकार होने पर कांग्रेस से अलग होने को तैयार थे तो मैंने मिस्टर केलबर से कहा—"मैं मिस्टर सी.आर. दास को समझाने जाता हूँ आप लोकमान्य तिलक को समझाएँ।" उनका उत्तर विचित्र था। उन्होंने कहा—"स्वामी जी। आप समझते हैं कि मेरा लोकमान्य पर कुछ प्रभाव है। उस कैम्प में मुझे प्रायः सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु आपके कहने से मैं जाता हूँ।" नागपुर में डांक्टर मूंजे मेरे पास उतरे हुए थे। इस रहस्यपूर्ण उत्तर का मर्म पूछा। उन्होंने उत्तर में कहा—"क्या आप ऐसी प्रसिद्ध बात नहीं जानते। मिस्टर केलकर तो मॉडरेटों के समान ही समझे जाते हैं।" बात चाहे यही हो कि जोशीले गरम आदमी प्रत्येक विचारशील को ही भीरू तथा संदिग्ध समझते हैं परन्तु फिर भी यह घटना बतलाती है कि मनुष्य अपने हृदय का ही चित्र अपने कर्मक्षेत्र में खींच देते हैं। कोई हँसोड़ मारामारी के समर्थक मिस्टर खापरडे को ही लोकमान्य की गद्दी सँभालने के योग्य और कोई किसी और को। मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि महात्मा गाँधी को गद्दी दी जाए तो वह भी तिलक का स्थान नहीं ले सकते। गांधी जी भले ही उस गद्दी से एक बीता

(बलिश्त) ऊपर ठहर जाएँ परन्तु उस गद्दी पर नहीं बैठ सकेंगे।

यह तो असाधारण बड़े पोलिटिकल नेताओं का जिक्र है, धार्मिक, सामाजिक तथा अन्य क्षेत्रों का-सा ऐसा ही हाल है। ब्रह्मसमाज में केशव के स्थान की पूर्ति किसने की ? महर्षि देवेन्द्रनाथ का उत्तराधिकारी कौन बना ? रवीन्द्रनाथ ने संसारव्यापी यश प्राप्त किया परन्तु उन्हें महर्षि का उत्तराधिकारी नहीं कह सकते। ऋषि दयानन्द की चर्चा जाने देते हैं। वहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि ऐसे धर्माचार्य सैकड़ों ही नहीं सहस्रों वर्षों के पीछे आया करते हैं। परन्तु गुरुदत्त विद्यार्थी के मरने के पश्चात बीसियों ने स्वयं विद्यार्थी की उपाधि लेकर भी क्या उस महत्ता की गद्दी की ओर एक भी पग उठाया। वेदानुशीलन में अभी भी कुछ उत्साही युवक लगे हुए हैं। परन्तु गुरुदत्त की बात ही और थी। वह छवि ही निराली थी। लाला साईदास के पीछे कौन आया जिसकी वक्तृता की विद्युत एक की उपस्थिति में ही काम करती थी। लेखराम से पीछे कितनों ने 'आर्य मुसाफिर' की उपाधि धारण की, परन्तु क्या उनकी कोई तुलना लेखराम के साथ है। इतनी दूर क्यों जाएँ, अभी कल की बात है कि गुरुकुल कांगड़ी के स्वार्थत्यागी और निष्काम सेवकों में से लाला बीरबर का देहान्त हो गया है। वह केवल स्टोरकीपर थे। परन्तु फिर भी बहुत सोचने पर भी उनका ठीक उत्तराधिकारी कोई नहीं मिलता है। तब क्या गुरुकुल के स्टोर का काम बन्द हो जाएगा ? बीरबर जी से भी शायद कई अंशो में उन्नत महाशय मिल जाए परन्तु मुख्याधिष्ठाता के मन की वह स्थिति न रह सकेगी जो बीरबर जी के समय में थी।

जिस प्रकार यह छोटा काम बन्द न होगा, इस प्रकार लोकमान्य के बिछोड़े पर उनका राजनीतिक काम बन्द न होगा। भेद केवल इतना रहेगा कि वह न होंगे।

क्या इस संसार में कोई भी किसी का उत्तराधिकारी हो सकता है। मनु भगवान तो यहाँ तक कहते हैं कि पुत्र भी पिता का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता, वह लिखते हैं–

नामुत्रादि सहायार्थे पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदा रंक्षज्ञातिर्ध र्मस्तिष्ठति केवलः।।

फिर लिखते हैं–

मृतं शरीरमृत्सृज्यकाष्ठलोष्ठ समंक्षितौ।
विमुखा बांधवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति।।

'परलोक में सहायता के लिए माँ-बाप नहीं रहते, न पुत्र न स्त्री। केवल एक धर्म रहता है। लकड़ी और ढेला-सा मृतक शरीर भूमि पर छोड़कर भाईबन्धु पीछे लौट जाते हैं।' तिलक महाराज का धर्म उनके साथ गया है और जो काम धर्मानुसार

वह यहाँ कर गए उसका परिणाम चिरस्थाई रहेगा। न वह किसी के उत्तराधिकारी थे और न ही उनका कोई उत्तराधिकारी होगा। 'मुट्ठी बाँधे आया बन्दे, हाथ पसारे जात।' वह न उधर से, सिवाय अपने पूर्व कर्मों के कुछ लाए थे और यहाँ से सिवाय धर्म के कुछ ले गए।

यदि लोकमान्य तिलक के सहायक मेरी बात मानें तो उनकी गद्दी सँभालने के यत्न को छोड़ दें, और जिस हित और लगन से तिलक महाराज मातृभूमि की सेवा करते थे, उसी को अपने अन्दर दृढ़ करें।

आर्यसमाज को अब तक मैं प्रत्येक धर्मनीति में भारतवर्ष का पथदर्शक समझता हूँ। इसलिए प्रत्येक विषय पर लिखते हुए मेरे सामने आर्यसमाज की अवस्था ही आ खड़ी होती है। कई वार आर्यसमाज में द्वेषाग्नि को शान्ति करके एकता स्थापन करने का प्रश्न उठा, परन्तु उठते ही उबले हुए दूध की फेन की तरह थोड़े-से छींटे खाकर ही बैठ गया। यह सर्द छींटे किधर से आते हैं। यह वही गद्दी का सवाल है। जो लोग समझते हैं कि अन्यों के बीच में आने से उनकी गद्दी छिन जाएगी, वे बड़ी भूल कर रहे हैं। कोई भी व्यक्ति, चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न उठा हो, दूसरे की गद्दी नहीं सँभाल सकता। यदि आदर्श मनुष्य समाज में—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्गों की गुंजाइश है तो समझ में नहीं आता कि हर तरह से नेता की आर्यसमाज के अन्दर क्यों गुंजाइश है। यदि यह मद मस्तिष्क से निकल जाए कि अकेले हम ही रहेंगे और उसका स्थान यह शुभ विचार ले लेवे कि इस विस्तृत क्षेत्र में सबके लिए स्थान है तो आर्यसमाज में आज सुलह हो जाती है।

[श्रद्धा, 13 अगस्त 1920]

मेरा दोहरा प्रोग्राम

असहयोग का चक्र कुछ नया नहीं चलने लगा। समाचारपत्रों में बीसियों बार दोहराया जा चुका है कि असहयोग भारत प्रजा का पुराना हथियार है। महात्मा गांधी का असहयोग का प्रोग्राम अवश्य विचारणीय है। उनको इसकी आवश्यकता पर विश्वास है, और अन्यों को इसकी आवश्यक उपयोगिता में सन्देह है। परन्तु इससे किसी को इन्कार नहीं कि सामयिक राज्यप्रबन्ध के साथ असहयोग प्रजा का अधिकार है।

महात्मा गांधी का असहयोग सीमाबद्ध है। यदि आज ब्रिटिश सरकार अपने मित्रदल को राजी करके खिलाफत के प्रश्न का फैसला गांधी जी के मतानुसार कर दे और भारतीय ब्रिटिश सरकार पंजाब में अत्याचार करनेवाले अपराधियों को दंड दे दे, तो गांधी जी का असहयोग समाप्त हो जाएगा। मेरी सम्मति में उससे भारतवर्ष के भविष्यत् भाग्य का कुछ भी निर्णय नहीं होता। गांधी जी के इस क्षणिक असहयोग से लाभ नहीं—यह मेरा मत नहीं है; मेरा कहना केवल इतना है कि उस असहयोग के प्रचार से भारतमाता के गौरव की पुनः पूरी स्थापना नहीं होती। गांधी जी का असहयोग एकतरफा है। उसमें खंडन का ही स्थान है मंडन का नहीं। हाँ ! यदि उनका यह मत हो कि इस असहयोग से हिन्दू-मुसलमानों की एकता दृढ़ हो जाएगी तो किसी अंश ने इसे सहयोग भी कर सकते हैं।

मैं चाहता हूँ कि खंडन और मंडन दोनों साथ-साथ चलें। असहयोग और सहयोग एक ही समय में काम करें। सत्याग्रह का घोषणा पत्र लेकर जब गांधी जी मार्च सन् 1919 के प्रथम सप्ताह में दिल्ली आए थे, उसी समय मैंने उनके सामने यह प्रस्ताव किया था कि दो स्थिर असहयोग आरम्भ कर दिया जाएँ जिनका परिणाम बड़ा भारी सहयोग होगा। प्रथम यह कि नगर और ग्राम-ग्राम में उनके हिन्दू-मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी आदि सभी सम्प्रदायों के प्रतिनिधि लेकर पंचायती अदालती बन जाएँ और ऐसा यत्न किया जाए कि कम-से-कम दीवानी का कोई भी मुकद्दमा अंग्रेजी अदालतों में न जाए। दूसरे यह कि स्वदेशी वस्तुओं का ही भारतनिवासी प्रयोग करें, और विदेशी वस्तुओं का सर्वथा बायकाट कर दिया जाए। उस समय गांधी जी ने यह कहकर मुझे चुप करा दिया था कि वह सत्याग्रह

और असहयोग की विद्या में निपुण (Expert) हैं, इसलिए उन्हीं के प्रस्तावित वर्जित साहित्य इत्यादि के बाँटने से शीघ्र कृतकार्यता होगी। जब पलवल के स्टेशन पर उनको गिरफ्तार कर लिया गया तो वहाँ से उन्होंने स्वदेशी की घोषणा भेजी थी। स्वदेशी का तो प्रचार खूब हो गया है, परन्तु मेरे पहले प्रस्ताव पर अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

दिल्ली में जब गोली चली, और जब गांधी के गिरफ्तारी पर हलचल मची और 19-19 दिन तक सभाएँ होती रहीं, तो उनमें भी मैं यही घोषणा देता रहा। फिर 23 जून को एक विशेष सभा करके, मैंने इस विषय में एक प्रस्ताव स्वीकार कराया और एक प्रबन्धक सभा नियत कराई जिसके सभ्यों ने मिलकर कभी नियम ही नहीं किया।

मेरा प्रस्ताव है कि नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में पंचायती अदालतें स्थापित की जाएँ। सब दीवानी मुकदमा उन्हीं के सामने उभय पक्ष की स्वीकृति से पेश हुआ करें। मैंने दिल्ली में उन दिनों जबकि प्रजा का ही अधिकार और रामराज्य था, अनुभव करके देख लिया था कि यदि पंचायती अदालतें चल निकलें तो कोई भी मुकदमा अंग्रेजी अदालतों में न जाए। यदि यह स्थिर असहयोग चल जाए तो सरकार को सब न्यायाधीश मौकूफ करने पड़ें और फिर न जाने वह हुकूमत किस पर करेंगे। मेरा विश्वास है कि दीवानी मुकदमों को अंग्रेजी अदालतों से बचाने पर साधारण मारपीट के झगड़े, जिनमें वादी-प्रतिवादी आपस में राजीनामा कर सकते हैं, भी इन्हीं पंचायती अदालतों के सामने आने शुरू हो जाएँगे। यह तो इस असहयोग का अंश हुआ। दूसरा अंश सहयोग का है। जब कभी विविध सम्प्रदायों में सम्प्रदाय वा जाति सम्बन्धी कोई झगड़े उठेंगे, उनका फैसला परस्पर की सहायता से यह पंचायत करा सकेगी। और उससे न केवल हिन्दू वा मुसलमानों प्रत्युत सिक्ख, पारसी, ईसाई इत्यादि के अन्दर बड़ी दृढ़ एकता का बीज बोया जाएगा।

दूसरा बड़ा प्रस्ताव, जिसको मैं जातीयता का बुनियादी पत्थर समझता हूँ, करोड़ों से अधिक जातियों के साथ सहयोग है। अमृतसर कांग्रेस के अधिवेशन में मैंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि जब तक उन भाइयों के साथ समता का व्यवहार नहीं होता, यहाँ तक कि रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं खोला जाता, तब तक कौम (Nation) की पुकार व्यर्थ हैं। यूरोप की स्वार्थपरायण जातियाँ हमारे 6 करोड़ से अधिक भाइयों को हमसे सदैव के लिए जुदा करने को तैयार हैं। अंग्रेजी पादरियों ने यहाँ की नौकरशाही के साथ सन्धि भी कर ली है और अमेरिका में करोड़ों रुपया इसी शुभ संकल्प से जमा किया जा रहा है। यह लोग इसलिए ईसाई नहीं बनाए जाते वा बनते कि वह मसीह को अपना बचाने वाला समझते हैं प्रत्युत इसलिए कि उनकी सामाजिक दशा सुधर जाएगी। प्रिन्सिपल रुद्रा और उनके साथ के सभ्य ईसाई मसीह पर ईमान लाकर भी अपने आपको भारत-पुत्र समझते हैं।

परन्तु यह 6 करोड़ यदि अपना मन बेच बैठे तो समझना चाहिए कि डायरशाही के 6 करोड़ अंग और बढ़ गए।

ऊपर के विचारों से प्रेरित होकर मैंने निम्नलिखित दो प्रस्ताव जातीय महासभा के संचालकों के पास कलकत्ता में भेजे हैं। मैं देखूँगा कि उनका भविष्य क्या होता है।

(क) इस कांग्रेस की सम्मति में भारतवर्ष के प्रत्येक जिले के सदर मुकाम पर एक पंचायती न्यायालय स्थापित करना चाहिए जिससे हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी इत्यादि सब सम्प्रदायों के प्रतिनिधि मिलकर आपस के सब झगड़ों का निबटारा किया करें। ऐसे पंचायती न्यायालयों के नियम बनाने के लिए निम्नलिखित न्यायालयों के नियम बनाने के लिए निम्नलिखित सज्जनों की एक उपसभा नियत की जाए जो नियमावली तैयार कर कांग्रेस के वार्षिक साधारण अधिवेशन में पेश करे। (1) श्री सी.आर. दास (कलकत्ता), (2) श्री पंडित मोतीलाल नेहरु (प्रयाग), (3) श्री मिस्टर जिन्नाह (बम्बई), (4) श्री विजरावाचार्य (मद्रास), (5) श्री लाला लाजपतराय (पंजाब)।

(ख) इस कांग्रेस की सम्मति में वह समय आ गया है जबकि उन जातियों के अधिकारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती जिन्हें अछूत जातियों के नाम से पुकारा जाता है और इसलिए उनके सामाजिक अधिकारों को लक्ष्य में रखकर तत्काल ही उनकी सन्तानों का साधारण शिक्षणालयों में शिक्षण और उनका सर्वसभाओं के अधिवेशन में समाधिकार से प्रवेश आरम्भ कर दिया जाए और उनके साथ वैसा ही सामाजिक बर्ताव किया जाए जैसा कि हिन्दुओं के चार बड़े वर्णों और उनके उपनियमों में परस्पर प्रचलित हैं।

[श्रद्धा, 13 अगस्त, 1920]

गुरुकुल कांगड़ी की वर्तमान दशा

आज जब मैं ये कुछ पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, भाद्रपद मास की पहली तिथि है। आज ही मैं गुरुकुल के लिए स्थिर राशि एकत्र करने के उद्देश्य से कुलभूमि से बाहर जा रहा हूँ। सवंत् 1979 के पहले सत्र की परीक्षाएँ समाप्त हो गई हैं। स्नातक श्रेणी में इस समय 13 छात्र हैं। नियमानुसार उन सबका अधिकार है कि दो मास के दीर्घावकाश पर घर चले जाएँ। परन्तु उनमें से दो ने तो मेरे साथ गुरुकुल की सेवा के लिए बाहर जाना स्वीकार किया है, एक ने विशेष आर्यसभाज में एक मास तक धर्मोपदेश द्वारा सेवा का व्रत लिया है। यह आर्यसमाज उसके माता-पिता के निवास स्थान से सैकड़ों मील दूर है। दोनों ने विशेष तैयारी के लिए गुरुकुल भूमि में ही रहने की इच्छा प्रकट की है; कृषि के दो विद्यार्थी अपने उपाध्याय के साथ कानपुर, अलीगढ़, झाँसी आदि स्थानों में कृषि का विशेष ज्ञान उपलब्ध करने जाएँगे। शेष अपने घरों को जाएँगे, परन्तु उन्होंने भी अवकाश का कुछ भाग अपने कुल की सेवा के समर्पण करने का व्रत लिया है। महांविद्यालय के शेष ब्रह्मचारी पर्वत यात्रा के लिए जाएँगे।

मुख्य गुरुकुल कांगड़ी में इस समय सर्व विषयों के पढ़ाने के लिए पर्याप्त और योग्य उपाध्याय तथा अध्यापक मौजूद हैं और प्रबन्ध का कार्य भी ठीक चल रहा है। पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति सहायक मुख्याधिष्ठाता हैं। जब से उन्होंने यह काम सँभाला है मुझे प्रबन्ध के कार्य की ओर बहुत कम ध्यान देने की आवश्यकता होती है। श्री महाशय रामकृष्ण जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब अभी गुरुकुल भूमि में आए थे, और परसों ही यहाँ से लौटे हैं। उनकी सम्मति है कि पंडित इन्द्र प्रबन्ध का काम अच्छा कर लेंगे। आर्य सिद्धान्त के उपाध्याय भी यही होंगे। सम्पत्ति शास्त्र तथा इतिहास के लिए प्रोफेसर शिवराम आय्यार एम.ए. आ गए हैं। एम.ए. इन्होंने पाश्चात्य दर्शन (Western Philosophy) में किया था। पर आंग्ल भाषा तथा सम्पत्ति शास्त्र भी बहुत अच्छी तरह पढ़ा सकते हैं। कृषि के लिए नए प्रोफेसर देशराज जी लायलपुर के ग्रेजुएट हैं और परीक्षा में प्रथम रहे और प्रशंसा सहित अपने विषय में उत्तीर्ण हुए। पुराने उपाध्याय सब अपने काम में निपुण हैं। प्रोफेसर देशराज जी के कारण वाटिका तथा गोशाला की दशा भी सुधर रही है

और शेष सब कार्य भली प्रकार हो रहे हैं।

इन्द्रप्रस्थ गुरुकुल इसी महाविद्यालय का एक भाग है। कुरुक्षेत्र में भी इसी कुल की शाखा है। इन दोनों संस्थाओं का अभी निरीक्षण करके लौटा हूँ। दोनों में काम उत्तमता से चल रहा है। अध्यापक परिश्रम से काम करते हैं। कुरुक्षेत्र में जिस दिन मैं रहा एक भी बीमार न था। अभी मटोंडू गुरुकुल की परीक्षा लेकर उपाध्याय जयचन्द्र आए हैं। वह पंडित पूर्णदेव के कार्य की बड़ी प्रशंसा करते हैं। भैंसवाल के नए गुरुकुल के प्रबन्धकर्ता भी पूरे मन से अपनी संस्था को कृतकार्य बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। मुलतान गुरुकुल के आचार्य इस समय महाशय चम्पतिराय एम.ए हैं। उनके पत्रों से पता लगता है कि वह भी उस गुरुकुल को ठीक मार्ग पर चलाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

पिछले छः महीनों के लगातार प्रयत्न से गुरुकुल और उसकी शाखाएँ इस अवस्था में आ गई हैं कि अब उनमें निरन्तर उन्नति हो सकती है। परन्तु उस उन्नति में धन की आवश्यकता पहले है। उसी आवश्यकता को लक्ष्य में रखकर मैं कलकत्ता में काम शुरू करूँगा। मेरा विचार यह है कि भारतवर्ष का कोई कोना भी ऐसा न छूटे जहाँ शिक्षा के लिए मैं न पहुँच सकूँ। मैं जानता हूँ कि जातीय शिक्षा की आवश्यकता को शिक्षित भारत ने अनुभव कर लिया है। यदि अब से ही आर्थिक सहायता की मानसिक प्रतिज्ञा करके गुरुकुल के निमित्त देवियाँ और सज्जन पुरुष अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग जुदा करना आरम्भ कर दें तो कोई सन्देह नहीं है कि शीघ्र ही मेरी इच्छित धनराशि जुदी इकट्ठी हो जाएगी और गुरुकुल को जिस आदर्श तक पहुँचाना चाहते हैं उसकी एक बड़ी भारी मंजिल तैयार हो जाएगी।

कलकत्ता से मद्रास जाकर मुझे कुछ दिन उस प्रान्त में सार्वदेशिक सभा की ओर से धर्मप्रचार करना और कराना होगा। और वहाँ से बम्बई टिककर काम करूँगा। बम्बई से लौटकर कुछ दिन गुरुकुल में बिता ब्रह्मदेश में पहुँचने का विचार है। नवम्बर मास के मध्य से दिसम्बर के मध्य भाग तक वहीं रहूँगा। ब्रह्मदेश से लौटकर पंजाब के ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में घूमने का संकल्प है। पंजाब की जनता में गुरुकुल के लिए असीम प्रेम है। गुरुकुल कांगड़ी ने देवियों के हृदय में विशेष स्थान लिया है। यदि आज से ही वह मुझे भिक्षा देने की तैयारी करने लग जाएँ तो आश्चर्य नहीं कि 5-6 लाख रुपया पंजाब से भी एकत्र हो जाए। जगा देना और दानशीलता की ओर ध्यान दिला देना भिक्षक का काम है और अपना कर्त्तव्य पालन करना दानियों के अधीन है।

[श्रद्धा, 20 अगस्त, 1920]

'हमारी मद्रास की चिट्ठी' ब्राह्मण अब्राह्मण का भगड़ा

'स्वराज्य की हलचल जिन दिनों अपने जोर पर आई उन दिनों मैं शायद गोरखपुर में था। जिस अखबार को उठाता उसी में मद्रास की तरफ से उठी हुई एक विचित्र लहर दिखाई देती। 'हमें स्वराज्य नहीं चाहिए', हम ब्राह्मण बूरोक्रेसी नहीं चाहते।' यह आवाज धीमी नहीं थी। दिनोंदिन यह जोर पकड़ती जा रही थी और अब इसकी बाँग देनेवाले मुल्ला हमारे प्रसिद्ध मदरासी डॉ. नायर थे। जितनी कश्मकश उन बेचारों से हो सकती थी उन्होंने की, अखबार निकाला, लेक्चर दिए, इंग्लैंड और अन्त में मैदान में लड़ते-लड़ते प्राण दे दिए। यह सब कुछ उन्होंने 'नान-ब्राह्मणों के लिए किया।

मुझे बड़ा आश्चर्य होता था। क्या ये लोग पागल हो गएहैं ? क्या ये पिंजरे में रहते-रहते उसके आदी हो गए हैं ? कुछ समझ नहीं आता था तिलक महाराज ने लखनऊ की कांग्रेस में समझाया कि तिकोनी लड़ाई क्यों लड़ते हो ? पहले बाहर वाले का हिसाब चुका दो फिर आपस में समझौता कर लेना। किन्तु नहीं, जान-ब्राह्मण इस बात के लिए राजी नहीं हुए। उन्होंने कहा कि 'इंग्लिश बूरोक्रेसी' हम पर इतने अत्याचार नहीं करती तिने 'ब्राह्मण बूरोक्रेसी' करती है। ब्राह्मणों के मुकाबिले में अंग्रेज हमारे माँ हैं, बाप हैं, देवता हैं और ईश्वर हैं। बस फैसला हुआ।

आज से एक साल पहले मुझे कोल्हापुर में एक साल तक रहने का मौका मिला। वहाँ के 'नान-ब्राह्मणों' के चेहरों से, उनकी बातचीत में उदासी टपकती दिखाई दी। ऐसा मालूम हुआ कि वे अपने को एक भारी वायुमंडल में पाते हैं। वे उसे सहन नहीं कर सकते, किन्तु उसे दूर भी नहीं कर सकते। जिनका नाम मैं प्रातः स्मरणीय स्मझता था उनके लिए यहाँ रोज कानों पर गालियाँ पड़ती थीं। अमुक ब्राह्मण ऐसा है, अमुक वैसा है—इसका आचार ठीक नहीं, उसका विचार ठीक नहीं ! विद्यार्थियों ने ब्राह्मणाब्राह्मण का झगड़ा और उनके पिता के पिताओं में भी वही झगड़ा। हमारी तरफ स्कूलों और कालेजों में जो विद्यार्थी जीवन दिख पड़ता है उसके चौथाई के चौथाई का चौथाई भी यहाँ नहीं दिख पड़ता है। यहाँ के विद्यार्थी मुर्दा हैं। उनमें जान नहीं। मैं ब्राह्मण हूँ, इसलिए मेरा काम 'नान-ब्राह्मणों' को गालियाँ देना है—यह प्रवृत्ति विद्यार्थियों में, संरक्षकों में और छोटे-से लेकर बड़े

में, सब जगह बड़ी जोर से काम कर रही है। उनका खाना, स्नान करना; उठना-बैठना, बातचीत करना, पढ़ना-लिखना, स्वराज्य माँगना और जूती चाटना; सब 'ब्राह्मा-ब्राह्मण' के चक्कर पर घूम रहा है।

अब मुझे कोल्हापुर छोड़े लगभग एक महीना हो चुका है। इस समय मैं कुछ और आगे बढ़ा हूँ और ज्यों-ज्यों मद्रास की तरफ चलता हूँ त्यों-त्यों वायुमंडल को क्रमशः भारी होता हुआ पाता हूँ। वहाँ स्वराज्य की इतनी चर्चा नहीं जितनी ब्राह्मण और 'नान-ब्राह्मण की।

मुझे बैंगलौर में आए एक महीना ही हुआ है, परन्तु इतने में उपरोक्त झगड़ों की इतनी बातें सुनी हैं जितनी कोल्हापुर में 12 महीनों में भी नहीं सुनी थीं। अभी परसों की ही बात है। मैं अपने एक मित्र से मिलने को गया। आप 'नान-ब्राह्मण' हैं। आपके यहाँ एक महाशय बैठे हुए थे जो देखने में उन्हीं की बिरादरी के मालूम पड़ते थे। मैं गया और एक कुर्सी पर जाकर बैठ गया। बातचीत शुरू हुई। मुझसे प्रश्न किया गया, 'क्यों जी, आपके यहाँ ब्राह्मण लोग दूसरी जातियों से कैसा बर्ताव करते हैं ?' मैंने कहा, "बहुत बुरा नहीं करते, आपके यहाँ कैसा करते हैं ?"

मेरा प्रश्न सुनते ही मेरे मित्र के समीप बैठे हुए महाशय चिल्ला उठे, 'कुत्तों से भी बदतर।"

उन्होंने अपने जीवन की घटनाएँ मुझे सुनानी शुरू कर दीं। वे कहने लगे—"जब मैं चौदह बरस का था तब मैंने एक दिन टाँगों तक धोती पहन ली। गाँव के सारे ब्राह्मण मेरे पिता के पास आए और कहने लगे कि अब तुम्हारे वंश का नाश होने वाला है। देखो तुम्हारा लड़का घुटनों तक धोती पहनने के बजाय पूरी धोती पहनने लगा है। मेरे पिता ने मुझे डाँटा। मैं स्कूल में पूरी धोती पहनकर जाने लगा किन्तु गाँव में प्रवेश करने से पहले उसे ऊपर कर लिया करता। ब्राह्मण लड़कों को जूता पहनने की आज्ञा थी परन्तु हमें जूता पहनने की मनाई थी। मैं स्कूल के बाहर से गाँव के बाहर जूता पहन के आता और फिर उसे बाहर ही छिपाकर गाँव के अन्दर जाता था। स्कूल में हमारे लिए अलग बैंचें लगी होती थीं और ब्राह्मणों के लिए अलग। हम ब्राह्मणों के साथ नहीं बैठ सकते थे। जब कभी किसी ब्राह्मणों के पास जाना हो और यदि वह बरामदे में कुर्सी पर बैठा हो तो मुझे बरामदे के फर्श के नीचे खड़ा रहना पड़ता था।'

उन्होंने स्वराज्य के विषय में जो बातें कहीं, वे नान-ब्राह्मणों के हृदय की वास्तविक अवस्था को दर्शाती हैं। कल्पना कीजिए कि आज अंग्रेजों ने भारत का शासन हमारे हाथ दे दिया। स्वभावतः जो ज्यादा दिमाग वाले होंगे उनके हाथ में राज्य आएगा। ब्राह्मण निस्सन्देह अधिक विचारशील तथा पढ़े-लिखे हैं। नान-ब्राह्मणों में शिक्षा का इतना प्रचार नहीं जितना ब्राह्मणों में हैं। इस तरह यदि ब्राह्मणों के हाथ में सारी मशीनरी आ गई तो वे मनमानी करने लगेंगे। अभी तक तो अपनी

श्रुतियों के और स्मृतियों के ही कोटेशन दे-देकर मनमाना अत्याचार करते हैं, फिर तो Penal code के हवाले देकर जैसा चाहेंगे, करने लगेंगे। क्योंकि उसका बनाना उन्हीं के हाथ में ही होगा। यहाँ के नान-ब्राह्मण अंग्रेजों के शासन को ब्राह्मणों के शासन से अच्छा समझते हैं। अंग्रेजों के लिए ब्राह्मण नान-ब्राह्मण एक से हैं, परन्तु ब्राह्मणों के लिए नान-ब्राह्मण अत्याचार करने की सामग्री है। इसलिए 'स्वराज्य नहीं चाहिए' की आवाज उठी थी।

इस समय दक्षिणीय भारत का वायुमंडल क्षुब्ध है। यहाँ एक ऐसी आँधी चल रही है जोकि भारत के जहाज को डाँवाडोल कर रही है। यहाँ की समस्या विकटतर है। यहाँ के ब्राह्मण जितने मजबूत हैं उतने ही नान-ब्राह्मण मजबूत हैं। दोनों एक-दूसरे के पीछे हाथ धोकर पड़े हुए हैं।

डॉ. नायर की मृत्यु के साथ 'स्वराज्य नहीं चाहिए' की भी मृत्यु हो गई। अब नान-ब्राह्मणों की क्रिया ने दूसरा रास्ता पकड़ा है और मुझे पूर्ण आशा है कि इसमें उन्हें कृतकार्यता होगी। इस जाग्रति के नेता 'सर त्यागराय चट्टी' हैं। हाल ही की 'नान-ब्राह्मण कान्फ्रेंस के आप ही सभापति थे। मैं अपनी दूसरी चिट्ठी में इस नई लहर के विषय में कुछ लिखूँगा।

[श्रद्धा, 20 अगस्त, 1920]

हमारी कलकत्ता की चिट्ठी, कलकत्ता में गुरुकुल-डेपुटेशन का कार्य

16 अगस्त को हम सब गुरुकुल से चले। भागीरथी की शीतल धार के तमेड़ों की सैर का आनन्द अनुभव करते हुए 12 बजे गुरुकुल मायापुर बाग में पहुँचे। वहाँ भोजनादि कर सायंकाल की सात बजे की ट्रेन से कलकत्ता के लिए प्रस्थित हुए। 17 अगस्त को 2 बजे बनारस पहुँचा वहाँ स्टेशन पर बनारस के प्रसिद्ध प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने श्री स्वामी जी का बड़े समारोह से स्वागत किया। सायंकाल को सात बजे श्री गौरीशंकर बारएटला जी के सभापतित्व में टाउन हाल के खुले मैदान में सभा हुई। *इस सभा में श्री स्वामी जी ने धर्म और राजनीति में अभेद* विषय पर प्रभावशाली व्याख्यान दिया। व्याख्यान का सार इस प्रकार से है–

राज्य की आवश्यकता तभी होती है जबकि देश में अव्यवस्था हो। यदि मनुष्य अच्छे हों तो सरकार की कोई जरूरत नहीं है। *भारतीयों को यूरोप का अनुकरण कर राजनीतिं को धर्म से पृथक न करना चाहिए। यदि धर्म को राजनीति से अलग किया जाएगा तो भारत का कल्याण न होगा।* यूरोप और भारत में बड़ा भेद है। वर्तमान समय में धर्म को न छोड़ते हुए आत्मरक्षा के लिए निर्भय होकर बायकाट का आन्दोलन चलाना चाहिए। (1) यथासम्भव सब देशों का बायकाट करना चाहिए। (2) पंचायती अदालतों की स्थापना करनी चाहिए। (3) हमें शर्तवाला असहयोग न करना चाहिए अपितु बिना शर्तो के जातीय शिक्षा के विषय में असयोग करना चाहिए। वर्तमान शिक्षा के हमारे नवयुवकों के दिमागों को दास बना दिया है। इसी दासता से हटाने के लिए शिक्षा विषय में असहयोग का आश्रय लेकर ही गुरुकुल की स्थापना की गई थी। इन उपायों द्वारा हमें अपने आपको उठाना चाहिए। अगर आप इनके जरिए बहिश्त में भी पहुँच जाए तो भी कल्याण नहीं। देश की उन्नति के लिए हम सबको मिलकर ही रास्ता निकालना चाहिए। किसी को जिद्द न करनी चाहिए। अंत में परमात्मा से प्रार्थना है कि *वे हमें शक्ति दें जिससे हम धर्म मार्ग को कभी न छोड़ें।* इसके अनन्तर 10 बजे श्री स्वामी जी

सेंट्रल हिन्दू कालेज में *ब्रह्मचर्य* विषय पर एक उपयोगी और प्रभावशाली व्याख्यान दिया। इसका सार इस प्रकार से है–'प्राचीन शिक्षा और हमारा वैदिक धर्म शान्ति प्राप्त करने के लिए तथा उत्तम जीवन व्यतीत करने के लिए एक वर्णाश्रम धर्मरूपी साधन को बताता है। इसी में सारा धर्म ग्रन्थित है। इसका मूल ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का क्या अभिप्राय है, इसके लिए बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं है। यदि ब्रह्मचर्य शब्द की शब्दार्थ मीमांसा की जाए तो सब अर्थ स्पष्ट हो जाता है। व्याख्या में ब्रह्मचर्य को स्थिर तथा सिद्ध करने के लिये साधन बताते हुए तप, सत्य और नियमपूर्वक जीवन बिताना तीन मुख्य साधन बताए।'

कलकत्ता में 25 अगस्त की रात को आर्यसमाज में श्रीस्वामी जी का *'जातीय शिक्षा'* विषय पर व्याख्यान हुआ। व्याख्यान का सार निम्नलिखित है :

'शिक्षा बहुत महत्त्व का विषय है। जिस समय यूरोप में युद्ध चल रहा था उस कठिन समय में भी इंग्लैंड निवासी हैल्डेन की अध्यक्षता में शिक्षा सम्बन्धी समाचारों को हल करने में लगे हुए थे। हमारे देश में भी इस विषयक आन्दोलन चल रहा है। 'जाति की शिक्षा जाति के हाथ में देनी चाहिए।' इस सार्वभौम सिद्धान्त के अनुसार हम लोगों को जातीय शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। जातीय शिक्षा पर विचार करने से पूर्व अन्तर्जातीय शिक्षा पर विचार करना चाहिए। प्राचीन शास्त्रों में जो शिक्षा की विधि दी हुई हैं उसकी ओर हम ध्यान नहीं देते। Education या शिक्षा का अर्थ मनुष्य को सर्वांग पूर्ण बनाना है। अन्तर्जातीय शिक्षा का प्रथम सिद्धान्त यह है कि शिक्षा का आरम्भ गर्भाधानादि संस्कार इसी व्यापक सिद्धान्त के पोषक हैं। आज बड़े-बड़े पाश्चात्य विचारक भी इसी बात को स्वीकार कर रहे हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली ने उपनयन संस्कार को बिल्कुल उड़ा दिया है। जातीय शिक्षा का दूसरा अंग शिष्य और शिक्षकों का पिता-पुत्र भाव से एकत्रित होना है। हमारे देश में बिना पिता-पुत्र भाव के शिक्षा का पूर्ण विकास नहीं होता है। यह हमारा प्राचीन रिवाज है। आज भी मौवल और पंडितों के यहाँ इस भाव की झलक है। लोग कहते हैं कि ये प्रथा विद्यार्थियों में गुलामी के भाव पैदा करती हैं पर उन्हें ध्यान में रखना चाहिए कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सिद्धान्त पर आश्रित होकर चल रहा है। जब तक शिष्य की गुरु में श्रद्धा या भक्ति नहीं है तब तक वास्तविक विद्या तत्त्व नहीं प्राप्त किया जा सकता। तृतीय जब तक शिष्य गुरु के पास रहे तब तक उसे घर से पृथक रहना चाहिए। अन्यथा वह भी पारिवारिक शोक-मोह के बन्धनों में फँस जाएगा और एकाग्रचित्त से विद्या को न प्राप्त कर सकेगा। सर्वदेशों और जातियों को इन अन्तर्जातीय सिद्धान्तों को स्वीकार करना चाहिए। जातीय शिक्षा के विषय में निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना चाहिए।

(1) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए। असली भाव इसी के द्वारा प्रकट किए जा सकते हैं। विदेशी लोग भारतीयों के अंग्रेजी भाषा द्वारा पढ़ाए जाने

पर आश्चर्य प्रकट करते हैं पर शोक से देखते हैं कि आज हिन्दू विश्वविद्यालय तथा अन्य जातीय विश्वविद्यालयों में भी इस मौलिक सिद्धान्त की अवहेलना की गई है। मातृभाषा या हिन्दी द्वारा शिक्षा का देना कोई असम्भव बात नहीं है। जो लोग इसे असम्भव समझते थे उन्हें भी गुरुकुल के पाठ-प्रणाली को देखकर अपनी सम्मति बदलनी पड़ी है। लॉर्ड हार्डिंग तथा वायसराय चैम्सफोर्ड भी इसके महत्त्व को समझते हैं। वे इसको क्रियारूप में करने को भी तैयार थे पर उनका कहना है कि आपके राजनैतिक नेता ही इसके विरोधक हैं। वे कहते हैं कि सरकार हमें अंग्रेजी से वंचित कर आजादी के भावों से दूर रखना चाहती है। वास्तविक बात तो यह है कि ये लोग इस बात से डरते हैं कि यदि आज कौंसिलों में मातृभाषा का प्रचार होगा तो लोग हमारी अंग्रेजी लियाकत को न पूछेंगे। जैसा कि बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन के समय में हुआ था। लोग विपिन बाबू की बंगला को खूब ध्यान से सुनते थे पर "Crowned king of Bengal" सरेन्द्रनाथ बनर्जी को कौन पूछता था। कारण यही था कि उनकी Oratory अंग्रेजी में ही चलती थी, Oratory में क्या धरा है। भाषा तो निर्जीव है यदि दिल में सच्चाई है तो स्वयं भाषा में भी जोर आ जाएगा।

(2) बुद्धि को दूसरों के आधीन नही बनाना चाहिए। पढ़ाई स्वदेशी दृष्टि से होनी चाहिए। अंग्रेजों द्वारा लिखे हुए पक्षपातपूर्ण भारतीय इतिहास को पढ़कर देशभक्ति का भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है।

(3) हमारी शिक्षा सादी थी। 'सादा रहना और ऊँचा विचारना' का सिद्धान्त हमारी जातीय शिक्षा का मूल मन्त्र था। अब भी हमें उसी पर ध्यान देना चाहिए। अन्त 'आब्राह्मणों ब्रह्मवर्चसी जायताम्' मन्त्र की व्याख्या कर वैदिक राष्ट्र का आदर्श बताकर उसके लिए प्राचीन ब्रह्मचर्य प्रणाली को ही साधन बतलाया। जातीय शिक्षणालयों के संचालकों को अपने चार्टर लौटा देने चाहिए और स्वयं अपने निरीक्षण में अपने पुत्रों को शिक्षा देनी चाहिए। श्री महात्मा गांधी के शिक्षा सम्बन्धी असहयोग को सफल करने का भी यही एक उपाय है। इससे विद्यार्थियों के जीवन भी खराब न होंगे।

[श्रद्धा, 3 दिसम्बर, 1920]

रक्षाबन्धन का सन्देश

माता का पुत्र पर जो उपकार है उसकी संसार में सीमा नहीं। यही कारण है कि हर समय और हर देश में मातृशक्ति का स्थान अन्य शक्तियों से ऊँचा समझा जाता है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ सभ्यता और मनुष्यता का अभाव समझा जाता है।

जब वह मातृशक्ति ऊँचे स्थान पर रहती है तो वह श्रद्धा और भक्ति की अधिकारिणी होती है। और जब वह बराबरी पर आती है तो बहन के रूप में भाई पर प्रेम और रक्षा के अन्य साधारण अधिकार रखती है। एक सुशिक्षित सभ्य देश में देश की माताएँ पूजी जाती हैं, बहनें प्रेम और रक्षा की अधिकारिणी समझी जाती हैं और पुत्रियाँ भावी माताएँ और भावी बहनें होने के कारण उस चिन्ता और सावधानता से शिक्षण पाती हैं, जो बालकों को भी नसीब नहीं होती। यह एक उन्नत और सभ्य जाति के चिन्ह हैं।

भारत के स्वतन्त्र सुन्दर प्राचीन काल में माताओं, बहनों और पुत्रियों का यथायोग्य पूजन रक्षण और शिक्षण होता था। यही कारण था कि भारत की महिलाएँ प्रत्युत्त में पुरुषों को आशीर्वाद देती थीं, उन्हें नाम की अधिकारिणी बनाती थीं, उन्हें अपनी जन्म घुट्टी के साथ वीरता और स्वाधीनता का अमृत पिलाती थीं। उन्हीं पूजा पाई हुई माताओं का आशीर्वाद था जिस कारण भारतवासियों में आत्मसम्मान था। पाण्डव वीर थे, पर यह न भूलना चाहिए कि उन्हें अपना 'पांडव' यह उपनाम उतना प्यारा न था, जितना प्यारा 'कौन्तेय' था। राम का सबसे प्यारा नाम 'कौशल्या नन्दन' है। वे वीर माता के नाम से नाम कमाने को अपमान न समझते थे—उसे अधिक अच्छा समझते थे, और यही कारण था उन पर माताओं का आशीर्वाद फलता था।

राजपूतों में स्त्री जाति की रक्षा करना आवश्यक धर्म समझा जाता था। रक्षाबन्धन उसका एक अधूरा शेष है। यह दिन बहिन और भाई देश की अबलाओं और वीर पुरुषों के परस्पर रक्षा-रक्षक सम्बन्ध को दृढ़ करने का दिन है। जब भारत में स्वाधीनता आत्म सम्मान और यश का कुछ भी मूल्य समझा जाता था, तब देश के नवयुवक अपनी देश-बहिनों की मानमर्यादा की रक्षा के लिए प्राणों

की बलि देने में अपना अहोभाग्य समझते थे।

परन्तु आज क्या दशा है ? पाठक यह समझकर विस्मित नहीं हों कि हम अब स्त्री शिक्षा और विधवा विवाह का रोना लेकर बैठेंगे। यह रोना रोते-रोते आधी सदी बीत गई—और अब उसका असर देश के सभी विचारशीलों पर है। हम तो आज अपने पाठकों को केवल यह अनुभव कराना चाहते हैं कि स्त्री जाति के प्रति भारतवासियों के जो वर्तमान भाव हैं वह कितने हीन और तुच्छ हैं। यह याद रखना चाहिए कि जो जाति माताओं को इतना ही न और तुच्छ समझती है, वह दासता की ही अधिकारिणी है। हमारे हरेक व्यवहार में हमारे शहरों और गाँव के हरेक कोने में हमारे असभ्य और सभ्य नागरिकों के मुँह में दिन-रात माताओं और बहनों का नाम लेकर गालियाँ निकलती हैं। लड़ाई आदमी से, गाली और बेइज्जती माँ और बहन के लिए ! यदि किसी दूसरे को बदनाम करना है तो उसका सबसे सरल उपाय उसकी बहिन या लड़की को बदनाम करना समझा जाता है। सामाजिक स्थिति में स्त्रियों को अछूतों से बढ़कर गिना जाता है। हमारी सभा सोसाइटियों के योग्य उन्हें नहीं समझा जाता।

स्त्री जाति पर शत्रु का आक्रमण एक ऐसी घटना हुआ करती थी कि उस पर हमारे वीर पुरुषों के ही नहीं, साधारण लोगों के भी खून उबल पड़ते थे। राम ने रावण को मारा, अपनी स्त्री की रक्षा के लिए। पांडवों ने कुरुकुल का संहार किया—द्रौपदी के अपमान का बदला लेने के लिए। राजपूतों में कितने युद्ध केवल महिलाओं की मान रक्षा के लिए हुए और फिर महिलाएँ भी अपनी निज बहिन या बेटी नहीं—अपितु जाति की। आज हम लोग अपनी माताओं और बहिनों के लिए गन्दी से गन्दी गालियाँ सुनते हैं और चुप रहते हैं। विदेशी लेखक और समाचार पत्रों और ग्रन्थों में हमारी स्त्री जाति के लिए निरादर सूचक शब्द लिखते हैं और हम उन्हें पढ़कर चुप रहते हैं। इतना ही नहीं, पिछले साल की मार्शलता की घटनाओं को याद कीजिए। एक विदेशी अफसर आता है और भारत पुत्रियों और माताओं को गाँव से बाहर बलात् बुलाता है, उनका पर्दा अपनी छड़ी से उठता है, उन पर थूकता है, उन्हें गन्दी गालियाँ देता है और भारतवासी हैं, जो इस पर प्रस्ताव पास करते हैं। क्या किसी जीवित जाति में स्त्रियों पर ऐसा अत्याचार सहा जा सकता था ? क्या किसी जानदार देश में ऐसा अपमान करनेवाला व्यक्ति एक मिनट भी रह सकता है ? हम पूछते हैं कि क्या राम के समय के क्षत्रिय, क्या भीम और अर्जुन, क्या हम्मीर और सांगा के समय के राजपूत, और क्या शिवाजी के मराठे ऐसें जातीय अपमान को क्षण-भर भी सहते ? क्या भारत की भूमि ऐसे तिरस्कार के पीछे भी शान्त रहती ? कभी नहीं, उसमें वह भूडोल आता जिसमें शासकों का दर्प और पापी का पाप चकनाचूर हो जाता। पर हाय ! यह आत्मसम्मान का भाव इस अभागे देश में बाकी नहीं रहा। माताओं और बहनों के लिए वह अतुल

भक्ति और प्रेम का भाव अब भारतवासियों में नहीं रहा। रक्षाबन्धन उन्हीं भावों का चिन्ह था। आज भी वह कुछ सन्देश रखता है। आज भी वह अबला की पुकार देशवासियों के कानों में डाल सकता है—पर यदि कोई सुनने वाला हो। जिनके कान हैं वह रक्षाबन्धन के सन्देश को और अबलाओं की पुकार को सुन सकते हैं। यदि वह भी नहीं सुन सकते, तो फिर हे देशवासियो ! अपने भविष्य से निराश हो जाओ। तुम्हारे जीने से न कोई भला है और न उसकी कोई आशा है। जिस जाति के पुरुष अपनी माताओं, बहिनों और पुत्रियों के मान की रक्षा नहीं कर सकते, वह जाति इस भूतल से धुल जाने के ही योग्य है।

[श्रद्धा, 3 सितम्बर, 1920]

हमारी कलकत्ता की चिट्ठी निजी संवाददाता द्वारा

मध्याह्नोत्तर 12 1/2 बजे जगदीश चन्द्रबोस के Research Institute को देखते गए। श्री प्रो. नगाजी ने बड़े प्रेम से सब कुछ अच्छी तरह सिखाया। यह संस्था प्रत्येक दृष्टि से देशभक्तों के लिए बड़े आत्मसम्मान की चीज है। व्याख्यान भवन के चित्र तथा सर्व भवन रचना अपने स्वदेशी स्वजाति पढ़ने से कीमती है। चारों ओर नाना प्रकार के वृक्ष लगे हुए हैं। इस संस्था में अनेक कुलीन नवयुवक बड़े *परिश्रम* से जगदीश चन्द्र बसु के निरीक्षण में स्वतन्त्र गवेषणाएँ करते हैं।

इस संस्था के लिए आवश्यक परीक्षण पत्रादि भी स्वयं तैयार किए जाते हैं। आज सायंकाल पाँच बजे कालेज स्क्वेयर पर मि. पाल का खिलाफत विषय पर व्याख्यान हुआ। इसमें उन्होंने ब्रिटिश मुख्य सरकार की इजिप्त सम्बन्धी नीति का खुलासा करते हुए बताया कि खिलाफत का मामला जहाँ एक ओर मुसलमानों के लिए धार्मिक दृष्टि से महत्त्व का प्रश्न है वहाँ हिन्दुओं के लिए राजनैतिक दृष्टि से इसका कम गौरव नहीं है, अतः हमें इसपें पूर्ण सहयोग देना चाहिए।

इसके अन्तर 7 1/2 बजे स आर्यसमाज मन्दिर में ब्र. धर्मदेव जी का 'देश भक्तों के प्रति वेद का सन्देश' विषय पर व्याख्यान हुआ। श्री स्वामी जी ने सभापति के आसन को सुशोभित किया था। व्याख्यान का इस प्रकार है—'आजकल के नवशिक्षित, देशप्रेम के भाव को अंग्रेजों का सिखाया हुआ मानते हैं। पर अब हम वेद अनुशीलन करते हैं तो वहाँ *'नरोमात्रे पृथव्या'* इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि हमें अपनी मातृभूमि के लिए सब कुछ न्योछावर करने को तैयार रहना चाहिए, देश सेवा के लिए तप और सत्य की परम आवश्यकता है।' तदन्तर श्री सभापति जी ने अपने भाषण में बताया कि 'ऐसे स्वतन्त्र विचारों को जो कि ब्रह्मचारी ने आपके सामने उपस्थित किए हैं। बिना जातीय शिक्षा के नहीं पैदा हो सकते। अतः आप सब लोगों को जातीय शिक्षणालय की स्थिरता के लिए यत्न करना चाहिए।'

[श्रद्धा, 10 दिसम्बर, 1920]

हमारी मद्रास की चिट्ठी

यहाँ के 'नान-ब्राह्मण' शिक्षा में ब्राह्मणों से कोसों पीछे हैं। यदि ब्राह्मण 100 वर्ष तक सोए रहें और नान-ब्राहाण, दिन-रात, लगातार भागते रहें तो भी उनका ब्राह्मणों को पकड़ लेना मुश्किल दिखाई देता है। यदि पढ़े-लिखों को ब्राह्मण कहा जाए तो यहाँ के जन्म के ब्राह्मण कर्म से भी ब्राह्मण हैं—यदि अनपढ़ों को शूद्र कहा जाए तो यहाँ के जन्म के शूद्र, कुछ-एक को छोड़कर, कर्म से भी शूद्र ही हैं। इसीलिए मैंने अपनी पहली चिट्ठी में कहा था कि यहाँ की समस्या बड़ी विकट है। वैसे तो यहाँ भी पकौड़े तलनेवाले और रसोई घर के आचार्य काफी हैं और शायद काफी से भी ज्यादा हैं, परन्तु शिक्षा की दृष्टि से ब्राह्मण और नान-ब्राह्मणों में जमीन-आस्मान का फरक है। नान-ब्राह्मण अशिक्षित हैं, इतना ही नहीं, परन्तु वे जान-बूझकर अशिक्षित हैं। पढ़ने में उनकी प्रवृत्ति ही नहीं। मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि इसका कारण ब्राह्मणों का नान-ब्राह्मणों को शताब्दियों तक शिक्षा देवी के मन्दिर में घुसने न देना ही है। बैंगलोर में ही एक संस्कृत कालेज है, जिसमें अध्यापकों से बातचीत करते हुए मालूम हुआ 'अब्राह्मणा नांप्रवेशः निषिद्धोऽस्ति।' 'स्त्री शूद्रो नाधीतायाताम्' की दुहाई तो यहाँ और हमारी तरफ एक-सी है, परन्तु हाँ, यहाँ स्त्रियों को बड़ी खुल मिलती जा रही है और कई बार तो वे हमारे ग्रेजुएटों से भी तेज गिट-पिट करती सुनाई देती हैं। नान-ब्राह्मणों का अशिक्षित होना और उनमें शिक्षित होने की प्रवृत्ति का ही अभाव होना—ये दो बड़ी शोचनीय अवस्थाएँ हैं। यद्यपि इनका कारण ब्राह्मण ही हैं तथापि इन अवस्थाओं की मौजूदगी से कोई इन्कार नहीं कर सकता।

यहाँ सरकार की तरफ से एक संस्था व्यायाम के लिए खोली गई है। कुछ 200 से ऊपर विद्यार्थी रोज सायंकाल एकत्रित होते हैं, परन्तु 10-15 को छोड़कर सब ब्राह्मण ही ब्राह्मण हैं। एक महीने से ऊपर हुआ कि विद्यार्थियों की प्रेरणा से मैंने एक हिन्दी स्कूल खोलने का विचार किया। 200 से ऊपर नाम आ गए। मैं फिक्र में पड़ गया—इतनों का प्रबन्ध कैसे हो सकता है ? दूसरे दिन मैंने सूचना भिजवा दी कि जो हिन्दी पढ़ना चाहें वे सरकारी स्कूल के हाल में जमा हो जाएँ। समय से पीछे आनेवालों को क्लास में नहीं लिया जाएगा। मैं ठीक समय पर हाल

में पहुँच गया। देखा तो सभी ब्राह्मण विद्यार्थी मौजूद थे, नान-ब्राह्मणों का कहीं पता भी नहीं चला। 200 की संख्या 90 तक आ पहुँची।

अपनी इस कमजोरी को नान-ब्राह्मण स्वयं भी अनुभव करते हैं। इसे दूर करने के लिए इन्होंने हाथ-पैर मरने शुरू किए हैं। शिक्षा के प्रचार के लिए भिन्न-भिन्न संस्थाएँ खड़ी हो रही हैं। उनके शिक्षणालय खुल रहे हैं, अखबार निकल रहे हैं और कान्फ्रेंस हो रही हैं। सर त्यागराय चट्टी यद्यपि डॉ. नायर के चेले हैं और कभी-कभी भूल से वैसी ही तानें छेड़ देते हैं तथापि उनके दिमाग में बहुत गर्मी नहीं। वे नान-ब्राह्मणों के वर्तमान नेता हैं और शिक्षा पर यथोचित ध्यान देने की कोशिश करते हैं। पिछली नान-ब्राह्मण कांफ्रेंस के अध्यक्ष की *हैसियत* से जो वक्तृता अपनी दी, वह शुरू के 20-25 पृष्ठों तक तो ब्राह्मणों को गालियाँ देने में ही खर्च की गई है लेकिन उसके पिछले 10-12 पृष्ठों में नान-ब्राह्मणों को भी कुछ नसीहतें दी हैं। शिक्षा का प्रचार उनमें से एक है। पहली कोशिश इन लोगों में शिक्षा का प्रेम उत्पन्न करना है।

महात्मा गांधी ने इस प्रश्न को खूब समझा है। 'लॉ कालेज' के कुछ विद्यार्थियों से बातचीत करते हुए उन्होंने कहा कि ब्राह्मणों को अब तक जो असाधारण अधिकार दिए गए उनसे उनमें जरा गरूरी आ गई है। अब्राह्मणों को सुबह-शाम ब्राह्मणों की पूजा तथा अक्षरों से द्वेष करने का ही पाठ पढ़ाया गया जिससे उनका आत्म-विश्वास जाता रहा। बरसों तक नान-ब्राह्मण, ब्राह्मणों के पाँव पकड़े आँखें मूंदे धरती पर पड़े रहे। अब वे उठने से घबराते हैं।

निस्सन्देह कभी-कभी नाना-ब्राह्मण अपने ब्राह्मण देवता को अगूँठा भी दिखा देते हैं, परन्तु नान-ब्राह्मणों में ऐसी संख्या बहुत है जो कि ब्राह्मणों की गुलामगिरी अपने जीवन का उद्देश्य समझती हैं। उनके अन्दर यदि किसी तरह से आत्म-विश्वास उत्पन्न किया जा सके तो किसी तरह की उन्नति की सम्भावना हो सकती है। एंग्लो-इंडियन पत्रों के *सरयन* कभी-कभी नान-ब्राह्मणों के नाम छपते हैं। उनका प्रयत्न दोनों में लड़ाई कराना तथा नान-ब्राह्मणों को अपने साथ मिलाना है। परसों ही 'मद्रास-मेल' के संवाददाता ने अपने खेल खेले हैं। उसका कथन है कि कोई भी अच्छे दिमाग का नान-ब्राह्मण असहयोग के कार्य में महात्मा गांधी के साथ नहीं। बेचारे भोले-भाले नान-ब्राह्मण बहुत बार इन चालाकों के चँगुल में फँस भी जाते हैं। परन्तु उन्हें इसमें बहुत बचने की जरूरत है। यदि ब्राह्मणों की तरफ से इस समय पहल हो तो काम बना बनाया है। प्रत्येक ब्राह्मण यदि वर्तमान झगड़ों को दूर करने की कोशिश में लग जाए तो 'मद्रास मेल', एण्ड कम्पनी के असार-गर्भित उपदेशों की जिल्द बाँधकर उसे धन्यवादपूर्वक वापिस की जा सकती है। हाँ, कठिनता एक है। ब्राह्मण की खोपड़ी में सार्वभौम भ्रातृत्व का भाव घुस ही नहीं सकता। उसके लिए यह असम्भव है और कई बार असम्भव है। यही

कारण है कि इस समय मद्रास प्रान्त दो भागों में विभक्त है। एक बड़ा हिस्सा ब्राह्मणों का और दूसरा नान-ब्राह्मणों का गरम तथा नरम दोनों के नेता तथा अनुयायी अधिकांश में ब्राह्मण ही हैं। और वे ही राजनीति में भाग लेते हैं। अब्राह्मणों का ठण्डा दल है। एंग्लों इंडियन इसे गर्म करने की कोशिश कर रहे हैं लेकिन वह गर्मी और तरह की है। उस गर्मी से 'सन-स्ट्रोक' हो जाने का खतरा है। अस्तु।

यहाँ के ब्राह्मणों की कोशिश कुल अंश में देश के लिए बड़ी अशुभ, है। नान-ब्राह्मण यदि किसी के चँगुल में न फँसकर अपने पाँव पर उठ खड़े होंगे तो देश का बड़ा कल्याण होगा। ब्राह्मणों की तरफ से नान-ब्राह्मणों को किसी तरह के अधिकार दिए जाने की मुझे कोई भी आशा दिखाई नहीं देती। नान-ब्राह्मणों को ही अब हिम्मत करनी होगी। यदि नान-ब्राह्मण अपने पराए का ख्याल रखकर ब्राह्मणों से लड़ेंगे और जबरदस्ती उनके हाथों से अपने अधिकार छीन लेंगे तो तब तो कृत्कार्यता हो सकती है, परन्तु यदि वे अपने झगड़ों के निबटाने के लिए किसी बन्दर से जाकर फैसला करवाना चाहेंगे तो बन्दर-बाँट की मखौल के सिवाय कोई फल न होगा।

[श्रद्धा, सितम्बर, 1920]

सुधार के नाम पर बिगाड़ का एक नया खतरा

इस समय रोलेट कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकने के कारण कहा जाता है कि भारत की सरकारी शिक्षा का नया युग आरम्भ हो गया है। वह नया युग देखने में बहुत सुन्दर दिखाई देता है। भारत सरकार अब स्थान-स्थान में यूनिवर्सिटियाँ बना रही हैं। पटना, ढाका, लखनऊ, आगरा, दिल्ली आदि शहरों को अपने-अपने विश्वविद्यालय मिल जाएँगे। यह विश्वविद्यालय प्रायः रेजीडेन्शियल (Residential) होंगे। विद्यार्थियों को पढ़ना भी वहाँ पड़ेगा—रहना भी वहीं होगा। कम-से-कम सब शिक्षणालय एक ही स्थान पर एकत्रित हो जाएँगे उन पर आँख अच्छी तरह रुकेगा। प्रत्येक विश्वविद्यालय में विद्या और प्रकाश की एक विशेष जलवायु उत्पन्न हो जाएगी। शिक्षण का सारा कारखाना विश्वविद्यालय के संचालकों की दृष्टि में रहेगा।

यह रीति उत्तम क्यों नहीं—जबकि संसार के सब बड़े-बड़े विश्वविद्यालय ऐसे ही हैं। आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज ऐसे ही हैं। पेरिस की प्रसिद्ध यूनिवर्सिटी ऐसी ही है। भारत में जो लोग शिक्षा सुधार के लिए चिल्ला रहे हैं, वह भी सरकारी शिक्षा में यही दोष बताते हैं कि वह बिखरी हुई है। शिक्षक लोगों का विद्यार्थियों पर निरीक्षण नहीं रह सकता।

इस प्रकार ऊपर की चर्म चक्षु से तो दिखाई देता है कि भारत सरकार ने आखिर अपनी भूल स्वीकार की है और शिक्षा के मामले को बुद्धिमता से निपटाने का प्रयत्न किया है। परन्तु जरा गहराई में जाएँ और उन उद्देश्यों पर विचार करें जिनसे प्रेरित होकर सरकार नई नीति का आश्रय ले रही है, और उन परिणामों पर ध्यान दें जो इस नीति के आवश्यक फल हैं। तो प्रसन्नता बहुत कम हो जाती है। सरकार की नई शिक्षा नीति बिल्कुल दूसरे ही रूप में दिखाई देने लगती है। और प्रबल सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि नया शिक्षा युग कहीं पुराने शिक्षा युग से भी अधिक हानिकारक न हो।

सरकार की नई शिक्षा प्रणाली का असली उद्देश्य बिखरी हुई शिक्षा सम्बन्धी शक्तियों को एकत्र करना और एक प्रान्त के एक ही केन्द्र विश्वविद्यालय के शासन की एकत्र हुई शक्ति को बिखेरना है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर कालेज खुले रहते हैं उन पर सरकार पूरी दृष्टि नहीं रख सकती। उनके अध्यापकों और प्रोफेसरों

को वह भली प्रकार काबू में नहीं कर सकती। इस रीति ने यूनिवर्सिटियों के मुखिया, जो निस्सन्देह अंग्रेज होंगे, हरेक कालेज के हरेक विद्यार्थी और अध्यापक पर गहरी नजर रख सकेंगे। यह तो केन्द्रीकरण है। दूसरी कठिनाई सरकार के सामने यह है कि कलकत्ता और बम्बई के विश्वविद्यालय कभी-कभी सरकार का भी सामना कर देते हैं। उनकी बढ़ी हुई शक्ति के सामने सरकार की नहीं चल सकती। एक ही प्रान्त में अनेक विश्वविद्यालय बना देने से उन मुख्य विश्वविद्यालयों की शक्ति टूट जाएगी। जुदा-जुदा छोटे-छोटे शिक्षणालयों को वश में रखना बड़े-बड़े विश्वविद्यालय की अपेक्षा बहुत सरल है। हम जानते हैं कि यदि सरकार का किसी प्रकार का दखल न हो, यदि यूनिवर्सिटियों के चान्सलर हमारे देश के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ हों (जैसे इंग्लैंड तथा अन्य स्थानों में होते हैं) यदि कालेजों के प्रिन्सिपल देशभक्त भारतवासी हों तो सरकार को यह सुधार, देश के उद्धार के कारण हो सकते हैं क्योंकि उस दशा में शिक्षा भारतवासियों को अधिक भारतवासी बनाएगी। परन्तु वर्तमान दशा क्या है ? सारी शिक्षा पर सरकार की छाप है। सारी मशीनरी सरकार के अवयवों से बनी हुई है। प्रिन्सिपल गोरी नौकरशाही के अंग होंगे। चान्सलर प्रान्त के गवर्नर होंगे। ऐसी दशा में क्या यह समझना कुछ भूल है कि शिक्षा को जितना ही अधिक काबू में लाने का यत्न किया जाएगा शिक्षकों को जितना ही अधिक दृष्टि में रहना पड़ेगा, विद्यालयों पर जितने ही अधिक गहरे प्रभाव पड़ेंगे—जाति की उतनी ही अधिक हानि है। जाति के हित में जाति द्वारा जाति के बच्चों की शिक्षा हो तो, कम रुपया होने पर, थोड़ी योग्यता के अध्यापक होने पर, और छोटी इमारत होने पर भी परिणाम जाति के लिए बहुत अच्छा हो सकता है। इस समय शिक्षा में जिस प्रकार के सुधार की आवश्यकता है, वह यह कि शिक्षा का माध्यम देशभाषा को बनाया जाए। विद्यार्थियों के जीवनों को ऊँचे बनाने का यत्न किया जाए, उनके राष्ट्रीय भावों को दृढ़ किया जाए, फिजूल साहित्यिक शिक्षा को हटाकर क्रियात्मक शिक्षा दी जाए। यह सुधार आवश्यक है—और जाति का यह धन यदि इन पर व्यय किया जाए तो वह सद्व्यय होगा। परन्तु यहाँ तो दशा ही दूसरी है। जो सुधार हो रहे हैं—वह वस्तुतः बिगाड़ ही हैं। शिक्षा की समस्याएँ जातीय दृष्टि से अधिक गम्भीर हो जाएँगी। हमारे भावी राष्ट्रीय जीवन पर सरकारी शिक्षा का जो बुरा प्रभाव होने को है उसकी घनता और भी अधिक बढ़ जाएगी। जो भारतवासी सरकारी शिक्षा के नए युग का स्वागत कर रहे हैं, और एक-एक यूनिवर्सिटी पर करोड़ों रुपए के व्यय को आवश्यक व्यय बता रहे हैं, वह भूलते हैं।

भारत में शिक्षा का एक ही सबसे बड़ा आवश्यक सुधार है। वह सुधार यह है कि राष्ट्र की शिक्षा राष्ट्र के हाथों में हो। सरकार के अंगभूत मिनिस्टरों के हाथ में शिक्षा का होना राष्ट्र के हाथ में होना नहीं है। सरकार का प्रारम्भिक शिक्षा

से सीधा सम्बन्ध हो–मध्यम शिक्षा में वह केवल सहायता रूप में रह जाए और ऊँचे-ऊँचे दर्जे की शिक्षा सर्वथा स्वतन्त्र होना चाहिए। विश्वविद्यालय अपने चान्सलर, प्रिन्सिपल, प्रोफेसर, संगठन, शिक्षा क्रम आदि नियम करने में स्वतन्त्र हों। यह सबसे बड़ा आवश्यक सुधार है। हमारे जितने कदम इस ओर उठते हैं, उतना ही हम राष्ट्रीय मोक्ष के पास पहुँचते हैं और जितने कदम दूसरी ओर उठते हैं, हमारी जंजीरें उतनी प्रबल होती जाती हैं।

[श्रद्धा, 10 सितम्बर, 1920]

सहयोग के बिना असहयोग निरर्थक है

कलकत्ता से मेरा विचार धर्म प्रचारार्थ म्रदास प्रान्त की यात्रा का था। कलकत्ता में बराबर व्याख्यानों तथा निजू बातचीत द्वारा ब्रह्मचर्य तथा वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रचार करते तथा स्पेशल कांग्रेस के विचारों में भाग लेते हुए मैं ऐसा अस्वस्थ हो गया कि मुझे कलकत्ता से सीधा गुरुकुल लौटना पड़ा। जीवन शेष है तो मद्रास को फिर कभी अनुकूल ऋतु में जाऊँगा।

मैंने कलकत्ता जाते हुए दो प्रस्ताव कांग्रेस की स्वागतकारिणी सभा के पास भेजे थे, जिनका विस्तृत वर्णन 30 श्रावण के 'श्रद्धा' पत्र में कर चुका हूँ। प्रथम प्रस्ताव यह था कि भारतवर्ष के प्रत्येक जिले में 'पंचायती न्यायालय' स्थापित करने चाहिए। जो सब दीवानी तथा साम्प्रदायिक झगड़ों का निबटारा किया करें।

मेरे प्रस्ताव को मेरे शब्दों में तो स्वागतकारिणी सभा में नहीं रखा प्रत्युत अपने प्रस्ताव के साथ उसे स्थान दिया महात्मा गांधी के प्रस्ताव का भी वह एक भाग बन गया। मेरा प्रस्ताव यह था कि चाहे वकील वकालत छोड़ें या न छोड़ें, परन्तु पंचायती न्यायालय अवश्य स्थापित हों। महात्मा गांधी का प्रस्ताव यह है कि वकील शनैः-शनैः वकालत छोड़ते जाएँ और ज्यों-ज्यों वे वकालत छोड़ते जाएँ त्यों-त्यों उनकी सहायता से पंचायती न्यायालय स्थापित होते जाएँ। मेरा प्रस्ताव अपने भाइयों के साथ सहयोग का था। उसमें असहयोग की गन्ध भी न थी। उसमें हिंसा का भाव भी न था। महात्मा गांधी 'बायकाट' (Boycot) शब्द के विरुद्ध इसलिए थे कि उससे मानसिक हिंसा की गन्ध आती है। परन्तु पंचायती अदालतों सम्बन्धी प्रस्ताव में उन्होंने राज़ीनामा करते हुए 'बायकाट' शब्द का प्रयोग मान लिया। प्रस्ताव का (d) भाग इस प्रकार है–

"Gradual boycot of british courts by lawyers and litigantp and establishment of prirate arbitration courts by their did for the sellement of prirate disputes"

मेरा प्रस्ताव केवल इतना था–'इस कांग्रेस की सम्मति में भारतवर्ष के प्रत्येक जिले के सदर मुकाम पर एक पंचायती न्यायालय स्थापित करना चाहिए जिसमें हिन्दू-मुसलमान, सिक्ख, इसाई, पारसी इत्यादि सब सम्प्रदायों के प्रतिनिधि मिलकर

आपस के सब झगड़ों का निबटारा किया करें।' मेरे प्रस्ताव में एक तो मानसिक हिंसा की गन्ध तक नहीं है और दूसरे उस पर अमल होने से जहाँ वकालत-पेशा सज्जन बिना हमारे प्रयत्न के वकालत छोड़ने के लिए बाधित हो जाते वहाँ ब्रिटिश सरकार के भी शीघ्र होश ठिकाने आ जाते। अस्तु, अब तो कांग्रेस ने जो प्रस्ताव पास कर दिया वही ठीक है। परन्तु जो समझौता 'निखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी' (All India Congress commitee) के 10 सेप्टेम्बर वाले अधिवेशन में मालवीय जी तथा गांधीजी में हुआ है उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि कांग्रेस में रहते हुए भी कांग्रेस के प्रस्ताव के विरुद्ध काम करता रहे। तब जो लोग, मेरी तरह यह समझते हैं कि गांधी जी का प्रस्ताव हिंसापरक है, वे बिना वकीलों की वकालत छोड़ने की प्रतीक्षा किए ही पंचायती अदालतों की स्थापना का कार्य आरम्भ कर दें तो उनका ऐसा करना उचित ही है।

मेरा दूसरा प्रस्ताव यह था कि जिन जातियों को अविद्यावश अछूत कहा जाता है उनके साथ सामाजिक व्यवहार उसी प्रकार का आरम्भ हो जाना चाहिए जैसा कि अन्य जातियों के साथ होता है। इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। महात्मा गांधी जी ने भी इस समय यही नीति ठीक समझी कि इस प्रश्न को न· हिलाया जाए। परन्तु ये बड़ी भारी भूल थी। विरोधिनी जाति के साथ पूरा असहयोग तभी हो सकता है जबकि आपस में पूरा सहयोग हो। कांग्रेस की बागडोर जिन नेताओं के हाथ में, महात्मा गांधी की सहायता से आ गई है उन्हें समझ लेना चाहिए कि जब तक वे अपने सात करोड़ भाइयों को सन्तुष्ट करके अपना न लेंगे तब तक उनका असहयोग सर्वथा कृतकार्य न होगा। तिलक महाराज ने अपने जीवनकाल में ही कह दिया था कि यदि अछूतों के साथ भोजन करने से मातृभूमि का कल्याण हो तो वह उनके साथ भोजन करने को तैयार हैं। तिलक महाराज 'यदि' का प्रयोग न करके अछूतों के सहभोज में सम्मिलित हो गए होते तो आज उन जातियों की ओर से कांग्रेस का इतना विरोध न दिखाई देता जिसे आज हम लोग देख रहे हैं। गांधी महाराज 12 महीनों के अन्दर स्वराज्य दिलाने के यत्न में लग जाएँ—ठीक है। उन्हें ब्रिटिश गवर्नमेन्ट को शिथिल गात (Paralyze) करके स्वराज्य प्राप्त करने का पूरा अवसर दिया जाए; परन्तु उसके साथ ही उन लोगों को, जो अभिमानी ऊँची जातियों के बर्ताव को घृणित समझते हैं, चाहिए कि अपने सात करोड़ भाइयों को अपनाने के काम में लग जाएँ। वह समय अब नहीं रहा जब इन भाइयों को केवल एक फर्श पर बैठने का अधिकार देने से वे अपनाए जा सकते थे। इस समय तो तभी काम चलेगा जब उनको समाधिकार दिए जाएँ।

देश के सामने ये दो बड़े भारी काम हैं। तीसरा काम जाति की शिक्षा अपने हाथों में लेने का है। महात्मा गांधी के प्रस्ताव में तीन प्रकार के शिक्षालयों से छात्र निकाल लेना है—(1) गवर्नमेन्ट के शिक्षालय, (2) गवर्नमेन्ट से सहायता लेनेवाले

शिक्षालय, (3) गवर्नमेन्ट के अधीन शिक्षालय। इनमें से शनैः-शनैः जाति की सन्तान को निकालने का शायद यह मतलब है कि पहले जातीय (National) स्कूल और कालेज स्थापित कर लिए जाएँ और पीछे अपनी सन्तान को अलग किया जाए। परन्तु यह भूल है। हमारे जातीय शिक्षालय तो इस समय भी चल रहे हैं। पहले पंजाब को लीजिए। लाहौर में दयानन्द एंग्लो वैदिक काल्लेज, दयाल सिंह कालेज, सनातन धर्म सभा कालेज, इसलागिल या कालेज और इनसे सम्बन्धित सारे स्कूल तथा रावलपिंडी और जालन्धर के डी.ए.वी. कालेज तथा सारे पंजाब के प्राइवेट और एडेड स्कूल्ज़–ये सब जातीय शिक्षालय होने का दावा करके ही सर्वसाधारण से सहायता पाते रहे हैं। जनता की मेहनत की कमाई से ये शिक्षालय वर्तमान अवस्था को पहुँचे हैं। इन सबके संचालकों को बाधित किया जाए कि गवर्नमेन्ट से यदि कोई सहायता लेते हों तो एकदम लेना छोड़ दें और यूनिवर्सिटी को लिख दें कि उसके साथ अब उनका कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसा करने से सात दिनों के अन्दर ही आपके जातीय शिक्षालय गवर्नमेन्ट और मिशनरियों के शिक्षालयों से दुगने नहीं तो ड्योढ़े अवश्य हो जाएँगे। इनमें से जिस संस्था के संचालक जाति का कहना न मानें, उन्हीं को सहायता देना सर्वसाधारण बन्द कर दें, और उनके शिक्षालयों से लड़के-लड़कियों उठा लें। तब गवर्नमेन्ट स्कूलों और कालिजों को बेच खाली हो जाएँगे। फिर हमारे स्कूलों और कालेजों में पाठविधि भी अपने अनुकूल बनाई जा सकेगी।

कांग्रेस के प्रधान पद का अनुचित लाभ उठाते हुए लाला लाजपतराय ने, उस समय जबकि उनका कोई उत्तर न दे सकता था, कह दिया कि शिक्षा गवर्नमेन्ट का काम है, कोई भी अपनी सन्तान को सरकारी शिक्षालयों से मत उठाना और कि वर्तमान गुरुकुल और प्राइवेट कालेज वा स्कूल कोई जातीय नहीं। उन्होंने अभिमानपूर्वक यह भी कहा कि जातीय शिक्षा का मर्म उनके बिना कोई समझा नहीं। मेरी सम्मति में लाला जी स्वयं नहीं समझ सकते कि भारतवर्ष के लिए जातीय शिक्षा क्या है। जिस समय जिसके संसर्ग में रहते हैं उसी का रंग उन पर चढ़ जाता है। वह अभी अमेरिका से आए हैं। बरसों वहाँ रहते हुए यूरोप और अमेरिका के भोग-प्रधान देशों के रंग में वह रंग गए हैं। वह भूल जाते हैं कि इस देश का जीवन ही तप और निस्वार्थता में रहा है और रहेगा। शिक्षा चाहे मुसलमानी शिक्षालय में हो, चाहे हिन्दू वा ईसाई शिक्षालय में आवश्यक यह है कि गुरु-शिष्य का पिता-पुत्रवाला सम्बन्ध हो तथा उनके जीवन तपमय हों। इस समय विशेष आवश्यकता है जबकि शताब्दियों की दासता की सांकल तोड़कर जाति स्वतन्त्र होना चाहती है।

मेरा मत है कि प्राइवेट और एडेड सब स्कूलों और कालेजों को एकदम यूनिवर्सिटी की दासता से अलग कर लेना चाहिए। एक तो विदेशियों की मानसिक

दासता से हमारी सन्तान मुक्त हो जाएँगी और फिर किसी फ्रैंक जानसन का हौंसला न पड़ेगा कि दो घंटों की मोहलत देकर, परीक्षा में न बैठने देने की धमकी सुना, हमारे शिक्षालयों के प्रिन्सिपलों को बाधित करे कि वे अपने शिष्यों को निरापराध जानते हुए भी, उनको दण्ड के लिए पेश करें, और न केवल स्वयं अपमानित हों प्रत्युत अपने शिष्यों को भी अपमानित कराएँ। आज इतना ही काफी है, शेष फिर सही। अन्त में फिर इसी पर बल दूँगा कि अपने भाइयों के साथ सहयोग करते हुए ही मातृभूमि का तिरस्कार करनेवालों के साथ असहयोग फलीभूत हो सकता है।

[श्रद्धा, 17 सितम्बर, 1920]

बर्मा में क्या देखा, क्या किया ?

जिसको मैं 'ब्रह्म देश' पुकारता और लिखता रहा हूँ, जिसे अंग्रेज और हिन्दोस्तानी 'बर्मा' पुकारते हैं, उसे देशनिवासी 'बर्मा' कहते हैं। बमीय भाषा प्रायः पाली का अपभ्रंश है। और पाली का स्रोत संस्कृत है। यथा—संस्कृत 'धर्म', पाली 'धम्मा' बमी 'बम'। मैं इस लेखमाला में उन्हीं घटनाओं का वर्णन करूँगा जिन्हें मैंने देखा सुना व जिनमें स्वयं भाग लिया।

दिन-भर दशहरे का त्यौहार मनाकर आश्विन शुक्ल दशमी अर्थात 22 अक्टूबर सं. 1920 ई. के मध्याह्नोत्तर मैं गुरुकुल से चल दिया। यद्यपि चलने से एक घंटा पहले अतिसार ने शिथिलगात कर दिया था। तथापि प्रतिज्ञा का पालन (जहाँ तक हो सके) करना कर्त्तव्य समझ कर मैंने आगे ही पग उठाया। न कोई भृत्य साथ लिया और न डाक्टर की सेवा ही स्वीकार की, क्योंकि गुरुकुल को चिकित्सक शून्य छोड़ना अधर्म था, अकेला ही बल के भंडार के आश्रय पर यात्रा का आरम्भ किया।

'कलकत्ता मेल' में बैठकर 23 की शाम को दानापुर उतरा। 24 के दिन, प्रतिज्ञा किए हुए एक के स्थान में दो व्याख्यान स्थानीय आर्यसमाज में उत्सव में देकर शाम की ट्रेन से कलकत्ता के लिए प्रस्थान किया। दानापुर बहुत पुराना शहर है। रेलवे स्टेशन से शहर साढ़े तीन मील दूर है। भारतवर्ष के पहले भाग्यविधाता लार्ड क्लाइव ने यहाँ छावनी डाली थी, वह अब तक विद्यमान है। नगर गंगा के किनारे बसता था। अब भी गंगा बहुत दूर नहीं। इसी स्थान पर 'सोनभद्रा' गंगा में गिरती है और थोड़ी दूरी पर 'सरयू' और 'गंडक' नदियाँ भी आ मिलती हैं। आर्यसमाज मन्दिर सुन्दर, स्वच्छ और खुला है।

25 के प्रातः कलकत्ता पहुँचा। मैकाइनर मार्केन्जी एंड कं. (Mackinor Markenzie) के अंगोरा (Angora) नामी जहाज का टिकट मिला। दूसरे दर्जे में एक भी स्थान खाली न था। इसलिए पहले दर्जे का टिकट लिया गया था। यह जहाज पहले 26 को चलनेवाला था परन्तु रात को सूचना आई कि 27 को प्रातः चलेगा। यह जहाज 'स्काइलेंडर' के ग्लासगो (Glass Gow) नगर के बन्दरशाह में बना। युद्ध में इसने 14, 729 (Mines) अंग्रेजी किनारे पर लगाई थीं। इस समय सबसे तेज चलनेवाला और बर्मा आने वाले जहाजों में सबसे अच्छा सजा हुआ

समझा जाता है।

समुद्र-यात्रा यह मेरी पहली थी। बम्बई आदि में जहाज अन्दर जाकर देखे थे। परन्तु समुद्र यात्रा नहीं की थी। जहाज के कमरों को 'केबिन' कहते हैं। मेरा केबिन गली के सिरे पर था। उसमें तीन सोने के स्थान (berth) थे। दो पर तो पहले ही मेरा नाम था। और तीसरे 'बर्थ' पर कोई आया नहीं। शेष यात्री सब अंग्रेज थे। जिस गली में मेरी केबिन थी। उस गली से ही अंग्रेजों का आना जाना बन्द हो गया। विशाल दोहरा गुसलखाना भी तीन दिनों तक मेरे अकेले के ही अधीन रहा।

मुझे जहाज में कोई कष्ट नहीं हुआ। समुद्र शान्त था। न मन हुआ और न जी घबराया। रात को जिस बर्थ पर पँखे की हवा ठीक आती उसी पर सोता। प्रातः समुद्र जल से पहले नहाकर मीठे जल से शरीर को ठीक करता। ऊपर जहाज के खुले बरामदे (deck) में उस समय मेरा चक्कर लगता जब सब अंग्रेज अपनी आँखें मलते हुए उठने का विचार करते। 29 अक्टूबर की दोपहर को ही ऐरावती (Iravoty) नदी में जहाज का प्रवेश हुआ। वर्षा भी आरम्भ हो गई थी। पाँच बजे शाम को जहाज से किनारे से कुछ दूर लंगर डाल दिया। रंगून के 30 या 40 सभ्य 'अगिन बोट' (lanch) मैं बैठाकर मुझे ले गए। डाक्टर ने नब्ज देखी और मैं चल दिया परन्तु पुलिस को असबाब की तलाशी लेनी थी। चाबियाँ एक भ्रद पुरुष को देकर चला आया। पुलिस ने उलट-पलट बहुत की परन्तु कुछ निकाला नहीं। किनारे पर सहस्रों भाई स्वागत को आए थे। मार्ग भी दोनों ओर मनुष्यों से भरे हुए थे। पहली बार मैं 'स्वागत' के काबू चढ़ा। जनता का प्रेम और उनकी श्रद्धा तो अद्वितीय थी। परन्तु दासता का अभ्यास शोचनीय प्रतीत हुआ। मनुष्य के स्थान में यदि परमात्मा और उसके सत्यस्वरूप पर इतनी श्रद्धा हो तो दासता की सब जंजीरे कट जाएँ। जिन फूलों का तोड़ना मैं पाप समझता हूँ उन लाखों फूलों का लिए खून होना भी मुझे बहुत अखरता था। परन्तु जो लहर चल चुकी है उसका रुकना कठिन है। रात को आठ बजे जलूस समाप्त हुआ। और मैं डाक्टर प्राण जीवनदास मेहता के गृह का अतिथि बना। जहाँ रंगून में रहते हुए अन्तिम दिवस तक मैंने निवास किया।

वर्मा की भूमि पर मैंने 29 अक्टूबर की शाम को पहला पग उठाया। और 29 नवम्बर की शाम को जो जहाज किनारे को छोड़ गहरे पानी में खड़ा हो गया उस पर 30 नवम्बर के प्रातःकाल मैं कलकत्ता की ओर चल दिया। इन 31 दिनों में मुझे प्रायः चौदह अभिनन्दन पत्र दिए गए जिनके उत्तर में पर्याप्त समय बोलना पड़ा। लगभग साठ और व्याख्यान देने पड़े। आधे से अधिक भूमि को नाप डाला और लगभग दो लाख आदमियों को धर्म और मातृभूमि का सन्देश सुनाया। इसी अवसर में बौद्ध धर्म के वर्तमान केन्द्र में मैंने इस धर्म की क्रियात्मक अवस्था को

अपनी आँखों से देखा, उने विचित्र साधु संगठन का अवलोकन किया, जनता की आर्थिक, साम्प्रदायिक और राजनीतिक दशा को जाँचा। अपने इस सारे अनुभव का संक्षिप्त वृतान्त इस लेखमाला में देना चाहता हूँ।

ब्रह्म देश में जाने का एक उद्देश्य गुरुकुल के लिए धनसंग्रह करना था। उसमें इतनी कृतकार्यता नहीं हुई, जिसकी आशा थी। कुछ तो वहाँ की नौकरशाही ने मेरे व्याख्यानों को बन्द करने में अपने आपको अशक्त देखकर केवल धनाढ्यों को धमकाकर चन्दा बन्द करने में ही अपनी सफलता समझी और कुछ मांडले बुलानेवाले आर्य भाइयों ने भूल की। इसीलिए मैं वहाँ से केवल गुरुकुल के दो उपाध्यायों के स्थान को स्थिर करने में कृतकार्य हुआ। एक सज्जन ने 30 हजार रुपए के दान से आयुर्वेद के एक उपाध्याय का स्थान स्थिर कर दिया। और कृषि के एक उपाध्याय के स्थान की स्थिरता के लिए कुल ब्रह्मदेश से लगभग 25 हजार रुपया मेरे सामने इकट्ठा हो चुका था। और शेष पाँच हजार इकट्ठा हो जाने पर रंगून की स्वागतकारिणी सभा ने तीस हजार की हुण्डी भेज देने की प्रतिज्ञा कर ली है।

दो दिसम्बर की शाम को मैं कलकत्ता पहुँचा। 3 की शाम को वहाँ से चलकर 4 की दोपहर को प्रयाग पहुँचा। श्री पंडित मोतीलाल नेहरू के आनन्द भवन में बसेरा लिया। वहाँ विचित्र परिवर्तन देखकर जहाँ दिल भर आया, वहाँ बड़ी ही प्रसन्नता भी हुई। जिस राजमहल में अंग्रेजी सभ्यता का राज्य था और भोग को ही जीवन का उद्देश्य समझा जाता था, उसमें मुवक्किलों के दरबार के स्थान में देशभक्त की सभाएँ होती हैं, अंग्रेजी सूटों के स्थान पर जवाहरलाल नेहरू, गांधी टोपी, मोटे खद्दर का अचकन, मोटे खद्दर की धोती और चपलें पहने हुए कभी काशी कभी प्रयाग और कभी प्रतापगढ़ विद्यार्थियों के आश्रमों का अधकच्चा भोजन तथा किसानों की मोटी रोटी खाकर ही अपने आपको कृतकार्य समझते हैं। जो सुकुमारी देवियाँ राज महिलाओं की तरह पली थीं वे मोटी खद्दर की धोतियाँ पहने हुए भोजन के पश्चात् नित्य तीन-तीन घंटे चरखा कातती और अन्य देश सेवा के काम में निमन्न रहती हैं। पंडित मोतीलाल नेहरू और उनके परिवार का त्याग किसी ऐतिहासिक बड़े त्याग से कम नहीं है। इस बड़े भारी परिवर्तन ने मुझे निश्चय दिला दिया कि भारतीय जाति के भाग्य फिर से उदय होने वाले हैं।

पाँच दिसम्बर की दोपहर को प्रयाग के प्रस्थान करके छः दिसम्बर को प्रातः 9 बजे में गुरुकुल भूमि में पहुँच गया। इस समय पैर का चक्कर फिर बाहर ले गया है। 11 दिसम्बर को गुरुकुल से चलकर 12 और 13 देहली में निवास किया। 14 को कुरुक्षेत्र की शाखा गुरुकुल का अवलोकन किया। 15 को अमृतसर में रहकर उस समय जब यह अंक पाठकों के हाथ में होगा मैं लाहौर से मुलतान चलने की तैयारी कर रहा होऊँगा। मुल्तान गुरुकुल के वार्षिकोत्सव से निवृत्त होकर

20 दिसम्बर लाहौर और 21 को देहली ठहरता हुआ 23 के दोपहर से पहले नागपुर पहुँचने की सम्भावना है। नागपुर से कहाँ जाना होगा—निश्चय नहीं कर सका। आगामी अंक से आनुपूर्वी अपनी ब्रह्म देश की यात्रा का वृतान्त दूँगा, जिससे पाठकों को ज्ञात होगा मैंने 'बर्मा' में क्या देखा और क्या किया'।

[श्रद्धा, 17 दिसम्बर, 1920]

हत्यारे की मुट्ठी गर्म

हत्यारे की मुट्ठी गर्म करके आंग्ल जाति ने अपनी न्यायप्रियता की पोल खोल दी है। जिस डायर ने जलियाँवालाबाग में सैकड़ों नहीं हजारों निहत्थों को मशीनी तोप के आगे भून डाला, उसे इसने 26,317 पौंड की भेंट दी है। जिसमें भारत के ऐंग्लो इंडियनों और कुछ जी-हुजूरों का दिया हुआ 9360 पौंड अर्थात् 1,40,100 रुपया भी शामिल है। अन्य सभ्य देशों में तो ऐसे नर हत्यारों को अदालत के कटघरे में बन्द कर जवाब-तलब किया जाता पर ब्रिटेन के निवासियों ने इतनी भारी थैली से उस हत्यारे की पीठ ठोकी और आने वाली नई सन्तति को जता दिया कि 'निहत्थी भारतीय प्रजा को तोप-बन्दूक से उड़ा देने में कोई पाप नहीं है। क्या इन्हीं सचाइयों के आधार पर शिमला की नौकरशाही हमें 'साफ तख्त' रखने का उपदेश देती है ? रावण की तरह डायर का नाम भारतीय इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

[श्रद्धा, 17 सितम्बर, 1920]

'बर्मा' में 'ओड्वायरशाही' वा 'क्रेडक शाही'

डायर ओड्वायर जान्सन और स्मिथ के भाई रेजिनल क्रेडाक आज बर्मा के शासक हैं। मालूम होता है कि दमन नीति और क्रूरता में वे ओड्वायर से पीछे रहने में अपना अपमान समझते हैं। बर्मा में वे आजकल ओड्वायरशाही के नए नमूने निकाल रहे हैं। यदि वहाँ यही हाल रहा तो हमें 'ओडवायरशाही' को 'क्रेडक शाही' का ही नाम देना पड़ेगा। अभी पिछले दिनों 'रंगून मेल' के सम्पादक और प्रकाशक को जाति विद्वेष फैलाने के अपराध में कैद किया गया है। यह मामला अभी न्यायालय के अधीन है। इसलिए हम इस पर कुछ विशेष नहीं लिखना चाहते। परन्तु क्रेडक महोदय ने एक और विचित्र आज्ञा दिलवाकर 'ओड्वायरशाही' का परिचय दिया है। पिछले दिनों की हड़तालों में जो विद्यार्थी स्कूल से 15 दिन से अधिक गैरहाजिर रहे हैं उनमें जो 8वीं और 10वीं श्रेणी के हैं उन्हें 1921, जो छठी और नौवीं श्रेणी के हैं उन्हें 1921, 1922 तथा जो पाँचवीं और सातवीं श्रेणी के हैं उन्हें 1922, 1923 की परीक्षाओं से बहिष्कृत कर दिया जाएगा। ऐसी आज्ञाएँ असहयोग का मार्ग और भी सुगम बनाती हैं। इससे अधिक लिखना व्यर्थ है।

[श्रद्धा, 17 सितम्बर, 1920]

चुनाव का दंगल

चुनाव का दंगल खत्म हो गया। कहीं छोटे-छोटे उपद्रव हो गए, जिसमें जहाँ कुछ दोष जनता का था वहाँ पुलिस का अपराध भी किसी अंश में, कम नहीं ठहराया जा सकता। परन्तु चुनाव ही सभाओं पर साधारण दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि असहयोग का नैतिक प्रभाव बहुत उत्तम रहा है। मतदाताओं की प्रतिज्ञ संख्या बहुत कम रही है। और कहीं-कहीं तो दस प्रतिशत और इससे भी अधिक गिर गई है। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि सुधार स्कीम का भाव, भारत के बाजार में, कितना गिर गया है। दिल्ली की जनता ने एक हलवाई को चुनकर कौंसिल का दाम टकों से कौड़ियों में ही कर दिया है। सुधार स्कीम तैयार करनेवालों की आँख क्या अब भी नहीं खुलेगी ?

[श्रद्धा, 17 दिसम्बर, 1920]

लड्डू छिन गया

भारत सरकार की नई विज्ञप्ति के अनुसार प्रान्तीय सभाओं के सभासदों को 'माननीय' (आनरेबल) लगाने का अधिकार नहीं होगा। पिछले सालों सचमुच माननीय का लड्डू ऐसा जबरदस्त था जिसे देख हमारे कई निरीह देशभक्तों के मुँह में भी पानी आता था। धोखे का यह लड्डू अच्छा हुआ, छीन लिया गया। अब ये अपने नाम के आगे एम.एल.ए. (मेम्बर आफ लेजिस्लेटिव एसेंबली) ही लगा सकेंगे। कुछ लोग इस एम.एल.ए. का अर्थ मेम्बर आफ ल्यूनाईटिक एसलाइम (पागल घर के सभासद) करते हैं। परन्तु हम उनसे सर्वथा असहमत हैं।

[श्रद्धा, 17 दिसम्बर, 1920]

भारतीयों की जिन्दगी का दाम घट रहा है

दुनिया में, आजकल, जमाना महँगाई का है। भारत में भी टके सेर की चीज रुपया सेर हो रही है। इस मँहगाई में केवल एक चीज सस्ती हुई है और हो रही है। जानते हो वह क्या है ? यह है हमारा खून और हमारी जिन्दगी। यह सस्ती नौकरशाही की कृपा से ही हुई है। नौकरशाही के सामने हमारी जिन्दगी का दाम है—बन्दूक की एक गोली। और किसी गोरे के लिए हमारे खून का मूल्य है बूट की एक ठोकर। एक नहीं कई घटनाएँ हमारे इस कथन को पुष्ट कर सकती हैं। ताजा उदाहरण लीजिए। मद्रास में 'मजदूरों के उपद्रव' की आड़ में पुलिस ने गोली चला दी जिससे एक लड़का (सरकार के कथनानुसार) धराशायी हुआ और उधर आगरे में एक गोरे ने एक पुस्तक विक्रेता को बूट की ठोकरों से परलोक भेज दिया। क्या हम लोग अपने जीवन का दाम गोली और बूट की ठोकर तक ही रखेंगे ?

[श्रद्धा, 17 सितम्बर, 1920]

अपनों के साथ सहयोग करते तो आज असहयोग की शरण न लेनी पड़ती

इस समय जितने भी आन्दोलन (धार्मिक, सामाजिक वा राजनीतिक) हो रहे हैं, उन सबका अगुआ आर्यसमाज ही रहा है। आर्यसमाज का प्रवर्त्तक दयानन्द था, इसलिए कह सकते हैं कि आज की सर्वगतियों का प्रथम हिलाने वाला दयानन्द था और यह है भी ठीक क्योंकि कौन-सी भारतवर्ष की तहरीक है जिस पर प्रथम स्वच्छ सम्मति दयान्द ने नहीं दी।

अपरिछिन्न स्वराज्य जातीय महासभा ने कलकत्ता में माँगा है। ऋषि दयानन्द आज से चालीस वर्ष पहले लिख गए–'कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि होता है।' महात्मा गांधी आज कहते हैं कि 'स्वराज्य मिलने पर चाहे कुछ दिन अव्यवस्था रहे तब भी मैं परवा नहीं करता। परन्तु ऋषि चालीस व्रर्ष पहले लिख गए–'मत मन्तातर के आग्रह रहित अपने और पराए का पक्षपात शून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।' महात्मा गांधी ने आज विदेशी राज्य की संरक्षा से विद्यार्थियों को उठाने की अनुमति दी है, ऋषि दयानन्द आज से 45 वर्ष पहले आर्यों को उपदेश दे गए कि बालकों और बालिकाओं के लिए गवर्नमेन्ट की दासता से मुक्त पाठशालाएँ खोली जाएँ। महात्मा गांधी ने पंचायती न्यायालयों का विचार थोड़े काल से ही उठाया है और कांग्रेस ने उसे अभी कल स्वीकार किया है, ऋषि दयानन्द अपने अनुयायियों को आज से चवालीस वर्ष पहले 'आर्यसमाज के उपनियमों' द्वारा बतला गए कि आर्यों का कोई झगड़ा भी अंग्रेजी अदालतों में न जाए प्रत्युत अपने न्यायालयों में ही उनका निबटारा हुआ करे। कहाँ तक लिखें, वर्तमान जातियों के राग-द्वेष से तंग आकर जिस (League of Nations) 'अन्तर्जातीय संगठन' का आश्रम यूरोप लेना चाहता है उसकी आवश्यकता ऋषि दयानन्द अपने सत्यार्थ प्रकाश के षष्ठ समुल्लास में जतला गए। वहाँ यह बतलाकर कि थाना, तहसील, जिला, कमिश्नरी, सूबा और राजसभा की व्यवस्था पाश्चात्यों

ने भी मनुस्मृति से ली है, ऋषि दयानन्द लिखते हैं—'और वे सब राजसभा, महाराज सभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज सभा में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें।' और इसमें सन्देह नहीं कि जब आजकल की स्वार्थ परायणता का नाश होकर वास्तविक 'सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज सभा' स्थापित होगी तभी संसार में शान्ति का राज्य स्थापन होगा। साढ़े बाईस वर्ष हुए जब वकालत का काम करते हुए मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि मैं ब्रिटिश अदालतों को अन्याय करने में सहायता दे रहा हूँ और उसी समय मैंने वकालत के काम को तिलांजलि दे दी थी। फिर चिरकाल के जागे संस्कार दृढ़ हो गए कि वर्तमान सरकारी वा अर्ध-सरकारी स्कूल हमारी सन्तानों को मानसिक दास बना रहे हैं। तब से ब्रिटिश सरकार की छाया से परे गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के लिए कुछ मास पीछे काम करना शुरू किया और 20 वर्ष से चिल्ला-चिल्ला कर कहता रहा कि इस विष-भरी शिक्षा के जाल में अपनी सन्तानों को निकालो। सारा भारत काव्य सुनकर जब व्यास भगवान को भी यह कहना पड़ा कि—

उर्धवाहुविरौम्येषः नच कश्चिच्छृणोतिमाम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च सधर्मः किं न सेव्यते।।

जब द्वापर के अन्त में व्यास भगवान की बात किसी ने न सुनी तो मेरी आवाज कौन सुनता। ऋषि दयानन्द का सिंहनाद पहले ही बहरे कानों पर पड़ चुका था। यदि ऋषि के उपदेश को पहले सुनते और सावधान होकर तदनुसार आचरण करते तो आज यह समय देखने में न आता। कवि ने सच कहा है—"दुख में तो सब कोई भजै, सुख में भजै न कोय। एक बार सुख में भजै तो दुख कबहूँ न होय।" आज दुख में सब कुछ स्पष्ट दिख रहा है। महात्मा गांधी अपना अमली असहयोग का प्रोग्राम पेश कर रहे हैं और उस पर चलने के लिए उत्सुक हैं जिन्हें कलकत्ता में कुछ संकोच था वे इम्पीरियल काउंसिल की कार्यवाही देखकर पग आगे उठा रहे हैं।

'श्रद्धा' के गतांक में मैं तीन सहयोग बतला चुका हूँ—प्रथम 'पंचायती न्यायालय' एकदम स्थापित कर दो। बायकाट का घृणित नाम न लो। जब जनता के अधिकतः झगड़े जातीय न्यायालयों में जाने लगें तो न्यायालय आप से आप बन्द हो जाएँगे। तब बैरिस्टरों और वकीलों में चिरौरी करने की क्या आवश्यकता होगी कि 'भगवान के लिए पेशा छोड़ दो।' ब्रिटिश और अमेरिकन ईसाई मिशनों ने तो यह संकल्प किया है कि आगामी पाँच वा छः वर्षों में सात करोड़ को ईसाई बनाकर उन्हें नौकरशाही भारतमाता के लिए सात करोड़ प्राण अर्पण करनेवाली सन्तान बढ़ा दो। तृतीय काम मैंने यह बतलाया था कि पढ़ने वाले विद्यार्थियों को बिना हिलाए सर्व प्राइवेट तथा एडेड स्कूलज का सम्बन्ध यूनिवर्सिटी से तोड़ लो।

फिर देखो कैसा आनन्द होता है। बायकाट कहने की आवश्यकता क्या ! एक सप्ताह में तुम्हारे स्कूल और कालेज गवर्नमेन्ट से दुगने वा डेउढ़े हो जाएँगे। तब गवर्नमेन्ट स्कूलों और कालेजों की बेंच स्वयं खाली हो जाएँगी। मैंने गतांक में पंजाब के कालेज गिन दिए थे। उनमें आधे कालेज और आधे से अधिक स्कूल दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज लाहौर से सम्बन्धित हैं। उस संस्था का आर्गन आर्यगजट लिखता है—'हमारे स्कूलों और कालेजों में तालीम नहीं दी जाती बल्कि महज जबाँदानी सिखाई जाती है और अफसोस यह भी नामुकम्मिल...इसलिए जबाँदानी छोड़कर कौमी तालीम की जानिब आज जरूरी है।' इसके पश्चात उद्योगी शिक्षा की आवश्यकता बतलाकर मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने पर जोर दिया है—'जब कौमी जबान को ही पूरी वक्त न दी गई तो कौमी तालीम कब और कहाँ मुमकिन है...तालीम को मुफीद बनाने के लिए अवल और मुकद्दम असूल यह है कि तालीम बज़रिया कौमी जबान हों...अब कौम ने महात्मा गांधी के प्रोग्राम को अपना प्रोग्राम बना लिया है, लिहाजा हर एक बशर का फर्ज है कि उस पर खुद अमल करे और दूसरों को अमल करने के फवायद बतलाए।'

इससे बढ़कर और क्या आशा की झलक हो सकती है कि जिस संस्था के हाथ में पंजाब की आधी शिक्षा है उसका आर्गन स्पष्ट शब्दों में काम के मैदान में उतरने की उत्तेजना देता है। मुझे आशा है कि दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज के संचालक ऊपर की पुरजोश आवाज को सुनेंगे और पंजाब यूनिवसिर्टी को अन्तिम नमस्ते कहकर एक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को कर देंगे। फिर अपनी यूनिवर्सिटी बनी-बनाई है। ऋषि दयानन्द का पुरुषार्थ भी उसी दिन सफल होगा जब इस काम में भी आर्यसमाज ही अगुआ होगा।

[श्रद्धा, 24 दिसम्बर, 1920]

जीत या मौत

इस समय भारतवर्ष के लिए विकट स्थान आ गया है। वह अपनी संसार यात्रा में ऐसी जगह आ फँसा है, जहाँ आगे कदम रखने में अनन्त और प्रतिष्ठित विजय है और पीछे कदम रखने में निरादरयुक्त मृत्यु है। यह सदा का नियम है कि आगे कदम रखना कठिन है, परिश्रम साध्य है, और पीछे कदम रखना सहल है, परिश्रम से बचानेवाला है। इस कारण आगे का मार्ग बहुत श्रेष्ठ होता हुआ भी कठिन है।

हमारी अवस्था यह है। देश की आँखें खुल गई हैं, हम आर्य दयानन्द के शिष्य हैं। हम बड़ी प्रसन्नता से कह सकते हैं कि इतने सालों पीछे भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने मिलकर वह स्कीम तैयार की है, जिसकी घोषणा देते-देते ऋषि दयानन्द का जीवनान्त हुआ। आज देश के नेता कांग्रेस के प्लेटफार्म पर से शुद्ध स्वराज्य की घोषणा दे रहे हैं। ऋषि दयानन्द ने आधी सदी पूर्व ही कह दिया था कि "कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि होता है।"

कांग्रेस आज अपने देशीय न्यायालयों और विश्वविद्यालयों की घोषणा दे रही है, ऋषि दयानन्द ने अपने सत्यार्थ प्रकाश में अपनी धर्मार्थ सभा, विद्या सभा की स्कीम बना दी थी; आज राष्ट्र के नेता स्वदेशी चलाने के लिए सादगी को आवश्यक बता रहे हैं और कोट-पैंटवाले मि. सी.आर. दास भी धोती दुपट्टा पहनने पर बाधित किए जा रहे हैं। ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का सार यही है कि ब्रह्मचर्य और सादगी के अभाव से आर्य जाति का नाश हुआ और उन्हें फिर से साधने से उद्धार होगा। सारांश यह कि उस कालदर्शी ऋषि की सच्ची बातें आज महात्मा गाँधी और उनके शिष्यों के मुखों से बलपूर्वक निकल रही हैं।

हम उस दशा पर पहुँच गए हैं जब जाति सचाई को जान लेती है, भली प्रकार पहचान लेती है। अब तक राष्ट्र की आँखें बन्द थीं। वह भीख माँगने का नाम आन्दोलन समझे हुए था, विदेश के अन्धे अनुकरण का नाम उन्नति जाने हुए था और दूसरों की टाँगों के सहारे खड़ा होने का नाम उदारता माने हुए था। समय के थपेड़े खाकर, अपमान पर अपमान सहकर और निरन्तर निराशा का सामना करके जाति ने सत्य को पहचान लिया है और वह इस परिणाम पर पहुँची है कि

यदि जीना है तो अपनी आजादी जिन्दगी, नहीं तो नहीं जीना। इस समय देश के सामने जो स्कीम पेश है, उसकी कई शाखाएँ हैं। तप है, सत्याग्रह है, असहयोग है, स्वदेशी है, राष्ट्रीय संगठन है। इन सबका मूलतत्त्व एक है। वह यह है कि अब भारतीय राष्ट्र अपनी स्वतन्त्र–बिलकुल आजाद जिन्दगी बिताना चाहता है।

यह तत्त्व बड़ा भारी है। इसके पाने का मार्ग बड़ा विकट है। तपस्या, निराहार, कारागार या मृत्यु–यह सब प्रकार के कष्ट हैं जो देशवासियों के सामने हैं। परन्तु दूसरी ओर मृत्यु है। आज तक हमारा राष्ट्रीय जीवन अधार्मिक था–अस्वाभाविक था। आगे राष्ट्रीय जीवन धार्मिक और स्वाभाविक होगा। इस स्थान से लौटने का तात्पर्य है मृत्यु और तिरस्कार युक्त मृत्यु। आगे चलना चाहे कितना ही कठिन है, पर जीने का केवल एक वही उपाय है।

आगे भारतवासियों के सम्मुख जो मार्ग है उसे केवल राजनीतिज्ञ लोग असहयोग आदि संकुचित शब्दों से पुकारते हैं, परन्तु मनुष्य जाति को दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से देखनेवाला व्यक्ति अपनी तह में तप, स्वार्थ, त्याग, सत्य, स्वाभिमान आदि सिद्धान्तों को काम करते हुए देखता है। वह इन सब नई स्कीमों को देश की आत्मिक जागृति समझता है, और जानता है कि इन स्कीमों को कार्य में लाने का अभिप्राय यह है कि देश पाप के राज्य से निकलकर धर्म की सत्ता को स्वीकार कर रहा है। वह इसमें किसी राजनीतिक दल की विजय नहीं देखता, वह धर्म के उन अटल नियमों का आविष्कार देखता है जिनकी महिमा एक ऋषि के पीछे दूसरे पैगम्बर ने गाई है। एक वैदिक धर्मी को इस चाल में वेदों के उन सच्चे सिद्धान्तों का विजय दीखता है, जिनकी व्याख्या ऋषि दयानन्द ने की है। यदि तप, ब्रह्मचर्य, सादगी, कष्ट, सहन, सत्य और स्वाभिमान का नाम धर्म नहीं तो धर्म कोई वस्तु भी नहीं।

आगे धर्म का विकट मार्ग है, तप का कँटीला जंगल है, और उस जंगल के आगे धर्मराज्य स्वराज्य या परमात्मा का साम्राज्य है। पीछे कदम रखने में बेइज्जती, गिरावट और उनके कलंक से कलंकित मृत्यु है। यह भारतवासियों के हाथ में है कि वह इन दोनों दशाओं में से किसे अच्छा समझकर चुनते हैं।

[श्रद्धा, 1 अक्टूबर, 1920]

हमारी मद्रास की चिट्ठी

मैं अपनी पिछली चिट्ठी में बतला चुका हूँ कि ब्राह्मणा-ब्राह्मण का झगड़ा मद्रास प्रान्त में उचित सीमा को उल्लंघन कर चुका है। इस झगड़े में दोनों ओर से भूलें हुई हैं और लगातार होती चली जा रही हैं। आज की चिट्ठी में उन्हीं भूलों की कुछ व्याख्या करने की मेरी सलाह है।

'अब्राह्मणों' का कुछ हिस्सा तो ब्राह्मणों के दबाव में आकर आत्मविश्वास को सर्वथा खो चुका है। उनकी समझ में यह आ नहीं सकता कि दुनिया में कोई ऐसा भी ब्राह्मण है जो इनके साथ बैठकर भोजन कर सके। कॉफी उड़ाने और 10-20 फल डकार जाने का यहाँ प्रश्न नहीं है। यह तो चलते-फिरते सपाटे में हो ही जाता है। हाँ, एक ब्राह्मण अब्राह्मण के साथ बैठकर पेट भर चावल खा जाए—यह नहीं हो सकता। ऐसे अब्राह्मणों को मेरी दृष्टि में बहुत देर तक सामाजिक जीवन की आशा छोड़ देनी चाहिए। इनका दूसरा हिस्सा बड़े तेज मिजाज़ का है। उस विचार के लोग कहते हैं कि हम वर्ण-भेद को अब इस जमीन पर जीता नहीं छोड़ेंगे। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र का भेद हम नहीं चाहते। हमें वेद नहीं चाहिए, गायत्री नहीं चाहिए, यज्ञोपवीत नहीं चाहिए—इन्हीं से तो अब तक अत्याचार होता रहा, जानबूझकर उसी भूत को अपने सिर पर क्यों नचावें। आर्यसमाज वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध नहीं, आर्यसमाज गुणकर्म से वर्ण व्यवस्था मानता है। अब्राह्मण कहता है कि इससे फिर पुराने झगड़े खड़े हो जाएँगे। तुम एक ब्राह्मणी राज्य हटाकर दूसरे ब्राह्मणी राज्य की स्थापना क़रना चाहते हो। बस, ब्राह्मण शब्द को मुँह से मत निकालो।

अब्राह्मण-ब्राह्मण के अत्याचारों से दिक्क आ चुका है। ऊपर की दी हुई अब्राह्मण की वर्ण-व्यवस्था विरुद्ध दी हुई युक्ति यद्यपि बहुत ही निक्कमी है तथापि ऐसी युक्ति देने का कारण उसका अपनी परिस्थिति से बाधित हो जाना है। 'ब्राह्मण' शब्द की धीमी सी गूँज भी उसके मन में अत्याचार की लड़ी की लड़ी को जगा देती हैं। वह क्या करे ? उसके लिए ब्राह्मण और अत्याचार का एक ही अर्थ है।

इस समय भारतवर्ष में इंग्लैंड का डंडा चल रहा है। इस मार में कई पीठ पकड़े खड़े हैं, कई धरती पर बिछ चुके हैं, कई अन्तिम साँसें ले रहे हैं और कई

मिट्टी का ढेर हो चुके हैं। ऐसी अवस्था में भी मौका पड़ने पर ब्राह्मण-अब्राह्मण पर और अब्राह्मण ब्राह्मणों पर अपना डंडा चला देने से नहीं चूकते। जब सिर दबाए सभी अपनी-अपनी जान की फिक्र में हैं तब भी देसी डंडा चल पड़ता है; जब विलायती डंडा रुक जाएगा तब गरीब अ-ब्राह्मणों की ओर उससे भी ज्यादा अछूतों की क्या दशा होगी—इसे मेरे पाठक खूब विचारें। इसीलिए अब्राह्मण-ब्राह्मणों पर हल्ला बोलते हुए कभी-कभी स्वराज्य पर भी हमला कर दिया करते हैं। यद्यपि अब्राह्मणों पर किए गए अत्याचारों को देख और सुनकर उनकी हरेक हरकत के पक्ष में ही युक्ति देने को जी चाहता है तथापि उनके बहुत से काम भूल हैं और भारी भूलें हैं। ब्राह्मण के नाम से ही खीज जाना, स्वराज्य के विरुद्ध चिल्ला उठना भूलें ही हैं। जिनको मद्रास में अब्राह्मण कहा जाता है उन्हें महाराष्ट्र में मराठा कहा जाता है। जिस दृष्टि से ब्राह्मण मराठे को देखता है उसी दृष्टि से मराठा अछूत को देखता है। ब्राह्मणों की एकता और सभ्यता की अपीलें प्रायः एकतरफी होती हैं। वे स्वयं ब्राह्मणों के से सामाजिक अधिकार पाना चाहते हैं परन्तु एक बड़े समाज को स्वयं घृणा की दृष्टि से देखते हैं। यह मतलबी सौदा है और यह भी अ-ब्राह्मणों की बड़ी-बड़ी भूलों में से एक है। ब्राह्मण अपने आपको जितना बड़ा समझते हैं उतनी ही बड़ी-बड़ी भूलें कर रहे हैं। ब्राह्मण वृत्ति यदि आज वे धारण करे लें तो कोई भी झगड़ा न रहे। ब्राह्मण का मुख्य काम त्याग है। सायण, माधव ने विजयनगर को मलेच्छों के हाथ से छीनकर स्वयं उसका उपभोग नहीं किया। यदि वह चाहता तो उसे रोकनेवाला कौन था ? किन्तु नहीं, उसने हरिहर बुक्काराय को गद्दी पर बिठलाया और अन्त में संन्यास लेकर विद्यारण्य स्वामी के नाम से 11वें शंकराचार्य के आसन को अलंकृत किया। सच्चे ब्राह्मण दक्षिण प्रान्तों में ऐसा उत्तम आदर्श रख चुके हैं लेकिन उनसे शिक्षा लेनेवाला कोई दिखाई नहीं देता। इस समय ब्राह्मणों की आँखों पर रुपए का जादू चढ़ चुका है। पैसा देखते ही उनके मुख से लार टपक पड़ती है। लोभ की मात्रा उनमें बढ़ती जा रही है। दक्षिण प्रान्तों में बहुतायत से पैसे की खानें—ऊँची नौकरियाँ—ब्राह्मणों की ही मलकीयत बनी हुई है। ब्राह्मण भी कहलाना और पैसे की थैलियों पर भी बैठना—संन्यासी भी कहलाना और दस कदम पर रनवास भी रखना, इसे न तो अब्राह्मण ही पसन्द कर सकता है और न मैं ही पसन्द करता हूँ।

अ-ब्राह्मण कहता है कि दुकानदारी और पैसा पैदा करना तो मेरा काम करना तो मेरा काम है। ब्राह्मण ने यह काम सँभाल लिया, इसीलिए मेरी दुर्गति हो रही है। अ-ब्राह्मण ने तो माता के गर्भ से पैसे भी मुहारनियाँ पढ़ी हैं। उसके देखते-देखते ब्राह्मण उसके शिकार को उड़ा ले जाए, यह उससे भला कहीं सहन हो सकता है ?

और कुछ नहीं तो एक बात तो ठीक ही है। यदि ब्राह्मण को भी पैसे की

भूख लग गई है तो वह अपने को ब्राह्मण कहना छोड़ दे। पैसा भी खाते जाएँ और 'ब्राह्मण-ब्राह्मण' भी जपते जाएँ यह कहाँ का न्याय है ? भिखमंगे ब्राह्मणों का तो यह हाल है सो है ही परन्तु महाजनी ब्राह्मण इनसे भी दो कदम आगे हैं।

इस भूल के साथ-साथ ब्राह्मण लोग एक और बड़ी भूल कर रहे हैं। वे अब्राह्मणों को वेद पढ़ने के सर्वथा अयोग्य समझते हैं। अपने को सातवें आसमान का फरिश्ता समझते हैं। ब्राह्मण बड़ी भूल में हैं। वे अपने को जितना बड़ा समझते हैं वे अन्दर से उतने ही छोटे हैं।

ब्राह्मण तथा अब्राह्मण के झगड़ों के शान्त होने की एक ही आशा है। यदि आर्यसमाज मद्रास में लगातार काम करता रहे तो सम्भव है कि कॉफी-क्लबों के ऊपर जो 'केवल ब्राह्मणों के लिए' का फट्टा लटका रहता है उसे हटवाया जा सके और धीरे-धीरे उन्नति की तरफ पग बढ़ाया जा सके।

[श्रद्धा, 1 अक्टूबर, 1920]

वैदिक धर्म और वर्तमान आर्यसमाजी

वैदिक धर्म सार्वभौम और सार्वदेशिक है। इसका कोई आदि न कोई अन्त। जिस धर्म का सदैव राज्य रहा है, जो उस समय था जबकि वर्तमान सृष्टि न हुई थी, जो प्रवाह से अनादि चला आता है, जिसका सृष्टि क्रम समर्थन करता है—वही वैदिक धर्म है। इस पवित्र धर्म का पुनरुद्धार तथा रक्षण हो, इसलिए ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज की बुनियाद रखी। वह सत्यार्थ प्रकाश के अन्त में लिखते हैं—"मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो सब काल में सबको एक-सा मानने योग्य हो। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना-छुड़वाना मुझको अभीष्ट है जो-जो बात सबके सामने माननीय हैं उसको मानता और जो मत-मतान्तर के झगड़े हैं उनको मैं पसन्द नहीं करता क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फँसाकर परस्पर शत्रु बना दिए हैं।" (पृ. 629 तथा 636)

पिछले 12 वा 13 वर्षों से मैं इस सचाई पर अपने व्याख्यानों तथा लेखों में बराबर बल देता रहा हूँ कि जब उपजाऊ जमीन का जोतना-बोना भुलाकर किसी प्रजा ने उसे जंगल बना दिया हो तो पहला काम, एक सच्चे माली का, यह है कि एक हाथ में कुल्हाड़ा और दूसरे में अग्नि लेकर चले। आग से झाड़ी-बूटी इत्यादि को जलाता जाए और कुल्हाड़े से बड़े-बड़े वृक्षों को काटता जाए। परन्तु जब भूमि साफ हो जाए और बुद्धिमान माली उसे जोत-बो चुके और उसमें से कोमल पौधे निकल आवें, उस समय आग और कुल्हाड़े का स्थान खाद और पानी और नलाई और बाड़ों के हवाले कर देना चाहिए। इसी प्रकार धर्म रूपी उपजाऊ भूमि के गिर्द अन्धविश्वास के कारण अविद्याजन्य रिवाजों का फूस और जंगल उग खड़ा हो तब एक धार्मिक संशोधक को खंडन रूपी अग्नि और आचार सुधार रूपी कुल्हाड़े से काम लेना पड़ता है। परन्तु जब अन्धविश्वास के स्थान में श्रद्धा को स्थापन करके शताब्दियों की अविद्या को दूर कर दिया जाए तब वाणी और कर्म द्वारा खंडन की आवश्यकता नहीं रहती।

जब खंडन के आवश्यकता थी, मैंने भी कुछ कम खंडन नहीं किया। जब

दुराचारों से बचाने की आवश्यकता थी, उस समय मैंने और मेरे साथियों ने भी कुछ ढील नहीं की थी। परन्तु कुछ वर्षों से लोगों की आँखें प्रायः खुल चुकी हैं। जो संशोधन के कार्य आर्यसमाज ने आरम्भ किए थे वही दूसरे करने का यत्न कर रहे हैं। जहाँ कट्टर से कट्टर पौराणिक भी मूर्ति पूजा से स्वयं लज्जित हो जाएँ, अपनी पुत्रियों का विवाह 16 वर्ष की आयु से कम में और अपने पुत्रों का विवाह 20-22 वर्षों की आयु से कम में करने की कुप्रथा छोड़ते जाएँ, क्या पुरानी लकीर पीटकर उनका खंडन करने में व्यर्थ समय गँवाकर मित्रों को शत्रु बनाना कहीं धर्म के लक्षण में आता है। मैंने एक आर्यसामाजिक समाचार पत्र के लेखक को इस बात पर शोक करते पढ़ा कि जिस आर्यसमाज में ''रामचन्द्र की जय बोलना पाप समझा जाता था वर्तमान समय में आर्यसमाजी उस जय के बुलाने में लज्जा नहीं अनुभव करते।'' प्रथम तो यह कल्पना ही निर्मूल है। सं. 1885 ई. में ठाकुर नवलसिंह ने एक गीति बनाई थी जिसकी टेक थी—'हैं धन्य भाग इस नगर और इस मन्दिर के। जहाँ गुण वर्णन हो रहे रामचन्दर के।' यदि मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र से आर्यों को घृणा होती तो उनके विषय में यदि कवियों में से एक ऊपर की कविता अमृतसर और लाहौर आर्यसमाजों के मन्दिर में न गाने पाता। फिर कहा जाता है कि जब खंडन ही छूट जावेगा तो आर्यसमाज की हस्ती ही क्या रहेगी। यह भी बड़ी भूल है। मंडन पर तो मैं और सब विचारशील आर्य बल दे रहे हैं और कहते हैं कि स्वमत के मंडन का इस समय आर्यसमाज में अभाव शोचनीय है। शेष रहा खंडन, सो उसकी तब आवश्यकता होती है जब जनता की आँखें न खुली हों। जब मुसलमान हिन्दुओं को येन-केन-प्रकारेण कलमा पढ़ाकर और गोमाँस खिलाकर 'महम्मदी' बनाना अपना कर्तव्य समझते थे उस समय गोरक्षा के लिए महम्मदी मत का खंडन आवश्यक था। परन्तु जब काबुल और दक्षिण हैदराबाद से राजाज्ञा मिलती है कि गाय की कुर्बानी मत करो क्योंकि इससे उनकी हिन्दू प्रजा का दिल दुखता है, जब खिलाफत कमेटियाँ स्वयं गोवध बन्द कराती फिरती हैं, जब मुसलमान धर्माचार्य यह व्यवस्था दे रहे हैं कि दोनों दीन अपने-अपने मन्तव्य पर बिना रोक-टोक चलें और किसी का भी दिल न दुखाया जाए, जब मुसलमान अपने हिन्दू भाइयों के साथ एक स्वर होकर गौ को माता की पदवी दें और रतोना के बूचड़खाने के घोर विरोध में सम्मिलित हो गवर्नमेंट को बाधित कर दें कि वह अपनी आज्ञा को लौटा ले, जब मौलाना शौकत अली और महम्मद अली न केवल गो-माँस भक्षण को तिलांजलि ही दे दें प्रत्युत गोरक्षा में हिन्दुओं के साथ शरीक हो जाएँ, जब यदि आर्यसामाजिक संन्यासी मुसलमानों की धर्म पुस्तक का नाम सत्कार के साथ लेता हुआ उसी मस्जिद में, जहाँ पहले कभी गैर-मुस्लिम को नमाज के समय घुसने की इजाजत न हो, 'कुरान मजीद' का हवाला देता हुआ धर्मवीरों के लिए प्रार्थना करें तो मुसलिम मौलवी आर्यों की धर्म पुस्तक को 'वेद-ए-मुकद्दस'

का खिताब देता हुआ उसके नाम पर एकता के लिए अपील करे—उस स्वर्गीय समय में खंडन के दिनों को याद करके 'आहसर्द' भरना विचित्र प्रकार का आर्यत्व है।

यदि आर्यसमाज में सचमुच धर्म की तलाश होती तो इस समय को गनीमत समझकर सब अपने धर्म को क्रिया में लाने का यत्न करने लगे जाते। पहले जब कभी धर्म-कर्म के लिए बल दिया जाता तो उत्तर मिलता था कि जब चारों ओर अविद्या फैल रही है तो उसे बिना दूर किए संयम में कैसे लगें ? परन्तु जब यम-नियमादि के साधनों के लिए पूरा समय मिला है तो चकित से रह गए हैं और सूझता नहीं कि क्या करें। मैंने आर्यसमाज के कुछ प्रचारकों की बातचीत सुनकर यह परिणाम निकाला है कि उनका सन्तोष तब होता जब ऊपर लिखित अवस्थाएँ उनके व्याख्यानों का परिणाम होतीं। ऐसे लोगों की अवस्था ठीक उस जुलाहे की तरह है जिसकी कथा मुझे जालन्धर के स्वर्गवासी मुख्तार सुनाया करते थे—''बस्ती शेख का एक जुलाहा प्रत्येक तीसरे दिन एक थान बुनकर जालन्धर शहर के बाजार में लाता और पाँच वा साढ़े पाँच रुपए में बेचकर चला जाता, परन्तु हर बार बड़ी झंझट से थान बिकता। जुलाहा सात वा आठ रुपए से आरम्भ करता और खरीददार तीन या साढ़े तीन रुपए से और बड़ी रद्द-प-कद्द के पीछे पाँच या साढ़े पाँच रुपए पर फैसला होता। इस प्रकार उसे बाजार में ढाई या तीन घंटे लग जाते। एक बार उसे कोई धर्मात्मा खरीदार मिल गया। मूल्य पूछते ही जुलाहे ने साढ़े सात रुपए बताए। खरीदार ने साढ़े सात रुपए उसके हाथ पर रखकर थान लेना चाहा। जुलाहा रुपए परखने लग गया। जब गिरा-बजाकर उन्हें ठीक पाया तो थान देना ही पड़ा। जुलाहा हक्का-बक्का रह गया। उसे प्रसन्नता के स्थान पर चिन्ता सी हो गई। पैर लौटने की ओर नहीं पड़ते थे। उसे समझ में नहीं आता था कि दो अढ़ाई रुपए अधिक प्राप्त करने पर भी उसके अन्दर असन्तोष है। उसे इतनी जल्दी लौटते लज्जा आई। मार्ग में एक वृक्ष को देखते ही ठहर गया और सिर की पगड़ी उतार वृक्ष के गिर्द बाँध दी और एक कोना उसका अपनी दाढ़ी से बाँध दिया और लगा दाढ़ी को झटके देना—''साढ़े सात लूँगा, साढ़े तीन दूँगा, अच्छा कहो जा सात रुपए से कमले बाप का बेटा न हो जो 4 रुपए से अधिक दे, इत्यादि।'' जुलाहा दो घंटों तक इसी प्रकार बोलता रहा, तब कहीं उसका मन शान्त हुआ और वह अपने घर को गया।

मैं देख रहा हूँ कि विचारशील आर्यसमाजी तो यह जानकर प्रसन्न होते हैं कि जिस मत-मतान्तरों के झगड़ों से मुक्त अवस्था को ऋषि दयानन्द लाना चाहते थे वह अवस्था समीप पहुँच गई है और इसके लिए आर्यसमाज अपने मन्तव्य का प्रचार करके अब लोगों को उसके अनुसार चला सकता है। कोई समय था जबकि आश्रम और वर्ण व्यवस्था की बातें, समझता तो कौन, सुनना भी पढ़े-लिखे लोग

पसन्द नहीं करते थे। आज समय है कि ब्रह्मचर्य के गौरव, गृहस्थ के कर्तव्य और संन्यास के कर्मफल त्याग की महिमा को हिन्दू-मुसलमान, सिक्ख, जैन, ईसाई सभी सुनने और उस पर अमल करने को तैयार हैं। कोई समय था जब जातीय महासभा (National Congress) की वेदी से धर्म और सदाचार के नाम अपील करना पाप समझा जाता था जबकि प्रसिद्ध व्यभिचारी पुरुषों को 'बायकाट' करने का हौंसला किसी बिरले महानुभाव को ही होता था और ऐसा करनेवाले पर खिल्ली उड़ाई जाती थी, आज समय है कि गुप्त में यह सिद्धान्त रखनेवाले नेता, कि राजनीति चालबाजी और युक्ति कौशल्य का खेल है, भी भरी सभा में यही कहने के लिए बाधित होते हैं कि राजनीति को धर्म के राज्य से जुदा नहीं किया जा सकता था। जिस एक बड़े ब्रह्मा की उपासना पर आर्यसमाज का आग्रह था उसके नाम की घोषणा कांग्रेस के पंडाल से गूँज रही है। जिन सच्चाइयों को सिद्धान्त रूप से इस समय जनता, बिना मतभेद के, मान रही है उसका क्रियात्मक प्रचार आर्यसमाज के धर्म प्रचारकों का कर्तव्य है।

इससे बढ़कर और कौन-सा अधिकार हो सकता है। राजनैतिक इस समय असहयोग का प्रचार कर रहे हैं। आर्यसमाज ने अधर्म और दुराचार और कृतघ्नता और अन्याय के विरुद्ध अपने जन्मदिवस से ही असहयोग की घोषणा कर छोड़ी है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने आज से 38 वर्ष पहले लिख दिया था—

''जैसे पशु बलवान होकर निर्बलों को दुख देते हैं और मार भी डालते हैं, जब मनुष्य शरीर पाके भी वैसा ही कर्म करते हैं तो वे मनुष्य स्वभाव युक्त नहीं किन्तु पशुवत् हैं। और जो बलवान हो निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है और जो स्वार्थवश होकर हानिमात्र करता रहता है वह जानो पशुओं का भी बड़ा भाई है।''

यह सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में, और अन्त में लिखा है—''मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुख और हानि-लाभ को समझें, अन्यायकारी बलवान से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की, चाहे वे महा-अनाथ निर्बल और गुणरहित क्यों न हो, रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ महाबलवान और गुणवान भी हो तथापि उसका नाश अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करें; इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक कभी न हो...।''

गाँधीजी जिस सिद्धान्त पर शनैः-शनैः अनुभव करते हुए अब तक भी पूर्ण रूप से नहीं पहुँचे हैं उसके सर्वांग दृढ़ स्वरूप का दर्शन आर्यसमाज के प्रवर्त्तक

अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर, 38 वर्ष पहले ही करा गए। आर्यवीरो ! अन्य लोग अभी वाणी द्वारा प्रचार की घाटी तक ही पहुँचे हैं, परन्तु तुम्हारे आगे यह घोषणा 38 वर्ष से चली आती है। इस समय बोलना दूसरों का अधिकार है परन्तु उसको कर्तव्य में लाना तुम्हारा कर्तव्य है। तुमने 28 वर्ष से यह शब्द उठाया और 19 वर्ष हुए जब उसे क्रिया में लाकर दिखा दिया कि विदेशी ढंग की शिक्षा 'विष' है। महात्मा गाँधीं ने इसी सत्य को पाँच-छह वर्ष पहले स्वीकार किया और कलकत्ता में यह सम्मति देते हुए कि एक लड़का वा लड़की को भी सरकारी स्कूल और कालिजों से नहीं उठाना चाहिए। श्री लाला लाजपतराय ने लाहौर में कह दिया कि ''अगर महात्मा गाँधी आर्ट्स कालिजों (Arts colleges) के बायकाट को अपने प्रोग्राम का हिस्सा बनाते तो मैं इसकी पूरी हिमायत करता क्योंकि मैं आर्ट्स कालिजों की तालीम के मुखालिफ हूँ। जिन लाला लाजपतराय ने अपने जीवन का बड़ा भाग डी.ए.वी. आर्ट्स कालिज के खड़े करने और उसकी आर्थिक सहायता में लगाया, उनकी यह सम्मति है। क्या आर्यसमाजी नेताओं का कर्तव्य नहीं कि डी.ए.वी. कालिज लाहौर और उसकी रावलपिंडी और जालन्धर की शाखों का सम्बन्ध एकदम यूनिवर्सिटी से अलग कर लें ? और क्या कानपुर के कालिज को भी इन्हीं का अनुकरण करना चाहिए ? ऋषि दयानन्द की शिक्षा पर अमल करने का यह समय है। क्या निर्भय होकर आर्य पुरुष आचार्य की आज्ञा का पालन करेंगे।

[श्रद्धा, 8 अक्टूबर, 1920]

असहयोग को दैवी सहायता

जब जल का प्रवाह वेग से चल रहा हो और उसे रोकने का यत्न किया जाए तो ज्यों-ज्यों सामने बन्द खड़े किए जाए त्यों-त्यों उसका बल बढ़ता है और सब बन्दों को तोड़कर पानी अधिक वेग से चल निकलता है। गंगा तट पर रहने से मुझे इस घटना का बहुत अनुभव है। वाइसराय महोदय ने असहयोग को 'मूर्खतम' तहरीक बतलाया। यदि इसी पर चुप रह जाते तो शायद बड़ी हरकत न होती। फिर मिस्टर शास्त्री तथा सुरेन्द्र बाबू से मुहारनी दिलाई और माडरेटों को प्रेरित किया कि इसका क्रियात्मक विरोध करें। लार्ड विलिंगटन ने मद्रास में असहयोग को Unconstitutional और disloyal movement कहकर जनता को और भी भड़का दिया है। महात्मा गाँधी का प्रस्ताव अब जाति का प्रस्ताव हो गया है, एक आदमी का प्रस्ताव नहीं रहा। यदि इसके कारण किसी नेता पर भी हाथ डाला गया तो वही होगा जो कुछ समझदार सम्पादकों ने लिख छोड़ा है।

क्लीव धमकियाँ नीतिमान नहीं दिया करते। इंडियन ब्रिटिश गवर्नमेंट में कोई नीतिमान नहीं दिखाई देता। जफरअली को कैद कर दो, लकाउल्ला आदि को हवालात में ले जाओ—क्या यह धमकी लोगों को डरा देंगी ? कैसी मूर्खता है ! जहाँ सहस्रों बेड़ियाँ पहनने को तैयार बैठे हैं, ऐसी गीदड़ भबकियों से क्या वे मैदान छोड़कर भाग जाएँगे ? मिस्टर मान्टेगू तक ने वाइसराय को गाँधी के लिए खुले बन्दों को छोड़ दिया और वाइसराय चेम्सफोर्ड होम मेम्बर के सर्व घोषणा पत्रों पर 'बूबेशाह वाली मुहर' लगाने को तैयार हैं। छोटों पर हाथ डालकर शायद वे लोग जाति की नाड़ी देख रहे हैं। और इस समय मार्डरेट लोग नौकरशाही को, उनकी हाँ में हाँ मिलाकर, अधिक भड़का रहे हैं और साहसी बना रहे हैं।

जब गाँधीजी ने सत्याग्रह का घोषणा पत्र निकाला तो शास्त्री महोदय उसके विरुद्ध manifesto निकालने को तैयार हुए। मैंने उन्हें मना किया परन्तु उन्होंने न माना और अपना घोषणा पत्र निकाल ही डाला। मेरी सम्मति यह है कि 9 अप्रैल 1919 को जो गाँधी जी पलवल के स्टेशन पर गिरफ्तार हुए उसके मुख्य कारण मॉडरेट लीडर ही थे। और उस गिरफ्तारी के कारण जो कुछ उपद्रव

हुआ—चाहे सात-आठ गोरे बेरहमी से मारे गए और चाहे सैकड़ों निरपराध बाल, युवा और वृद्ध हिन्दू, सिक्ख और मुसलमान ने तड़प-तड़पकर प्राण देकर—जलियाँवाले बाग को अमर बाटिका बना दिया—उस सारे उपद्रव के पाप के भागी भी वही है। अब फिर शास्त्री जी ने सब कुछ प्रत्यक्ष देखकर भी, फिर मिस्टर चिन्तामणि का अनुकरण किया है और इसका जो परिणाम होगा उसके लिए भी ये लोग ही उत्तरदाता हैं। सुरेन्द्र बाबू की अवस्था तो समझ में आ जाती है, परन्तु शास्त्री जी से त्याग-मूर्ति विद्वान का इस समय का अमल सर्वसाधारण की समझ में नहीं आता। मैंने बहुत-सी घटनाओं में मिस्टर चिन्तामणि की मानसिक बनावट का स्वाध्याय किया है। और मेरी सम्मति यह हुई है कि मॉडरेटों में बहुत से विचारशील पुरुष होते हुए भी उनसे ऐसी हरकतें इसलिए होती हैं कि मिस्टर चिन्तामणि उसको चिन्तित करके उलटे मार्ग में चला देते हैं। सच पूछा जाए तो मिस्टर चिंतामणि मॉडरेट पार्टी के evil genius हैं।

यह सच है कि मिस्टर शास्त्री के घोषणापत्र ने 'सत्याग्रह' को बहुत हानि पहुँचाई। परन्तु वह समय ही और था। उसके पश्चात जनता साधन-सम्पन्न हो गई। क्या पुरानी अवस्था होती तो इन गिरफ्तारियों पर जनता भड़क न उठती। बीसियों हड़तालें हुईं, सैकड़ों जुलूस निकल चुके, फौज और पुलिस की ओर से भड़काने में भी कसर नहीं रही, परन्तु मुसलमान बहादुर और हिन्दू वीर खुली पेशानी मुसकराते हुए इन दूतों को निराश कर गए। गाँधी जी को जिस दिन पकड़ा जाएगा उस दिन मॉडरेटों और गवर्नमेंट—दोनों की आँखें खुल जाएँगी। वह आश्चर्य से देखेंगे कि करोड़ों गलों से आह्लाद भरे 'जय-जयकार' के गम्भीर नाद तो निकलेंगे परन्तु और तरह से एक पत्ता भी तो न हिलेगा। तब क्या पंजाब की गतवर्ष वाली घटना की तरह भयभीत होकर प्रजा शिथिलगात हो जाएगी ? यह नहीं होगा। अपने हृदय की साक्षी से मैं कह सकता हूँ कि एक गाँधी के पकड़े जाने पर सैकड़ों उनका काम बाँट लेने को तैयार होंगे और इतने वीर बेड़ियाँ पहनने को तैयार होंगे कि ब्रिटिश गवर्नमेंट के पास न तो इतनी हथकड़ियाँ ही निकलेंगी और न ही उनके बन्दीगृहों (जेलखानों) में स्थान देने की गुंजाइश रहेगी।

और तब क्या सरकारी कालिजों और स्कूलों के बैंच भरे ही रहेंगे और हिन्दुस्तानी मुकद्दमोंवाले कचहरियों के अहातों में ही घूमते दिखाई देंगे। तब उपाधिधारियों की उपाधियों की क्या कदर रहेगी। फिर क्या भारतजातीय महासभा को 'असहयोग' का नियमानुसार प्रस्ताव पास करने की आवश्यकता रहेगी ? मॉडरेट और उनके मित्र भले ही रिक्त स्थानों को सँभाल लें, परन्तु ब्रिटिश गवर्नमेंट के हिन्दुस्तानी सिविल और मिलिटरी नौकर ऐसी गुलामी से जेल जाना बदरजहा (कहीं अधिक) बेहतर समझेंगे। भारत की शान के लिए, माता के मान के लिए क्या

सहस्रों तप का जीवन व्यतीत करना और मौत को भी हँसते मुख से स्वीकार करना अपना कर्तव्य समझेंगे ? यदि शासकों और उनके खुशामदियों की समय पर होश ठिकाने आ गई तब भी और यदि डायरशाही का चक्कर चला तब भी, दोनों अवस्थाओं में भारत का बेड़ा पार होगा।

[श्रद्धा, 15 अक्टूबर, 1920]

मद्रास प्रचार निधि

आर्यसमाजों के नाम मैंने छपे अपील भेज दिए हैं। पिछले सप्ताह में जो पत्र उत्तर में आए हैं उनसे कुछ आशा बँधती है कि मेरी अपील बहरे कानों पर नहीं पड़ी। परन्तु काम, जहाँ तक हो सके, शीघ्रता से होना चाहिए। आवश्यकता और आदमी शीघ्र भेजने की है। मदुराई में चार लोकल उपदेशक रखे जा सकते हैं। बंगलौर में आदमी शीघ्र भेजना चाहिए। यदि धन पर्याप्त हो जाए तो गुरुकुल काँगड़ी की दीक्षान्त संस्कार से पीछे दो-तीन नवस्नातकों को भेजा जा सकता है।

अभी तो मैं कुछ बतला नहीं सकता परन्तु जो समाचार आ रहे हैं उनसे पता लगता है कि यदि हमारे पास 10,000 रुपए व्यय करने को हो जावें तो आगे का सब काम मद्रासी भाई स्वयं कर लेंगे। वे इतनी आर्थिक सहायता देंगे कि जब तक वे स्वयं सारा काम न सँभाल लें तब तक इधर से भेजे उपदेशकों का भी व्यय वही चला सकें।

[श्रद्धा, 15 अक्टूबर, 1920]

जाति शिक्षा में गुरुकुल की सहायता

मेरे पास बहुत पत्र आ रहे हैं जिनका भाव यह है कि लोग अपने नए बच्चे सरकारी वा अर्धसरकारी स्कूलों में दाखिल नहीं करना चाहते इसलिए उनके लिए गुरुकुल की शाखाएँ खोल दी जाएँ। मैं इस आवश्यकता को स्वयं अनुभव करता हूँ। जिन-जिन प्रान्तों में ऐसी आवश्यकता अनुभव हुई है वहाँ के सज्जन गुरुकुल के स्थानापन्न मुख्याधिष्ठाता से पत्र-व्यवहार करते रहें। मैं ब्रह्मदेश से लौटकर ऐसे सब स्थानों में पहुँचकर अपनी बुद्ध्यनुसार ठीक मार्ग बतला दूँगा।

[श्रद्धा, 15 अक्टूबर, 1920]

विजयादशमी
क्या तुम मर्यादा पुरुषोत्तम राम के वंशज हो ?

कैकई ने राजा दशरथ से अपने दो वर माँग लिए—भरत के लिए अयोध्या का राज्य और राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास। रात को राम पिता की आज्ञा पा राज्याभिषेक की तैयारी करके सो गए। प्रातः उठते ही सुमन्त कैकई के गृह में उन्हें लिवा ले गए। दशरथ भूमि पर बेसुध पड़े हैं। हा राम ! हा राम ! कहकर कैकई के पैर पकड़ने चले :

नजीवितं मेऽस्तिकुतः पुनः सुखं विनात्मजेनात्म वतां कुतोरतिः।
ममाहितं देवि न कर्तु मर्हसि स्पृशामि पादाव-पि-ते प्रसीद मे।।

राजा पुत्र के वियोग के भय से व्याकुल स्त्री के पैर छूने नीचे हुए और उस अविद्याग्रस्त दुष्टा ने पैर खींच लिया। पैर न मिलने पर, हा राम ! कह भूमि पर गिर पड़े। राम बाहर से बुलाते, हिलाते हैं, पर वहाँ तो राम अन्दर विराजमान हैं, राजा बोले कैसे ? माता से पूछते हैं—"हे माता, पिता अप्रसन्न क्यों हैं ?" उत्तर मिलता है कि तुम्हारे भय से नहीं बोलते। मेरा भय क्यों ! मैं तो पिता की आज्ञा से आग में कूद पड़ूँ। हर्ष से विष ग्रहण कर लूँ, समुद्र में कूद पड़ूँ, हे देवि ! मुझे स्पष्ट बतला रामोद्विर्नाभिभाषते—राम दो बात नहीं कहता। विमाता सब कहानी सुना देती हैं, उसका राम पर क्या प्रभाव पड़ता है ? कविवर वाल्मीकि लिखते हैं :

नवनं गन्तु कामस्य त्यजतश्च वसुंधराम्।
सर्वलोकाति गस्येव लक्षते चित्तविक्रिया।।

"राज त्यागकर वन जाते हुए राम के मन में वसुन्धरा छोड़ने का कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ; जैसे संसार को छोड़ते हुए वीतराग पुरुष के चित्त में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता।"

राम चल दिए, देवी सीता भी साथ हो लेती हैं। जब पति चल दे तो धर्मपत्नी

पीछे कैसे रह सकती है ? उसने तो सप्तपदी में यह प्रतिज्ञा की थी कि पति के साथ छायावत् रहूँगी। राम वन के भय दिखाते हैं, सास-ससुर की सेवा की याद दिलाते हैं। परन्तु वहाँ से उत्तर मिलता है—"दोनों लोक में नारी की गति एक पति है—न पिता, न भ्राता, न माता और न सखीजन। यदि तुम अभी भयंकर वन के लिए प्रस्थान करोगे तो मैं तुम्हारे आगे घास और काँटों को हटाते हुए चलूँगी। यदि तुम्हारे बिना स्वर्ग भी निवास को मिलेगा तो भी उसमें मेरी रुचि न होगी। तुम अपने पिता का वचन पालन करने चले हो—मेरे पिता की आज्ञा यह थी कि छायावत् तुम्हारे साथ लगी रहूँ फिर अपने पिता की आज्ञा का उल्लंघन मैं करूँ। राम क्या उत्तर दे सकते थे, सीता को साथ ले लिया। विचित्र पति-पत्नी के पवित्र सम्बन्ध का दृश्य है। फिर भाई का प्रेम—लक्ष्मण आगे आते हैं और साथ चलने को तैयार हैं। भाई के नाते से नहीं, सेवक के नाते से—लक्ष्मण राम को समझाने पर उत्तर देते हैं :

गुरु पितु मातु न जानउं काहू।
कहउं सुभाउ नाथ पति आहू।।
जहलग जगत सनेह समाई।
प्रीति प्रतीति निगम निजुमाई।।
मोरे सबइ एक तुम स्वामी।
दीनबन्धु उर अन्तर जामी।।

राम निरुत्तर हो गए—"जाओ माता से पूछ आओ, आज्ञा दें तो साथ चलो।" माता सुमित्रा क्या आज्ञा देती हैं ?—"रामं दशरथं विद्धि मांविद्धि जनकात्मजां। अयोध्या मटवीं विद्धि गच्छ तात यथा सुखम्।"

ये तीनों तो वन को चल दिए। राम से बिछुड़कर राजा प्राण कैसे रखते। 'बिना राम के मेरा जीवन नहीं'—यह दिखलावे की बात न थी। उधर सुमन्त खाली रथ लेकर लौट आया और इधर महाराज ने प्राण त्याग दिए। भरत और शत्रुघ्न ननसाल में थे। दूत उन्हें वहाँ से अयोध्या लाया। अचानक सारा राजपाठ मुट्ठी में आता है। अपना उसमें कुछ दोष नहीं परन्तु भरत उसे ठोकर मारकर अलग कर देते है। सारे अवध को साथ लेकर और राज्याभिषेक का सामान इकट्ठा करके राम के पीछे चल देते हैं। माताएँ, गुरुजन, नगर निवासी सभी वन को अयोध्या बना देते हैं। जनक भी सेना सहित आ पहुँचे हैं। दिनों तक विचार रहता है, परन्तु कोई प्रलोभन अटल राम को हिला नहीं सकता। राम अडोल स्थित हैं। अयोध्या निवासियों को अभीष्ट यह था कि वे राम को लौटा ले चलें, परन्तु जब राम दृढ़ रहे तो उनकी मानसिक दशा क्या थी। आदि कवि वाल्मीकि कहते हैं :

तदद्‌भुतं स्थैर्यमवेक्ष्यराघवे समंजनो हर्षमवाप दुःखितः।
नयत्ययोध्यामितिदुःखितोऽभवत् स्थिर प्रतिज्ञ त्वमवेक्ष्यहर्षितः।।

राम की दृढ़ता देखकर सबको हर्ष और शोक हुआ। शोक इसलिए कि राम अयोध्या नहीं लौटते और हर्ष इसलिए कि वह अपनी प्रतिज्ञा में स्थिर हैं।

राम की इस अपूर्व कहानी और राघव मंडल के इस विचित्र चरित्र ने, गिरे से गिरे हुए समय में, भारतीयों के चरित्र संगठन में सहायता दी है। क्या इस समय उससे बढ़कर कोई सहारा भारत निवासियों को मिल सकता है ? हम सब राम की ही सन्तान तो हैं। भारतवर्ष की 7 करोड़ मुसलमान प्रजा में से कितने हैं जो भारत विभिन्न देशों से आकर बसे हैं। और फिर क्या वे भी उन्हीं आर्यों की औलाद नहीं जिनने ईरान (आर्यदेश) और अरब को जा बसाया है ? और उनमें से भी कौन यूरोपियन है जो आर्यवंशज होने से इनकार कर सकता है। सीता, राम, लक्ष्मण और भरत इन सबके ही तो पूर्वज थे। तब राघवेन्द्र की जीवनी से उपदेश लेना क्या इन सबका ही अधिकार है।

स्वदेश की इस समय विचित्र दशा है। अन्दर और बाहर दोनों ओर से आक्रमण हो रहे हैं। स्वार्थ तो विदेशी नौकरशाही और व्यापारियों को अन्धा कर रहा है और वे विविध प्रकार की धमकियों से हमें गुलामी की जंजीरों में अधिकतः जकड़ने को तैयार हैं। वे जानते हैं कि यदि राष्ट्र रूपी सिंह सचमुच सावधान होकर जाग उठे तो उनके हाथ से यह 'कामधेनु' रूपी भूमि सदा के लिए छिन जाएगी और भय अन्दर के खुशामदी भाइयों को भयभीत कर रहा है। वे समझ रहे हैं कि यदि ब्रिटिश नौकरशाही का विजय हुआ तो उनको हड्डियाँ चूसने को मिलती ही जाएँगी और यदि अन्त को भारत का आत्मिक विजय हुआ तब भी धर्मात्मा विजयी उनको भाई समझकर हिस्सेदार बना ही लेंगे।

ऐसे नाजुक समय में यदि मातृभूमि के सपूत, जिन्होंने माता को गुलामी से आजाद कराने का बीड़ा उठाया है, दृढ़प्रतिज्ञ रहें और कैद, हवाई जहाज और मशीनगनों की धमकी से न डरें तो जहाँ नौकरशाही को हजारों काटकर भी हार माननी पड़ेगी वहाँ भयभीत खुशामदी भाइयों के हौसले भी बढ़ जाएँगे और वे भी भारतमाता के सपूत सिद्ध हो जाएँगे। हे राम ! जो सहस्रों वर्षों से इस पवित्र भूमि के एक-एक रोम में रम रहे हो फिर से इस जाति के अन्दर जीवन डाल दो जिससे डाँवाडोल हृदय स्थिर हो जाए और आर्यवर्त वही पुरानी पवित्र भूमि बन जाए जिसके सपुत्रों के चरणों में बैठकर सारे भूमंडल के लोग चरित्र संगठन की शिक्षा लिया करते थे।

[श्रद्धा, 22 अक्टूबर, 1920]

इसी सन्धिबेला में बाल ब्रह्मचारी ने अभयदान दिया था

मृत्यु शय्या पर बाल ब्रह्मचारी लेटा हुआ है। वह पितृ ऋण से मुक्त है, क्योंकि वहाँ एक, दो से लेकर दस सन्तान तक की गणना नहीं, सारा संसार ही उसकी सन्तान है। जिनकी शुद्धि के लिए उसने संसार के सार्वभौतिक सुख छोड़े थे उन्होंने उसकी मौत की ठान ली थी। विष के कारण सारा शरीर छालों से भरा हुआ था। कष्ट असह्य है परन्तु सारा कष्ट प्रश्वास के साथ बाहर निकला जा रहा है। पीर जी हकीम हैरान, डॉक्टर न्यूटन विस्मित रह गए। अनायास डॉक्टर न्यूटन के मुख से ये शब्द निकले, "कैसा दृढ़ वीर, सहनशील आत्मा है। कैसे असह्य रोग से पीड़ित है परन्तु दुख नहीं मानता। यही एक व्यक्ति है जो इतनी बड़ी बीमारी पर भी सँभला हुआ है और अभी तक जीता है।"

दुःख पर, ऐसी विजय डॉक्टरों ने भी नहीं देखी थी। इतिहास भी ऐसे कोई बिरले ही दृष्टान्त दिखा सकता है। उस समय अन्धकार और प्रकाश का युद्ध हो रहा था। अन्त को प्रकाश का जय-जयकार हो गया। जिन आत्माओं ने आचार्य के उपदेश तथा जीवन से शान्ति लाभ की थी वे सब घबराई हुई थीं। उन्हें बुलाकर पीठ के पीछे खड़े होने की आज्ञा मिली। फिर चारों ओर से किवाड़ खुलवा दिए गए। छत का भी कोई मार्ग बन्द न रहा। इस प्रकार खुले मैदान में अपने स्वामी प्रभु से बातें आरम्भ कीं। अन्त में इतने ही शब्द मुख से निकले, "हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान ईश्वर ! तेरी यही इच्छा है ! तेरी यही इच्छा है, तेरी यही इच्छा है ! तेरी इच्छा पूर्ण हो !!!" करवट बदली और प्रश्वास के साथ ही प्राण भौतिक शरीर से बाहर निकल गए। इसीलिए आर्यसमाज के आदिकवि 'अमीचन्द्र' ने गाया था :

परिव्राजकाचार्य्य स्वामी दयानन्द
पधारा है परलोक डंके बजाता।।

वह कौन सी बेला थी जब बाल ब्रह्मचारी दयानन्द, निर्भय होकर सूर्यलोक पर पैर जमा, अमरलोक का पथगामी हुआ ? कार्तिक की अमावस, कृष्ण पक्ष का अस्त और शुक्ल पक्ष का उदय था। अन्धकार पर प्रकाश की विजयारात्रि थी।

उस सन्धिबेला में प्राण त्यागकर ऋषि ने अन्धकार से आवृत संसार को क्या उपदेश दिया। उनका उपदेश ध्यानपूर्वक सुनो :

"हे मर्तलोक के निवासियों ! तुम प्रकाश स्वरूप पिता को भूलकर संशयात्मक हो, पग-पग पर ठोकर खा रहे हो। अन्धकार ने तुम्हें तुम्हारा स्वरूप भुला दिया है। वेद का नाद सुनः :

श्रृण्वन्ति विश्वेअमृतस्यपुत्राः। आये धामानि दिव्यानि तस्थुः।।

तुम स्वतन्त्र हो, तुमने अपने को परतन्त्र समझ लिया है। तुम प्रकाश स्वरूप के सखा हो। तुमने अपने को अन्धकार का दास समझ लिया है। तुम आत्मा हो, तुमने अपने आपको जड़ समझ रखा है। संसार के बन्द किवाड़ों ने तुम्हें भ्रमा रखा है। वे कपाट तुम्हारे और प्रभु के अन्दर पर्दा डाल रहे हैं। खोल दो, सारे हृदय के कपाट, फाड़ डालो इस मायावी पर्दे को और देखो कि तुम्हारा रूप कैसा दिव्य है। उस दिव्य रूप के दर्शन करने के पीछे तुम निर्भय हो जाओगे। बन्धन तोड़ो तब निर्वाण मिलेगा।"

परन्तु तुम निर्भय कब हो सकते हो। जब तक शरीर के दास हो, जब तक विषय तुम्हारी इन्द्रियों को अपने अन्दर खींच सकते हैं, जब तक काम का वेग तुम्हें डाँवाडोल करके गिरा सकता है, तब तक निर्भय अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य के तेज से ही उत्तेजित होकर मृत्यु को जीत सकते है। युग का विधाता (दयानन्द) हम सबको यही उपदेश अपने जीवन से दे गया है।

[श्रद्धा, 19 नवम्बर, 1920]

स्वाध्याय के लिए क्रियात्मक सलाहें

प्रायः आर्यसामाजिक लोग स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहते हैं। परन्तु स्वाध्याय का क्रम ज्ञात न होने से या तो शीघ्र ही निराश हो जाते हैं, और या देर तक जारी रखकर भी किसी उत्तम परिणाम पर नहीं पहुँच पाते। स्वाध्याय प्रत्येक ऐसे मनुष्य के लिए आवश्यक धर्म है, जो अपने धर्म को उपादेय चीज समझता है। स्वाध्याय के बिना मनुष्य धर्म के केवल ऊपर के खोल को याद रख सकता है, उसका आन्तरिक भाव भूल जाता है। कहीं बिना ज्ञान के अन्धी श्रद्धा दिखाई देती है—उसका कारण यही है कि श्रद्धालु ने सिद्धान्त याद कर लिए हैं, स्वाध्याय जारी नहीं रखा। कहीं आर्यसमाजी बनकर भी लोग पुराने भ्रमात्मक रीति रिवाजों में पड़े दिखाई देते हैं, उसका कारण भी यही है कि स्वाध्याय का अभाव है। आज हम अपने पाठकों के सम्मुख स्वाध्याय के बारे में कुछ क्रियात्मक विचार उपस्थित करते हैं, जिन पर ध्यान रखने से उनका स्वाध्याय सफल हो सकता है।

आर्यभाषा से अनभिज्ञों के लिए

वह दिन सौभाग्य का दिन होगा, जब भूमंडल पर प्रचलित प्रत्येक भाषा में वैदिक धर्म का इतना साहित्य होगा कि उसमें वैदिक-धर्म का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सके, परन्तु जब तक ऐसा नहीं है, तब तक हम प्रत्येक ऐसे आर्यसमाजी से, जो आर्यभाषा नहीं जानता, निवेदन करेंगे कि वह स्वाध्याय का पहला अंग यह समझे कि आर्यभाषा पढ़ने की शक्ति प्राप्त करे। बालक युवा और वृद्ध हरेक के लिए यह सलाह उपयोगी है। यह नहीं समझना चाहिए कि जवान या बूढ़े के लिए देवनागरी वर्णमाला और आर्यभाषा का सीखना कठिन है—यह देवनागरी अक्षरों का और आर्यभाषा का दावा है कि उसका अध्ययन दूसरी किसी भी भाषा से जल्दी हो सकता है। दावा तो यहाँ तक है कि केवल 24 घंटे तक यदि कोई आदमी निरन्तर यत्न करे तो देवनागरी अक्षरों को पहचान लेगा।

कठिनता कुछ नहीं है, केवल इच्छा और यत्न का प्रश्न है। जो आर्य पुरुष अपने धर्मग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहता है परन्तु आर्यभाषा नहीं जानता उसे धर्म का एक अंग मानकर पहले आर्यभाषा का अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि अभी

दुर्भाग्यवश संस्कृत को छोड़कर यदि कोई अन्य भाषा है जिसमें धर्मग्रंथों का भली प्रकार स्वाध्याय हो सकता है तो आर्यभाषा है। जो आर्यपुरुष आर्यभाषा नहीं जानते, वह चाहे किसी स्थिति या आयु में हो, उनका पहला कर्तव्य यह है कि वह कुछ दिनों तक परिश्रम करके आर्यभाषा से जानकारी कर लें, और तब यह समझें कि हम अपने धर्मग्रन्थों का स्वाध्याय करने के योग्य हुए हैं।

नेताओं और व्याख्याताओं के लिए

ऊपर का निवेदन हमने उन लोगों के लिए किया है, जो साधारण आर्य पुरुष हैं, और आर्यसमाज के धर्म गुरु होने की इच्छा नहीं रखते न दावा करते हैं कि वह लोगों को कुछ सिखा सकते हैं। परन्तु बहुत से आर्य पुरुष ऐसे है जो आर्यसमाजों में व्याख्यान देने और अधिकारी बनकर समाज की सेवा करने की इच्छा रखते हैं। हम उन्हें कोई दोष नहीं देते। यदि ऐसे लोग न हों तो समाज का काम ही न चले। यदि सब लोग निरीह जिज्ञासु बन बैठें तो कार्य का बोझ कौन उठावे। उन्हें थोड़ा सा निवदेन करना चाहते हैं, जो संस्कृत से अनभिज्ञ हैं। यह तो मानी हुई बात कि हमारे साहित्य की वर्तमान दशा में जिस आदमी को आर्यभाषा में वैदिक ग्रन्थ पढ़ने का भी अवसर नहीं मिला, वह तो कभी भी आर्यसमाज का नेता होने का अधिकारी ही नहीं है। परन्तु जो नेता संस्कृत नहीं जानते, उनसे हमें कुछ निवेदन करना है। आर्य सिद्धान्त का साधारण ज्ञान आर्यभाषा द्वारा भी हो सकता है, परन्तु विशेष ज्ञान, जो नेता और व्याख्यान के लिए आवश्यक है, केवल उन्हीं को हो सकता है जो संस्कृत के ज्ञाता हों। हमारे मूल धर्मग्रन्थ संस्कृत में है। वेद वेदांग संस्कृत में हैं। वैदिक धर्म का रहस्य जानना हो तो संस्कृत का जानना आवश्यक है।

शायद कहा जाए कि अनुवाद बहुत से हो गए हैं—इनकी सहायता से सब कार्य चल सकता है। यह भ्रम है। अभी प्राणीक अनुवाद नहीं है। और हैं तो वह पूरे नहीं है। वेद का भाष्य कई प्रकार से अपूर्ण है। ब्राह्मण उपनिषद दर्शन और स्मृति के भाष्यों और अनुवादों के कई यत्न हुए हैं—पर यह अभी यत्न नहीं है। उन लोगों को, जो आर्यसमाज के नेतृत्व की इच्छा रखते हैं, आवश्यक है कि वह मूल ग्रन्थों से धर्म को जान सकें। दौर्भाग्य ही सही पर अभी वह दिन नहीं आया कि संस्कृत की अभिज्ञता न रखनेवाले लोग समाज का नेतृत्व कर सकें।

ऐसी दशा में आवश्यक है कि समाज के जो नेता संस्कृत नहीं जानते वह पहला धर्म यह समझें कि संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त करें। यदि अब तक आलस किया है तो आलस को त्यागें। यदि अब तक अनुवादों पर भरोसा रखा है तो अब उसे तिलांजलि दें और कमर कसकर वैदिक संस्कृत की अच्छी योग्यता प्राप्त करने का यत्न करें। उसी दशा में वह वैदिक धर्म के व्याख्याता और नेता बनने के अधिकारी हो सकते हैं—अन्यथा नहीं। *[श्रद्धा, 26 नवम्बर, 1920]*

शिक्षा के लिए महल

'लीडर' का कटाक्ष

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली सादगी के लिए आवाज उठाती है—ऐसी दशा में यह कुछ अद्‌भुत बात है कि प्रयाग के 'लीडर' ने महात्मा गाँधी के एक लेख का उत्तर देते हुए हिन्दू यूनिवर्सिटी की शानदार इमारत का पक्ष पोषण करते हुए गुरुकुल काँगड़ी को धर घसीटा है। उसने लिखा है कि जब गुरुकुल काँगड़ी ऊँची इमारतों के बिना गुजारा नहीं कर सका तो फिर अन्य संस्थाएँ कैसे कर सकेंगी ?

हिन्दू यूनिवर्सिटी की शानदार इमारत की पुष्टि के लिए गुरुकुल काँगड़ी का उदाहरण देते हुए 'लीडर' के सम्पादक ने यह सूचित कर दिया है कि उसे अपनी देशीय संस्थाओं के विषय में कितना परिज्ञान है। गुरुकुल काँगड़ी की इमारतों की यह खासियत है कि वह उपयोगिता की दृष्टि से बनाई गई हैं, शान की दृष्टि से नहीं। यह खासियत सभी सम्पादक यात्रियों ने अनुभव की है, और विचारों में भी प्रकट की है। इतने सस्ते में, इतने कम खर्च मसाले से इतना काम शायद ही कहीं निकलता हो। गुरुकुल के टिनशैड कम खर्ची के ऐसे नमूने हैं कि उससे अन्य संस्थाएँ बहुत शिक्षा ले सकती हैं। गुरुकुल काँगड़ी के महाविद्यालय की इमारत को देखकर कई लोग भूल जाते हैं कि उसमें ऊँची खिड़कियों और सुन्दर खम्बों के अलावा और कोई खूबसूरती नहीं है। बिलकुल सादी ईंटों से बनाई गई है—और केवल खूबसूरती के लिए उसमें नहीं के बराबर खर्च है। ऊँचाई शान के लिए नहीं पुस्तकालय और रसायन के कमरों को खुला बनाने के लिए है।

गुरुकुल कांगड़ी यदि शानदार इमारतों के पीछे पड़ जाता तो आज लाख डेढ़ लाख की इमारतों से इतना भारी कारखाना न चलता दिखाई देता। सच बात तो यह है कि शिक्षा के लिए ईंट-पत्थर पर लाखों का व्यय करना भारी भूल है। वह भी एक समय का बनाया हुआ भूत है कि उत्तम शिक्षा बढ़िया इमारतों में हो सकती है। बुद्धिमान लोग अनुभव कर रहे हैं कि सर्वोत्तम शिक्षा वह है जो खुले आकाश की छाया में, और विस्तृत शिक्षा पृथ्वी माता के गोद में बैठकर दी जाती है। इमारतों के लिए बहुत-सा व्यय करना पहले दर्जे की भूल है। जो व्यय

केवल ईंट-पत्थर पर किया जाता है, वह क्यों न शिक्षा के अधिक प्रचार में किया जाए ? जो व्यय केवल शान के लिए किया जाता है, क्यों न उससे शिक्षा की नई-नई शाखाओं का प्रारम्भ किया जाए ? भारत सरकार की लॉर्ड कर्जन के समय में यह नीति रही है कि इमारत और शान को शिक्षा का आवश्यक अंग बनाकर उसे महँगा कर दिया जाए। समझदार भारतवासी उस नीति का कड़ा विरोध करते रहे हैं। जिसके मूल में सरकार पड़ी है, उसमें हमको न पड़ना चाहिए, 'लीडर' के आक्षेप में पहले ही कोई सच्चाई नहीं है, यदि है तो वह हमारी आँखें खोलने के लिए पर्याप्त होनी चाहिए।

शिक्षा के साधन सादे से सादे होने चाहिए, और उनके बनाने में केवल उपयोगिता पर ध्यान होना चाहिए। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का यह एक आवश्यक सिद्धान्त है जिसे कभी भुलाना नहीं चाहिए।

[श्रद्धा, 26 नवम्बर, 1920]

हमारी मद्रास की चिट्ठी

मैं कल ही मद्रास से लौटा हूँ। आजकल यहाँ बड़े जोर से वर्षा हो रही है। मैं बंगलौर और माइसोर (मैसूर) भी उसके असर से नहीं बचा। यहाँ भी दिन भर बादल घिरे ही रहते हैं।

मद्रास में कई एक बातें इन दिनों देखने लायक हैं। चुनाव के दिन नजदीक आ रहे हैं। उम्मीदवारों की मोटरें 12 घंटे लगातार चक्कर-ही-चक्कर काट रही हैं। दीवारों पर बड़े-बड़े एक गज लम्बे और एक गज चौड़े नोटिस लगे हैं जिनमें हाथी के से अक्षरों में छपा है - Please vote for C.P. Ramswamy Iyer for the legislative council। इसी तरह अन्य वोट माँगनेवालों के नाम भी जहाँ-तहाँ दीख पड़ते हैं। झटकों पर, ट्रामों पर, मकानों पर सब कहीं वोट के ही नोटिस लगे हैं। कभी-कभी तो एक बड़े झंडे पर यही बात लिखाकर उसे कुलियों के हाथ में दे सब जगह फिराया जा रहा है। ब्राह्मणों की तरफ से अपने चुनाव और अब्राह्मणों की तरफ से अपने चुनाव की कोशिश हो रही है। अब्राह्मण अपनी अब्राह्मणता का परिचय बड़े बुरे ढंग से दे रहे हैं। उन्होंने Please Don't Vote For Brahmins के पवित्र मन्त्र जगह-जगह लटका दिए हैं। ब्राह्मण अब्राह्मण तो भीख का चोला डाले वोट के लिए दर-दर फिर ही रहे हैं लेकिन गाँधी जी के कुछ शिष्य भीख देने वालों को कुछ न देने की पट्टी पढ़ा रहे हैं। इन लोगों की तरफ से Don't Vote For Any Candidate के बड़े-बड़े इश्तिहार सब जगह लगाए जा रहे हैं। वोट देने वाले प्रायः गाँधी जी के ही अनुयायी हैं। जब कोई बड़ा आदमी किसी साहूकार के पास आकर बैठता है उसके बोलना प्रारम्भ करने से पहले ही साहूकार गाँधी जी के इश्तिहार की तरफ उँगली कर देता है। बहुत बातचीत किए बिना जल्दी में फैसला कर देने का उन्होंने यही तरीका निकाला है। उम्मीदवारों को रोज गाँधी जी की शक्ति का परिचय बढ़ता जाता है। अफवाहें हैं कि कई उम्मीदवार निराश होकर सोच रहे हैं कि यदि शुरू में ही गाँधी जी के साथ सुर मिला देते तो अब तक देश के नेता बन चुके होते। तो देश का कल्याण हो या सत्यानाश हो, उन्हें तो नेता कहलाने का चस्का पड़ा हुआ है। सुना है कि इसीलिए कुछ लोग उम्मीदवारी छोड़ने वाले हैं।

इस समय मद्रास में वोटों की सभाओं के अतिरिक्त और कोई सभा होना कठिन हो गया है। दो तरह के व्याख्यानों में भीड़ रहती है। या तो 'वोट देनेवालों के प्रति कुछ शब्द' और या 'कौन्सिल का बायकाट'। मद्रास में आजकल 'सभ्यता का आदि देश—भारतवर्ष' विषय पर व्याख्यान देना मूर्खता है। अभी 12 तारीख को मद्रास आर्यसमाज की तरफ से महर्षि दयानन्द की मृत्युदिवस मनाने के लिए बड़ी भारी सभा करने की तैयारियाँ की गईं। नोटिस इतनी अच्छी तरह से दिया गया कि वोट वालों ने भी क्या दिया होगा। लेकिन सभा के समय कई लोग कहते सुनाई दिए कि अमुक महाशय तो अपनी वोट इकट्ठी करने में लगे हुए हैं और अमुक वर्षा के कारण नहीं आ सकेंगे। वर्षा का अधिकार और वोट का इकट्ठा करने वालों की उदासीनता होते हुए भी सभा का कृतकार्यता से हो जाना हमारे ही आर्यभाइयों के उत्साह का कारण था। महाशय जम्बूनाथ, महाशय ऋषिराम तथा पं. धर्मदत्त विद्यालंकार के परिश्रम से सभा बड़ी कृतकार्यता से समाप्त हुई।

कुछ दिन हुए मुझे एक सभा में जाने का मौका मिला। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट बड़ा प्रभाव डालने की कोशिश कर रही थीं। कभी-कभी कुछ प्रभाव डल भी जाता था। सभा समाप्त होते ही जब सब लोग अपना-अपना रास्ता देखने लगे उसी समय 'सिद्ध गाँधी जी की जय' बोलना शुरू हो गया। भारत का वायुमंडल ही आजकल कुछ बदल गया है। मुझे तो यह सब बुखार की गर्मी मालूम पड़ती है। मद्रास की अवस्था देखकर तो ऐसा समझ पड़ता है कि सब जगह ज्वर का आवेश भिन्न-भिन्न रास्तों से बाहर निकल रहा है। एक पक्षवाले बटोरने में पागल हैं और दूसरे पक्ष वाले वोटों को तितर-बितर करने में पागल हैं।

ऐसी अवस्था को देखकर मनुष्य का घंटों विचार समुद्र में गोते खाना स्वाभाविक है। मद्रास की गलियों में से गुजरते हुए कितनी बार मेरा हृदय क्षुब्ध हो चुका है। जब देश आपत्ति में पड़ा हुआ है उस समय लोगों को कौन्सिल की मेम्बरी के सिवाय और कुछ सूझता ही नहीं, क्या कौन्सिल में जाते हुए वे देश का हित सम्मुख रखकर वहाँ जा रहे हैं या अपना स्वार्थ उन्हें उस तरफ खींच रहा है। युक्तियों से काम नहीं चलता। अपने को स्वार्थी कौन कहेगा ? लेकिन सभाओं में पिस्तौल लेकर जाना मद्रासी परमार्थ ही है, पंजाबी लोग इसे स्वार्थ के अतिरिक्त कुछ नहीं कहेंगे।

[श्रद्धा, 3 दिसम्बर, 1920]

वैदिक धर्म की सर्वव्यापकता

आज मैं आपके सामने वैदिक धर्म की व्यापकता के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ। अन्य धर्म, मत सम्प्रदाय या Religion में वैदिक-धर्म का भेद नाम से ही स्पष्ट है। मननशील मनुष्यों के निश्चय का भाव मत है। उद्देश्य की एक रस्सी में बाँधनेवाला सम्प्रदाय और यही Religion है। पर वैदिक धर्म यह नहीं है। धर्म का मतलब है कि जो धारण किया जाए या जिसने संसार को धारण किया हुआ है। चर-अचर और स्थिर सभी के लिए यह आवश्यक है। वृक्ष का पत्ता तक बिना इसके हिल नहीं सकता। वैदिक धर्म की व्यापकता के दार्शनिक विचार छोड़कर मैं सीधे शब्दों में ही कहना चाहता हूँ। मंजिलें मकसूद तक पहुँचने का मार्ग वेद ने दिखाया है—पर इन मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों ने अभी तक यही नहीं दिखाया।

शताब्दियों से विशेषतः पिछली डेढ़ शताब्दी से संसार शान्ति की खोज में लगा हुआ है। मुख प्राप्ति की खोज है पर सुख मिलता नहीं। वेद ने इसका रास्ता दिखाया है। लोग मनुष्य समाज के भेद करते हैं। वेद ने बिलकुल स्वाभाविक और सीधा मनुष्य समाज का विभाग किया है। वेद कहता है ''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् वाहू राजन्यः कृतः। उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्राऽता यत।'' शरीर के मुख भाग को ब्राह्मण बताया है। मुख का काम ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान की प्राप्ति करना और उसका जिह्वा से यथावत् उपदेश देना है। मुख अन्न ग्रहण करता है—अपने पास कुछ भी न रखकर सारे शरीर को बाँट लेता है। यही काम ब्राह्मण का होना चाहिए। तभी कहा है कि ब्राह्मण किसी का दिया नहीं खाता और सब संसार ब्राह्मण कर दिया खाता है। कोठियों वाले दौलतमन्द व्यापारी ब्राह्मण नहीं, ब्राह्मण वही है जिनके पास दो समय के यज्ञ का सामान हो तो किसी का निमन्त्रण स्वीकार न करें। क्षत्रिय का काम रक्षा का है। सारे शरीर की रक्षा बाहू करते हैं। वह बाहू जो अपने ही नाश में लगते हैं पागल कहे जाते हैं। बन्दूक तलवार लेकर प्रजा की हत्या करना क्षत्रियत्व नहीं। स्वर्ग के लिए किसी ही हत्या नहीं करनी, धर्म की बुद्धि और अधर्म का नाश ही क्षत्रिय का धर्म है। मेदा (उदर) को वैश्य कहा है। मेदा अन्नपाचन से संसार को शक्ति देता है इसी प्रकार वैश्य लोगों का काम मनुष्य समाज को दान से शक्ति देना है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि ही

मनुष्य का उद्देश्य है। धर्मानुसार अर्थ की प्राप्ति, धर्म और अर्थ से काम की सिद्धि और इसी प्रकार धर्मानुसार अर्थ और काम द्वारा ही मोक्ष की सिद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं। शूद्र को पैर स्थानीय बताया है। पैर ब्राह्मण की आज्ञा पर तुरन्त चल देता है—आना-कानी नहीं करता। क्षत्रिय युद्ध भूमि में तभी पहुँचता है जब दिमाग की आज्ञा पर पैर वहाँ ले जाते हैं।

समाज तभी पूरा है जबकि चारों भाग पूरे हों। बिगाड़ तभी होता है जबकि इन चारों में गड़बड़ हो जाती है। पेट सारे शरीर का काम नहीं दे सकता। जबकि पेट ने सारे ही शरीर का काम करना शुरू किया तभी अनार्किज्म, बोल्शोविज्म आदि फैलते हैं। इनका इलाज सभा, समितियाँ बनाना नहीं, अन्तर्जातीय महासभा वा लीग आफ नेशन्श भी इस गड़बड़ी का साधन नहीं। हृदयों का बदला जाना ही इस बिगाड़ का साधन है—तभी सम्पूर्ण सुख और शान्ति की प्राप्ति सम्भव है। पार्लियामेंट कौन्सिल आदि शान्ति के लिए बताई जाती हैं। पर बिगाड़ बड़ा भारी यही है कि कानून बनाने वाले सच्चे ब्राह्मण नहीं हैं और उन कानूनों के चलाने वाले सच्चे क्षत्रिय नहीं है। वशिष्ठ से मुनि बनानेवाले हों, दशरथ से राजा उनके चलाने वाले हों तभी शान्ति हो सकती है। आजकल जमीनों के मालिक कोठियों वाले लोग अपनी स्वार्थ दृष्टि से कानून बनाकर दूसरों का गला घोंटते हैं। यह सब यत्न क्षणिक साधन हैं। पीपल की एक टहनी काटने पर दूसरी टहनियाँ और भी अधिक निकल आती हैं। ज्वाला की एक शिखा बन्द करने पर वह फूटकर दूसरी जगह से निकल ही आती है। कभी समय था जबकि ब्राह्मणों के आगे राजा झुकते थे आज राजा के सामने ब्राह्मणों को झुकना पड़ता है। यही अव्यवस्था है। चारों वर्णों की सुव्यवस्था ही शान्ति ला सकती है। दूसरे साधन नहीं।

जीवन का वैदिक आदर्श 100 वर्ष तक जीना और कर्मशील जीवन बिताना है। यज्ञ द्वारा इसे 300 और 400 तक का बनाना है। मनुष्य जीवन के लिए वेद कहता है, 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छत समाः। एवं त्वपि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।'' कर्मशील जीवन व्यतीत करना है, आलसी और प्रमादी का जीवन जीना नहीं है। यही सम्पूर्ण गीता के उद्देश्य का सार है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।' कर्म करना है पर उसमें फँसना नहीं। इसके लिए भी वेद ने मनुष्य जीवन के चार भाग किए हैं। 25 तक ब्रह्मचर्य तैयारी का समय है। मैं ब्रह्मदेश गया वहाँ अब भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है चाहे वह 7 दिन के लिए है (यहाँ आपने ब्रह्मदेश की वर्तमान प्रथाओं और विशेषता उनकी सनातन से चलती आ रही प्रथाओं और रीतिरिवाजों की अच्छी व्याख्या की जिसे यहाँ विस्तारमय से नहीं दिया जाता)। हम लोगों की भी बिगड़ी हुई व्यवस्था भी प्राचीन आदर्श का ही इशारा करती है। ब्रह्म वर्ष अवस्था तितिक्षातपस्या कर जीवन व्यतीत करके वीर्य की पुष्टि के बाद ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश होने से गृहस्थ हासिल हो

सकता है—अन्यथा नहीं। वीर्य की पुष्टि के समय यदि वीर्य का नाश प्रारम्भ हो जाए तब सन्तानोत्पत्ति क्या होगी ? आज यूरोपियन लोग जंगली लोगों की सन्तानोत्पत्ति को उपयुक्त ठहराते और अपने यहाँ की अवस्था को पतितावस्था और पशुओं से भी गई बीती अवस्था कहते हैं। वेद का आदेश है 'दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि' 25 वर्ष के गृहस्थ काल से 10 सन्तान पैदा करती है। प्रति अढ़ाई वर्ष में एक दूसरी सन्तान तभी पैदा करनी जब पहली जीने योग्य बन जाती है। गृहस्थ युद्धक्षेत्र है—जिसमें पुरानी तैयार फौज ही काम आ सकती है, नई रंगरुट फौज नहीं। अंग्रेज लोग जिन्हें हम अपना पथदर्शक समझते हैं—इन आसुरी प्रथाओं से दूर भाग रहे हैं और हम उन्हीं में फँस रहे हैं।

इसी प्रकार गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ और संन्यास है। ब्रह्मचर्य अवस्था में प्राप्त ज्ञान का गृहस्थ में अनुभव वानप्रस्थ में उसका परिपक्व करना और संन्यास में उसका दूसरों के प्रति खुला उपदेश करना है। कर्ममय जीवन की शर्त प्रत्येक अवस्था में अनुभव में लगी हुई है। जंगल में भाग जाना संन्यास नहीं। शंकर और दयानन्द जंगल नहीं भागे। उन्होंने धर्म युद्ध में कर्ममय जीवन व्यतीत करते हुए अपने कर्म का फल संसार को दिया। बस यही वर्ण और आश्रम की व्यवस्था ही संसार में पूर्ण सुख और शान्ति ला सकती है। दूसरे सब साधन सामयिक, क्षणिक हैं, वास्तविक नहीं। इसी वास्तविक साधन को वेद ने ही बताया है जिससे मनुष्य मंजिले मकसूद पहुँच सकता है। ब्रह्मचर्य पूरा किए हुए भी आचार्य है। कानून बनाने चलानेवाले भी ब्रह्मचारी हों। राज नियम और मनुष्य समाज की बागडोर ब्राह्मणों और संन्यासियों के हाथ में हो तभी शक्ति प्राप्त हो सकती है। मनुष्य समाज को मंजिल मकसूद तक पहुँचने का रास्ता वेद ने दिखाया है। संसार के पूरे प्रबन्ध की पद्धति, राजनीति, राजसभा, युद्ध आदि की पूरी व्यवस्था वेद ने बताई है। भटकते संसार को वैदिक धर्म ही सुख शान्ति प्राप्त करा सकता है। बस यही वैदिक धर्म की व्यापकता है।

अन्त में सारगर्भित और प्रभावशाली शब्दों में वैदिक धर्म के प्रचार पर कहते हुए आपने वैयक्तिक जीवन के सुधार पर बहुत जोर दिया। वैयक्तिक जीवन के सुधार को धर्म प्रचार का मार्ग बताया। शास्त्रार्थ, व्याख्यान आदि देना धर्म प्रचार नहीं। आपने इन शब्दों से व्याख्यान समाप्त किया "परमात्मा से यही प्रार्थना है कि प्रत्येक भारतीय में यह भाव पैदा हों। इस देश के अपने नियम और पद्धति का सबमें प्रचार हो। भारत ही फिर संसार के सन्मुख हो, जिसमें भारत को देखकर भटकता संसार मंजिले मकसूद तक पहुँचे। भारत फिर वेदान्त का पालन करता हुआ ही संसार का गुरु बने।"

[श्रद्धा, 24 दिसम्बर, 1920]

गोरक्षा का प्रश्न

प्रत्येक भारतीय के लिए कितना आवश्यक है—इस पर हम कई बार बल दे चुके हैं। सरकार का इस ओर कई बार ध्यान खींचा जा चुका है परन्तु वह निष्फल ही हुआ है। इसी विषय पर 'हाउस ऑफ लार्ड्स' में कुछ गति होना प्रसन्नता का विषय है। लार्ड टैन्टरनड ने भारत के विषय में यह प्रश्न उसमें पूछा था ''वार्षिक गौ कितनी मारी गईं और उसका देश की कृषि और बच्चों की मृत्यु संख्या पर क्या प्रभाव पड़ा।'' इस प्रश्न का उत्तर भारतसचिव के प्रतिनिधि की ओर से क्या दिया गया यह अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है। परन्तु हमारी सरकार बड़ी होशियार है। वह इन प्रश्नमालाओं से काबू नहीं आ सकती। उसके लिए तो एक 'असहयोग' ही सबसे उत्तम उपाय है। गोहत्या का प्रश्न भी यदि हल हो सकता है तो उसका एकमात्र साधन नौकरशाही के साथ 'असहयोग' ही है।

[श्रद्धा, 24 दिसम्बर, 1920]

सन्धिसभा में चुरुट का धुआँ

पिछले दिनों, जो सन्धि परिषद हुई थी, उसमें उपस्थित हुए प्रतिनिधियों ने, कुछ ही दिनों में 80 हजार चुरुट फूँक डाले थे ! मालूम होता है कि वह सब बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञाएँ जो गोरी जातियों ने छोटे राष्ट्रों के प्रति की थी, चुरुट के इसी काले धुएँ के साथ ही हवा हो गईं।

[श्रद्धा, 24 दिसम्बर, 1924]

क्या गाँधी टोपी पहनना कोई जुर्म है ?

इस नौकरशाही के जमाने में जो कुछ हो जावे, वही थोड़ा है। जो दुनिया में कहीं नहीं होता और न हो सकता है, वह सब यहाँ जायज है। क्या खद्दर के कपड़े और टोपी पहनने पर कोई सभ्यताभिमानी शासक अपनी प्रजा को दंड दे सकता है ? क्या यह ऐसा भयंकर अपराध है कि इसके लिए एक स्कूल के हेडमास्टर अपने विद्यार्थी को इतना पीटें कि मारने वाले के कोमल (?) हाथ थक जाएँ और मार का शिकार बेहोश हो जावे ? क्या यह ऐसा दोष है कि इसके लिए छात्र को स्कूल से अर्धचन्द्र दे दिया जावे ? हम और हमारे जैसे अन्य साधारण बुद्धि के व्यक्ति इसका उत्तर चाहे 'नहीं' दे पर इन गर्हित कर्मी और निन्दनीय व्यवहारों के करने वाले बेलगाँव और मेरठ के हेडमास्टर तथा नौकरशाही के चक्कर में फँसे अन्य उदार सज्जन (?) निसंकोच, इसी को पुष्ट करेंगे ? घर के सूत, जुलाहे और दर्जी द्वारा बनाई गई दो पैसे की टोपी यदि शासकों के नजरों में काँटा है तो उस दिन कोई आश्चर्य नहीं होगा जबकि घर की रोटी और भात खाने के लिए भी हमारी पूजा बेंतों से होगी। और यदि 'गाँधी' शब्द जुड़ जाने से ही हमारी 'टोपी' को हौआ समझा जाता है तो इससे नौकरशाही का ही छिछोरापन पता लगता है।

[श्रद्धा, 24 दिसम्बर, 1924]

रणचंडी की पूजा फिर क्यों ?

युद्ध समाप्त हो गया। शान्ति सभा, सन्धि सभा और अन्तर्राष्ट्रीय महासभाएँ बड़ी-बड़ी उद्घोषणाओं और कार्यक्रमों को लेकर संसार की राजनीति का रुख बदलने का प्रयत्न कर रही है। 'जैनेवा' की अन्तर्जातीय सभा (लीग आव नेशन्स) के सैनिक-शक्ति के घटाए जाने का प्रस्ताव, इंग्लैंड के लॉर्ड सेसिल जैसे राजनीतिज्ञ की अध्यक्षता में, स्वीकृत किए हैं और उन्हें कार्यरूप में परिणित करने का आश्वासन भी दिलाया गयाा है। परन्तु इस प्रपंच की आड़ में एक और नाटक खेला जा रहा है। अमेरिका का मन्त्री मंडल नए-नए ड्रेडनाट और क्रूसर बनाने के लिए प्रस्ताव उपस्थित कर रहा है। जापान, जर्मनी की क्रुप-नहर के ढंग पर एक बड़ी भारी नहर बनाने की तैयारी में है। इस पर करोड़ों रुपए स्वाहा किए जावेंगे। किसलिए ? कि जिससे जंगी-बेड़े वहीं तैयार किए जावें और सुरक्षित रूप से रखें जावें। इंग्लैंड इन सबसे आगे है। उसने स्थल सेना 2,14,000 से 2,36,000 कर दी है। मध्य एशिया को 'सभ्य' बनाने के लिए 32 मिलियन पौंड पास किए गए हैं। पर खर्च हुआ है 48 मिलियन पौंड अर्थात् डयोढ़ा ? इतने से भी सन्तुष्ट न हो, लायड जार्ज महोदय ने, हाल ही में, अपनी एक वक्तृता में 'नए-बड़े-जहाज़ (न्यू कैपिटलशिप्स) बनने की आवश्यकता पर बल दिया है। इटली और फ्रांस में क्या हो रहा है यह अभी तक ज्ञात नहीं है। परन्तु वे चुप बैठे होंगे ऐसा समझना अपनी मूर्खता का परिचय देना है। शान्ति-उत्सवों की आड़ में रणचंडी की पूजा के लिए सामग्री क्यों जुटाई जा रही है ? क्या छोटे-छोटे राष्ट्रों को फँसाने के लिए ही—लीग आव नेशन्स' का जाल बिछाया गया है। क्या मित्रराष्ट्र इस समय 'मुँह में राम और बगल में छुरी' का काम करने को उतारू नहीं हो रहे।

[श्रद्धा, 24 दिसम्बर, 1924]

सम्राट की उद्घोषणा

प्रकाशित हो गई है। इसमें भी वे सब्जबाग दिखाए गए हैं। जोकि सम्राट के नाम पर की गई उद्घोषणाओं में प्राप्त हुआ ही करते हैं। इसमें भी 'सुशासन' और 'धार्मिक सहिष्णुता' की दोहराई की गई है परन्तु नौकरशाही और ब्रिटिश सरकार की नजरों में इन शब्दों का वास्तविक आदर क्या है—यह पंजाब के हत्याकांड और खिलाफत के मामले में स्पष्ट हो जाता है। गवर्नरों को जो आदेश दिए गए हैं, इनमें स्वेच्छाचारिता और ओडवायरशाही के लिए पर्याप्त स्थान छोड़ दिया गया है। जनता शोर मचा सकती है पर 'गवर्नर जनरल का अधिकार अटूट रहेगा' और वह बदले में रौलेट ऐक्ट दे सकता है। सम्राट और उसके प्रतिनिधियों को यह समझ लेना चाहिए कि भारतवासी अब इन चमकीले कागज के टुकड़ों में फँसने वाले नहीं हैं।

[श्रद्धा, 24 दिसम्बर, 1924]

प्रवासी भारतवासियों को मत भूलो

देश में इस समय 'असहयोग' का जो प्रबल आन्दोलन चल रहा है वह सर्वथा उचित है। परन्तु इसके वेग और जोश में हम कई आवश्यक प्रश्नों को अपनी दृष्टि से ओझल कर रहे हैं। उदाहरण के लिए प्रवासी भारतवासियों का प्रश्न है। यह अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समस्या है। पर हम इसे बड़ी उदासीनता के साथ देख रहे हैं। इसका परिणाम देश के लिए बहुत बुरा होगा। हम पंजाब-हत्याकांड के लिए इतना शोर मचा रहे हैं पर क्या हमें फिजी के प्रवासी देशभाइयों का ख्याल नहीं करना चाहिए जहाँ गोरों ने दूसरा पंजाब-नाटक खेल डाला है ! यहाँ तो 'हन्टर कमीशन' ने, फिर भी, कुछ खोज कर ली पर वहाँ तो भारत सरकार कमीशन बैठाने से इनकार ही करती है। हमारे 30 हजार पीड़ित भाई, सब कुछ बेचकर अपनी मातृभूमि में लौटना चाहते हैं पर हमें उनके प्रबन्ध का कोई खयाल नहीं है। हमने उन्हें शायद सौतेले भाई ही समझ लिया है। दक्षिण अफ्रीका और पूर्वी अफ्रीका के देश-भाइयों की दुर्दशा पर हमारे मान पर जूँ तक नहीं रेंगती। यह प्रश्न असहयोग के पक्षपातियों और विरोधियों, गरम और नरम दोनों दलों के लिए समान महत्व का ही है। नेताओं का कर्तव्य है कि वे इधर शीघ्र ध्यान दें और एक गैर सरकारी कमीशन विशेषतः फीजी के लिए नियुक्त करके सारे मामले की जाँच पड़ताल करावें।

[श्रद्धा, 24 दिसम्बर, 1924]

एक मुँह में दो जीभ

देश के नेता जब एक ही मुँह से दो आवाज निकालते हैं तब दो जीभ का सन्देह होना स्वाभाविक ही है। हमारे मान्य नेता लाला लाजपतराय जी इसी श्रेणी के नेता प्रतीत होते हैं। यह सब जानते हैं कि कलकत्ता की विशेष कांग्रेस में, सभापति की हैसियत से, उन्होंने सरकारी शिक्षणालयों के बहिष्कार का विरोध किया था। पर लाहौर में व्याख्यान देते हुए उन्होंने विद्यार्थियों को 'आर्ट्स कालेज' छोड़ देने का उपदेश दिया पर, फिर, कर्नल बेड्ज्वुड के सहभोज में उन्होंने इसका विरोध किया। जब पिछले दिनों वे अलीगढ़ गए थे वहाँ 'जातीय मुस्लिम विश्वविद्यालय' के छात्रों के सन्मुख भाषण करते हुए उन्होंने इसी सिद्धान्त को पुष्ट किया, पर फिर बनारस में उन्होंने सुना जाता है, मालवीय जी के साथ सहमति दिखाई अर्थात् शिक्षणालयों के बहिष्कार का विरोध किया। अब उस दिन की कलकत्ता की एक तार से मालूम हुआ है कि प्रेस के एक प्रतिनिधि के साथ बात करते हुए उन्होंने अपने आपको सरकारी शिक्षणालयों से लड़कों को निकाल लेने का घोर विरोधी ठहराया और अलीगढ़ के भाषण की ओर निर्देश करते हुए आपने कहा कि "मेरा अभिप्राय यहाँ था कि छात्र विचारात्मक अध्ययन को छोड़ उद्योगधन्धों को सीखने की ओर अपने आपको लगावें।" श्री लाला जी अभी और क्या कहेंगे—यह हम नहीं कह सकते पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि—लाला जी के मुँह में दो जीभ है—जिनमें से एक असहयोग का विरोध करती है और दूसरी पोषण !

[श्रद्धा, 24 दिसम्बर, 1920]

टूर्नामेंट से शिक्षा लो

मेरठ की 'अखिल भारतीय हार्नेट टूर्नामेंट में गुरुकुल दल को जो विजय प्राप्त हुई है, उसका संक्षिप्त वृतान्त, पिछले अंक में पाठकों की सेवा में रखा जा चुका है। यह घटना ऐसी नहीं है जो अचानक हो गई हो पर उस कठोर अभ्यास का परिणाम है जोकि गुरुकुल के प्रत्येक छात्र के लिए आवश्यक है। इस विजय ने गुरुकुल विरोधियों का जहाँ मुँहतोड़ उत्तर दिया है वहाँ गुरुकुल प्रेमियों का सिर ऊँचा करके संसार को यह दिखा दिया है कि इस प्रणाली में कितना महत्त्व है। न केवल गुरुकुल कांगड़ी अपितु इस प्रणाली पर चलाए गए प्रत्येक गुरुकुल के लिए यह घटना अभिमान और गौरव का स्थान हो सकती है।

गुरुकुल का यह दावा है कि इसमें पाले गए छात्रों का न केवल मानसिक अपितु शारीरिक विकास भी पूर्ण होता है। ब्रह्मचर्य की रक्षा द्वारा उनका स्वास्थ्य उत्तम और अंग सुदृढ़ होते हैं। सरकारी शिक्षणालयों से, गुरुकुल की अन्य कई विशेषताओं के अतिरिक्त, यह भी एक बड़ी भारी विशेषता है कि इस में शारीरिक शिक्ष को भी उचित स्थान दिया जाता है।

गुरुकुल के विरोधी, प्रायः यह कहते हुए सुने गए हैं कि यहाँ के छात्रों का स्वास्थ्य उत्तम नहीं होता ? इस आक्षेप का उत्तर देने से पूर्व हमारा यह कार्य अप्रासंगिक न होगा यदि हम 'स्वास्थ्य' इस शब्द पर अपने कुछ विचार प्रकट कर दें।

यह प्रायः समझा जाता है स्थूल शरीर, फूले हुए गाल और हाथ-पैर की नजाकत 'स्वास्थ्य' का चिन्ह है। यदि यह ठीक मान लिया जावे तो लम्बी तोंदवाले हमारे सेठ साहूकार सबसे अधिक स्वस्थ समझे जाने चाहिए। वस्तुतः सत्य कुछ और है। उत्तम स्वास्थ्य वही कहा जा सकता है जो ब्राह्य-परिवर्तनों (अर्थात् सर्दी-गर्मी, वर्षा धूप, भूख-प्यास, जल आग इत्यादि) के सामने डाँवाडोल न हो। सच्चे मित्र की न्याई ऐसी कठिन परीक्षाओं में जो पूरा उतर आए वही वास्तविक स्वास्थ्य है।

परन्तु यह स्वास्थ्य कैसे प्राप्त हो सकता है ? क्या भोगमय जीवन से ? नहीं; इसके लिए कठोर तपस्या, स्थिर सहनशक्ति, चिरकालिक अभ्यास और

अविचिलित व्रत की आवश्यकता है। जो शरीर इन कठिन परीक्षाओं की भट्टी में से गुजारा जाकर कमाया नहीं गया वह ब्राह्य-परिवर्तनों के आने पर उसी प्रकार चित हो जाता है जिस प्रकार आँधी के आगे कच्ची जड़ का पेड़ ! परन्तु एक बात कभी नहीं भूलनी चाहिए। मिट्टी के कारण फूले हुए कच्चे लोहे को जब भट्टी में तपाया जाता है और लुहार के हथौड़े के नीचे मार खाकर जब वह 'पक्का' बनता है तब अनावश्यक पदार्थ के निकल जाने के कारण, उसका पतला होना स्वाभाविक है और अनिवार्य है। इसी प्रकार तपस्या और कठोर व्रत के, दृढ़ सहनशक्ति के साथ, पालन में शरीर यदि अपनी अनावश्यक मोटाई खो दे तो वह उचित ही है। इससे शारीरिक स्वास्थ्य की स्थिरता में सहायता ही मिलती है, रुकावट नहीं।

गुरुकुल के छात्रों का स्वास्थ्य इसी प्रकार स्वास्थ्य है। वह ऋतुओं के जबरदस्त थपेड़ों के सामने खूब परखा जा चुकता है। तपस्या और अभ्यास के कारण बना हुआ उनका कृश देह उस सेवक के समान होता है जो कि स्वामी की आज्ञा पर, रात और दिन, अनथक परिश्रम कर सकता है। गुरुकुल के छात्रों के पतले, दुबले और नाटे शरीर के पीछे एक ऐसी शक्ति छिपी होती है जो हर प्रकार के कष्ट और यातनाओं को सुगमतापूर्वक सहन कर सकती है।

ऐसे ही शरीरों और अंगों के साथ इस शिक्षणालय के छात्र मेरठ की टूनामेंट में गए थे। कई हँसते थे, मजाक करते थे और कई ब्रह्मचारियों के पतले शरीरों को देख तरस खाते थे। परन्तु जब विजय का सेहरा गुरुकुल दल के माथे पर बँध गया तब जनता को पता लगा कि पतले में भी ताकत होती है, दुर्बल में भी बल होता है, क्षीण में भी शक्ति होती है और कृश में दृढ़ांगता हो सकती है। शिक्षित जनता के अब यह समझ लेना चाहिए कि छिपे रुस्तम जंगलों के खुले और स्वच्छ वायुमंडल में, ब्रह्मचर्य की नींव पर ही तैयार हो सकते हैं, शहरों की गन्दी और तंग गली-कूचों में नहीं।

ब्रह्मचारियों द्वारा दिखाए गए जहाँ शारीरिक खेल (जंजीर तोड़ना, मोटर रोकना, छाती या पेट पर से गाड़ी उतारना, पत्थर तुड़वाना इत्यादि) इनके शारीरिक बल का परिचय देते हैं। वहाँ टूर्नामेंट की ऐसी उल्लेखनीय विजय उनकी फुरती, दृढ़ता, चतुरता और स्थिरता के प्रमाण हैं।

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की विजय का यह भी एक ज्वलन्त उदाहरण है। ऐसे उदाहरण विरोधियों की आँखों में अँगुली दे-देकर बतला रहे हैं कि शारीरिक शक्ति में भी गुरुकुल के छात्र अपने उद्देश्य से पीछे नहीं हैं।

[श्रद्धा, 31 दिसम्बर, 1920]

पुराना जाल फिर !

भारतवासी स्वभावतः ही भोले-भाले होते हैं। वे सम्राट की चमकीले उद्घोषणा पत्रों और बड़े-बड़े 'रायल कमीशनों' के लुभावने जाल में जल्दी फँस जाते हैं। परन्तु नौकरशाही बड़ी चालाक हैं और वह इनमें ऐसे शब्द रखती है जो रबर की तरह सब ओर मुड़ सकते हैं। देश के नेताओं ने 'असहयोग' नीति की उद्घोषणा करके संसार को यह दर्शा दिया है कि ब्रिटिश मन्त्रिमंडल की नीति पर अब उन्हें तनिक भी विश्वास नहीं है। परन्तु हम देखते हैं कि भारतीयों का विश्वास प्राप्त करने के लिए 'उद्घोषणा' का फाँसा फिर तैयार होने वाला है। अपने को भारत के 'मित्र' और 'उदाराशय' कहने वाले कुछ अंग्रेज सज्जनों ने फिर इस बात के लिए आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया है कि भारत सरकार सब प्रकार के नेताओं की एक ऐसी कान्फ्रेंस करें जिसमें वर्तमान परिस्थिति पर विचार किया जाए। उसी अवसर पर सम्राट की ओर से उद्घोषणा की जाए जिनमें भारतीय स्वराज्य की अवधि स्पष्ट शब्दों में बताई गई हो इत्यादि। 'एक्स, वाई, जैड' अक्षरों के एक शुभनाम लेखक ने बम्बई के 'टाइम्स आव–इंडिया' में इसी आशय का प्रस्ताव किया है। उधर से मांटेगू के दूत बन आए कर्नल वेड्जबुड भी यही तूती बजा रहे हैं। हम अपने देशभाइयों को अभी से सचेत कर देना चाहते हैं कि कि वे इस भँवर में फँसने का फिर साहस न करें।

[श्रद्धा, 31 दिसम्बर, 1920]

जिस पत्तल में खाया उसी में छेद

भारत में कई विदेशी आए। उन्होंने इस देश को खूब लूटा। पर उनकी लूट का माल प्रायः भारत ही में रहा। परन्तु अब जो विदेशी जाति हम पर राज्य कर रही है, वह हमारी गाढ़ी कमाई के पैसे से सात समुद्र पार एक छोटे-से टापू में बड़े-बड़े महल और शहर तैयार कर रही है, हमारी ही फौजों से मनुष्य जाति के गले कटवा अपना साम्राज्य बढ़ा रही है। इसके बदले में हमें क्या मिलता है—पंजाब का हत्याकांड, डायर के गोले और ओड्वायरशाही और पशवुत् व्यवहार। हमारा नमक खाकर हमारी ही निन्दा के एक नहीं अनेक उदाहरण अंग्रेज जाति के व्यक्ति दे सकते हैं। ताजा उदाहरण लीजिए। कुछ वर्ष पूर्व सर वैलिंगटाईन शिरोल भारत में आए थे। भारत के ही मेहमान होकर उन्होंने 'इण्डियन अनरैस्ट' नामक पुस्तक लिखी जिसमें लोकमान्य तिलक जैसे पूज्य नेताओं की भरपूर निन्दा की गई थी। आजकल, 'टाइम्स' के विशेष संवाददाता बन वे फिर भारत में आए हुए हैं। आप उसी नौकरशाही के मेहमान हैं जो कि हमारे पैसे ही से अपनी थैलियाँ भर रही हैं। सर शिरोल इस मेहमानी का बदला क्या देंगे—यह अनुमान करना कठिन नहीं है।

[श्रद्धा, 31 दिसम्बर, 1924]

प्रधान और सभापति के भाषण

नागपुर कांग्रेस की स्वागत के प्रधान श्री सेठ जमुनालाल बजाज का भाषण निसन्देह बहुत उत्तम और सामाजिक था। आपने पूरे वल के साथ असहयोग का पोषण किया। देश और जाति के गौरव रक्षा की ओर नेताओं का जो ध्यान आपने आकर्षित किया—वह प्रशंसनीय था। परन्तु सभापति श्री विजय राघवाचार्य का भाषण पढ़ हमें अत्यन्त दुख हुआ। पढ़ते समय हमें कई बार यह ध्यान आया कि हम शायद नरम सभा के प्रधान श्री चिन्तामणि का भाषण पढ़ रहे हैं। आज से 10 वर्ष पूर्व यदि यह भाषण दिया जाता तो शायद इसका कुछ मूल्य दिया जाता, तो शायद इसका कुछ मूल्य होता पर आज तो यह रद्दी की टोकरी के लायक ही समझना चाहिए। शोक है, श्री आचार्य इस सच्चाई को न समझ सके कि कांग्रेस का प्रधान जाति का प्रतिनिधि है। इसलिए निजू सम्मतियों को पीछे करते हुए जाति के विचारों को प्रतिध्वनि करना ही उसका प्रधान कर्त्तव्य है। श्री आचार्य वृद्धावस्था के कारण, समय को गति से यदि पछेड़ गए तो इसमें उनका उतना दोष नहीं जितना कि उनकी इस अवस्था का है।

[श्रद्धा, 31 दिसम्बर, 1920]

कांग्रेस और अछूत

आर्यसमाज का कर्त्तव्य

पिछले अंक में हम यह बता चुके हैं कि अछूतों की समस्या की ओर ध्यान देकर कांग्रेस के महत्वपूर्ण कार्य किया है। सरकार के साथ असहयोग का प्रस्ताव करते समय घर में सहयोग की आवश्यकता को अनुभव करने की शक्ति पैदा कर लेना हमारे नेताओं की बुद्धिमता का चिन्ह है।

परन्तु, इस समय आर्यसमाज का विशेष कर्त्तव्य है। जब से आर्यसमाज ने कार्य प्रारम्भ किया है, तभी से अछूतों के उद्धार का प्रश्न उसके कार्य विभाग का एक आवश्यक अंग रहा है। आर्यसमाज पहली संस्था है जिसने हर तरह के विरोधियों के सामने भी 'स्त्री शूद्रौ नाधियाताम' और जन्म से गुण कर्म व्यवस्था का क्रियात्मक खंडन किया। हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि इस प्रश्न की ओर ध्यान देते और उसे क्रिया रूप में भी परिणित करने का सबसे अधिक श्रेय यदि किसी संस्था को है तो वह आर्यसमाज को ही है।

परन्तु हमारा कार्य 'एरयहोऽपि डुमायते' के अनुसार ही है। चूँकि अभी तक किसी और भारतीय समाज ने इस क्षेत्र में काम नहीं किया। इसलिए हमारा कार्य कुछ बड़ा प्रतीत होता है, परन्तु यदि उसकी वास्तविकता और गम्भीरता को देखा जाए तो वह कुछ भी नहीं है। हमारे विरोधी अर्थात् इसाईयों के मुकाबले में आर्यसमाज के कार्य की इकाई बहुत छोटी है। यह ठीक है, ईसाई मिशनरियों को सरकार की ओर से बहुत सुगमताएँ हैं और आर्थिक कष्ट नहीं है परन्तु इतना होने पर भी, यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि जितना त्याग और लगन उनके कार्यकर्ताओं में है उतना हमारे अन्दर नहीं। सिवाय कुछ एक छोटी-छोटी पाठशालाओं के हमने कोई विशेष रचनात्मक कार्य नहीं किया है। हमारा ध्यान प्रचार और शुद्धि की ओर ही अधिक रहा है।

परन्तु अब इतना ही पर्याप्त नहीं है। अब हमें कुछ क्रियात्मक कार्य भी प्रारम्भ करना चाहिए। यदि आर्यसमाज शुद्धि को ही इस आन्दोलन का क्रियात्मक भाग समझता है तो वह बड़ी भारी भूल में है। शुद्धि से जहाँ कई लाभ हुए हैं

वहाँ हम उन हानियों को भी नहीं भुला सकते जो इसके साथ लगी हुई हैं। परन्तु इस विषय को भविष्य के लिए रखते हुए हम यहाँ इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि केवल शुद्धि तब तक कोई अर्थ नहीं रखती जब तक शुद्ध हुई व्यक्तियों की रोजी और शिक्षा का, आर्यसमाज की ओर से कोई विशेष प्रबन्ध नहीं होता।

इसलिए आर्यसमाज को अब विशेष रूप से इस प्रश्न में दिलचस्पी लेनी चाहिए। उनके लिए छोटे-छोटे स्कूल और रात्रि पाठशालाएँ स्थापित की जाए। केन्द्रों में ऐसे विद्यालय भी स्थापित किए जाएँ जहाँ उच्च शिक्षा दी जावे जहाँ तक हो सके, इनका सरकार कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। इन विद्यालयों में उन उद्योग धन्धे की शिक्षा अवश्य दी जावे जो कि इन छोटी जातियों में कुल परम्परा से चली आ रही हैं। इनकी शिक्षा इस प्रकार से हो जिससे ये अपने पाँव पर आप खड़े हो सकें। आर्थिक कष्टों को दूर करने के लिए इनमें सहयोग समितियाँ स्थापित की जावें। मुकदमेबाजी से बचाने के लिए इनमें पंचायतें स्थापित की जाए—इत्यादि बहुत कुछ कार्य ऐसा है जिधर समाज को अब शीघ्र, ध्यान देना चाहिए।

एक बात और है। कांग्रेस के प्रस्ताव पास करने और महात्मा गांधी जी के, विशेष रूप से इस प्रश्न को अपने हाथ में लेने के कारण शिक्षित जनता का ध्यान इस प्रश्न की ओर अब खिंचने लगा है। चूँकि अछूतों का प्रश्न केवल धार्मिक और सामाजिक ही नहीं है अपितु राजनीतिक भी है। फलतः स्पष्ट है, राजनीतिक संस्था इस समस्या की ओर, अब विशेष रूप से ध्यान देंगी। इस क्षेत्र में अगुआ होने और अब तक सबसे अधिक कार्य करने के कारण प्राप्त की हुई कीर्ति को यदि आर्यसमाज स्थिर रखना चाहता है तो उसे अभी से इसके लिए विशेष उद्योग और प्रयत्न आरम्भ कर देना चाहिए। उसे अपना कार्य इस ढंग पर करना होगा जिससे वह इस विषय में, सबका अगुआ रहे जैसा कि अभी तक रहा है।

यदि आर्यसमाज अपनी इस स्थिति को सँभालने में असमर्थ है तो उसे इस अछूत समस्या को हल करने के लिए ही, इन राजनैतिक संस्थाओं के साथ मिलते हुवे उनका ही अनुसरण प्रारम्भ कर देना होगा। आर्यसमाज को चाहिए कि वह अपना ध्येय पर शीघ्र ही निश्चित कर लें।

[श्रद्धा, 14 जनवरी, 1921]

नैतिक शिक्षा का आधार

शिक्षा का प्रश्न देश के लिए इस समय अत्यन्त आवश्यक हो रहा है। सरकारी और गैर सरकारी दोनों ही दृष्टियों से इसका महत्व बढ़ रहा है। नई सुधार योजना के अनुसार शिक्षा परिवर्तित विषय है। यह अब हमारे ही भाइयों के हाथ में रहेगा। हमारे देसी भाइयों को उचित सुधार करने का अब पर्याप्त अवसर मिल जावेगा। परन्तु गैर सरकारी वा अधिक उचित शब्दों में जातीय दृष्टि से भी यह प्रश्न कुल नया ही स्वरूप धारण करनेवाला है। असयोग आन्दोलन के कारण, कुछ ही मासों में शिक्षा का क्षेत्र और विषय बिल्कुल ही बदल गया है। अब लोग जातीय शिक्षा के महत्त्व को समझने लगे हैं, अब वे समझने लगे हैं कि हमारे दास भावों की उत्पत्ति विदेशी राज के कारण उतनी नहीं जितनी विदेशी शिक्षा के कारण, अब हमें यह अनुभव हुआ है कि पुलिस सेना और सिविल सर्विस हमारी जातीयता के उतने घातक नहीं हैं जितने आजकल के स्कूलों और कालेजों के वे व्यांख्यान भवन जिन में पक्षपातपूर्ण इतिहास पढ़ाया जाता है, जिन में हमारे पूज्य महानुभावों और नेताओं को 'असभ्य', 'जंगली' 'चोर-डाकू', 'लुटेरा' इत्यादि कहा जाता है, जिसमें निकम्मी विदेशी भाषा से उठती हुई सन्तानों के कौमी दिमागों को पत्थर कर दिया जाता है।

परन्तु चाहे किसी भी प्रकार की शिक्षा हो, नैतिक शिक्षा की अपरिहेय आवश्यकता है ही। यह ठीक है कि सरकारी शिक्षा प्रणाली में हम इसे उतना महत्व नहीं दे सकते जितना जातीय शिक्षणालयों में दिए जा सकने की सम्भावना है। परन्तु नैतिक शिक्षा क्या है और क्यों होनी चाहिए इस पर विचार करने से पूर्व हमें तनिक यह भी विचार करना होगा कि शिक्षा का उद्देश्य व लक्षण क्या है ?

इस पर चिरकाल से विवाद होता रहा है। भिन्न-भिन्न विद्वानों और विचारकों ने इस पर यद्यपि पृथक-पृथक दृष्टि से विचार किया है, तथापि परिणाम लगभग सबका एक ही है। प्राचीन वा अर्वाचीन सभी तत्त्ववेताओं को यह मानना पड़ा है कि शिक्षा का प्रधान उद्देश्य 'आचार संगठन', 'चरित्र सुधार' चा 'चरित्र निर्माण' है। इसकी व्याख्या रूप में यह कहा जा सकता है कि आदर्श शिक्षा वही है जो मनुष्य को जीवन यात्रा के लिए शारीरिक मानसिक वा आत्मिक दृष्टि से सर्वथा

योग्य बना दे।

परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति में जहाँ अन्य कई विषयों की शिक्षा आवश्यक है, वहाँ एक विषय ऐसा है जो अत्यन्त आवश्यक है, जिसका ज्ञान कराए बिना शिक्षा सर्वथा अधूरी है और असफल है।

वह क्या है ? नीति और सदाचार शिक्षा की आत्मा है। जिस शिक्षा प्रणाली में इन्हें भुलाया जाता है वह निर्जीव है, जड़ है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में सबसे अधिक भयंकर यदि कोई दोष हम समझते हैं तो वह यही है कि उसमें आचार संगठन के साधनों पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता। कहा जाता है चूँकि सरकार ने धार्मिक मामलों में 'बेदखली' को नीति का अवलम्बन किया हुआ है, अतः वह इस प्रश्न को सर्वथा अपने हाथ में लेने के लिए अशक्त है। परन्तु पिछले 30 साल का इतिहास हमें यह कहने पर बाधित करता है कि सरकार का यह ढोंग रहा है, उसने इस पर्दे की आड़ में कई अनुचित और अक्षम्य कार्य कर डाले हैं। उसकी इस उदासीनता का ही यह परिणाम है कि आजकल के शिक्षकों का आचार बहुत खोखला और लचर है। यह ठीक है कि सरकार अब अपने स्कूलों में नैतिक शिक्षा के लिए भी सप्ताह में कुछ घंटे देने लगी है। परन्तु सरकार और उसके भक्तों को यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि जीवन संबंधी शिक्षा जो 24 घंटे काम आती है, जो मनुष्य के लिए आजन्म अनिवार्य है, कुछ मिनिटों के कुछ घंटों में ही नहीं दी जा सकती। उसके लिए निरन्तर प्रयत्न की आवश्यकता है। इस पर भी केवल शिक्षा दे देना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उसे क्रिया में परिणित करने के लिए उचित परिस्थिति का होना भी अनिवार्य है।

परन्तु नैतिक शिक्षा का आधार किस पर हो इस ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। सरकारी शिक्षा प्रणाली में तो धार्मिक सहिष्णुता का ढोंग रच इसे भुलाया ही गया है परन्तु दुख इस बात का है कि वर्तमान असहयोग आन्दोलन के परिणामस्वरूप जो जातीय शिक्षणालय स्थापित किए जा रहे हैं उनमें भी इस सिद्धान्त की उपेक्षा की जा रही हैं।

वह आधार क्या है ? निःसन्देह, वह आधार ब्रह्मचर्य का है। ब्रह्मचर्य-रक्षा के साधन और उपाय पर जो नैतिक शिक्षा ध्यान नहीं देती वह निःसत्व है। जिस प्रकार नैतिक शिक्षा के बिना साधारण शिक्षा निर्जीव है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य रक्षा के बिना नैतिक शिक्षा भी जड़ है, खोखली है और सच है। यह बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए कि वह आदमी बनावटी नीतिमान है, झूठा सदाचारी है, दम्भी धार्मिक है या ब्रह्मचारी नहीं है। जिसमें ब्रह्मचर्य रक्षा नहीं की वह धमकती दुनिया की आँच में उसी प्रकार पिघल जाएगा जिस प्रकार धूप में मोम की बत्ती; वह प्रलोभनों की प्रचण्ड वायुवेग के सामने उसी प्रकार बिछ जाएगा जिस प्रकार आँधी के सामने वृक्ष। उस समय उसकी नैतिक शिक्षा झूठे मित्र की तरह धोखा दे जाएगी।

इसी आवश्यकता को अनुभव करके गुरुकुल की स्थापना की गई है। इस अनुपेक्षणीय और अपरिहेय न्यूनता को पूर्ण करनेवाली भारत में इस समय यदि कोई संस्था है तो वह गुरुकुल ही है। गुरुकुल ही ऐसी संस्था है जिसका नहीं अपितु मुख्यतम उद्देश्य ब्रह्मचर्य-रक्षा है। इसी प्रसंग में हम आधुनिक राष्ट्रीय शिक्षा के संचालकों को यह चेतावनी दे देना चाहते हैं कि यदि उन्होंने भी अपने शिक्षा क्रम में इस आवश्यक प्रश्न की ओर समुचित ध्यान न दिया तो कुछ भी वर्षों के भीतर, हम यह वेदनापूर्ण भविष्यत् वाणी करने पर बाधित हैं, उनके चलाए हुए विद्यालय और महाविद्यालयों की अनूप योग्यता प्रकट हो जाएगी और तब उन संस्थाओं का यही दुखमय अन्त होगा जो आजकल सरकारी शिक्षणालयों का हो रहा है।

भारतीय जनता यदि यह अनुभव करती है कि ब्रह्मचर्य-रक्षा के बिना कोई नैतिक शिक्षा वा साधारण-शिक्षा अपना लक्ष्य पूरा नहीं कर सकती तो उसे गुरुकुल की तन, मन, धन से सहायता करने में कोई कसर नहीं छोड़नी चाहिए।

[श्रद्धा, 28 जनवरी, 1921]

काजी की दौड़ मस्जिद तक

हमारे कुछ देशभक्त सरकार की वर्तमान नीति और उसके कार्य से अत्यन्त असन्तुष्ट हैं। वे यह जानते हैं कि ये दोष किसी व्यक्ति विशेष के नहीं अपितु इस पद्धति के ही हैं। वे यह भी समझते हैं कि इनके दूर करने का एकमात्र साधन सम्पूर्ण स्वराज्य ही है। यह सब अनुभव करने पर भी वे उसी मार्ग का अवलम्बन करते हैं जिसकी व्यर्थता कई बार सिद्ध हो चुकी है। इसका स्पष्ट प्रमाण उन प्रस्तावों से मिलता है जो नई कौंसिलों में रखे जानेवाले हैं। निःसन्देह इनमें कई प्रस्ताव बड़े उपयोगी और आवश्यक हैं परन्तु सरकार इनका क्या उत्तर देगी—यह पिछली कौंसिलों के वे देशभक्त सभ्य भी जानते हैं जो इनके उपाय के लिए कौंसिलों का ही मुँह देख रहे हैं। ऐसे महानुभाव, प्रतीत होता है, अपनी शिकायतों को दूर करवाने के लिए सरकारी फरियाद पर ही अभी तक भरोसा करते हैं।

[श्रद्धा, 28 जनवरी, 1921]

बदनाम होकर भी 'इज्जत'

बदनाम होकर भी इज्जत

रखने का पाठ यदि किसी ने सीखना हो तो वह नौकरशाही से सीख सकता है इसका ताजा उदाहरण पंजाब के डाकियों की हड़ताल से मिलता है। इज्जत क भूत उसे हड़तालियों की वेतन वृद्धि करने से रोकता है पर उसे अपना रौब भी रखना है—इसलिए वह नए आदमियों को 'सम्पूर्णता' (एफ्फीशिएन्सी) के नाम पर अधिक वेतन पर भी भरती कर रही है। परन्तु 'सम्पूर्णता' (एफ्फी, शिएन्सी) का यह ढोंग भी कहाँ तक पूरा हुआ है। यह हाल ही के दो उदाहरणों से स्पष्ट हुआ है। लाहौर के अंग्रेजी दैनिक पत्र 'ट्रिब्यून' के दफ्तर में पिछले दिनों एक बड़े लिफाफे में 16 ऐसे मनीआर्डर भरे हुए थे जो लुधियाने से लाहौर के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के नाम आए थे। फिर कई ऐसे खत थे जो इसी समाचार पत्र के दफ्तर में भेज गए थे, यद्यपि वे औरों के नाम थे। जैसे सम्पादक सिविल मिलिटरी गजेट, ट्रेफिक मैनेजर एन., डब्ल्यू-आर; इन्स्पेक्टर आफ स्कूल; सम्पादक लायल गजट; सम्पादक सिक्ख तथा अन्य कई बैंक और फौज के खत। इतना माल अपर्याप्त समझकर ही 'शायद' लखनऊ पोस्ट-आफिस से पोस्ट मास्टर लाहौर के नाम भेजा हुआ खत भी 'ट्रिब्यून' के कार्यालय भेज दिया गया था। इसी प्रकार अमृतसर से निकलनेवाले 'वकील' नामक अखबार के दफ्तर में एक व्यक्ति एक गीला बंडल लाया जो उसने मस्जिद के एक कूएँ में पाया था। खोलकर देखा गया तो उसमें खत थे। जिनमें से कई शहर के मशहूर आदमियों के नाम भी थे। कहा जाता है, 'सन्तोख सर' तालाब में से भी इसी प्रकार के कई बंडल मिले हैं। ईश्वर जाने, इस सम्पूर्णता (एफ्फीशिएन्सी) के नाम पर और कितने बंडल कुओं और तालाबों की भेंट किए गए होंगे। हड़तालियों की शिकायतों को दूर कर वापिस बुलाने की जगह सरकार इस तरह अपनी 'इज्जत' रख रही है।

मंन्त्रियों का वेतन एक रुपया !

नई काउन्सिलों में जहाँ एक सज्जन इस आशय का एक प्रस्ताव उपस्थित करनेवाले

हैं मन्त्रियों का वेतन 3 हजार रुपया से अधिक न हो वहाँ एक सज्जन ने एक रुपया वार्षिक वेतन रखे जाने का भी प्रस्ताव पेश किया है परन्तु इन दोनों में ही असहमत हैं। हम जो यह समझते हैं वशिष्ठ जैसे ही मन्त्री होने चाहिए जो जाति के रुपए में से एक पैसा लेना भी पाप समझते थे। मन्त्री जाति के सेवक हैं। निःस्वार्थ भाव से सेवा करते हुए उन्हें अपनी जेब भरने की कोई आशा नहीं करनी चाहिए।

बंगाल में भी सुध लो !

बंगाल के नेताओं के नागपुर—कांग्रेस से पूर्व तक अपना कुछ मत निश्चित नहीं किया था, इसीलिए वहाँ असहयोग आन्दोलन बहुत मन्द था। परन्तु कांग्रेस के बाद, अब इस आन्दोलन की सफलता के लिए उसमें यदि कोई प्रयत्न कर रहा है तो वह बंगाल ही है। पिछले सप्ताह के समाचारों से ज्ञात होता है कि कलकत्ता तथा अन्य शहरों के कालेजों का बहिष्कार किया जा रहा है। खास कलकत्ता में लगभग दो हजार विद्यार्थियों ने वर्तमान शिक्षा प्रणाली के साथ असहयोग कर दिया है। कलकत्ता की वकालत को परीक्षा में 600 में से केवल 60 विद्यार्थी शामिल हुए हैं।

[श्रद्धा, 28 जनवरी, 1921]

पंजाब की मोहनिद्रा

पंजाब की मोहनिद्रा अभी तक नहीं टूटी है। वीरों की भूमि में अभी तक कायरता और नपुंसकता के भाव काम कर रहे हैं। यह कैसी विचित्र बात है कि जिस पंजाब हत्याकांड के लिए न केवल भारत अपितु सारे संसार में हाहाकार मच गया, जिस पंजाब के विद्यार्थियों को सिर पर बिस्तरे रखवाकर 18 मील तक कड़ी धूप में चलाया गया, वही पंजाब अभी तक नौकरशाही के साथ सहयोग दे रहा है। पंजाब। जागो। अपना कर्त्तव्य समझो। इस हालत पर जरा शरम करो कि जलियाँवाला बाग में जिस अत्याचारी ने तुम्हारे साथ खूनी होली खेली, तुम अभी तक उसी के आँचल में मुँह छिपाए बैठे हो।

[श्रद्धा, 28 जनवरी, 1914]

शराब-मांस के साथ असहयोग

मांस और शराब आदि मादक द्रव्यों से क्या हानि होती है—इस पर बहुत विचार हो चुका है। निस्सन्देह धार्मिक दृष्टि के अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि हम सब प्रकार के मादक द्रव्यों के साथ असहयोग की नीति का अवलम्बन करें।

इस समय देश को धन की बहुत आवश्यकता है। स्वराज्य आन्दोलन के अतिरिक्त जो रचनात्मक कार्य हो रहा है, वह बिना पर्याप्त आर्थिक सहायता के नहीं चल सकता। हमने स्थान-स्थान पर जातीय विद्यालय और महाविद्यालय स्थापित करने हैं। बिना इनकी स्थापना के जातीय शिक्षा का प्रचार असम्भव है। तब उनके चलाने के लिए धन कहाँ से आएगा ? वकीलों को वकालत छोड़कर देश के कार्य में जुट जाने के लिए बाधित किया जा रहा है। कई स्थानों पर इस कार्य में सफलता भी हुई है पर जितनी आवश्यक है उससे अभी हम वहुत दूर हैं। अन्य कई कारणों के अतिरिक्त, इस क्षेत्र में उज्ज्वल सफलता दिखाई न देने का एक बड़ा कारण वकीलों का आर्थिक प्रश्न भी है। जब हम धन की कमाई का एकमात्र साधन छीन रहे हैं, तब उनकी और उन पर आश्रित अन्य पारिवारिक व्यक्तियों की उदर पूर्ति का समुचित प्रबन्ध करना भी हमारा ही कर्त्तव्य है। इसके लिए धन चाहिए। फिर देश के अशिक्षित जन समुदाय में राजनैतिक प्रचार की बहुत आवश्यकता है। स्वदेश के अतिरिक्त विदेश में भारत विषयक अज्ञान को दूर करने और प्रबल लोकमत पैदा करने के लिए भी प्रचार की आवश्यकता है। इसके लिए भी खासा पैसा चाहिए। इस प्रकार देश की अन्य भी कई आवश्यकताएँ हैं जो हम पर इस बात के लिए बल डाल रही हैं कि हम अपने व्यय के स्रोतों को संकुचित करें। जाति का यह अधिकार है कि वह अपने प्रत्येक सभ्य को सब प्रकार के अपव्यय रोकने के लिए बाधित करें।

आबकारी विभाग में सरकार को कई करोड़ों की आमदनी है। यह आमदनी कहाँ से होती है ? इस कुव्यसन के कीचड़ में फँसे हुए हमारे ही देश भाइयों का रुपया सरकारी खजानों को भरता है। यदि हम वह पैसा उधर न लगाकर देशहित के कार्यों में दे देवें तो हिसाब लगाया गया है, 20-25 करोड़ रुपया आसानी से बच सकता है। यदि इस राशि का आधा हिस्सा भी स्वराज्य कोष में जमाकर दिया

जावे तो कई विद्यालय, महाविद्यालय सुगमता से चल सकते हैं।

यह तो हुई शराब की बात। इसके साथ निकटतम सम्बन्ध रखनेवाला यदि कोई कुव्यसन है तो वह माँस है। पशुवध बढ़ जाने से भारत में घी दूध का कष्ट कितना बढ़ रहा है।, यह प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक अनुभव की बात है। माँसाहार से जो शारीरिक और मानसिक हानियां होती हैं, वे भी इस सम्बन्ध में नहीं भुलाई जा सकतीं। परन्तु इस फिजूलखर्च को दूर करने के लिए शराब माँस के अतिरिक्त हमें अन्य कुव्यसन भी छोड़ने होंगे। चुरुट और हुक्के के रूप में जो तम्बाकू पिया जाता है वह भी मादक है। हमारा लाखों रुपया इसी के द्वारा विदेश में प्रतिवर्ष खिंचा चला जाता है। आर्थिक दृष्टि के अतिरिक्त स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इसका दिमाग और छाती पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। परन्तु इसका प्रचार बहुत अधिक पाया जाता है। बड़े-बूढ़ों से लेकर कच्ची उम्र के नौजवान तक इसका प्रयोग करते हुए पाए गए हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि आर्यसमाजों के प्रधानमन्त्री और उपदेशक तक इस व्यसन से अछूत नहीं हैं। इस अव्यवस्था को शीघ्र ही दूर करना चाहिए।

केवल इतना ही नहीं—इन कुव्यसनों के अतिरिक्त हमारे अन्य जो अनावश्क खर्च हैं, वे भी कुछ समय के लिए बन्द करते हुए, उनकी बचत स्वराज कोष में दे देनी चाहिए। अर्थात् भोजन्न वस्त्र, लिखने-पढ़ने का सामान, पुस्तक, मेज-कुर्सी इत्यादि फर्नीचर, तेल, साबुन, घोड़ा गाड़ी या बहुत अधिक रेलवे सफर, होटल, चाय बिस्कुट और पान आदि ज्याफलों और आनन्द यात्रा (प्लेश्ज्यइर-ट्रिप्स) इत्यादि जो आमोद-प्रमोद के साधन हैं, वे सब बन्द कर देने होंगे। फिर विवाह उत्सव, निमन्त्रण, सहभोज, श्राद्ध, संस्कार, पूजा-पाठ आदि पर उचित मात्रा से अधिक जो धन खर्च किया जाता है, उसका भी अन्त करना होगा। इन सबसे जो लाभ होता है व जो इनकी उपयोगिता है, उस पर हम कुछ भी विवाद नहीं करना चाहते। हम तो यह कहते हैं कि हमें स्वराज्य प्राप्त करना है। स्वराज्य प्राप्ति में धन की बहुत अधिक आवश्यकता है। यह एक प्रकार का महायुद्ध है। जिस प्रकार शत्रु को पराजित करने और देश की स्वतन्त्रता को स्थिर रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रियतमों और निकटतमों का निस्संकोच, बलिदान कर देता है, इसी प्रकार हमें भी इस स्वराज्य यज्ञ में अपने आमोद-प्रमोद और भोग-विलासों की आहुति देने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार दुर्भिक्ष के समय व्यक्ति एक पैसे, नहीं-नहीं पाई को भी बचाने की कोशिश करता है, उसी प्रकार हमें भी, इस समय यही करते हुए अपनी सारी बचत स्वराज्य फतह में देनी होगी।

इस प्रकार देश की आर्थिक समस्या को हम बहुत कुछ दूर कर लेंगे। परन्तु इससे हम आत्म संयम का एक अमूल्य पाठ सीख लेंगे। इस आत्म संयम का देश के नैतिक चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ेगा—इस पर हम अगले अंक में विचार करेंगे।

[श्रद्धा, 11 फरवरी, 1921]

गुरुकुल का कायापलट

उचित परिवर्तनों का प्रभाव

गुरुकुल की प्रबन्धकारिणी, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अंतरंग सभा ने गुरुकुल कांगड़ी के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया है–

(1) आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने गुरुकुल की स्थापना धर्म प्रचार के लिए मानसिक और आत्मिक शक्तियों से युक्त वेदों के विद्वान तैयार करने के लिए जो वेदों की सच्चाइयों को फैलानेवाले हों, और प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था के पुनः उद्धार के लिए की है।

उसके पीछे संस्था में विस्तार हुआ और शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकता के बढ़ने से अनेक परिवर्तन किए गए।

शिक्षा सम्बन्धी समता को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि गुरुकुल को ऐसे विश्वविद्यालय के रूप में परिणित किया जाए जिसके साथ मिलते-जुलते विषयों से भिन्न-भिन्न महाविद्यालय सम्बन्ध हों।

इसलिए निश्चित हुआ कि गुरुकुल की वर्तमान महाविद्यालय एक ऐसे वेद महाविद्यालय के रूप में परिणत किया जाए, जिसका मुख्य उद्देश्य वेदों के विद्वान और प्रचारक बचाना है। उस महाविद्यालय पर सब तरह का स्वतत्व और उत्तरदायित्व आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का रहेगा।

एक 'विद्या सभा' नाम की एक नई सभा बनाई जावे, जो अन्य महाविद्यालयों को चलावे, और विश्वविद्यालय के समस्त कार्यों का प्रबन्ध करे। यह सभा दो वर्षों में बनाई जाए, तब तक आर्य प्रतिनिधि सभा की विश्वविद्यालय के कामों का प्रबन्ध करें।

(2) निम्नलिखित सभ्यों की एक उपसभा उपर्युक्त प्रस्तावों के अनुसार इसके नियम, उपनियम, पाठ विधि आदि पर विचार करने के लिए बनाई जावे। यह सब उपसभा एक माह के अन्दर-अन्दर अपनी रिपोर्ट अंतरंग सभा के सामने पेश करे।

(1) प्रधान राम कृष्ण जी

(2) विश्वम्भर नाथ जी मन्त्री

(3) प्रो. रामदेव जी
(4) महाकृष्ण जी
(5) प्रो. शिवदयाल जी
(6) पंडित इन्दू जी।

(3) जब तक पूरी स्कीम बने, तब तक गुरुकुल के अधिकारियों को अधिकार दिया जावे कि वह एक ऐसी प्रवेशिका परीक्षा के नियम बनाए कि जिसमें सफलता पाकर वर्तमान अन्य शिक्षणालयों के विद्यार्थी गुरुकुल में प्रविष्ट हो सकें। नियम आदि बनकर, स्वीकृत कर अंतरंग सभा बहुत शीघ्र नियम की सार्वजनिक घोषणा दे देगी।

इस प्रस्ताव में गुरुकुल के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें निश्चित की गई हैं—

(1) गुरुकुल को एक विश्वविद्यालय का रूप दे दिया जाए।

(2) उनका प्रबन्ध का आर्यविद्या सभा करेगी जो दो वर्ष के अन्दर-अन्दर बना दी जाएगी।

(3) जब तक वह विद्या सभा न बनेगी तब तक आर्य प्रतिनिधि सभा ही विश्वविद्यालय को चलाएगी।

(4) उस विश्वविद्यालय के साथ भिन्न-भिन्न कालेज सम्बद्ध होंगे उनमें एक वेद विद्यालय पृथक होगा—जो उसी विश्वविद्यालय से सम्बद्ध होगा, परन्तु उसका आर्थिक स्वामित्व प्रतिनिधि सभा अपने पास रखेगी। शेष सब कालेज विद्या सभा के सुपुर्द कर दिए जाएँगे;

(5) बाहर के विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी भी गुरुकुल की प्रवेशिका परीक्षा देकर वर्तमान गुरुकुल महाविद्यालय में प्रविष्ट हो सकेंगे।

यह परिवर्तन देखने में सामान्य प्रतीत होते हैं, परन्तु वस्तुतः इनसे गुरुकुल का रूप ही बदल जाएगा। इसके परिणाम उत्पन्न होंगे। एक तो यह कि गुरुकुल सर्व सामान्य प्रजा के लिए उपयोगी हो सकेगा, और दूसरा यह कि विश्वविद्यालय के जुदा होने से वैदिक अनुशीलन और आर्य सिद्धान्त की ओर विशेष ध्यान दिया जा सकेगा। इससे दोनों प्रकार की सम्मतियाँ रखनेवाले लोगों का उद्देश्य सिद्ध हो जाएगा। गुरुकुल के मौलिक दोनों उद्देश्य भिन्न-भिन्न प्रबन्ध में परन्तु एक ही विद्या सभा के निरीक्षण में पूर्ण होते जाएँगे। यह मानकर आर्य जनता को और भी तसल्ली होगी कि अतरंग सभा का यह भी विचार ज्ञात हुआ है कि प्रस्तावित विश्वविद्यालय का केन्द्र कांगड़ी में ही रहेगा।

इस प्रस्ताव को स्वीकार करने में अन्तरंग सभा ने बड़ी बुद्धिमता से कार्य लिया है। इस प्रस्ताव ने एक और भी विवाद को शान्त कर दिया है। प्रायः उद्देश्य के सम्बन्ध में विवाद उठा करता था। सभा का प्रस्ताव इस विषय में कहता है—

'आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने गुरुकुल की स्थापना धर्म के प्रचार के लिए मानसिक और आत्मिक शक्तियों से युक्त वेदों के ऐसे विद्वान तैयार करने के लिए जो वेदों की सच्चाइयों के फैलानेवाले हों और प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था के पुनः उद्धार के लिए की है।'

(1) वर्ण व्यवस्था का उद्धार
(2) आश्रम व्यवस्था का उद्धार
(3) वेदों को विद्वान उत्पन्न करना
(4) और उपदेशक तैयार करना।

यह चार गुरुकुल के उद्देश्य थे। हर्ष की बात है कि बीच में अनेक परिवर्तनों के होते हुए भी गुरुकुल भी इन चार उद्देश्यों से विचलित नहीं हुआ।

अब सभा ने जो परिवर्तन प्रस्तुत किया है, आशा है कि गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव के समय उस पर आर्य प्रतिनिधि सभा में अन्तिम विचार हो जाएगा और नया विक्रमी संवत्सर अपने साथ गुरुकुल के सम्बन्ध में नई आशा और नए उत्साह को लाएगा।

[श्रद्धा, 25 फरवरी, 1921]

अब सँभालने का यत्न कीजिए

भारत की अंग्रेजी सरकार के पिछले दुर्व्यवहारों के विरुद्ध प्रतिवाद करने के लिए भारतवासियों ने जो असहयोग के आन्दोलन को उठाया था, वह अब तक एक विशेष अवस्था तक पहुँच गया है। वह अवस्था यह है कि देश-भर में असहयोग का शब्द गूँज गया है। प्रजा के अशिक्षित से अशिक्षित भाग में भी सरकार के अन्याय के विरुद्ध सात्त्विक कोप और उसे दूर करने का दृढ़ संकल्प पाया जाता है। लोगों के हृदयों से सरकारी नौकरी का महत्व उतर गया है। वह उसे स्वर्ग का द्वार मानते थे। अब प्रजा को ज्ञात हो गया है कि वह स्वर्ग का नहीं नरक का ही द्वार है। वकीलों का पहले अबाधित राज्य था—अब वकील अपनी वकालत पर शर्मिन्दा है। और उसे जारी रखने के लिए बहाने ढूँढ़ते हैं। बहुत लोग देश के लिए कष्ट सहने को उद्यत हैं जो सहने से घबराते हैं, वह भी मानते हैं कि यह उनकी निर्बलता है। असहयोग की तह में जो धार्मिक सिद्धान्त है वह इतना उच्च है कि उसके शत्रु भी यह नहीं कह सकते कि असहयोग बुरा है।

सारांश यह कि असहयोग का सामान्यतः भारत पर उत्तम ही प्रभाव हुआ है।

इस समान्य प्रभाव के अतिरिक्त जो विशेष फल निकले हैं वह यह हैं। लोगों का ध्यान सरकारी कचहरियों से ढूँढ़कर पंचायतों की ओर खिंचा है। लोगों ने सरकारी स्कूलों और काबिलों की शिक्षा की निकृष्टता समझकर राष्ट्रीय शिक्षा की ओर ध्यान दिया है। बहुत-से लोग जो अब तक सरकारी नौकरी की तलाश में थे अब किसी स्वतन्त्र पेशे की धुन में हैं। यह तो परिणाम ऐसे हैं, जिन पर असहयोग के नेता उचित अभिमान कर सकते हैं। इस आन्दोलन से पूर्व पहले तो सरकारी नौकरी, सरकारी शिक्षा और सरकारी कचहरी की माया का असली रूप समझानेवाले कम थे, अगर कुछ थे भी तो उनकी बात किसी की समझ में नहीं आती थी। लोग उन्हें बेवकूफ समझते थे, या पागल। आज हरेक वेदी पर राष्ट्रीय न्यायालय राष्ट्रीय सेवा के गीत सुनाई देते हैं। यह असहयोग के आन्दोलन का उत्तम परिणाम है। इससे कोई भी समझदार आदमी इन्कार नहीं कर सकता।

यह सब कुछ हो गया है—इसे शत्रु भी स्वीकार करेंगे। जो सरकारी

अशिक्षणालयों के दोष दर्शन का उद्देश्य था वह पूरा हो चुका है—अब समय आ गया है कि देश के नेता इस आन्दोलन से उत्पन्न हुए जोश को कार्य रूप में परिणित करें। सरकारी अदालतों के प्रतिघृणा उत्पन्न हो गई। अब समय है कि उनके स्थान में पंचायतें कार्य करने लगें। सरकारी स्कूलों में विद्यार्थी निकल आए, अब उनके पढ़ाने के लिए राष्ट्रीय शिक्षणालय बनने चाहिए। जिस माँग को असहयोग के आन्दोलन ने उत्पन्न किया है, समय आ गया है कि जो पूरा करने का यत्न किया जाए।

यह समझना ठीक नहीं है कि यह समझा देने से काम चल जाएगा कि मुकदमे करना अच्छा नहीं या चर्खा कातने से जो शिक्षा होती है वह सरकारी शिक्षा से कहीं अच्छी है। यह समझाने को तो बात अच्छी है, पर व्यवहार में इसमें कुछ नहीं हो सकता, मनुष्य प्रकृति केवल विशुद्ध तर्कना से सन्तुष्ट नहीं हो सकती। उसकी माँग किसी स्थूल वस्तु से ही पूरी हो सकती है।

केवल वर्तमान संस्था को तोड़ने का यत्न तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक थोड़े-थोड़े समय के पीछे हम प्राप्त किए हुए परिणामों को दृढ़ न करते जाएँ। चतुर सेनापति वही कहा जा सकता है जो जीते हुए देश के शासन का प्रबन्ध करके तब आगे बढ़ने का साहस करे। असहयोग ने जितना मैदान जीत लिया है, आवश्यक है कि उसे पक्का करके तब आगे पग उठाया जाए। इस कारण हमारी देश के नेताओं से आग्रहपूर्वक प्रार्थना है कि वह अब कुछ समय राष्ट्रीय अदालतों और राष्ट्रीय शिक्षणालयों की दृढ़ता और पूर्ति के लिए दें। ऐसा नहीं कि आन्दोलन ही आन्दोलन करने में अब बने हुए शिक्षणालय नाम मात्र रह जाएँ। यदि यह आन्दोलन को साँस देकर उस कार्य को पक्का न किया गया जो कुछ अंश तक हो चुका है उससे आगे के आन्दोलन में बहुत कठिनता होने की सम्भावना है।

[श्रद्धा, 25 फरवरी, 1921]

जाति और देश की जिम्मेवारी

'श्रद्धा' के पिछले अंक में अंतरंग सभा (आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब) ने गुरुकुल के विषय में जो प्रस्ताव स्वीकार किया है वह प्रकाशित किया जा चुका है। उसके पढ़ने पर यह पता चलेगा कि गुरुकुल अभी तक जाति और देश को जितना लाभ पहुँचा सकता था, अब उससे कहीं बढ़कर पहुँचा सकेगा। इस प्रकार के परिवर्तनों से गुरुकुल का उद्देश्य विस्तृत हो गया है। घटा नहीं। पहले वेद और शास्त्रों के ही विद्वान तैयार करने का उद्देश्य था परन्तु अब गुरुकुल अन्य विज्ञानों की शिक्षा के साथ-साथ आयुर्वेद, कृषि और शिल्प की भी शिक्षा देगा। केवल इतना ही नहीं जो विद्यार्थी प्रारम्भ से ही गुरुकुल में शिक्षा पा रहे हैं उनके सिवाय अन्य विद्यार्थी भी प्रवेश परीक्षा में उत्तीर्ण होकर कालेज विभाग में प्रविष्ट हो सकेंगे। अब विश्वविद्यालय कई कालेजों में विभक्त हो जाएगा। इन सब परिवर्तनों से कार्यकर्ताओं का उत्तरदायित्व जितना बढ़ जाएगा उसका अनुमान लगाना कुछ विशेष कठिन नहीं है। कार्यकर्ता अपने कार्यभार और जवाबदेही को तभी निवाह सकेंगे जब आर्य जनता भी उनकी हर तरह सहायता करने को तैयार हो। इस समय बढ़ती हुई जिम्मेदारी सिर्फ गुरुकुल के कार्यकर्ताओं की ही नहीं अपितु आर्य जाति पर भी उसका बहुत भार है। ये परिवर्तन देश और जाति की वर्तमान माँग और दशा को ध्यान में रखकर किए जा रहे हैं। अतः प्रत्येक देशवासी का कर्त्तव्य है कि वह अपनी जिम्मेदारी को समझता हुआ विश्वविद्यालय की तन, मन और धन से सहायता करे।

गुरुकुल के वार्षिकोत्सव की सूचना पहले ही विज्ञापनों और समाचार पत्रों द्वारा प्रत्येक सज्जन को दी जा चुकी है। प्रतिवर्ष कुलवासियों को अपना सन्देश उत्सव के समीप जनता को सुनाना पड़ता है। इस वर्ष भी हम तो अपनी ओर से प्रत्येक जातीय भाई को यह सन्देशा सुनाने में कुछ उठा नहीं रखेंगे, परन्तु जब तक जाति अपनी वस्तु की आप सुध न लेगी तक तक कुछ नहीं बन सकता। आज एक कोने से दूसरे कोने तक जातीय शिक्षा की पुकार सुनाई दे रही है। अब जातीय शिक्षा का महत्त्व समझाने और इसके नाम पर अपील करने की आवश्यकता नहीं रही। प्रत्येक बाल और वृद्ध, स्त्री और पुरुष की जरूरत को स्वयं

अनुभव कर रहा है। इस आवश्यकता को पूरा करनेवाला एकमात्र गुरुकुल ही सबसे पुराना शिक्षणालय है। बार-बार दोहराना व्यर्थ है कि इसका कार्यक्षेत्र अब कितना बढ़ गया है। अपनी बहुत-सी शाखाओं के साथ-साथ कई कालेजों को सँभालना भी गुरुकुल का काम हो जाएगा। ये सब बिना पर्याप्त धन संग्रह के नहीं हो सकता।

वर्ष के बीच में गुरुकुल के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता श्री स्वामी जी बीस लाख की आवश्यकता जतला चुके हैं। अभी तक देश के उसकी ओर भी ध्यान नहीं दिया प्रतीत होता। हम अब तक केवल आर्य सामाजिक जगत से अपील किया करते थे परन्तु अब गुरुकुल सारे देश का है। जो अन्य विज्ञानों की शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं उनकी माँग पूरी करने का भार गुरुकुल ने अपने ऊपर लिया है। आज आर्यसमाज से बाहर के जगत का भी गुरुकुल का पालन-पोषण करना कर्त्तव्य हो गया है। हमें आशा और विश्वास है कि हमारी अपील बहरे कानों पर न पड़ेगी।

दानी और धनी सज्जनों को नाम कमाने और देश सेवा करने का इससे इच्छा अवसर मिलना दुर्लभ है। कोई भी धनी सज्जन 30 सहस्र इकट्ठा देकर अपने नाम से किसी एक विषय की सीट नियम करा सकते हैं। नए कालेजों के लिए नए भवन बनवाने का प्रयोजन होगा। उन भवनों को बनवानेवाले सज्जनों का नाम पत्थर पर खुदवाकर लगवा दिया जाएगा। हमें याद है कि कई धनी महाशय आयुर्वेद का शिल्प के लिए दान करने की अपनी अभिलाषा उत्सवादि के समय प्रकट कर चुके हैं। अब उनको अपनी अभिलाषा फूलती-फलती देखने का समय आ गया है। उनका कर्त्तव्य अब दिल खोलकर धन द्वारा सहायता करना ही है।

इस वर्ष उत्सव पर बहुत-से मुसलमान सज्जनों के भी पधारने की सम्भावना है। वह भी यथाशक्ति गुरुकुल की सहायता करेंगे। यदि वे अपने मुसलमान भाइयों से इस काम में पीछे रह गए तो हिन्दू जाति के लिए यह बहुत लज्जा की बात होगी। अब उत्सव में बहुत देर नहीं है। उत्सव तक हम पाठकों से केवल दो बार भेंट कर सकेंगे। उन्हें स्वयं अब तैयार हो जाना चाहिए। जब आपके बालक अशिक्षित हैं या दासता की शिक्षा पा रहे हैं तो आपका किसी भी प्रकार के सुख में व्यय करना पाप है। कम-से-कम उत्सव तक यथाशक्ति अपने प्रत्येक व्यय में गुरुकुल की सुध न भूलिए। आप जब गुरुकुल पधारें तो संकल्प करके चलें कि इतना धन हम जाति शिक्षा के लिए व्यय करेंगे। यदि गुरुकुल जातीय माँग को पूर्ण करने में धनाभाव के कारण असमर्थ रहा तो इसका दोष जाति और देश पर ही होगा। अब दूसरों की ओर न देखकर हरेक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार कुछ-न-कुछ इकट्ठा करना शुरू कर देना चाहिए। हमें आशा है कि आए सज्जनों में से इस उत्सव पर कोई भी इस जातीय यज्ञ में कुछ-न-कुछ आहुति दिए बिना नहीं लौटेंगे।

[श्रद्धा, 4 मार्च, 1921]

क्या हार जाओगे ?

सर यंग इस्बैंड ने हिमालय की सबसे ऊँची चोटी पर चढ़ने और उसकी खोज करने के लिए एक खोजनहारों का दल तैयार किया है। जो शीघ्रता से भारत में आकर कार्य प्रारम्भ करेगा। उसके लिए हजारों रुपया विलायत में एकत्र किया गया है, कार्य है भारत के एक पर्वत की ऊँचाई और स्थिति जानना और कार्य उठाती है एक विदेशी सभा। वहीं के लोग हजारों रुपया व्यय करते हैं और कई कीमती जीवन कार्य के अर्पण करते हैं। यह दशा है, उन लोगों की, जिन्होंने अपने उत्साह साहब और धैर्य से भूमि के अधिकांश पर अपना राज्य फैलाया हुआ है। जिनकी आज्ञा का शब्द हरेक समुद्र के किनारे पर सुनाई दे रहा है।

दूसरी ओर हमारी हालत देखिए।

विदेशी पहाड़ की नहीं अपने पहाड़ की ऊँचाई जानने का भी कौन यत्न करता है। यह तो एक बहुत साधारण कार्य है—जब इसमें यह दशा है तो फिर भारी परिश्रमों का क्या कहना है। जहाँ जड़ पत्थरों की ऊँचाई नहीं पानी, अपितु चेतन आत्माओं की दशा से वास्ता है। भारत के जड़ पदार्थों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने और परीक्षण करने के लिए विदेशी लोग लाखों रुपया व्यय करने को तैयार होते हैं, परन्तु धन्य हैं हम लोग जो चेतन आत्माओं के सम्बन्ध में खोज करने का परीक्षण करके कार्य में दो चार लाख रुपया व्यय करके सोचते हैं कि हमने असाधारण यत्न कर दिया है। आवश्यक है कि सफलता की देवी हमारे सम्मुख हाथ जोड़कर खड़ी हो जाए। यदि सफलता की देवी विलम्ब करे, या हमें भ्रम हो कि विलम्ब कर रही है तो हम हाथ-पाँव छोड़कर मातम मनाने के लिए बैठ जाते हैं।

गुरुकुल की स्थापना आर्यसमाज के इस उद्देश्य से की थी कि यह शास्त्रों में विहित प्राचीन शिक्षा-प्रणाली को समयोचित स्थिति के अनुसार प्रयोग में लाकर देखे और परीक्षण करके संसार को दिखाए कि वह कितनी उत्कृष्ट है। आर्यसमाज ब्रह्मचर्य की महिमा गाता है, और चारों आश्रमों का आधार उसी को बताता है। संसार जब तक उसके उपदेश पर विश्वास नहीं कर सकता जब तक वह उसका परीक्षण करके न दिखा दे। आर्यसमाज वेद के सदाचार सम्बन्धी सिद्धान्तों का गौरव

संसार को सुनाता है। दुनिया सिद्धान्तों को तभी स्वीकार कर सकते हैं जब उसे कहीं व्यवहार में आता देख ले। गुरुकुल एक प्रयोगशाला और एक परीक्षणशाला है। जिसमें जीवित जागृत आत्माओं को विशेष नियमों के प्रयोगों में डालकर देखा जाता है कि परिणाम कैसा उत्पन्न होता है। वेद का आदेश है और आचार्यों का कथन है कि वह नियम जिनके प्रयोग में आत्माओं को लाया जाता है संसार का उद्धार करनेवाले हैं। जिस संसार ने सदियों तक गिरावट ही गिरावट देखी है उसके सुधार का परीक्षण एक दो दिन या दस-बीस सालों में नहीं हो सकता। उसके लिए सदी भर भी परीक्षण करना पड़े तो आश्चर्य नहीं। परन्तु हम अधीर हैं। हम चाहते हैं कि जिस जाति का सदियों तक अधःपात हुआ है, बीस साल में उसका नया संस्करण निकल जाए, जो बीमार सालों से खटिया पर पड़ा क्षीण हो रहा है, वह एक घंटे में उठकर भागने लगे।

यह बात निश्चित हो चुकी है कि भारत की भविष्य सन्तान का पुनर्जीवन यदि किसी शिक्षा प्रणाली से सम्भव है तो वह गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ही है। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की विशेषताओं की जिन सच्चाइयों को आज से पूर्व भारत के बुद्धिमान और नीतिमान उपहास या उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे, आज वह उनके सामने सिर झुका रहे हैं। समय सिद्ध कर रहा है कि गुरुकुल के संचालकों ने भारत संतान को भारतीय मनुष्य बनाने का जो उपाय सोचा था, वह सर्वोत्तम उपाय है। उपाय यही है—साधन यही है—सफलता देश में हो या शीघ्रता से यह कुछ दशाओं पर निर्भर रखता है, और कुछ उस यत्न की स्थिरता पर निर्भर रखता है जो हम कर रहे हैं।

प्रश्न यह है कि एक ऐसे भारी परीक्षण को आरम्भ करके हम शीघ्र ही उत्साह हीन हो जाएँगे ? क्या संसार के उद्धार का बीड़ा उठाकर हमारी गर्दनें थोड़ी ही देर में झुक जाएँगी ? क्या इतने बड़े-बड़े दावे-भर के दो चार चोटों में ही हमारे हृदय मुर्दा हो जाएँगे ? यदि इन प्रश्नों का उत्तर हाँ में है तो भारत के भविष्य में निराश हो जाना चाहिए। और यदि नहीं में है तो गुरुकुलोत्सव पर आर्यपुरुषों का उत्साह उसमें साक्षी होगा।

[श्रद्धा, 18 मार्च, 1921]

आर्यसमाज की भावी नीति

भारतवर्ष में जिस समय आर्यसमाज की नींव रखी गई थी, उस समय देश की जो स्थिति थी वह बहुत कुछ बदल गई है। क्या उस परिवर्तन के साथ आर्यसमाज की कार्यनीति में कोई परिवर्तन करना आवश्यक है ? एक प्रबल पक्ष है कि स्थिति के परिवर्तनों के साथ कार्य नीति में परिवर्तन होना चाहिए। बहुत-से विचारशील लोग यह समझते हैं कि और सब संस्थाएँ अस्थिर और चंचल हैं। आर्यसमाज वैदिक धर्म का प्रचार करनेवाला है। और वैदिक धर्म स्थिर है। स्थिर को अस्थिर के लिए बदलने की आवश्यकता नहीं। आर्यसमाज को एक चट्टान की भाँति दृढ़ होना चाहिए जिस पर लहरें आएँ तो टकराकर वापिस चली जाएँ।

परन्तु हम समझते हैं कि जो लोग कुछ गहरी नजर से देखते हैं वह जान सकते हैं कि जो लोग स्थिति में परिवर्तन आने के कारण कार्यनीति में परिवर्तन चाहते हैं वह वैदिक धर्म को अस्थिर नहीं बनाना चाहते हैं और न आर्यसमाज के मूल सिद्धान्तों को ही परिवर्तनशील बनाना चाहते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि गत चालीस सालों में भारतवर्ष की स्थिति में बहुत परिवर्तन आया है। इस परिवर्तन के अनेक कारणों में से एक आर्यसमाज का कार्य भी है। आर्यसमाज के कार्य तथा अन्य अनेक कारणों से भारत की क़ायापलट हो गई है। चालीस वर्ष पहले जिसे घोर नास्तिकता समझा जाता था आज उसे सामान्य तौर पर आस्तिकता कहकर वर्णन किया जाता है। आधी सदी पूर्व के साधु आज के गँवार और उस रोज के गंवार आज के साधु बने हुए हैं। जाति जिन बातों को सुनने में पाप मानती थी, आज घर-घर में उसका जाप सुनाई देता है।

देश की स्थिति में भारी परिवर्तन हो गया है। साथ ही साथ धर्मों की हालत भी बहुत-कुछ बदल गई है। अब वह मतमतान्तर, जिनका खंडन करके वैदिक धर्म की फिर से स्थापना का विचार महर्षि दयानन्द ने किया था, अपना रूप बदल रहे हैं। और तर्क और विवेक का चोला पहनकर जनता के हृदय को जीतने का यत्न कर रहे हैं। भारत के और संसार के रोगों की दशा में परिवर्तन आ गया है। क्या आवश्यक नहीं कि रोग की दशा बदलने के साथ-साथ नुस्खा भी बदल दिया जाए। मतमतान्तरों ने अपनी तर्क शैली और स्थिति बहुत कुछ बदल दी है।

क्या यह बुद्धिमता नहीं है कि हम उसकी ओर ध्यान देते हुए कार्यप्रणाली को भी बदलें ? दुश्मन ने दूसरा रास्ता पकड़ लिया है, क्या हमें कोई अक्लमन्द कहेगा यदि हम उस समय पुराने सीधे रास्ते पर भागे जाएँ और दिल में समझें कि हम शत्रु को पकड़ पाएँगे।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हम आर्यसमाज के सिद्धान्तों में परिवर्तन की स्कीम पेश कर रहे हैं, नहीं। हम तो केवल इस बात पर जोर दे रहे हैं कि सिद्धान्त एक बात है, कार्य-नीति दूसरी बात है। यह सत्य है कि दो और दो चार होते हैं। इसे बदलने की जरूरत नहीं है, परन्तु दूसरे को यह सच्चाई बताने के कई उपाय हो सकते हैं। दो पत्थर इकट्ठे रखकर सिद्ध किया जा सकता है। केवल शब्द से याद कराया जा सकता है, या यह सिद्ध करने का यत्न हो सकता है कि 2 + 2 तीन या चार नहीं होते। बताने के उपाय अनेक हैं—पर सच्चाई एक है। वैदिक धर्म की सच्चाइयाँ स्थिर हैं—पर इस समय यह विचार करना है कि उनके प्रचार करने का जो उपाय अब तक हमने अवलम्बन किया है, उसे रखना ठीक है या उसमें कोई भेद आना चाहिए। स्थिति बदल जाने पर भी जो मनुष्य कार्यनीति को बदलने का यत्न नहीं करता वह नाकामयाब होता है। क्योंकि कामयाबी उसका नाम है कि लोगों की दशा पर अधिक-से-अधिक असर डाला जा सके। जब वर्तमान दशा की ही परवाह नहीं की, तब उस पर असर क्या डाला जाएगा ? कार्य एक बात है—कार्यनीति दूसरी बात है। दोनों को एक-दूसरे से नहीं मिला देना चाहिए। सिद्धान्तों को मजबूती से पकड़े रहो, पर उसके निज के सर्वोत्तम उपायों पर सदा विचार करते रहो—यह बुद्धिमता का बहुत आवश्यक पाठ है। जो सज्जन यह विचार पेश करते हैं कि आर्यसमाज अपनी कार्यनीति में कुछ परिवर्तन न करे, वह आर्यसमाज के संगठन को और उसके क्रम को उलझा देते हैं। लहर में बह जाना सिद्धान्तों की दृष्टि से बुरा है, परन्तु गर्मियों में केवल इसलिए वही कपड़ा पहने रहना कि सर्दियों में पहना था और सर्दियों में केवल इसलिए जालीदार कुर्ता पहने फिरना कि यह गर्मियों के लिए काफी था, कहीं की बुद्धिमत्ता नहीं है।

[श्रद्धा, 8 अप्रैल, 1921]

परिशिष्ट

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे

ہم سب آپسمیں مثل بہاؤ کے برتیں " " ایشوریہ نیم کا پالن "

نیم

اخبار

ست دھرم پرچارک

اُپدیش

اُردو سद्धर्म प्रचारक के मुख पृष्ठ की छवि।

نمبر ۲۵ | مطبوعہ ۲۸ ستمبر ۱۸۹۴ء مطابق ۱۴ اسوج سنہ ۱۹۵۱ جالندھر | جلد ۶

ایڈیٹوریل نوٹس

उर्दू सद्धर्म प्रचारक के मुख पृष्ठ की छवि।

Registered No. L. 39

❀ ओ३म् ❀

सद्धर्म-प्रचारक

THE SADDHARMA PRACHARAK.

यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति । ऋक्० ॥

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । यजु० ॥

सम्पादक-महाशय मुन्शीराम
मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल ।

सहायक सम्पादक-महाशय ब्रह्मानन्द
भूतपूर्व सम्पादक ... आर्य्यावर्त

श्रीमद्दयानन्दाब्द २४

भाग १८ | ... शुक्रवार ... फाल्गुण सं० १९६२ ता० ८ मार्च ... ई० | संख्या ४८

पृष्ठ	विषय सूची		नाम लेखक
३	संसार की गति	....	सम्पादक
५	संसार समाचार पर टिप्पणी		सम्पादक
८	गुरुकुलोत्सव	....	मुख्याधिष्ठाता
१०	धर्म्मोपदेश	....	सम्पादक
११	अन्तःकरणस्य संस्कार	....	सहायक सम्पादक
१२	शङ्का का समाधान	....	सम्पादक
१३	स्त्री शिक्षा का आदर्श	....	पं० व्रजनाथ बी०ए०
१५	... देवनागरी	....	एक ब्राह्मण
१७	आर्य ... जिक समाचार		सहायक सम्पादक
१८	विविध समाचार	....	सहायक सम्पादक

विज्ञापन ।

सब सज्जनों को यह सुन कर हर्ष होगा कि अब इस यंत्रालय में प्रायः सब काम आर्य्य भाषा में होने लगे हैं । यहां हिन्दी, संस्कृत, व इंग्रेजी में छपाई का काम बहुत सस्ता व सुन्दर होता है। हिन्दी के रसिक व संस्कृत के प्रेमी पुरुषों से सविनय प्रार्थना है कि जब कभी संस्कृत देवनागरी या इंग्रेजी में कुछ छपवाने की आवश्यकता हो तो हम को लिखें हम थोड़े समय और स्वल्प मूल्य में आप का काम उत्तम कर देंगे एकबार अनुभव कर देखिये और यह भी ध्यान रखिये कि अनेक प्रकार के सुन्दर और उत्तम टाइप नये मौजूद हैं, तीन सुपररायल प्रेस और एक ... मेशीन काम कर रही है और कटाई के लिये कटिंग मशीन भी मौजूद है। विशेष पत्र व्यवहार निम्नलिखित पते से कीजिये।

अनन्तराम शर्म्मा,
प्रबन्धकर्त्ता,
सद्धर्म प्रचारक यंत्रालय, जालंधर नगर (पंजाब)

* यह सौर वर्ष के अनुसार है । गताङ्क में चान्द्र वर्ष के अनुसार चैत्र कृष्ण २ सं० १९६१ भूल से छपगया था । पूर्व नियमानुसार आगामी अङ्कों में भी सौर वर्ष की ही तिथि दी जाया करेगी ।

हिन्दी सद्धर्म प्रचारक के मुख पृष्ठ की छवि।

शुक्रवार को ...शित होता है { १२ वैशाख सं० १९७७ वि० { दयानन्दाब्द ३७ | ता० २३ अप्रैल सन् १९२० ई० } संख्या १ भाग १

ओ३म्

श्रद्धाञ्जलिः

दीक्षमाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
...या श्रद्धामाप्नोति श्रद्धयासत्यमाप्यते ॥ यजु० १९ । ३० ॥
...ग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयतेहविः ।
भगस्यमूर्धनि, वचसा वेदयामसि ॥ ऋग्वेद । मं० १० । सू० १५१ ॥

...को धारण कर होते हैं नर दीक्षाके अधिकारी ।
...न होने से मिलती है पुण्य दक्षिणा सुखकारी ।
... दक्षिणा मन में श्रद्धा का अंकुर उपजाती है।
असत्य को दूर हटा कर सत्य प्राप्त करवाती है ॥ १ ॥
...कुण्ड में श्रद्धा से ही अग्नि दीप्त की जाती है ।
...ही उस दीप्त अग्नि में आहुति भी दिलवाती है ।
...ही बन मुकुट, धर्म के सिर पर शोभा पाती है ।
...की यह अद्भुत महिमा श्रुति स्वयं बतलाती है ॥ २ ॥
...२ जहां तर्क के पंख बंद होजाते हैं ।
... विफल हो प्रतिभा के भी नेत्र बंद होजाते हैं ।
...भाव से जहां सितारे झिलमिल २ करते हैं ।
... हृदय अति उन्नत, वहां स्वतन्त्र विचरते हैं ॥ ३ ॥
...न की विमल कला से हृदय कुमुद खिलजाता है ।
...शान्ति के रम्य राग में सुख अनुपम मिलजाता है ।
...क विक्षोभ जहां से नीचे ही रह जाते हैं ।
...शुभ दृश्य वहां पर अपनी छटा दिखाते हैं ॥ ४ ॥

हटा तिमर, आलोकमयी शुभ उषा मनोहर आती है ।
खिली लतायें झूम रही हैं कोकिल कूक सुनाती हैं ।
श्रद्धा का यह मधुअञ्जली है बसन्त का नव उपहार ।
प्रिय पाठक ! स्वीकार कीजिये गुञ्ज गुम्फित नित सुरभित हार ॥ ५ ॥
"धात्री"

श्रद्धा

हे ! भीम झञ्झावात ! बस तेरी कुटिल चालें रहें,
उन कंटीली झाड़ियों में वेग से जा कर बहें ।
देख, श्रद्धा-कुसुम का होता यहां उल्लास है,
स्वर्गीय-पावन-रम्य ओह ! कैसा मधुरतम हास है ॥ १ ॥
इस की मनोहर क्यारि में कैसी अनूठी गन्ध है,
सारा महकता बाग है रुकतीं सभी दुर्गन्ध हैं ।
प्रेममय-अमृत-जलों से एक इस को सींचते,
स्वच्छन्द हो, निर्भीक हो, भौंरे यहां हैं गूंजते ॥ २ ॥
विषमय पवन इसके मृदुलतम देह का बस स्पर्श कर,
होता सुरभिमय छोड़ देता एकदम अपनी लहर ।
संसार के सब रूप हैं इसकी मनोहर कान्ति में,
रहता सदा इस से ही यह सारा जगत् सुख शान्ति में ॥ ३ ॥
सच्चे हृदय का एक ये ही शुद्ध तम आगार है,
जुड़ता यहीं- पर बस निराला एकता का तार है ।
क्या रङ्क क्या राजा सभी हैं एक इस सुस्थान में,
हर नहीं, ईर्षा नहीं आकर यहां इस स्थान में ॥ ४ ॥
"ज्ञानद"

'श्रद्धा' के मुख पृष्ठ की छवि।

Om.

The Liberator.

SUBSCRIPTION
Rs. 4 per year
Post Free.

अदीनाः स्याम् शरदः शतम ।

PRICE
Single copy.
One anna

Editor—Shraddhanand Sanyasi.

Joint Editor—P. R. Lele, B. A., LL.B.

PUBLISHED AT DELHI EVERY THURSDAY.

Vol. I. | DELHI, THURSDAY 1st APRIL, 1926. | No. 1.

In and out of the Congress.

Long before the first Congress met in the name of the Indian nation, and a few oligarchs passed certain resolutions in a drawing room in Bombay, I was a regular student of the Pioneer and the Lahore Tribune. I knew as much about the political movements in the country as a citizen was expected to know.

The first time that I heard of the proposal to start a national political society was, probably, in September 1885 A. D., when Mr. Allan O'Hume made a tour through India for inducing educated Indians to join the new movement. Mr. Hume brought out a pamphlet with the title—"Star in the East"—and went round distributing it and interviewing prominent Indians with a view to enlisting their sympathy for the new movement. I was, then, in Lahore attending lectures for my final examination in law and had become a member of the Aryasamaj. Mr. Hume found that he was not trusted by the Indian gentlemen there. Some put him off with the excuse that they had no leisure, others promised to think over the matter. If any one of them was taken unawares and promised to join the movement he was sure to send an apologetic letter the next day with some pretext to back out of his promise.

Mr. Hume was much put out at his failure to secure the sympathy of the Panjabis. Full of energy he set up an inquiry and found that the mischief was done by an Aryasamajist M. A. who held a respectable post under the British Government. Failing to obtain materials for exposing the gentleman publicly, the impulsive Mr. Hume wrote to the President of the Lahore Aryasamaj protesting against an [illegible] being treated as a member of the Samaj founded by his revered friend the late Pandit Dayanand Saraswati Swami."

After that a few intellectuals from all parts of the country met under the presidentship of the late Mr. W C Bonnerji and laid the foundation of a patriotic oligarchy under the title of "the Indian National Congress." I followed the proceedings of the Congress—as it was called—and its activities with great attention.

In 1888 A. D. I came in somewhat close contact with the national movement. The session of the Congress was to be held in the last week of December 1888 at Allahabad. Sir Auckland Colvin was Lieutenant Governor of the United Provinces, of which Allahabad was the capital. Sir A. Colvin issued a secret circular prohibiting Government servants from joining the Congress and placed other obstacles in its way. Mr. Hume wrote a stringent letter of protest putting straight, inconvenient questions to the Governor who wrote a strong reply and sent it to the Press.

No sooner was the Lieutenant Governor's printed reply received by Mr. Hume at Simla than a counter-reply was prepared within 12 hours which appeared in pamphlet form covering some 80 printed pages. It was a crushing rejoinder and roused the Indian community to a sense of their duty. Sir Syed Ahmed Khan's anti Congress Muslim (miscalled Patriotic) League had already come into existence and was strengthening the hands of the beaurocracy in their divide and rule policy.

Both the Congress and the anti-Congress propaganda were pushed on in the Panjab. Kali Babu, then sub-Editor of the Lahore Tribune, was deputed to establish a Congress Committee at Jalandhar City where I was practising as a Pleader. Kali was a friend of mine and an Aryasamajist. I called to my [illegible] my relation and friend Lala Balak Ram. He was a Municipal [illegible]

अंग्रेजी पत्र लिबरेटर के मुख पृष्ठ की छवि।